॥ णमो सुअस्स ॥

जैनशास्त्रमाला—तृतीय रत्नम्

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतं

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दी-भाषा-टीकासहित च

द्वितीयो भागः

अनुवादक

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर, साहित्यरत्न, जैनमुनि

श्री श्री श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज

पञ्जाबी

प्रकाशक

खज़ानचीराम जैन

जैन शास्त्रमाला कार्यालय

जैन स्ट्रीट, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर

प्रथमावृत्ति १०००] [मूल्य लागतमात्र ५)

महावीराब्द २४६७ विक्रमाब्द १९९८ ईसवी सन् १९४१

प्रकाशक—
लाला खज़ानचीराम जैन,
व्यवस्थापक—जैन शास्त्र
माला कार्यालय, जैन स्ट्रीट,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

मुद्रक—
लाला खज़ानचीराम जैन,
मैनेजर, मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस,
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

उत्तराध्ययनसूत्रम्

विषय-सूची

चौदहवाँ अध्ययन

पंद्रहवाँ अध्ययन

सोलहवाँ अध्ययन

सतरहवाँ अध्ययन

अठारहवाँ अध्ययन

उन्नीसवाँ अध्ययन

बीसवाँ अध्ययन

इक्कीसवाँ अध्ययन

बाईसवाँ अध्ययन

तेईसवाँ अध्ययन

चौबीसवाँ अध्ययन

पचीसवाँ अध्ययन

निम्नलिखितानुसार शुद्ध कर लें ।

१ उत्तराध्ययनसूत्र प्रथम भाग पृष्ठ ५२८ पंक्ति १९-२०

"और गृहस्थों के लिए जो केवल पशुवध जिनमें हों ऐसे यज्ञों का ही निषेध है किंतु अन्न धनादिरूप यज्ञों का उनके लिए निषेध नहीं ।

उपरिलिखित वक्तव्य मूलपाठ के साथ कोई संबंध नहीं रखता इसलिए अप्रासङ्गिक है । विषय गंभीर होने के कारण इस पर किसी दूसरी जगह प्रकाश डाला जायगा ।

अनुवादक

२ उत्तराध्ययनसूत्र प्रथम भाग–प्रस्तावना का पृष्ठ १०, पंक्ति १६

'तीस वर्ष' के स्थान में 'तीन वर्ष' पढ़ें

आवश्यक नोट

आजकल महायुद्ध के कारण कागज, स्याही, टाइप, बाईंडिंग आदि के मूल्यों में अत्यन्त वृद्धि हो जाने से अब शास्त्र प्रकाशन की लागत बढ़ गई है इसलिए शास्त्रों के मूल्य में भी वृद्धि करनी पड़ी है तदपि शास्त्रों को लागत मूल्य से बेचने का जो हमारा नियम है उसे पूर्णतया पालन किया जा रहा है । कागज का मूल्य एक दम दुगुना हो गया है इसी प्रकार दूसरी चीजों का भी ।

व्यवस्थापक

जैन शास्त्रमाला कार्यालय

श्री·

उत्तराध्ययनसूत्रम्

संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थोपेतम्

आत्मज्ञानप्रकाशिकाहिन्दीभाषाटीकासहितं च

द्वितीयोभाग·

अह उसुयारिज्जं चोदहमं अज्झयणं

अथेषुकारीयं चतुर्दशमध्ययनम्

पाठकों को स्मरण होगा कि प्रस्तुत तेरहवें अध्ययन की पूर्व पीठिका में यह वर्णन आ चुका है कि सागरचन्द्र नामक मुनि के पास चार गोपालों ने दीक्षा ग्रहण की। उनमें से चित्त और सम्भूति का वर्णन तो आ चुका परन्तु शेष जो दो मुनि थे वे शुद्ध संयम का पालन करते हुए मर कर देव लोक में गये। फिर वहां से च्यव कर क्षितिप्रतिष्ठित नामक नगर के किसी प्रधान सेठ के घर में वे दोनों पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। युवावस्था में आने पर उन दोनों की अन्य चार व्यापारियों से मित्रता हो गई। अन्त में इन छओं ने फिर दीक्षा ग्रहण कर ली। इनमें से चार ने निष्कपट रूप संयम का आराधन किया परन्तु दो की धर्म क्रिया छलयुक्त थी। अनुक्रम से ये छओं साधु काल करके प्रथम देवलोक के नलिनी गुल्म नामक विमान में देवता रूप से उत्पन्न हुए। परन्तु माया-कपट के प्रभाव से उन छः में से दो जीव, स्त्री-वेदी के भाव-रूप से उत्पन्न हुए। फिर जो गोपालों में से दो जीव थे उनको छोड़कर अन्य चार जीव उस देवलोक से च्यव कर, इषुकार नगर में एक तो इषुकार नामक राजा हुआ, दूसरा उसी राजा की कमलावती नाम की रानी बनी, तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा उस पुरोहित की यशा नाम वाली भार्या हुई। अपरञ्च भृगु पुरोहित पुत्र के न होने से अत्यन्त शोकग्रस्त रहता था। इधर उन दोनों गोपालक के जीवों ने अवधि ज्ञान के द्वारा अपने आयु कर्म की स्थिति को केवलमात्र छः मास की

जानकर तथा अपने उत्पत्ति स्थान को देखकर वे दोनों देव भृगु पुरोहित के पास आकर कहने लगे कि तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारे घर में दो पुत्र उत्पन्न होंगे परन्तु वे दोनों बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो जावेंगे। इसलिए आपने उनको बाल्य काल में ही जैन मुनियों के सहवास में रखने तथा विद्याभ्यास कराने का प्रयत्न करना। इस प्रकार कहकर वे दोनों ही देव अपने स्थान को चले गये[1]। फिर कालान्तर में उस भृगु पुरोहित के घर में दो पुत्रों का जन्म हुआ। पुत्रों के जन्म के अनन्तर उसने विचार किया कि इनको साधुओं के संसर्ग से सर्वथा बचाये रखना चाहिये। इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये उसने नगर के बाहर एकान्त स्थान में जाकर कर्पट नाम के ग्राम में निवास कर लिया तथा अपने दोनों पुत्रों को साधुओं के सम्बन्ध में इस प्रकार शिक्षा देने लगा—हे पुत्रो! जो जैन भिक्षु होते हैं, जिनके मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई होती है और जिनके पास रजोहरण होता है और जो भूमि को देखकर चलते हैं, उनके हाथ में एक वस्त्र की झोली होती है। उसमें वे शस्त्र आदि रक्खा करते हैं। अतः उनकी संगति कदापि नहीं करनी। क्योंकि वे घातक होते हैं। वे बालकों को पकड़ कर ले जाते हैं और मार डालते हैं। इसलिए उनसे सर्वदा दूर ही रहना चाहिए। इस प्रकार पिता के शिक्षण देने पर वे दोनों बालक जैन साधुओं से भय खाने लग गए। भृगु के ये भाव थे कि ये न तो साधुओं को मिलेंगे और न उनसे दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत होंगे। एक समय वे दोनों बालक ग्राम के बाहर खेलने के लिए गए, तब वहां पर दो साधु, नगर के बाहर रास्ता भूल जाने से उसी ग्राम में आ गए। भृगु पुरोहित ने उनको आहार पानी देकर कहा कि भगवन्! इस ग्राम के लोग साधुओं से अपरिचित हैं। इतना ही नहीं किन्तु उनके अत्यन्त द्वेषी भी हैं। तथा इस ग्राम के बालक मेरे पुत्रों

---

१ दीपिका टीका में लिखा है कि वे दोनों देव जैन भिक्षु का रूप धारण करके भृगु पुरोहित के घर में आए, उस पुरोहित को धर्मोपदेश दिया। सन्तान के विषय में पुरोहित के प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि तुम्हारे दो पुत्र उत्पन्न होंगे और वे साधु वृत्ति को भी धारण करेंगे। अतः आपने उनकी दीक्षा में विघ्न नहीं डालना तथा आप भी धर्म का आराधन करना सीखो। तब भृगु पुरोहित ने उन मुनियों की सब बातों को स्वीकार करके उनके पास से श्रावक के व्रतों को अंगीकार किया।

सहित साधुओं का बहुत उपहास किया करते हैं। इसलिए आपने यह आहारपानी ग्राम के बाहर जाकर ही कर लेना, जिससे कि किसी को भी आपके साथ अविनय करने का अवसर प्राप्त न हो सके। भृगु पुरोहित की इस बात को सुनकर वे दोनों साधु ग्राम से बाहर निकल कर उसी ओर चल पड़े जिधर कि वे बालक खेलने के लिए गए हुए थे। उन साधुओं को देखकर पुरोहित के वे दोनों बालक भयभीत होकर आगे २ भागने लगे और भागकर एक विशाल वृक्ष पर चढ़ गए। इधर साधुओं ने भी उस वृक्ष के नीचे प्रासुक–शुद्ध स्थान देखकर रजोहरण द्वारा उसकी प्रमार्जना करके विधिपूर्वक आहार करना आरम्भ किया। तब वृक्ष पर चढ़े हुए दोनों पुरोहितपुत्रों ने उन साधुओं की सब क्रिया को ध्यानपूर्वक देखा और देखकर वे विचार करने लगे कि इनके पास न तो कोई शस्त्र है तथा न इनके पात्रों में कोई मांस आदि अशुद्ध पदार्थ है। किन्तु इनके पात्रों में तो प्रायः अपने ही घर का अन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार विचार करने पर उनके मन का सब भय दूर हो गया। अधिक क्या कहें, इस प्रकार उक्त ऊहापोह करने के अनन्तर उनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिस्मरण ज्ञान होते ही उनका आत्मा वैराग्य के रंग से अतिरंजित हो गया। इसके अनन्तर वृक्ष से नीचे उतर कर उन्होंने उन दोनों मुनिराजों को विधिपूर्वक वन्दना की और अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में उनसे प्रार्थना की कि भगवन्! आप कुछ समय के लिए इषुकार नगर में निवास करने/ की कृपा करें। क्योंकि हम माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके पास से मोक्ष के देने वाली पवित्र मुनिवृत्ति को धारण करने का विचार रखते हैं। कारण कि प्रत्येक आत्मा इस मुनि वृत्ति के द्वारा ही मोक्ष पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हाँ, इसमें इतनी बात अवश्य है कि वह मुनि वृत्ति बाह्य चिह्नों के साथ हो अथवा अन्तरंग भावों में हो परन्तु इस आत्मा का जब भी मोक्ष होगा तो मुनि वृत्ति से ही होगा। अतएव हम चिरकाल से मुनि वृत्ति धारण करने के लिये उत्कण्ठित हो रहे हैं। कुमारों के इन विचारों को सुनकर मुनिराजों ने कहा कि जैसे तुम को सुख हो वैसे करो परन्तु इतना स्मरण रक्खो कि धर्मकृत्यों के अनुष्ठान करने में प्रमाद बिलकुल नहीं करना चाहिये। इसके अनन्तर वे दोनों कुमार उक्त मुनिराजों को यथाविधि वन्दना

नमस्कार करके अपने घर में आ गये। घर में आने के अनन्तर उन दोनों कुमारों ने अपने माता-पिता आदि के साथ इसी दीक्षासम्बन्धी विषय का संवाद आरम्भ किया। कुछ दिनों के बाद ही उसका यह परिणाम निकला कि वहां का राजा, राणी, पुरोहित और उसकी स्त्री तथा ये दोनों कुमार ये छओं जीव दीक्षित होकर संयम की आराधना करने लगे। बस, प्रस्तुत अध्ययन में इसी परमार्थसाधक मनोरञ्जक विषय का वर्णन है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

देवा भवित्ताण पुरे भवम्मि,
केई चुया एगविमाणवासी।
पुरे पुराणे उसुयारनामे,
खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥१॥

देवा भूत्वा पूर्वे भवे,
केचिच्च्युता एकविमानवासिनः।
पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि,
ख्याते समृद्धे सुरलोकरम्ये ॥१॥

पदार्थान्वयः—देवा-देवता भवित्ता-होकर पुरे-पूर्व भवम्मि-भव में केई-कितने एक चुया-वहां से च्यव कर एगविमाणवासी-एक विमान में बसने वाले पुरे-नगर में जो पुराणे-प्राचीन था उसुयारनामे-इषुकार नाम वाले में खाए-ख्यात-प्रसिद्ध समिद्धे-ऋद्धि से पूर्ण सुरलोयरम्मे-देवलोक के समान रमणीय ण-वाक्यालंकार में है।

मूलार्थ—पूर्व भव में देवता होकर, फिर वहां से कितने एक च्यव कर जो एक विमान में बसने वाले थे, इषुकार नामक प्राचीन नगर में उत्पन्न हुए। यह नगर सुप्रसिद्ध, समृद्धियुक्त और [illegible] के रमणीय था।

टीका—पूर्व भव में, प्रथम देवलोक के नलिनी गुल्म विमान में बसने वाले कितने एक देवता वहां से च्यव कर इषुकार नाम के एक प्राचीन नगर में उत्पन्न हुए । यह नगर पृथिवी में अपने नाम से प्रख्यात और समृद्धि से परिपूर्ण होता हुआ देवलोक के समान अतिरमणीय था । इस काव्य में यह दिखलाया है कि मित्र देवता देवलोक से च्यव कर फिर मित्र रूप में उत्पन्न हुए तथा सम्प्रति काल में जीवों का जो परस्पर सम्बन्ध दिखाई देता है उसमें पूर्वजन्म के संस्कार भी अवश्य कारण होते हैं । और सूत्र में जो 'केई' पद दिया है उसका अभिप्राय, कितने एक अनिर्दिष्ट नाम वाले देवों के निर्देश करने का है । तथा 'सुरलोगरम्मे-सुरलोकरम्ये' इसमें मध्यमपदलोपी समास है ।

क्या वे देवता सर्वथा उपभुक्त होकर स्वर्ग से च्युत हुए थे अथवा शुभ कर्मों के शेष रहते हुए उनका च्यवन हुआ ? अब इसी विषय का निम्नलिखित गाथा में वर्णन किया जाता है—

सकम्मसेसेण पुराकएणं,
कुलेसुदग्गेसु य ते पसूया ।
निव्विण्णसंसारभया जहाय,
जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना ॥२॥

स्वकर्मशेषेण पुराकृतेन,
कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूता ।
निर्विण्णा संसारभयात्त्यक्त्वा,
जिनेन्द्रमार्गं शरणं प्रपन्ना[1] ॥२॥

१ इस गाथा में ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों कुलों का प्रधान कुल के नाम से उल्लेख किया हुआ देखा जाता है जब कि अन्य शास्त्रों—दशाश्रुतस्कन्ध आदि में ब्राह्मण का भिक्षाक–भिक्षु कुल माना है, तथा इसकी प्रान्त कुलों–तुच्छ कुलों में परिगणना की है । अतः विद्वानों को इस पर अवश्य विचार करना चाहिए ।

पदार्थान्वयः—सकम्मसेसेण–स्वकर्म शेष में पुराकएणं–पूर्वकृत से य–फिर उदग्गेसु–प्रधान कुलेसु–कुल में ते–वे देवता पसूया–उत्पन्न हुए निव्विण्णा–उद्वेग से युक्त ससारभया–ससार के भय से जहाय–काम भोगों को छोड़कर जिणिंदमग्गं–जिनेन्द्र मार्ग की सरणं–शरण को पवण्णा–प्राप्त हुए।

मूलार्थ—पूर्व जन्म के किये हुए अपने शेष कर्म से ये देवता प्रधान कुल में उत्पन्न हुए। फिर वे संसार के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए काम भोगों का परित्याग करके जिनेन्द्र देव के मार्ग को प्राप्त हुए।

टीका—वे देवता लोग पूर्वजन्म के किये हुए देवगति योग्य कर्मों के फल को भोग कर, शेप रहे शुभ कर्मों के फल को भोगने के लिये प्रधान कुल में उत्पन्न हुए और फिर भी ससार (जन्म मरण) के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए, काम भोगों को छोड़कर श्री जिनेन्द्र देव के धर्म में दीक्षित हो गए। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वकृत शुभ कर्मों के प्रभाव से उत्तम कुल और तदनु रूप सामग्री की तो प्राप्ति हो जाती है परन्तु जिनेन्द्र देव के प्रतिपादन किये हुए धर्म की प्राप्ति तो आत्मा के क्षायिक और क्षयोपशम भाव पर ही निर्भर है। अतएव उक्त आत्माएँ दोनों प्रकार के सुखों से युक्त थे। इसी लिये सूत्रकार ने प्रधान कुल में जन्म और ससार से उद्विग्नता ये दोनों ही बातें उनमें दिखलाई हैं। तथा ससार से विरक्त होने वालों के लिये जिनेन्द्रप्रदर्शित मार्ग ही अधिकतर श्रेयस्कर है, यह भी प्रदर्शित कर दिया।

अब शास्त्रकार यह बतलाते हैं कि प्रधान कुल में किस २ नाम वाले जीव उत्पन्न हुए और किस प्रकार से उन्होंने जिनोपदिष्ट मार्ग का अनुसरण किया। तथाहि—

पुम्मत्तमागम्म कुमार दो वी,
पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसालकित्ती य तहेसुयारो,
रायत्थ देवी कमलावई य ॥३॥

पुस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि,
पुरोहितः तस्य यशा च पत्नी ।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः,
राजात्र देवी कमलावती च ॥३॥

पदार्थान्वय —पुम्मत्त-पुरुष भाव में आगम्म-आकर कुमारदोवि-दोनों कुमार य-और पुरोहिओ-पुरोहित तस्स-उसकी जसापत्ती-यशा नाम वाली धर्मपत्नी य-तथा विसालकित्ती-विशाल कीर्ति वाला तह-उसी प्रकार इसुयार-राया-इषुकार राजा इथ-और इसी भवन में कमलावई-कमलावती नाम की उसकी पटरानी हुई ।

मूलार्थ—इषुकार नगर में छः जीव उत्पन्न हुए । जैसे कि पुरुष रूप में उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार, पुरोहित और उसकी यशानाम्नी भार्या, इसी प्रकार इषुकार नामक विशालकीर्ति राजा और उसकी देवी कमलावती रानी उत्पन्न हुई ।

टीका—देवलोक से च्यव कर छः जीव निम्न प्रकार से इषुकार नगर में उत्पन्न हुए । यथा—प्रथम इषुकार नाम का विशालकीर्ति वाला राजा, दूसरी उसकी कमलावती देवी, तीसरे भृगुनाम के पुरोहित और चौथी उनकी यशा नाम्नी भार्या एवं इनके घर में पुरुष रूप से उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार ऐसे छः जीव उत्पन्न हुए । अपितु कुमार शब्द अविवाहित और अनभिषिक्त दोनों के लिये प्रयुक्त होता है । यथा जिसका विवाह न हुआ हो उसको भी कुमार कहते हैं तथा जिसका राज्याभिषेक न हुआ हो उसको भी कुमार के ही नाम से बोलते हैं, जैसे कि राजकुमार इत्यादि । परन्तु यहां पर तो अविवाहित अर्थ में ही कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'इथ-अत्र' यहां पर अकार का सन्धि करके लोप किया गया है ।

अब प्रथम उन दोनों कुमारों के विषय में कहते हैं—

पदार्थान्वयः—सकम्मसेसेण—स्वकर्म शेष में पुराकएणं—पूर्वकृत से य—फिर उदग्गेसु—प्रधान कुलेसु—कुल में ते—वे देवता पसूया—उत्पन्न हुए निव्विण्णा—उद्वेग से युक्त संसारभया—संसार के भय से जहाय—काम भोगों को छोड़कर जिणिंदमग्ग—जिनेन्द्र मार्ग की सरणं—शरण को पवण्णा—प्राप्त हुए।

मूलार्थ—पूर्व जन्म के किये हुए अपने शेष कर्म से वे देवता प्रधान कुल में उत्पन्न हुए। फिर वे संसार के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए काम भोगों का परित्याग करके जिनेन्द्र देव के मार्ग को प्राप्त हुए।

टीका—वे देवता लोग पूर्वजन्म के किये हुए देवगति योग्य कर्मों के फल को भोग कर, शेष रहे शुभ कर्मों के फल को भोगने के लिये प्रधान कुल में उत्पन्न हुए और फिर भी संसार (जन्म मरण) के भय से निर्वेद को प्राप्त होते हुए, काम भोगों को छोड़कर श्री जिनेन्द्र देव के धर्म में दीक्षित हो गए। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वकृत शुभ कर्मों के प्रभाव से उत्तम कुल और तदनु रूप सामग्री की तो प्राप्ति हो जाती है परन्तु जिनेन्द्र देव के प्रतिपादन किये हुए धर्म की प्राप्ति तो आत्मा के क्षायिक और क्षयोपशम भाव पर ही निर्भर है। अतएव उक्त आत्माएँ दोनों प्रकार के सुखों से युक्त थे। इसी लिये सूत्रकार ने प्रधान कुल में जन्म और संसार से उद्विग्नता ये दोनों ही बातें उनमें दिखलाई हैं। तथा संसार से विरक्त होने वालों के लिये जिनेन्द्रप्रदर्शित मार्ग ही अधिकतर श्रेयस्कर है, यह भी प्रदर्शित कर दिया।

अब शास्त्रकार यह बतलाते हैं कि प्रधान कुल में किस २ नाम वाले जीव उत्पन्न हुए और किस प्रकार से उन्होंने जिनोपदिष्ट मार्ग का अनुसरण किया। तथाहि—

पुम्मत्तमागम्म कुमार दो वी,
पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती।
विसालकित्ती य तहेसुयारो,
रायत्थ देवी कमलावई य ॥३॥

पुंस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि,
पुरोहितः तस्य यशा च पत्नी।
विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः,
राजात्र देवी कमलावती च ॥३॥

पदार्थान्वय —पुम्मत्त-पुरुष भाव में आगम्म—आकर कुमारदोवि-दोनों कुमार य-और पुरोहिओ-पुरोहित तस्स-उसकी जसापत्ती-यशा नाम वाली धर्मपत्नी य-तथा विसालकित्ती-विशाल कीर्ति वाला तह-उसी प्रकार इसुयार-राया-इषुकार राजा त्थ-और उसी भवन में कमलावई-कमलावती नाम की उसकी पटरानी हुई।

मूलार्थ—इषुकार नगर में छः जीव उत्पन्न हुए। जैसे कि पुरुष रूप में उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार, पुरोहित और उसकी यशानाम्नी भार्या, इसी प्रकार इषुकार नामक विशालकीर्ति राजा और उसकी देवी कमलावती रानी उत्पन्न हुई।

टीका—देवलोक से च्यव कर छः जीव निम्न प्रकार से इषुकार नगर में उत्पन्न हुए। यथा—प्रथम इषुकार नाम का विशालकीर्ति वाला राजा, दूसरी उसकी कमलावती देवी, तीसरे भृगुनाम के पुरोहित और चौथी उनकी यशा नाम्नी भार्या एवं इनके घर में पुरुष रूप से उत्पन्न होने वाले दोनों कुमार ऐसे छ जीव उत्पन्न हुए। अपितु कुमार शब्द अविवाहित और अनभिषिक्त दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। यथा जिसका विवाह न हुआ हो उसको भी कुमार कहते हैं तथा जिसका राज्याभिषेक न हुआ हो उसको भी कुमार के ही नाम से बोलते हैं, जैसे कि राजकुमार इत्यादि। परन्तु यहां पर तो अविवाहित अर्थ में ही कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'त्थ—अत्र' यहां पर अकार का सन्धि करके लोप किया गया है।

अब प्रथम उन दोनों कुमारों के विषय में कहते हैं—

जाईजरामच्चुभयाभिभूया ,
वहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा,
दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥४॥

जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ ,
बहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ ।
संसारचक्रस्य विमोक्षणार्थं,
दृष्ट्वा तौ कामगुणेभ्यो विरक्तौ ॥४॥

पदार्थान्वयः—जाई–जाति जरा–बुढ़ापा मच्चु–मृत्यु के भयाभिभूया–भय से व्याप्त हुए बहिं–संसार से बाहर विहाराभिनिविट्ठचित्ता–मोक्षस्थान में स्थापन किया है चित्त जिन्होंने संसारचक्कस्स–संसारचक्र के विमोक्खणट्ठा–विमोक्षणार्थ दट्ठूण–देखकर ते–वे दोनों कुमार कामगुणे–काम गुणों से विरत्ता–विरक्त हुए।

मूलार्थ—जन्म, जरा और मृत्यु के भय से व्याप्त हुए, संसार से बाहर मोक्ष स्थान में जिन्होंने अपने चित्त को स्थापन किया है ऐसे दोनों कुमार साधुओं को देखकर संसारचक्र से विमुक्त होने के लिए काम भोगों से विरक्त हो गए।

टीका—जब उन दोनों कुमारों ने साधुओं के दर्शन किये तब उनको विषय भोगों से उपरामता हो गई। जन्म, जरा और मृत्यु से उनको भय लगने लगा और संसारचक्र से मुक्त होने के लिये संसार से बाहर जो मोक्षस्थान है, उसमें चित्त को स्थिर करते हुए वे काम भोगों से सर्वथा विरक्त हो गए यहां पर 'ते' यह 'तौ' के अर्थ में है।

अब उन दोनों कुमारों के विषय में फिर कहते हैं—

पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स,
सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं,
तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ॥५॥

प्रियपुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य,
स्वकर्मशीलस्य पुरोहितस्य ।
स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं,
तथा सुचीर्णं तपः संयमं च ॥५॥

ते कामभोगेसु असज्जमाणा,
माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा,
तातं उवागम्म इमं उदाहु ॥६॥

तौ कामभोगेष्वसजन्तौ,
मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः ।
मोक्षाभिकाङ्क्षिणावभिजातश्रद्धौ,
तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ॥६॥

पदार्थान्वयः—पियपुत्तगा—प्रिय पुत्र दोन्नि वि—दोनों ही माहणस्स—ब्राह्मण के सकम्मसीलस्स—स्वकर्मनिष्ठ पुरोहियस्स—पुरोहित के सरित्तु—स्मरण करके पोराणिय—पुराणी तत्थ—वहां पर जाइं—जाति को तहा—इसी प्रकार सुचिण्ण—अर्जित किया हुआ तव—तप च—और संजम—संयम को । ते—वे दोनों कुमार कामभोगेसु—काम भोगों में असज्जमाणा—असक्त हुए माणुस्सएसु—मनुष्यसम्बन्धी

कामभोगों में जे–जो य–और अवि–निश्चय ही दिव्वा–देवलोक के कामभोगों से अचित न होते हुए किन्तु मोक्खामिकखी–मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले अभिजायसड्ढा–उत्पन्न हुई है मोक्ष में जाने की श्रद्धा जिनमें तातं–पिता के पास उवागम्म–आकर इम–यह वचन उदाहु–कहने लगे ।

मूलार्थ—स्वकर्मनिष्ठ ब्राह्मण पुरोहित के वे दोनों प्रिय पुत्र-कुमार अपने पूर्वजन्म का तथा उसमें अर्जन किये हुए तप और संयम का स्मरण करके देव और मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों से विरक्त हुए २ तथा मोक्ष की इच्छा और उसकी प्राप्ति में विशिष्ट श्रद्धा रखते हुए, पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे (यह दोनों गाथाओं का समिलित अर्थ है)।

टीका—वे दोनों कुमार भृगु नाम के पुरोहित के प्रिय पुत्र थे। भृगु भी साधारण ब्राह्मण नहीं था किन्तु कर्मनिष्ठ और विचारशील था। साधुओं के दर्शन से उन कुमारों को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उससे उनको अपने पूर्वजन्म तथा उसमें अर्जित किये हुए तप और संयम का भी ज्ञान हो गया। इससे उनको वैराग्य उत्पन्न हो गया। तब वे देवता और मनुष्यसम्बन्धी सभी प्रकार के काम भोगों से विरक्त होकर मोक्ष की इच्छा करने लगे और उसी के लिये विशिष्ट श्रद्धा रखने लगे। इस प्रकार संसार से विरक्त और मोक्ष की अभिलाषा में अनुरक्त वे दोनों कुमार अपने पिता के पास आकर इस प्रकार कहने लगे ।

यद्यपि जातिस्मरण ज्ञान देवता को भी होता है और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को भी था, परन्तु धर्म में मनुष्य की अभिरुचि तब होती है जब कि उसके ज्ञानावरणीयादि चारों घाती कर्मों का क्षय और क्षयोपशम होता है। इसलिए सामान्य रूप से जातिस्मरण के होने पर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को विषयों से उपरामता नहीं हुई और दोनों कुमार काम भोगादि से विरक्त होकर मोक्ष के अभिलाषी हो गए।

पिता के पास आकर उन कुमारों ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

असासयं दट्ठु इमं विहारं,
　　बहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लभामो,
　　आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ॥७॥

अशाश्वतं दृष्ट्वेमं विहारं,
　　बह्वन्तरायं न च दीर्घमायुः ।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे,
　　आमन्त्रयावश्चरिष्यावो मौनम् ॥७॥

पदार्थान्वयः—असासय–अशाश्वत इम–यह प्रत्यक्ष विहार–विहार को दट्ठु–देखकर बहुअंतराय–बहुत से अन्तराय को य–और न दीहमाउ–आयु दीर्घ नहीं है तम्हा–इसलिए गिहंसि–घर में रइ–रति–आनन्द को न लभामो–हम नहीं प्राप्त करते आमन्तयामो–आपको पूछते हैं मोणं–मुनि वृत्ति को चरिस्सामु–ग्रहण करेंगे ।

मूलार्थ—यह विहार–मनुष्य का निवास स्थान अशाश्वत है । इसमें अन्तराय–विघ्न बहुत हैं तथा आयु भी दीर्घ नहीं । इसलिए हम घर में रति–आनन्द को प्राप्त नहीं करते । अतः हम मौन–मुनिवृत्ति को ग्रहण करेंगे । यह आप से पूछते हैं अर्थात् आपकी आज्ञा चाहते हैं ।

टीका—वैराग्य के रंग में रंगे हुए भृगु पुरोहित के दोनों पुत्र पिता के पास आकर कहने लगे कि पिता जी ! यह मनुष्य का निवास अशाश्वत अर्थात् स्थिर रहने वाला नहीं है तथा इसमें अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं और आयु भी दीर्घ नहीं है । इसलिए हम दोनों को इसमें अब रति नहीं–आनन्द नहीं । तात्पर्य कि मनुष्यसम्बन्धी इन विनश्वर सुखों से हम को किंचिन्मात्र भी प्रसन्नता नहीं है । अतः मुनिवृत्ति को ग्रहण करने के लिए

हम आप से आज्ञा चाहते हैं। तात्पर्य कि आप हमें धर्म में दीक्षित होने की अनुमति प्रदान करें।

यहां पर 'लभामो-आमंतयामो-चरिस्सामु' ये सब बहुवचन द्विवचन के स्थान पर प्रयुक्त हुए जानने। क्योंकि प्राकृत में द्विवचन नहीं होता। अतएव 'तथा चाप्तदोऽविशेषणे' इस सूत्र से द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

पुत्रों के इस वचन को सुनकर भृगु पुरोहित कहने लगे—

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं,
तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति,
जहा न होई असुयाण लोगो ॥८॥

अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः,
तपसो व्याघातकरमवादीत्।
इमां वाच वेदविदो वदन्ति,
यथा न भवत्यसुतानां लोकः ॥८॥

पदार्थान्वयः—अह-अथ तायगो-पिता तत्थ-उस समय तेसिं-उन मुणीण-मुनियों को तवस्स-तप के वाघायकरं-व्याघात करने वाला वचन वयासी-बोला इमं-यह वयं-वाणी वेयविओ-वेदवित् वयंति-कहते हैं जहा-जैसे असुयाण-पुत्ररहितों को लोगो-लोक वा परलोक न होई-नहीं होता।

मूलार्थ—उस समय पिता ने उन भाव मुनियों के तप को व्याघात करने वाला यह वचन कहा कि पुत्ररहितों को लोक वा परलोक की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे वेदवित् कहते हैं।

टीका—जब उन कुमारों ने पिता के पास आकर अपने मनोगत भाव प्रकट किये तब पिता ने उनके तप और संयम में विघ्नरूप इस प्रकार का वचन

कहा कि वेदवित् लोग कहते हैं कि पुत्ररहित की गति नहीं होती—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च। गृहधर्ममनुष्ठाय तेन स्वर्गं गमिष्यति'॥ अर्थात् पुत्र रहित मनुष्य को परलोक में सुख की प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य कि पुत्र के बिना इस लोक में सुख नहीं तथा परलोक में भी पिंडदानादि के बिना सुख का प्राप्त होना कठिन है। अतएव शास्त्रकारों ने पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—'पु नरकात् त्रायते इति पुत्रः'—अर्थात् जो नरक से बचाता है, वह पुत्र है। जब कि वेदवेत्ताओं का ऐसा कथन है तब तुम वेदाज्ञा का उल्लंघन करके किस प्रकार मुनिवृत्ति को धारण कर सकते हो, यह भृगु के कथन का आशय है। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने भृगुपुरोहित के वचन को कुमारों के तप रूप संयम का विघातक कहा है। तथा प्रस्तुत गाथा में उन कुमारों के लिए जो मुनि शब्द का प्रयोग किया है वह भावी नैगम नय के अनुसार है। तात्पर्य कि वे द्रव्य रूप से यद्यपि गृहस्थ ही हैं परन्तु भाव रूप से उनमें मुनित्व की प्राप्ति हो चुकी है। इसलिए भाव की दृष्टि से उन्हें मुनि कहना उचित ही है।

इसके अनन्तर पिता ने उन कुमारों के प्रति फिर कहा कि—

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे,
पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं,
आरण्णगा होइ मुणी पसत्था ॥९॥

अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्,
पुत्रान् परिष्ठाप्य गृहे जातौ।
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः,
आरण्यकौ भवत मुनी प्रशस्तौ ॥९॥

पदार्थान्वयः—अहिज्ज—पढ़कर वेए—वेदों को परिविस्स—भोजन करवा कर विप्पे—ब्राह्मणों को पुत्ते—पुत्रों को गिहंसि—घर में परिट्ठप्प—स्थापन करके

या–हे पुत्रो ! भोच्चाण–भोग कर भोए–भोगों को इत्थियाहिं–स्त्रियों के सह–
थ आरण्णगा–आरण्यवासी पसत्था–प्रशस्त मुणी–मुनि–मननशील होइ–
जाना ।

मूलार्थ—हे पुत्रो ! तुम वेदों को पढ़कर, ब्राह्मणों को भोजन कराकर, यों के साथ भोगों को भोग कर और पुत्रों को घर में स्थापन करके फिर ण्यवासी प्रशस्त मुनि बन जाना ।

टीका—भृगु पुरोहित ब्राह्मण–वैदिक धर्म के अनुसार अपने दोनों ों को उपदेश करते हैं कि प्रथम तुम वेदों का अध्ययन करो । विद्याध्ययन समाप्त करके ब्राह्मणों को भोजन कराकर गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो । फिर षय भोगों का सेवन करते हुए सन्तान को उत्पन्न करो । सन्तानोत्पत्ति के बाद ब वह योग्य हो जावे तब उसको घर में स्थापन करके फिर तुम जंगल में ने और मुनिवृत्ति को धारण करने में प्रवृत्ति करो । यही प्राचीन वैदिक ली है । इसी के अनुसार तुम को चलना चाहिए ।

इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, अब उसका वर्णन शास्त्रकार करते हैं—

सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं,
मोहाणिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं,
लालप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥१०॥

शोकाग्निना आत्मगुणेन्धनेन,
मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन ।
संतप्तभावं परितप्यमानं,
लालप्यमानं बहुधा बहु च ॥१०॥

पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं,
निमंतयन्तं च सुए धणेणं।
जहक्कमं कामगुणेहिं चेव,
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥११॥

पुरोहितं त क्रमशोऽनुनयन्त,
निमन्त्रयन्त च सुतौ धनेन।
यथाक्रम कामगुणैश्चैव,
कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—सोयग्गिणा–शोकाग्नि से तथा आयगुणिंधणेणा–आत्म-गुणेन्धन से मोहाणिला–मोह रूप वायु से पज्जलणाहिएणा–अति प्रचण्ड से संतत्त-भाव–सन्तप्त भाव परितप्पमाणा–सर्व प्रकार से सन्तप्त हृदय लालप्पमाणा–बार २ विलाप करता हुआ बहुहा–बहुत प्रकार से च–और बहु–अतीव। त–उस पुरोहिय–पुरोहित को जो कमसोऽणुणत–क्रम से अनुनय करता हुआ च–और निमंतयंत–निमन्त्रण करता हुआ सुए–पुत्रों को धणेणा–धन से जहक्कम–यथाक्रम कामगुणेहिं–कामगुणों से निमन्त्रण करता हुआ ते–वे दोनों कुमारगा–कुमार पसमिक्ख–देखकर–विचार कर वक्कं–वाक्य–वचन बोले।

मूलार्थ—शोक रूप अग्नि, आत्मगुण रूप इन्धन और अति प्रचण्ड मोह रूप वायु से सन्ताप और परिताप को प्राप्त हुए तथा बहुत प्रकार से बहुत सा आलाप-सलाप करते हुए, उस पुरोहित को देखकर वे दोनों कुमार उसके प्रति इस प्रकार बोले, जो कि उन कुमारों को, धन और विषय भोगों से निमन्त्रणा करता हुआ उनका अनुनय कर रहा था अर्थात् उनके प्रति अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा था (युग्मन्यास्या)।

टीका—इस गाथा में रूपमालंकार दिखाया गया है। और ११वीं गाथा के साथ मिलकर इसका अर्थ होता है। भृगु पुरोहित शोकरूप अग्नि

से व्याप्त हैं। उसमें आत्मा के शान्त्यादि गुण इन्धन रूप हो गए और मोहरूप वायु से वह अग्नि अधिक प्रचण्ड हो उठी, जिससे शान्ति के भाव सन्ताप रूप में परिणत होकर अधिक परिताप देने लगे। इसलिए भृगु पुरोहित का हृदय अधिक परिताप को प्राप्त हो गया और वह भावी पुत्रवियोग का अनुभव करता हुआ विलाप भी करने लगा।

तात्पर्य कि जिस प्रकार वायु से प्रेरित हुई अग्नि सूखे वा गीले सभी प्रकार के इन्धन को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार हृदय में उत्पन्न हुई शोक रूप अग्नि आत्मा के शान्त्यादि समस्त गुणों का विनाश कर देती है। उसमें मोह रूप वायु उसको और भी अधिक प्रचंड कर देता है जिससे कि हृदय में परिताप के साथ विलाप भी पैदा हो जाता है। अस्तु, पुरोहित ने पुत्रों के व्यामोह से उन्हें अपने पास रखने के अनेक प्रयत्न किये। उनको धन का लोभ दिया। उनको विषय भोगों का लालच दिया और अनेक प्रकार के अनुनय-विनय से उनके प्रति अपना आशय भी प्रकट किया जिससे कि ये ससार के परित्याग की भावना को स्थगित कर देवें। अस्तु, भृगु पुरोहित की इस दशा को देखकर उन कुमारों ने सोचा कि हमारे पिता तो मोह से व्याकुल हो रहे हैं। इनका शोकसन्तप्त हृदय विह्वल हो रहा है। अधिक क्या कहें, ये तो इस समय अपने आपको भी भूल गए हैं। अतः इनको अब युक्ति से समझाना चाहिये, जिससे कि इनके मोहनीय कर्म का आवरण उठ जावे और ये भी सुपथ के पथिक बन जावें। यह विचार कर उन्होंने अपने पिता से इस प्रकार कहा।

उन कुमारों ने जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं—

वेया अहीया न हवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥१२॥

वेदा अधीता न भवन्ति त्राणं,
भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि ।
जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राण,
को नाम तवानुमन्येतैतत् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—वेया-वेद अहीया-पढ़े हुए ताण-त्राण-शरण न हवति-नहीं होते दिया-द्विज भुत्ता-भोजन करवाये हुए तम तमेण-अज्ञानता में-अन्धकार में निंति-पहुँचाते हैं य-और जाया-पुत्र भी ताण-त्राण-शरण न हवति-नहीं होते को-कौन नाम-सम्भावनार्थ में है ते-तुम्हारे एय-यह पूर्वोक्त वाक्य को अणुमन्नेज-माने ।

मूलार्थ—हे पिता जी ! वेद पढ़े हुए रक्षक नहीं होते, भोजन करवाये हुए द्विज भी अन्धकार में ले जाते हैं, और पुत्र भी रक्षक नहीं होते तो फिर आपके इन पूर्वोक्त वचनों को कौन स्वीकार करे अपितु कोई भी स्वीकार नहीं करेगा ।

टीका—भृगु पुरोहित के प्रति उसके दोनों कुमार कहने लगे कि पिता जी ! पढ़े हुए ऋग् यजु आदि चारों वेद भी रक्षक नहीं होते । कारण कि केवल वेदों के अध्ययनमात्र से ही दुर्गति के जनक कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती जब तक कि अध्ययन के अनुरूप आत्मा को उन्नतिपथ पर ले आने वाली क्रिया का आचरण न किया जावे । अतः केवल वेदाध्ययन मात्र से आत्मा के कर्मबन्धन नहीं छूट सकते । और ब्राह्मणों को करवाया हुआ भोजन भी अज्ञानता का पोषक है क्योंकि वे कुमार्ग की ओर ले जाने वाले और यज्ञादि कर्मों में पशुवध आदि के समर्थक हैं ! तब उनको खिलाया हुआ भोजन क्योंकर पुण्य का जनक और ज्ञान का हेतु हो सकता है ! एवं पुत्रों को भी रक्षक मानना भूल है क्योंकि इस आत्मा का रक्षक सिवाय इसके आचरण किये हुए शुभ कर्म के और कोई नहीं हो सकता । इसलिये जब कि यह बात प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध है तब आपके इस उक्त कथन को कौन बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार कर सकता है अर्थात् कोई भी स्वीकार नहीं करेगा । इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रहे कि इस गाथा में जो

से व्याप्त हैं। उसमें आत्मा के शान्त्यादि गुण इन्धन रूप हो गए और मोहरूप वायु से वह अग्नि अधिक प्रचण्ड हो उठी, जिससे शान्ति के भाव सन्ताप रूप में परिणत होकर अधिक परिताप देने लगे। इसलिए भृगु पुरोहित का हृदय अधिक परिताप को प्राप्त हो गया और वह भावी पुत्रवियोग का अनुभव करता हुआ विलाप भी करने लगा।

तात्पर्य कि जिस प्रकार वायु से प्रेरित हुई अग्नि सूखे वा गीले सभी प्रकार के इन्धन को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार हृदय में उत्पन्न हुई शोक रूप अग्नि आत्मा के शान्त्यादि समस्त गुणों का विनाश कर देती है। उसमें मोह रूप वायु उसको और भी अधिक प्रचण्ड कर देता है जिससे कि हृदय में परिताप के साथ विलाप भी पैदा हो जाता है। अस्तु, पुरोहित ने पुत्रों के व्यामोह से उन्हें अपने पास रखने के अनेक प्रयत्न किये। उनको धन का लोभ दिया। उनको विषय भोगों का लालच दिया और अनेक प्रकार के अनुनय-विनय से उनके प्रति अपना आशय भी प्रकट किया जिससे कि ये संसार के परित्याग की भावना को स्थगित कर देवें। अस्तु, भृगु पुरोहित की इस दशा को देखकर उन कुमारों ने सोचा कि हमारे पिता तो मोह से व्याकुल हो रहे हैं। इनका शोकसन्तप्त हृदय विह्वल हो रहा है। अधिक क्या कहें, ये तो इस समय अपने आपको भी भूल गए हैं। अतः इनको अब युक्ति से समझाना चाहिये, जिससे कि इनके मोहनीय कर्म का आवरण उठ जावे और ये भी सुपथ के पथिक बन जावें। यह विचार कर उन्होंने अपने पिता से इस प्रकार कहा।

उन कुमारों ने जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं—

वेया अहीया न हवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥१२॥

वेदा अधीता न भवन्ति त्राण,
भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि ।
जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राणं,
को नाम तवानुमन्येतैतत् ॥१२॥

पदार्थान्वय —वेया-वेद अहीया-पढ़े हुए ताण-त्राण-शरण न हवति-नहीं होते दिया-द्विज भुत्ता-भोजन करवाये हुए तम तमेण-अज्ञानता में-अन्धकार में निंति-पहुँचाते हैं य-और जाया-पुत्र भी ताण-त्राण-शरण न हवति-नहीं होते को-कौन नाम-सम्भावनार्थ में है ते-तुम्हारे एय-यह पूर्वोक्त वाक्य को अणुमन्नेज्ज-माने ।

मूलार्थ—हे पिता जी ! वेद पढ़े हुए रक्षक नहीं होते, भोजन करवाये हुए द्विज भी अन्धकार में ले जाते हैं, और पुत्र भी रक्षक नहीं होते तो फिर आपके इन पूर्वोक्त वचनों को कौन स्वीकार करे अपितु कोई भी स्वीकार नहीं करेगा ।

टीका—भृगु पुरोहित के प्रति उसके दोनों कुमार कहने लगे कि पिता जी ! पढ़े हुए ऋग् यजु आदि चारों वेद भी रक्षक नहीं होते । कारण कि केवल वेदों के अध्ययनमात्र से ही दुर्गति के जनक कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती जब तक कि अध्ययन के अनुरूप आत्मा को सन्मार्गपथ पर ले जाने वाली क्रिया का आचरण न किया जावे । अतः केवल वेदाध्ययन मात्र से आत्मा के कर्मबन्धन नहीं छूट सकते। और ब्राह्मणों को करवाया हुआ भोजन भी अज्ञानता का पोषक है क्योंकि वे कुमार्ग की ओर ले जाने वाले और यज्ञादि कर्मों में पशुवध आदि के समर्थक हैं ! तब उनको खिलाया हुआ भोजन क्योंकर पुण्य का जनक और ज्ञान का हेतु हो सकता है ! एवं पुत्रों को भी रक्षक मानना भूल है क्योंकि इस आत्मा का रक्षक सिवाय इसके आचरण किये हुए शुभ कर्म के और कोई नहीं हो सकता । इसलिये जब कि यह बात प्रत्यक्ष और अनुभव से सिद्ध है तब आपके इस उक्त कथन को कौन बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार कर सकता है अर्थात् कोई भी स्वीकार नहीं करेगा । इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रहे कि इस गाथा में जो

कुछ भी कहा गया है वह किसी पर आक्षेप करने की बुद्धि से नहीं कहा गया। प्रत्युत वस्तुतत्त्व की यथार्थता को प्रतिपादन करने के उद्देश से कहा गया है। जैसे कि केवल वेद के अध्ययनमात्र से ही मोक्ष नहीं होता किन्तु 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और तदनुकूल चारित्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है। अतः जो लोग केवल अध्ययन को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानते हैं उनका विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यद्यपि किसी समय पर अध्ययन से भी मनुष्य को परम लाभ पहुँचता है, क्योंकि जिन शास्त्रों में सत्पदार्थों का निरूपण किया गया है, उनके अध्ययन से पुरुष के सम्यक्त्व की निर्मलता होती है परन्तु वेदों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि उनमें पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन बहुत कम है। उदाहरणार्थ—अरूपी आकाश की भी उत्पत्ति वर्णित है। यथा—'आत्मन आकाश सभूत' इत्यादि। इसी प्रकार ब्राह्मण भोजन के विषय में भी केवल पात्रापात्र का विचार करना ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य कि पात्र और कुपात्र को देखकर ही मनुष्य को दान करने में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार सुपात्र में दिया हुआ दान उत्तम फल के देने वाला होता है, उसी प्रकार कुपात्रदान हीनफल—अधोगति का कारण बनता है। इसलिए जो लोग ब्राह्मण कहलाते हुए भी हिंसकमार्ग के उपदेष्टा और यज्ञादि कार्यों में पशुवध आदि जघन्य कर्म के समर्थक तथा व्यभिचारनिमग्न हों, उनको दिया हुआ दान वा खिलाया हुआ भोजन कभी भी सुगति के देने वाला कहा वा माना नहीं जा सकता। अतः प्रस्तुत प्रकरण में शास्त्रकार ने सुपात्र दान का निषेध नहीं किया किन्तु कुपात्र दान का कटु फल बतलाया है। तथाच औरस पुत्र भी, मृत्यु के समय पर अपने माता पिता को किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते किन्तु गृहस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिये वह पुत्र कुलवृद्धि का हेतु तो अवश्य है। इससे उसको पारलौकिक दुःख की निवृत्ति में सहायक समझना भूल है। तात्पर्य कि जो लोग पुत्र को नरक से छुड़ाने वाला समझते हैं, वे शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ हैं। अतः श्राद्धादि कर्म से भी पुत्र को रक्षक मानना युक्तिसंगत नहीं है। यहां पर वृत्तिकार ने 'तम तमेण' शब्द के 'णं' को वाक्यालंकार के अर्थ में ग्रहण किया है तथा किसी २ वृत्तिकार ने सप्तमी के स्थान में इसे तृतीया का रूप स्वीकार किया है परन्तु दोनों ही पक्षों में अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता।

इस प्रकार अपने पिता के तीनों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर वे दोनों कुमार अब पिता के द्वारा दिये गये कामभोगादि पदार्थों के प्रलोभन की समीक्षा करते हुए उन विषय भोगों की असारता का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१३॥

क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः,
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्या ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—खणमित्त–क्षणमात्र सुक्खा–सुख है बहुकाल–बहुत काल पर्यन्त दुक्खा–दुःख है पगाम–प्रकाम दुक्खा–दुःख है अणिगाम–बहुत ही थोड़ा सोक्खा–सुख है ससारमोक्खस्स–ससार के मोक्ष के विपक्खभूया–विपक्षभूत हैं उ–निश्चय ही कामभोगा–कामभोग अणत्थाण–अनर्थों की खाणी–खान हैं।

मूलार्थ—क्षणमात्र सुख है, बहुत कालपर्यन्त दुःख है, प्रकाम–अत्यधिक दुःख है, बहुत ही थोड़ा सुख है। ये कामभोग ससार–मोक्ष के प्रतिकूल और निश्चय ही सारे अनर्थों की खान हैं।

टीका—वे दोनों कुमार पिता की ओर से दिए जाने वाले प्रलोभनों के विषय में कहते हैं कि—पिता जी! इन कामभोगों के सेवन में क्षणमात्र तो सुख है परन्तु नरकादि में उनका फलस्वरूप दुःख तो बहुत काल पर्यन्त भोगना पड़ता है तथा शारीरिक और मानसिक दुःखों का भी अधिक रूप से अनुभव करना पड़ता है। तथा काम भोगों के सेवन से उपलब्ध होने वाला सुख तो बहुत ही स्वल्पकाल स्थायी है परन्तु दुःख चिरकाल तक रहता है। तात्पर्य

कुछ भी कहा गया है वह किसी पर आक्षेप करने की बुद्धि से नहीं कहा गया। प्रत्युत वस्तुतत्त्व की यथार्थता को प्रतिपादन करने के उद्देश से कहा गया है। जैसे कि केवल वेद के अध्ययनमात्र से ही मोक्ष नहीं होता किन्तु 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और तदनुकूल चारित्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है। अतः जो लोग केवल अध्ययन को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानते हैं उनका विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यद्यपि किसी समय पर अध्ययन से भी मनुष्य को परम लाभ पहुँचता है, क्योंकि जिन शास्त्रों में सत्पदार्थों का निरूपण किया गया है, उनके अध्ययन से पुरुष के सम्यक्त्व की निर्मलता होती है परन्तु वेदों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि उनमें पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन बहुत कम है। उदाहरणार्थ—अरूपी आकाश की भी उत्पत्ति वर्णित है। यथा—'आत्मनः आकाशः सभूत' इत्यादि। इसी प्रकार ब्राह्मण भोजन के विषय में भी केवल पात्रापात्र का विचार करना ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य कि पात्र और कुपात्र को देखकर ही मनुष्य को दान करने में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार सुपात्र में दिया हुआ दान उत्तम फल के देने वाला होता है, उसी प्रकार कुपात्रदान हीनफल—अधोगति का कारण बनता है। इसलिए जो लोग ब्राह्मण कहलाते हुए भी हिंसकमार्ग के उपदेष्टा और यज्ञादि कार्यों में पशुवध आदि जघन्य कर्म के समर्थक तथा व्यभिचारनिमग्न हों, उनको दिया हुआ दान वा खिलाया हुआ भोजन कभी भी सुगति के देने वाला कहा वा माना नहीं जा सकता। अतः प्रस्तुत प्रकरण में शास्त्रकार ने सुपात्र दान का निषेध नहीं किया किन्तु कुपात्र दान का कटु फल बतलाया है। तथाच औरस पुत्र भी, मृत्यु के समय पर अपने माता पिता को किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते किन्तु गृहस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिये वह पुत्र कुलवृद्धि का हेतु तो अवश्य है। इससे उसको पारलौकिक दुःख की निवृत्ति में सहायक समझना भूल है। तात्पर्य कि जो लोग पुत्र को नरक से छुड़ाने वाला समझते हैं, वे शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ हैं। अत श्राद्धादि कर्म से भी पुत्र को रक्षक मानना युक्तिसंगत नहीं है। यहां पर वृत्तिकार ने 'तम तमेण' शब्द के 'ण' को वाक्यालंकार के अर्थ में ग्रहण किया है तथा किसी २ वृत्तिकार ने सप्तमी के स्थान में इसे तृतीया का रूप स्वीकार किया है परन्तु दोनों ही पक्षों में अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता।

इस प्रकार अपने पिता के दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर ये दोनों कुमार अब पिता के द्वारा दिये गये कामभोगादि पदार्थों के प्रलोभन की गर्हणा करते हुए अब विषय भोगों की असारता का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१३॥

क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः,
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—खणमित्त–क्षणमात्र सुक्खा–सुख है बहुकाल–बहुत काल पर्यन्त दुक्खा–दुःख है पगाम–प्रकाम दुक्खा–दुःख है अणिगाम–बहुत ही थोड़ा सोक्खा–सुख है संसारमोक्खस्स–संसार के मोक्ष के विपक्खभूया–विपक्षभूत हैं उ–निश्चय ही कामभोगा–कामभोग अणत्थाण–अनर्थों की खाणी–खान हैं।

मूलार्थ—क्षणमात्र सुख है, बहुत कालपर्यन्त दुःख है, प्रकाम–अत्यधिक दुःख है, बहुत ही थोड़ा सुख है। ये कामभोग संसार–मोक्ष के प्रतिकूल और निश्चय ही सारे अनर्थों की खान हैं।

टीका—वे दोनों कुमार पिता की ओर से दिए जाने वाले प्रलोभनों के विषय में कहते हैं कि—पिता जी! इन कामभोगों के सेवन में क्षणमात्र तो सुख है परन्तु नरकादि में उनका फलस्वरूप दुःख तो बहुत काल पर्यन्त भोगना पड़ता है तथा शारीरिक और मानसिक दुःखों का भी अधिक रूप से अनुभव करना पड़ता है। तथा काम भोगों के सेवन से उपलब्ध होने वाला सुख तो बहुत ही स्वल्पकाल स्थायी है परन्तु दुःख चिरकाल तक रहता है। तात्पर्य

कुछ भी कहा गया है वह किसी पर आक्षेप करने की बुद्धि से नहीं कहा गया। प्रत्युत वस्तुतत्त्व की यथार्थता को प्रतिपादन करने के उद्देश से कहा गया है। जैसे कि केवल वेद के अध्ययनमात्र से ही मोक्ष नहीं होता किन्तु 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' ज्ञान और तदनुकूल चारित्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है। अतः जो लोग केवल अध्ययन को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानते हैं उनका विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यद्यपि किसी समय पर अध्ययन से भी मनुष्य को परम लाभ पहुँचता है, क्योंकि जिन शास्त्रों में सत्पदार्थों का निरूपण किया गया है, उनके अध्ययन से पुरुष के सम्यक्त्व की निर्मलता होती है परन्तु वेदों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि उनमें पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन बहुत कम है। उदाहरणार्थ—अरूपी आकाश की भी उत्पत्ति वर्णित है। यथा—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि। इसी प्रकार ब्राह्मण भोजन के विषय में भी केवल पात्रापात्र का विचार करना ही शास्त्रकार को अभिप्रेत है। तात्पर्य कि पात्र और कुपात्र को देखकर ही मनुष्य को दान करने में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार सुपात्र में दिया हुआ दान उत्तम फल के देने वाला होता है, उसी प्रकार कुपात्रदान हीनफल—अधोगति का कारण बनता है। इसलिए जो लोग ब्राह्मण कहलाते हुए भी हिंसकमार्ग के उपदेष्टा और यज्ञादि कार्यों में पशुवध आदि जघन्य कर्म के समर्थक तथा व्यभिचारनिमग्न हों, उनको दिया हुआ दान या खिलाया हुआ भोजन कभी भी सुगति के देने वाला कहा वा माना नहीं जा सकता। अतः प्रस्तुत प्रकरण में शास्त्रकार ने सुपात्र दान का निषेध नहीं किया किन्तु कुपात्र दान का कटु फल बतलाया है। तथाच औरस पुत्र भी, मृत्यु के समय पर अपने माता पिता को किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते किन्तु गृहस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिये वह पुत्र कुलवृद्धि का हेतु तो अवश्य है। इससे उसको पारलौकिक दुःख की निवृत्ति में सहायक समझना भूल है। तात्पर्य कि जो लोग पुत्र को नरक से छुड़ाने वाला समझते हैं, वे शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ हैं। अत श्राद्धादि कर्म से भी पुत्र को रक्षक मानना युक्तिसंगत नहीं है। यहां पर वृत्तिकार ने 'तम तमेण' शब्द के 'ण' को वाक्यालङ्कार के अर्थ में ग्रहण किया है तथा किसी २ वृत्तिकार ने सप्तमी के स्थान में इसे तृतीया का रूप स्वीकार किया है परन्तु दोनों ही पक्षों में अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता।

इस प्रकार अपने पिता के तीनों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर वे दोनों कुमार अब पिता के द्वारा दिये गये कामभोगादि पदार्थों के प्रलोभन की समीक्षा करते हुए उन विषय भोगों की असारता का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥१३॥

क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः,
प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः,
खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—खणमित्त—क्षणमात्र सुक्खा—सुख है बहुकाल—बहुत काल पर्यन्त दुक्खा—दुःख है पगाम—प्रकाम दुक्खा—दुःख है अणिगाम—बहुत ही थोड़ा सोक्खा—सुख है संसारमोक्खस्स—संसार के मोक्ष के विपक्खभूया—विपक्षभूत हैं उ—निश्चय ही कामभोगा—कामभोग अणत्थाण—अनर्थों की खाणी—खान हैं।

मूलार्थ—क्षणमात्र सुख है, बहुत कालपर्यन्त दुःख है, प्रकाम—अत्यधिक दुःख है, बहुत ही थोड़ा सुख है। ये कामभोग संसार—मोक्ष के प्रतिकूल और निश्चय ही सारे अनर्थों की खान हैं।

टीका—वे दोनों कुमार पिता की ओर से दिए जाने वाले प्रलोभनों के विषय में कहते हैं कि—पिता जी! इन कामभोगों के सेवन में क्षणमात्र तो सुख है परन्तु नरकादि में उनका फलस्वरूप दुःख तो बहुत काल पर्यन्त भोगना पड़ता है तथा शारीरिक और मानसिक दुःखों का भी अधिक रूप से अनुभव करना पड़ता है। तथा काम भोगों के सेवन से उपलब्ध होने वाला सुख तो बहुत ही स्वल्पकाल स्थायी है परन्तु दुःख चिरकाल तक रहता है। तात्पर्य

कि कामभोगसम्बन्धी सुखों की अपेक्षा दुःख अधिक और चिरकालस्थायी है। एव ये कामभोग ससार के बन्धन का कारण होने से मोक्ष के पूर्ण प्रतिबन्धक हैं अर्थात् इनके ससर्ग में रहने वाला जीव मोक्ष के निरतिशय आनन्द को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अधिक क्या कहें, विश्व के सारे अनर्थों का मूल अगर कोई है तो ये विषय भोग ही हैं। इनके बिना ससार में कोई उपद्रव या अनर्थ नहीं होता। अतः इन सर्वथा हेय पदार्थों के प्रलोभन से हम को सयममार्ग से वचित रखने का प्रयत्न करना आप जैसे विचारशील पिता को किसी प्रकार से भी उचित नहीं, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

कामभोगादि पदार्थ सब प्रकार के अनर्थों की खान हैं, यह बात ऊपर कही गई है। अब इसी को स्पष्ट करते हुए शास्त्र इनकी अनर्थकारिता का प्रतिपादन करते हैं—

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥१४॥

परिव्रजन्ननिवृत्तकाम ,
अह्नि च रात्रौ परितप्यमानः।
अन्यप्रमत्तो धनमेषयन्,
प्राप्नोति मृत्युं पुरुषो जरां च ॥१४॥

पदार्थान्वयः—परिव्वयते—सर्व प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ अणियत्तकामे—कामभोगों से जो निवृत्त नहीं हुआ अहो—दिन य—और राओ—रात्रि में परितप्पमाणो—सर्व प्रकार से तपा हुआ अन्नप्पमत्ते—अन्न में प्रमत्त अथवा अन्य—दूसरों के लिए दूषित प्रवृत्ति करने वाला धणमेसमाणे—धन की गवेषणा करता हुआ पुरिसे—पुरुष मच्चु—मृत्यु च—और जर—जरा को पप्पोति—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—जो पुरुष कामभोगों से निवृत्त नहीं हुआ वह चारों दिशाओं में रात दिन परिभ्रमण करता हुआ तप रहा है तथा दूसरों के लिए दूषित प्रवृत्ति करने वाला, धन की गवेषणा करता हुआ जरा और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

टीका—कुमार कहते हैं कि पिता जी ! कामभोगों की इच्छा वाला जीव, चारों दिशाओं में घूमता है और रात दिन परिताप को प्राप्त होता रहता है अर्थात् चिन्ता रूप अग्नि से जलता हुआ रात दिन शोक में ही निमग्न रहता है ! तथा भोजन के लिए या अन्य स्वजन-सम्बन्धियों के लिए धन की गवेषणा करता है और असह्य कष्टों को झेलता है। इस प्रकार विदेश में गया हुआ कोई तो वहां ही वृद्ध हो जाता है और कोई तो मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब कामभोग दुःखों की ही खान हैं। संसार में ऐसा कोई भी दुःख नहीं कि जो कामभोगादि की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को सहन नहीं करना पड़ता। अतः मुमुक्षु पुरुष के लिए ये कामभोग सर्वथा त्याग देने के योग्य हैं।

यहां पर 'अहो' 'राओ' ये दोनों पद आर्ष होने से सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त किए गए हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाओ ॥१५॥

इदं च मेऽस्ति इदं च नास्ति,
इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेव लालप्यमानं,
हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ॥१५॥

पदार्थान्वय—इम-यह मे-मेरे अत्थि-है च-और इम-यह मे-मेरे नत्थि-नहीं है इम-यह च-और मे-मेरे किच्च-करणीय कार्य है इम-यह अकिच्च-अकरणीय है तं-उस पुरुष को एवमेव-इसी प्रकार लालप्पमाणं-सलाप करते हुए को हरा-रात दिन रूप चोर हरंति-परलोक में ले जाते हैं त्ति-इस प्रकार विचार कर कह-कैसे पमाए-प्रमाद किया जावे च-पुनः अर्थ में है।

मूलार्थ—यह वस्तु मेरी है, यह मेरी नहीं है, यह कार्य मेरे को करना है और यह नहीं करना, इस प्रकार निरन्तर सलाप करते हुए पुरुष को कालरूप चोर एक दिन प्राणों को हर कर परलोक में पहुचा देता है तो फिर धर्म में प्रमाद कैसे किया जावे।

टीका—दोनों कुमार अपने पिता के प्रति फिर कहते हैं कि यह जीव इसी प्रकार के विचारों की उधेड़बुन में लगा हुआ अपनी आयु को पूरी करके चला जाता है अथवा काल उसे परलोक का पथिक बना देता है। जैसे कि—यह पदार्थ मेरे पास है और यह नहीं, एवं यह कार्य तो मैंने कर लिया परन्तु यह अभी बाकी है। तात्पर्य कि विषयभोगों के लिए उपयुक्त सामग्री के जुटाने में रात दिन पागलों की तरह व्यग्र रहने वाले जीव, अपनी आयु के परिमाण को भी बिलकुल भूल जाते हैं और इस दशा में दिन रात रूप चोर तथा अनेक प्रकार की आधिव्याधियां उसके पीछे लगी रहती हैं, समय आने पर उसको यहां से उठाकर परलोक में भेज देते हैं। ऐसी अवस्था में विचारशील पुरुष को किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अब भृगु पुरोहित उन कुमारों को धन का प्रलोभन देता हुआ कहता है कि—

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं,
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो,
तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥१६॥

धन प्रभूतं सह स्त्रीभिः,
　　स्वजनास्तथा कामगुणाः प्रकामाः।
तपः कृते तप्यते यस्य लोकः,
　　तत्सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयोः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—धणं-धन पभूयं-बहुत है इत्थियाहिं-स्त्रियों के सह-साथ सयणा-स्वजन तहा-तथा कामगुणा-कामगुण पगामा-प्रकाम-अत्यधिक-हैं जस्स-जिस कृते-के लिए लोगो-लोग तव-तप को तप्पइ-तपते हैं त-वह सव्व-सब तुब्भ-आपके साहीण-स्वाधीन है इहेव-यहां घर में ही।

मूलार्थ—हे पुत्रो! यहां स्त्रियों के साथ धन बहुत है, स्वजन तथा कामगुण भी पर्याप्त हैं। जिसके लिए लोग तप करते हैं, वह सब इस घर में तुम्हारे स्वाधीन है।

टीका—पुरोहित जी फिर भी अपने पुत्रों को सांसारिक पदार्थों का प्रलोभन दे रहे हैं। कहते हैं कि इस घर में धन बहुत है तथा विषयवासना की पूर्ति के निमित्त स्त्रियों की भी कमी नहीं। एवं सगे-सम्बन्धी भी पर्याप्त सख्या में हैं। अधिक क्या कहूँ, जिन पदार्थों की प्राप्ति के लिए लोग दुष्कर तपश्चर्या करते हैं वे सब के सब आपके स्वाधीन हैं अर्थात् आपको अनायास प्राप्त हैं।

तात्पर्य कि इस ससार में जितनी भी सुख की सामग्री है जैसे कि धन, स्त्री, सगे-सम्बन्धी और इच्छानुकूल कामभोग आदि—वह सब आपके घर में विद्यमान हैं और इन्हीं के लिए प्राणी तप करते हैं तो फिर दीक्षा के लिए उद्यत होना कौन सी बुद्धिमत्ता का काम है। अतः तुम घर में ही रहो, किन्तु दीक्षा के लिए उद्योग मत करो। यहां पर 'तुब्भ' यह 'युवयोः' का प्रतिरूप है।

पिता के इस कथन को सुनकर अब दोनों कुमार कहते हैं—

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी,
वहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥१७॥

धनेन किं धर्मधुराधिकारे,
स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव ।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ,
बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—धम्मधुराहिगारे-धर्म धुरा के उठाने में धणेण किं-धन से क्या है सयणेण वा-स्वजनों से क्या वा-और कामगुणेहिं-काम गुणों से क्या है चेव-'च' और 'एव' निश्चयार्थक हैं समणा-साधु भविस्सामु-होंगे गुणोहधारी-गुणसमूह के धारण करने वाले वहिं-नगर के बाहर विहारा-विहार स्थानों को अभिगम्म-आश्रित करके भिक्खं-भिक्षा लेंगे ।

मूलार्थ—पिता जी ! धर्मधुरा के उठाने में धन से क्या प्रयोजन ? तथा सगे-सम्बन्धी और विषय भोगों से क्या मतलब ? अतः हम दोनों तो गुणसमूह के धारण करने वाले साधु ही बनेंगे और नगर के बाहर विहार स्थानों का आश्रय लेकर भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करेंगे ।

टीका—पिता के कथन का उत्तर देते हुए वे दोनों कुमार कहते हैं कि पिता जी[1] आपने हम लोगों को जो धन, स्वजन और कामभोगादि पदार्थों का प्रलोभन देते हुए घर में ही रहने की अनुमति दी है उसके विषय में हमारा निवेदन है कि जिन पुरुषों ने धर्मधुरा का उद्वहन करना है अर्थात् धर्म में दीक्षित होना है तो उनको इस धन से क्या प्रयोजन ? तथा स्वजनवर्ग और कामभोगादि से क्या मतलब ? अर्थात् ये सभी पदार्थ धर्म के समक्ष अत्यन्त

१ पूर्वकाल में नगरादि के जो धर्मस्थान होते थे, उनको विहार कहते हैं ।

तुच्छ हैं, धर्म के अधिकार में इनकी कोई भी गणना नहीं। अत हम दोनों का सङ्कल्प तो गुणसमुदाय के आश्रयभूत साधुधर्म के अनुसरण का ही है। इसलिए द्रव्य और भाव से अप्रतिबद्ध होकर नगर से बाहर रहते हुए हम दोनों केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

इस प्रकार बार २ समझाने पर भी जब वे भृगुपुत्र अपने विचार से स्खलित नहीं हुए तब भृगु पुरोहित ने धर्म के मूलस्तम्भरूप आत्मा के अस्तित्व को ही मिटाने का प्रयत्न किया अर्थात् शरीर से अतिरिक्त और नित्य आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कहते हैं—

जहा य अग्गी अरणी असन्तो,
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्,
क्षीरे घृत तैलं महातिलेषु।
एवमेव जातौ शरीरे सत्त्वाः,
समूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥१८॥

पदार्थान्वय—जहा–जैसे अग्गी–अग्नि अरणी अ–अरणी से असंतो–विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है–जैसे खीरे–दुग्ध में घय–घृत तेल्ले–तेल महातिलेसु–तिलों में उत्पन्न हो जाता है एमेव–इसी प्रकार जाया–हे पुत्रो! स–अपने सरीरंसि–शरीर में सत्ता–जीव समुच्छई–उत्पन्न हो जाता है नासइ–नष्ट हो जाता है नावचिट्ठे–बाद में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—हे पुत्रो! जैसे अविद्यमान होने पर भी अरणी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दुग्ध से घृत और तिलों से तैल उत्पन्न होता है इसी प्रकार

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी,
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥१७॥

धनेन किं धर्मधुराधिकारे,
स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव ।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ,
बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—धम्मधुराहिगारे-धर्म धुरा के उठाने में धणेण किं-धन से क्या है सयणेण वा-स्वजनों से क्या वा-और कामगुणेहिं-काम गुणों से क्या है चेव-'च' और 'एव' निश्चयार्थक हैं समणा-साधु भविस्सामु-होंगे गुणोहधारी-गुणसमूह के धारण करने वाले बहिं-नगर के बाहर विहारा-विहार स्थानों को अभिगम्म-आश्रित करके भिक्ख-भिक्षा लेंगे ।

मूलार्थ—पिता जी ! धर्मधुरा के उठाने में धन से क्या प्रयोजन ? तथा सगे-सम्बन्धी और विषय भोगों से क्या मतलब ? अत: हम दोनों तो गुणसमूह के धारण करने वाले साधु ही बनेंगे और नगर के बाहर विहार स्थानों का आश्रय लेकर भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करेंगे ।

टीका—पिता के कथन का उत्तर देते हुए वे दोनों कुमार कहते हैं कि पिता जी ! आपने हम लोगों को जो धन, स्वजन और कामभोगादि पदार्थों का प्रलोभन देते हुए घर में ही रहने की अनुमति दी है उसके विषय में हमारा निवेदन है कि जिन पुरुषों ने धर्मधुरा का उद्वहन करना है अर्थात् धर्म में दीक्षित होना है तो उनको इस धन से क्या प्रयोजन ? तथा स्वजनवर्ग और कामभोगादि से क्या मतलब ? अर्थात् ये सभी पदार्थ धर्म के समक्ष अत्यन्त

१ पूर्वकाल में नगरादि के जो धर्मस्थान होते थे, उनको विहार कहते हैं ।

तुच्छ हैं, धर्म के अधिकार में इनकी कोई भी गणना नहीं। अत हम दोनों का सकल्प तो गुणसमुदाय के आश्रयभूत साधुधर्म के अनुसरण का ही है। इसलिए द्रव्य और भाव से अप्रतिबद्ध होकर नगर से बाहर रहते हुए हम दोनों केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से ही अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

इस प्रकार बार २ समझाने पर भी जब वे भृगुपुत्र अपने विचार से स्खलित नहीं हुए तब भृगु पुरोहित ने धर्म के मूलस्तम्भरूप आत्मा के अस्तित्व को ही मिटाने का प्रयत्न किया अर्थात् शरीर से अतिरिक्त और नित्य आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है।

अब शास्त्रकार इसी विषय में कहते हैं—

जहा य अग्गी अरणी असन्तो,
खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु।
एमेव जाया सरीरंसि सत्ता,
संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥१८॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्,
क्षीरे घृत तैल महातिलेषु।
एवमेव जातौ शरीरे सत्त्वाः,
समूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे अग्गी—अग्नि अरणी अ—अरणी से असन्तो—विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है—जैसे खीरे—दुग्ध में घय—घृत तेल्ल—तैल महातिलेसु—तिलों में उत्पन्न हो जाता है एमेव—इसी प्रकार जाया—हे पुत्रो! स—अपने सरीरंसि—शरीर में सत्ता—जीव समुच्छई—उत्पन्न हो जाता है नासइ—नष्ट हो जाता है नावचिट्ठे—बाद में नहीं ठहरता।

मूलार्थ—हे पुत्रो! जैसे अविद्यमान होने पर भी अरणी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, दुग्ध से घृत और तिलों से तैल उत्पन्न होता है इसी प्रकार

शरीर में से ही भव्य-जीव उत्पन्न हो जाता है और शरीर के नाश होने पर साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु बाद में नहीं रहता।

टीका—पुरोहित जी कहते हैं कि हे पुत्रो ! जैसे अरणिकाष्ठ से अग्नि, दुग्ध से घृत और तिलों से तेल उत्पन्न होता है उसी तरह यह जीव भी इस शरीर से ही उत्पन्न होता है और उसके विनाश से विनष्ट हो जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि अरणि में अग्नि प्रथम विद्यमान नहीं थी, दुग्ध में घृत मौजूद नहीं था किन्तु हलदी और चूने के मेल से उत्पन्न होने वाले लाल रंग की तरह अथवा मदशक्ति की तरह यह सब पदार्थ आगन्तुक ही उत्पन्न होते हैं। इसी तरह यह जीव भी अपने शरीर में पृथिवी आदि पांच भूतों के विलक्षण संयोग से उत्पन्न होने वाला एक आगन्तुक पदार्थ ही है तथा जैसे यह शरीर के साथ उत्पन्न होता है वैसे उसके—शरीर के नाश होने पर यह नष्ट भी हो जाता है। तात्पर्य कि यह कोई स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला पदार्थ नहीं है। अथवा यों कहिए कि जैसे जल में उठने वाले बुद्‌बुदे जल से ही उत्पन्न होते हैं और जल में ही लय हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जीव—चेतनसत्ता भी शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और शरीर के साथ ही विलीन हो जाता है अर्थात् जलबुद्‌बुद की तरह इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सो इस प्रकार जब कि आत्मा का अस्तित्व ही असिद्ध है तो फिर संयम आदि के ग्रहण का प्रयोजन ही कुछ नहीं रहता। अतः संयमवृत्ति की मिथ्या लालसा को त्याग कर यहां घर में उपलब्ध होने वाले लौकिक सुख का ही सम्पूर्ण रीति से तुम को उपभोग करना सब से अधिक लाभप्रद है, यह प्रस्तुत गाथा का फलितार्थ है।

पिता के इस वक्तव्य को सुनकर उन कुमारों ने जो कुछ उत्तर दिया, अब उसी का वर्णन करते हैं—

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बन्धो,
संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ॥१९॥

नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्तभावात्,
अमूर्तभावादपि च भवति नित्यः।
अध्यात्महेतुर्नियतस्य बन्धः,
संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—आत्मा नो—नहीं है इंदियग्गेज्झ—इन्द्रियग्राह्य अमुत्तभावा—अमूर्त होने से य—और अमुत्तभावावि—अमूर्तभाव होने पर भी निच्चो—नित्य होइ—है अज्झत्थहेऊ—अध्यात्महेतु—मिथ्यात्वादि नियय—निश्चय ही अस्स—इस जीव के बंधो—बन्ध के कारण हैं च—और संसारहेउ—संसार का हेतु बंध—बन्ध को वयंति—कहते हैं।

मूलार्थ—अमूर्त होने के कारण यह आत्मा इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता और अमूर्त होने से ही यह नित्य है, तथा अध्यात्महेतु—मिथ्यात्वादि निश्चय ही बन्ध है और बन्ध को ही संसार का हेतु कहा है।

टीका—भृगु पुरोहित के उक्त दोनों कुमारों ने पिता के नास्तिकवाद—अनात्मवाद का इस गाथा के शब्दों द्वारा युक्तिपूर्ण और बड़ी ही सुन्दरता से निराकरण किया है। इस विषय का संक्षेप से विवरण इस प्रकार से है—भृगु पुरोहित ने पूर्व कहा है कि जैसे अग्नि आदि पदार्थ पूर्व असत् होते हुए काष्ठादि से उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं उसी प्रकार यह जीव भी इस शरीर से पूर्व असत् होता हुआ उत्पन्न होता है। तात्पर्य कि असत् की भी उत्पत्ति सम्भव है। अतः यह आत्मा—चेतनसत्ता शरीर का ही एक विकास रूप गुण या विकार विशेष है, कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। इसका समाधान यह है कि असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् असत् कभी उत्पन्न नहीं होता। किन्तु सत् ही उत्पन्न होता है। इसलिए काष्ठ में अग्नि, दुग्ध में घृत और तिलों में तेल पहले ही से विद्यमान है। तभी वे इनसे—अपने नियत कारण काष्ठादि से उत्पन्न होते हैं। और यदि असत् की भी उत्पत्ति मानी जावे तब तो घृत की इच्छा रखने वाले को दूध के लिए किसी प्रकार के यत्न की आवश्यकता नहीं रहती, वह जल विलोडन कर भी उससे घृत को प्राप्त कर सकेगा। तात्पर्य कि जैसे दुग्ध में पहले घृत नहीं

और उससे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार यह जल में नहीं और उससे उत्पन्न होना चाहिए क्योंकि घृत का असत्त्व—न होना दोनों में—जल और दुग्ध में समान है, परन्तु ऐसा होते आज तक किसी ने देखा नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि पानी में घृत का कारण विद्यमान नहीं और दुग्ध में है। तब ज्ञात हुआ कि कारणरूप भाव नित्य है। और कारणरूप भाव से कार्यरूप भाव में व्यक्त होना ही उत्पत्ति है। ऐसी अवस्था में अभाव से भाव की उत्पत्ति वाला मन्तव्य युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। जब कि यह सुनिश्चित हो गया कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती तब फिर पृथिवी आदि पाच जड़ पदार्थों से जीव—चेतनसत्ता की उत्पत्ति की कल्पना भी निस्सार ही प्रतीत होती है। यदि यह जीव—चेतनसत्ता पृथिवी आदि किसी एक पदार्थ अथवा समवाय का कार्यरूप होवे तो उनमें उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं। इसलिए जड़ पदार्थ से चेतनसत्ता की उत्पत्ति का स्वीकार करना कुछ युक्तिसगत नहीं है। अथच कौन से भूत से इस चैतन्यसत्ता की उत्पत्ति मानोगे? क्योंकि वे सभी जड़ हैं अर्थात् मद्य आदि पदार्थ की तरह वे भी पाचों भूत जड़ सत्ता वाले हैं। इस प्रकार जब इन पांच भूतों में चैतन्य सत्ता का ही कारणरूप से अभाव है तो फिर उससे चैतन्यसत्ता की व्यक्ति—कार्य-रूप में व्यक्त—प्रकट होना क्योंकर हो सकती है? तात्पर्य कि चैतन्यसत्ता के ये पाच भूत कारण नहीं हो सकते। अथवा चैतन्यसत्ता इन पाच भूतों का कार्य नहीं है। किन्तु यह स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाला पदार्थ है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि यह जीव स्वतन्त्र पदार्थ है तो इसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? बस, इसका ही उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है अर्थात् यह जीव अमूर्त—अरूपी है। इसलिये उसका चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपी पदार्थ का ही ग्रहण कर सकती हैं तथा जो अरूपी—वर्ण, गन्ध, रस आदि गुणों से रहित पदार्थ होता है वह नित्य होता है। अतः यह आत्मा भी नित्य है। तात्पर्य कि शरीर ग्रहण करने से पहले और शरीर के विनाश के बाद भी यह विद्यमान रहता है। तब प्रश्न होता है कि आकाश की तरह यदि आत्मा नित्य है तो उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध कैसे हो गया? इसके समाधान में शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा में रहने वाले जो मिथ्यात्वादि गुण हैं, वे ही इसके कर्मबन्ध के हेतु हैं। जैसे आकाश के नित्य होने पर भी घटाकाश और मठाकाश

रूप से अन्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध प्रतीत होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि के कारण इसका कर्माणुओं के साथ सम्बन्ध हो जाता है। यदि कहें कि अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मों का सम्बन्ध कैसे हुआ तो इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाश अरूपी—अमूर्त होने पर भी वह रूपी—मूर्त पदार्थों का भाजन—सम्बन्धी है, उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मों का भाजन हो सकता है। तथा जो आध्यात्मिक बंध है अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध है इसी को विद्वानों ने संसार के परिभ्रमण का हेतु माना है। सारांश कि आत्मा अमूर्त है और नित्य है। मिथ्यात्वादि उसके बन्ध के कारण हैं और यह बन्ध ही संसार अर्थात् जन्म मरण परंपरा का हेतु है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है और वह अनादि परम्परा से मिथ्यात्वादि के कारण कर्म का बन्ध करता है और उस बन्ध के विच्छेदार्थ इसे धर्म के आचरण की आवश्यकता है। तदर्थ हमारा दीक्षा के लिये उद्यत होना किसी प्रकार से भी अनुचित नहीं कहा जा सकता किन्तु विपरीत इसके वह युक्तियुक्त और उचित ही है। यह इस गाथा का भावार्थ है।

अस्तु, जब कि आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित है और बन्ध के कारण भी सुनिश्चित हैं तथा इस बन्ध में संसार की कारणता भी विद्यमान है तब फिर क्या करना चाहिये, अब इसी बात को वे कुमार अपने पिता से कहते हैं। यथा—

जहा वयं धम्ममजाणमाणा,
पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुब्भमाणा परिरक्खियन्ता,
तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥२०॥

यथाऽऽवां धर्ममजानानौ,
पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात्।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ,
तन्नैव भूयोऽपि समाचराव ॥२०॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे वय—हम धम्मं—धर्म को अजाणमाणा—न जानते हुए मोहा—अज्ञानता के वश से पुरा—पहले पाव कम्म—पापकर्म अकासि—करते हुए ओरुब्भमाणा—रोके हुए परिरक्खयंता—सर्व प्रकार से रक्षा किये हुए त—वह पापकर्म नेव—नहीं भुज्जोवि—फिर भी समायरामो—ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—जैसे हम धर्म को न जानते हुए अज्ञानता के वश से पहले पापकर्म करते थे और आपके रोके हुए तथा सर्व प्रकार से सुरक्षित किये हुए घर से बाहर भी नहीं निकलते थे, परन्तु अब हम उस पापकर्म का सेवन नहीं करेंगे।

टीका—दोनों कुमार कहते हैं कि पिता जी ! जिस प्रकार धर्म को न जानते हुए हम ने पहले पापकर्मों का उपार्जन किया है तथा आपके रोकने पर हम घर से बाहर भी नहीं निकल सकते थे परन्तु अब हम से यह न होगा क्योंकि अब हम ने धर्म और अधर्म को भली प्रकार समझ लिया है। तथा धर्म एवं विषयभोगों के परिणाम में जो अन्तर है, उसको भी हम ने समझ लिया है। अतः इन विषयभोगों के प्रलोभन में हम अब नहीं आ सकते। वास्तव में विचार का फल यही है कि वस्तुतत्त्व को समझ कर उसके अनुकूल आचरण करना, जिससे कि आत्मा में इच्छित विकास की उपलब्धि हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥२१॥

अभ्याहते लोके, सर्वतः परिवारिते।
अमोघाभिः पतन्तीभिः, गृहे न रतिं लभावहे ॥२१॥

पदार्थान्वयः—अब्भाहयम्मि—पीड़ित हुए लोगम्मि—लोक में सव्वओ—सर्व दिशाओं में परिवारिए—परिवृत हुए अमोहाहिं—अमोघ पडंतीहिं—शस्त्रधाराओं के पड़ने से गिहंसि—घर में रइं—रति—आनन्द को न लभे—हम नहीं पाते।

मूलार्थ—अमोघशस्त्रधारा के पड़ने से सर्व दिशाओं में पीड़ित हुए इस लोक में अब हम घर में रहकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।

टीका—कुमार अपने पिता से फिर कहने लगे कि पिता जी ! यह लोक सर्व दिशाओं से वेष्टित और सर्व प्रकार से व्यथित हो रहा है । इस पर शस्त्रों की अमोघ धारायें गिर रही हैं । ऐसी अवस्था में हम लोग घर में किस प्रकार रह सकते हैं क्योंकि घर में हम को किसी प्रकार का भी आनन्द नहीं । कल्पना करो कि एक मृग है जो कि किसी तरह पर रस्सी से बंध गया हो और ऊपर से उसको मार पड़ती हो, ऐसी अवस्था में तीव्र व्यथा का अनुभव करने वाले उस मृग को क्या वहां पर कोई आनन्द है और वह वहां पर रहने को प्रसन्न हो सकता है । इसी प्रकार विषयपाश से बंधे हुए और ऊपर से काम मोहादि के प्रहारों की भरमार होने से परम व्यथित हुए इस जीव को घर में कभी शरण नहीं मिल सकती तब उसके लिये यही उचित है कि वह घर से निकल कर धर्म में दीक्षित हो जावे । तदनुसार हम को भी इस घर में किसी प्रकार के आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती ।

कुमारों के इस कथन को सुनकर भृगु पुरोहित ने इस विषय में जो शंका उठाई, अब उसका वर्णन करते हैं—

केण अब्भाहओ लोगो, केण वा परिवारिओ ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया चिन्तावरो हुमे ॥२२॥

केनाभ्याहतो लोक, केन वा परिवारितः ।
का वाऽमोघा उक्ता, जातो! चिन्तापरो भवामि ॥२२॥

पदार्थान्वयः—केण–किसने अब्भाहओ लोगो–पीड़ित किया लोक वा–अथवा केण–किसने परिवारिओ–परिवेष्टित किया वा–अथवा का–कौन सी अमोहा–शस्त्रधारा वुत्ता–कही है ? जाया–हे पुत्रो ! चिंतावरो–चिन्ता युक्त हुमे–मैं होता हूं ।

मूलार्थ—यह लोक किसने पीड़ित किया अथवा किसने वेष्टित किया है, तथा शस्त्रों की धारा कौन सी है ? हे पुत्रो ! मैं यह जानने के लिये बड़ा चिंतित हो रहा हूं ।

टीका—पुत्रों के कथन पर भृगु पूछते हैं कि हे पुत्रो ! किसने इस लोक को पीड़ित किया है अर्थात् जिस प्रकार एक व्याध मृग को पीड़ा देता है उसी प्रकार इसको व्यथित करने वाला कौन है ? तथा चारों दिशाओं में इसको किसने वेष्टित किया है ? तात्पर्य कि जैसे जाल के द्वारा व्याध मृग को वेष्टित कर लेता है, उसी प्रकार इसको वेष्टित करने वाला कौन है ? एवं इस पर कौन से शस्त्रों की धारा पड़ती है ? अर्थात् जैसे कोई व्याध किसी मृग को अभिहनन करता है उसी प्रकार इस पर कौन से शस्त्र की धारा का आघात होता है ? हे पुत्रो ! तुम्हारे पूर्वोक्त कथन से मुझे बहुत चिंता हो रही है। इसका अभिप्राय यह है कि तुम मुझे स्पष्ट बतलाओ कि तुम को किस बात का कष्ट है क्योंकि बतलाने पर ही व्याधि का निदान और उसकी यथाविधि चिकित्सा हो सकती है। अतः तुम्हारे कष्ट की मुझे बहुत चिन्ता हो रही है।

इस पर दोनों कुमारों ने उत्तर दिया कि—

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! विजाणह ॥२३॥

मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः, जरया परिवारितः ।
अमोघा रात्रय उक्ताः, एवं तात! विजानीहि ॥२३॥

पदार्थान्वयः—मच्चुणा-मृत्यु से अब्भाहओ-पीड़ित है लोगो-लोक जराए-जरा से परिवारिओ-परिवेष्टित किया हुआ है अमोहा-शस्त्रधारा रयणी-रात दिन वुत्ता-कहे हैं एव-इस प्रकार ताय-हे पिता जी ! विजाणह-तुम जानो।

मूलार्थ—हे पिता जी ! यह लोक मृत्यु से पीड़ित हो रहा है। जरा से वेष्टित हो रहा है। रात दिन अमोघ शस्त्रधारा है। इस प्रकार से तुम जानो।

टीका—कुमार बोले कि पिता जी ! मृत्यु से यह लोक पीड़ित हो रहा है अर्थात् इस लोक को मृत्यु ने दुःखी कर रक्खा है। तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्री, केशव और राम इन सब को भी काल ने अपने विकराल मुख में दे लिया है, सामान्य पुरुषों की तो बात ही क्या है। तथा जरा ने इस लोक को सर्व प्रकार

से वेष्टित कर रक्खा है ! क्योंकि जरा के कारण इस शरीर की कांति समय २ पर बदल रही है। तथा रात-दिन रूप शस्त्रों की धारा है, जिससे कि आयु रूप बन्धन टूट रहे हैं, ऐसा आप समझें। तात्पर्य कि रात-दिन के व्यतीत होते देर नहीं लगती। उससे आयुरूप रस्सी के टूट जाने से मृत्यु का आगमन भी अति शीघ्र हो जाता है और वह झट से इस जीव को यहां से उठाकर परलोक में भेज देता है। अतः हमको यही चिन्ता लगी हुई है कि इससे किस प्रकार बचा जाय। सो बचने का उपाय, हमको तो केवल धर्म ही प्रतीत होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥२४॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—जा जा—जो जो रयणी—रात्रि वच्चइ—जाती है न—नहीं सा—वह पडिनियत्तई—पीछे आती। अहम्म—अधर्म कुणमाणस्स—करते हुए की अफला—निष्फल राइओ—रात्रियाँ जन्ति—जाती हैं।

मूलार्थ—जो जो रात्रि जाती है, वह पीछे लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वाले की सब रात्रियाँ निष्फल जाती हैं।

टीका—कुमार कहते हैं कि हे पिता जी ! जो रात्रि चली जाती है, वह वापस लौटकर नहीं आती किन्तु अधर्म का सेवन करने वाले मनुष्य की सभी रात्रियाँ निष्फल ही जाती हैं। यद्यपि सूत्र में केवल रात्रि शब्द ही पढ़ा है परन्तु वह दिन का भी उपलक्षण समझना। तात्पर्य कि काल का चक्र रात-दिन के रूप में निरन्तर चला आ रहा है। इसमें जिसने तो धर्म का सेवन किया, उसने तो इसको सफल कर लिया और अधर्म का सेवन करने वाले ने इसको निष्फल बना दिया। जैसे कि जिन बालकों ने अपनी पहली अवस्था में विद्या का अध्ययन किया है, वे युवा अवस्था में अपनी विद्या से लाभ उठाते हुए स्वयं भी सुखी होते हैं तथा

दूसरों को भी सुख पहुँचाते हैं और जिनकी आरम्भिक आयु व्यसनों में व्यतीत होती है वे रुग्ण दशा का अनुभव करते अथवा मृत्यु की गोद में चले जाते हैं। तात्पर्य कि प्रथम श्रेणी के मनुष्य अपनी आयु को सफल कर लेते हैं और दूसरी श्रेणी के उसे निष्फल बना देते हैं।

अब फिर कहते हैं—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥२५॥

या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥२५॥

पदार्थान्वय—जा जा—जो जो रयणी—रात्रि वच्चइ—जाती है न—नहीं सा—वह पडिनियत्तई—वापस आती धम्म—धर्म कुणमाणस्स—करते हुए की सफला—सफल राइओ—रात्रियाँ जन्ति—जाती हैं।

मूलार्थ—जो रजनी चली जाती है, वह पीछे लौटकर नहीं आती किन्तु धर्म का आचरण करने वाले ने उन रात्रियों को सफल कर लिया।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि जो मनुष्य श्रुत और चारित्र रूप धर्म की आराधना करते हैं, उनकी जीवनचर्या सफल है। इसके विपरीत जिन लोगों के दिन व्यसनों के सेवन में व्यतीत होते हैं, उनका जीवन निष्फल है। इसलिए मनुष्य जन्म को प्राप्त करने का यही उद्देश्य है कि उसे धर्म के आराधन से सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय।

कुमारों के इस पवित्र कथन को सुनकर उनके पिता भृगु के हृदय में कुछ सद्बोध की प्राप्ति हुई और वह उन कुमारों से इस प्रकार कहने लगे—

एगओ संवसित्ता णं, दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥२६॥

मूलार्थ—जिसकी मृत्यु से मित्रता है, और जो मृत्यु से भाग सकता है तथा जिसको यह ज्ञान है कि मैं नहीं मरूँगा, वही पुरुष कल—आगामी दिवस की आशा कर सकता है।

टीका—भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों को युवावस्था के बाद दीक्षित होने की अनुमति दी, परन्तु कुमारों ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा है, उसका भाव यह है कि धर्म के आचरण में अमुक समय की प्रतीक्षा करनी किसी प्रकार से भी उचित नहीं क्योंकि पता नहीं, मृत्यु कब आकर गला दबा ले। समय की प्रतीक्षा तो वही पुरुष कर सकता है, जिसका मृत्यु के साथ मित्रचारा हो अथवा जो कोई भागकर उससे छुटकारा पा सके या जिसको मरना ही न हो परन्तु ये सब बातें असम्भव हैं अर्थात् न तो मृत्यु की किसी के साथ मित्रता है, और न कोई उससे भाग सकता है तथा ऐसा भी कोई नहीं कि जिसने मरना ही न हो तो ऐसी अवस्था में धर्माराधन के लिये समय की प्रतीक्षा करनी अर्थात् यह कहना कि अमुक काम हम फिर कभी करेंगे, किसी प्रकार से भी युक्तियुक्त नहीं प्रत्युत धर्माराधन के लिए तो जितनी शीघ्रता हो सके, उतनी ही कम है। इसलिए इस कार्य में समय की प्रतीक्षा करनी व्यर्थ है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो,
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि,
सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥२८॥

अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यावहे,
यं प्रपन्नौ न पुनर्भविष्यामः।
अनागतं नैव चास्ति किञ्चित्,
श्रद्धाक्षमं नो विनीय रागम् ॥२८॥

पदार्थान्वय —अज्जेव–आज ही धम्म–धर्म को पडिवज्जयामो–ग्रहण करेंगे जहिं–जिसके पवन्ना–ग्रहण करने से न पुणब्भवामो–फिर संसार में जन्म मरण नहीं करेंगे अणागय–बिना मिले नेव–नहीं है किंचि–किंचिन्मात्र य–पुन सद्धा–श्रद्धा—अभिलाषा खम–योग्य है णो–हमको विणइत्तु–दूर करना राग–राग को।

मूलार्थ—हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे, जिस धर्म के ग्रहण से फिर ससार में जन्म नहीं होता। ऐसा किंचिन्मात्र भी पदार्थ इस ससार में नहीं है, जो कि इस जीव को न मिल चुका हो। अतः धर्म में श्रद्धा रखनी और कामादि के राग को दूर करना ही हमारा कर्तव्य है।

टीका—पूर्वकाव्य में प्रकारान्तर से जीवन की अस्थिरता का वर्णन किया गया है। अब उसी के अनुसार वे दोनों कुमार अपने पिता से कहते हैं कि पिता जी! हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे क्योंकि धर्म के ग्रहण से हम जन्म और मरण दोनों से ही रहित हो सकते हैं अर्थात् फिर हमारा इस ससार में जन्म नहीं होगा। तथा आपने हमको कामभोगों के लिये बार २ आमन्त्रित किया परन्तु विचार से देखो तो संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि इस जीव को कभी न कभी प्राप्त न हो चुका हो। तात्पर्य कि यह आत्मा अनेक प्रकार की ऊँची नीची अवस्थाओं में से गुजरा है, और अनेक प्रकार के पदार्थों से इसका सम्बन्ध होता रहा है। कभी यह राजा बना कभी रंक, कभी मनुष्य बना कभी तिर्यंच एवं कभी देव और कभी नारकी। तात्पर्य कि ऐसी कोई अवस्था नहीं कि जिसका इस जीव ने एक अथवा अनेक बार अनुभव न किया हो। तब इन कामभोगादि विषयों का, न मालूम, हमने कितनी बार उपभोग किया है। इसलिए हमारी रुचि तो केवलमात्र कामादि राग के त्याग और धर्म के आराधन में है, उसी को हम स्वीकार करेंगे।

अपने पुत्रों के इस कथन को सुनकर भृगु पुरोहित ने अपनी यशा नाम्नी भार्या से जो कुछ कहा, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो,
वासिट्ठि भिक्खायरियाइ कालो ।
साहाहि रुक्खो लहई समाहिं,
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं ॥२९॥

प्रहीणपुत्रस्य खलु नास्ति वासः,
वासिष्ठि ! भिक्षाचर्यायाः कालः ।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधिं,
छिन्नाभिः शाखाभिस्तमेव स्थाणुम् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—पहीण—रहित पुत्तस्स—पुत्र के नत्थि वासो—मेरा बसना अच्छा नहीं वासिट्ठि—हे वासिष्ठि ! भिक्खायरियाइ—भिक्षाचर्या का हमारा भी कालो—काल है—समय है क्योंकि साहाहि—शाखाओं से रुक्खो—वृक्ष समाहिं—समाधि को लहई—प्राप्त करता है छिन्नाहि—छेदन करके साहाहि—शाखाओं का त—उस वृक्ष को एव—निश्चय ही खाणु—स्थाणु—ठोठ कहते हैं । हु—पादपूर्ति में ।

मूलार्थ—हे वासिष्ठि ! पुत्र से रहित होकर मेरा घर में बसना अच्छा नहीं, तथा मेरा भी भिक्षाचर्या—सन्यासी होने का समय है क्योंकि शाखाओं से ही वृक्ष समाधि को प्राप्त करता है और शाखाओं के कट जाने से लोक उसको स्थाणु कहते हैं।

टीका—भृगुपुरोहित अपनी स्त्री से कहते हैं कि हे वासिष्ठि ! (वसिष्ठगोत्र में उत्पन्न होने वाली !) पुत्रों के विना मेरा इस घर में रहना अब ठीक नहीं है और मेरा भिक्षाचर्या का समय भी आ गया है अर्थात् पुत्रों के चले जाने पर हमारा इस घर में रहना शोभा नहीं देता । वास्तव में वृक्ष अपनी शाखाओं से ही शोभा को प्राप्त होता है । शाखाओं के कट जाने से उसकी सारी रमणीयता जाती रहती है । उसको लोग वृक्ष के बदले स्थाणु—ठोठ कहते हैं । तात्पर्य कि ये दोनों कुमार हमारे गृहस्थाश्रम की शोभा के मूल कारण हैं । इनके चले जाने पर हमारा भी घर में रहना व्यर्थ है और उस ठोठ के समान शोभा से रहित है ।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी,
भिच्चाविहूणो व्व रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए,
पहीणपुत्तोमि तहा अहंपि ॥३०॥

पक्षविहीन इव यथेह पक्षी,
भृत्यविहीन इव रणे नरेन्द्रः।
विपन्नसारो वणिगिव पोते,
प्रहीणपुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ॥३०॥

पदार्थान्वय —पक्खा-परों से विहूणो-रहित जहा-जैसे इह-इस लोक में पक्खी-पक्षी होता है व्व-समुच्चयार्थक है भिच्चा-भृत्य—सेना से विहूणो-विहीन रणे-रण में नरिंदो नरेन्द्र व्व-समुच्चयार्थक है विवन्नसारो-धन से हीन वणिओ-वैश्य जैसे पोए-पोत के डूबने से दुःखी होता है पहीणपुत्तोमि-पुत्रों से हीन तहा-उसी प्रकार अहंपि-मैं भी हूँ।

मूलार्थ—जैसे परों के विना इस लोक में पक्षी है, सेना के विना संग्राम में राजा है, धन से हीन जैसे जहाज के चलाने वाला वणिक् है, उसी प्रकार का पुत्रों से हीन मैं हो गया हूँ।

टीका—भृगुपुरोहित ने अपनी भार्या से कहा कि हे प्रिये! जैसे इस लोक में परों के विना पक्षी होता है, सेना के विना रण में जैसे राजा है, और जैसे धनरहित तथा डूबते हुए जहाज वाला वणिक् है, उसी प्रकार पुत्रों के विना मैं भी वैसा ही होऊँगा। तात्पर्य कि परों से रहित पक्षी जैसे मार्जार आदि घातक जीवों से जल्दी पकड़ा जाता है, और सेनारहित राजा का जैसे संग्राम में जल्दी पराजय होता है, एवं धनरहित वणिक् जैसे जहाज के डूबने से अत्यन्त दुःखी होता है, उसी प्रकार पुत्रों के विना मुझे भी अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करना पड़ेगा।

साराश कि ससार में रहने का आनन्द पुत्र आदि परिवार के साथ ही परिवार से रहित होने पर ससार में निवास करने का न तो कोई सुख ही है न यश ही है।

अपने पति के इन वाक्यों को सुनकर यशा ने जो कुछ कहा, अब उ वर्णन करते हैं—

सुसंभिया कामगुणा इमे ते,
संपिण्डिआ अग्गरसप्पभूया ।
भुंजासु ता कामगुणे पगामं,
पच्छा गमिस्सासु पहाणमग्गं ॥३१॥

सुसम्भृताः कामगुणा इमे ते,
सम्पिण्डिता अग्र्यरसप्रभूताः ।
भुञ्जीवहि तान् कामगुणान् प्रकामं,
पश्चाद् गमिष्याव· प्रधानमार्गम् ॥३१॥

पदार्थान्वय —सुसभिया–अति सस्कृत कामगुणा–काम गुण इमे– प्रत्यक्ष ते–तुम्हारे हैं सपिण्डिया–भली प्रकार से मिले हुए अग्गरस–प्रधान रस व पभूया–प्रभूत हैं ता–इसलिए कामगुणे–कामगुणों को भुजासु–भोगें जो पगाम प्रकाम हैं—पर्याप्त हैं पच्छा–पीछे—वृद्धावस्था में पहाणमग्ग–प्रधानमार्ग—साधु को गमिस्सामु–ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—तुम्हारे ये कामभोग अच्छे सस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हु प्रधान रस वाले और पर्याप्त हैं। इसलिए हम लोग इन कामभोगों को भोगें पश्चात् दीक्षा रूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे।

टीका—यशा अपने पति से कहती है कि आपके घर में अनेक प्रक के मनोरजक कामभोग विद्यमान हैं। वे भी भली प्रकार से पर्याप्त रूप में उपस्थि हैं। अत हम लोग प्रथम इनको भोगें और पीछे से—जब कि युवावस्था की समा

और वृद्धावस्था का आगमन होगा—ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप जो प्रधान—श्रेष्ठ मार्ग है, उसको ग्रहण करेंगे। तात्पर्य कि यदि अनेक प्रकार से समझाने पर भी ये दोनों कुमार घर से जाते हैं तो जाने दो। हम बाद में चले जायँगे अथवा हमारे घर में और पुत्र हो जायँगे। अतः इनके साथ हमको जाने की आवश्यकता नहीं और यह प्राप्त हुई कामभोग की सामग्री का फिर मिलना भी नितान्त कठिन है।

अथ भृगुपुरोहित कहते हैं कि—

भुत्ता रसा भोइ जहाइ णे वओ,
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥३२॥

भुक्ता रसा भवति! जहति नो वयः,
न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं,
संवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—भोइ—हे प्रिये! भुत्ता—भोग लिये रसा—रस जहाइ—छोड़ता है णे—हमको वओ—यौवन वय—अवस्था जीवियट्ठा—जीवन के वास्ते भोए—भोगों को न पजहामि—नहीं छोड़ता हूँ लाभ—लाभ च—और अलाभ—अलाभ सुह—सुख च—और दुक्ख—दुःख को संचिक्खमाणो—सम्यक् प्रकार से विचारता हुआ मोणं—मुनिवृत्ति को चरिस्सामि—आचरण करूँगा।

मूलार्थ—हे प्रिये! रसों को हमने भोग लिया है। यौवन वय हमको छोड़ता चला जा रहा है। मैं जीवन के लिए भोगों को नहीं छोड़ता हूं अपितु लाभ अलाभ, सुख और दुःख को सम्यक् प्रकार से देखता हुआ मुनिवृत्ति का आचरण करूँगा।

टीका—पुरोहित जी अपनी यशा नाम्नी भार्या से कहते हैं कि हे प्रिये! रसादि पदार्थों को हमने खूब भोगा। अब यौवन हमें छोड़ता जाता है। इसलिए मैं

सारांश कि संसार में रहने का आनन्द पुत्र आदि परिवार के साथ ह
परिवार से रहित होने पर संसार में निवास करने का न तो कोई सुख ही है
न यश ही है।

अपने पति के इन वाक्यों को सुनकर यशा ने जो कुछ कहा, अब
वर्णन करते हैं—

सुसंभिया कामगुणा इमे ते,
संपिण्डिआ अग्गरसप्पभूया ।
भुंजासु ता कामगुणे पगामं,
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं ॥३१॥

सुसंभृताः कामगुणा इमे ते,
सम्पिण्डिता अग्र्यरसप्रभूताः ।
भुञ्जीवहि तान् कामगुणान् प्रकामं,
पश्चाद् गमिष्यावः प्रधानमार्गम् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—सुसंभिया—अति सत्कृत कामगुणा—काम गुण इ
प्रत्यक्ष ते—तुम्हारे हैं संपिण्डिया—भली प्रकार से मिले हुए अग्गरस—प्रधान रस
पभूया—प्रभूत हैं ता—इसलिए कामगुणे—कामगुणों को भुंजासु—भोगें ओ पग
प्रकाम हैं—पर्याप्त हैं पच्छा—पीछे—वृद्धावस्था में पहाणमग्ग—प्रधानमार्ग—साधु
को गमिस्सामु—ग्रहण करेंगे।

मूलार्थ—तुम्हारे ये कामभोग अच्छे संस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हु
प्रधान रस वाले और पर्याप्त हैं। इसलिए हम लोग इन कामभोगों को भो
पश्चात् दीक्षा रूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे।

टीका—यशा अपने पति से कहती है कि आपके घर में अनेक प्र
के मनोरंजक कामभोग विद्यमान हैं। वे भी भली प्रकार से पर्याप्त रूप में उपा
हैं। अतः हम लोग प्रथम इनको भोगें और पीछे से—जब कि युवावस्था की स

और वृद्धावस्था का आगमन होगा—ज्ञानदर्शन और चारित्र रूप जो प्रधान—श्रेष्ठ मार्ग है, उसको ग्रहण करेंगे। तात्पर्य कि यदि अनेक प्रकार से समझाने पर भी ये दोनों कुमार घर से जाते हैं तो जाने दो। हम बाद में चले जायँगे अथवा हमारे घर में और पुत्र हो जायँगे। अत इनके साथ हमको जाने की आवश्यकता नहीं और यह प्राप्त हुई कामभोग की सामग्री का फिर मिलना भी नितान्त कठिन है।

अब भृगुपुरोहित कहते हैं कि—

भुत्ता रसा भोइ जहाइ णे वओ,
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥३२॥

भुक्ता रसा भवति! जहति नो वयः,
न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःख,
सवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—भोइ-हे प्रिये! भुत्ता-भोग लिये रसा-रस जहाइ-छोड़ता है णे-हमको वओ-यौवन वय—अवस्था जीवियट्ठा-जीवन के वास्ते भोए-भोगों को न पजहामि-नहीं छोड़ता हूँ लाभ-लाभ च-और अलाभ-अलाभ सुह-सुख च-और दुक्ख-दुःख को सचिक्खमाणो-सम्यक् प्रकार से विचारता हुआ मोण-मुनिवृत्ति को चरिस्सामि-आचरण करूँगा।

मूलार्थ—हे प्रिये! रसों को हमने भोग लिया है। यौवन वय हमको छोड़ता चला जा रहा है। मैं जीवन के लिए भोगों को नहीं छोड़ता हू अपितु लाभ अलाभ, सुख और दुःख को सम्यक प्रकार से देखता हुआ मुनिवृत्ति का आचरण करूँगा।

टीका—पुरोहित जी अपनी यशा नाम्नी भार्या से कहते हैं कि हे प्रिये! रसादि पदार्थों को हमने खूब भोगा। अब यौवन हमें छोड़ता जाता है। इसलिए मैं

अब इन विकारों के संग को छोड़ता हूँ। तथा यह भी ध्यान रहे कि मैं संसार को जीवन के वास्ते नहीं छोड़ता किन्तु लाभ अलाभ, सुख और दुःख का सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करता हुआ मुनिवृत्ति को धारण कर रहा हूँ क्योंकि जब तक युवावस्था का कुछ अंश बना हुआ है, तब तक ही संयम क्रिया के अनुष्ठान में प्रायः अधिक सफलता की संभावना रहती है। तात्पर्य कि मेरी दीक्षा का कारण युवावस्था को स्थिर रखना नहीं अपितु परमार्थसम्बन्धी लाभालाभ और सुख-दुःख का अनुभव करना है। अतः मैं दीक्षा के लिये उद्यत हुआ हूँ।

पति के उक्त विचार को सुनकर उससे सहमत न होती हुई यशा उसके प्रति फिर कहती है—

मा हु तुम सोयरियाण सम्मरे,
जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं,
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥३३॥

मा खलु त्वं सौन्दर्याणां स्मार्षीः,
जीर्ण इव हंसः प्रतिस्रोतोगामी ।
भुंक्ष्व भोगान् मया समं,
दुःखं खलु भिक्षाचर्या ॥

पदार्थान्वय—हु—निश्चय तुम— सो

मा सम्मरे—मत स्मरण करो जुण्णो— —प्रति

गामी होता हुआ भोगाइ—भोगों को खु

ही भिक्खायरिया—भिक्षाचर्या और

मूलार्थ—भृगुपत्नी यशा

की तरह तुम अपने भाइयों का

क्योंकि यह भिक्षावृत्ति और विहार

टीका—यशा कहती है कि हे स्वामिन् ! आप दीक्षा के लिये उद्यत तो हो रहे हो परन्तु कहीं ऐसा न हो कि दीक्षा लेकर उसके कष्टों का अनुभव करते हुए अपने सहोदर भाइयों या अन्य सम्बन्धियों को स्मरण करने लग जायँ ? जैसे कि प्रतिस्रोत में गमन करने वाला बूढा हंस अपनी असमर्थता के कारण जल में ही निमग्न हो जाता है । अतएव मैं आपसे निवेदन करती हूँ कि आप मेरे साथ गृहवास में रहते हुए सासारिक सुखों का अनुभव कीजिए क्योंकि भिक्षाचर्या—भिक्षावृत्ति—भिक्षु बनकर घर घर में माँगना तथा अप्रतिबद्ध होकर ग्राम २ या नगर २ में विचरना बड़ा ही कष्टजनक है । यहाँ पर विहार शब्द साधु के समस्त आचारों का उपलक्षण है । कहने का तात्पर्य है कि आप इसके लिये शीघ्रता मत करें क्योंकि संयम का पालन करना कुछ सहज काम नहीं है । अतः कुछ समय और घर में व्यतीत करो । फिर इस पर विचार करना । वृत्तिकार ने 'खु' शब्द वाक्यालंकार में ग्रहण किया है ।

अब भृगुपुरोहित कहते हैं—

जहा य भोई तणुयं भुयंगो
  निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेए जाया पयहन्ति भोए,
  ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को ॥३४॥

यथा च भवति ! तनुजां भुजङ्गः
  निर्मोचनीं हित्वा पर्येति मुक्तः ।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्,
  तौ अहं कथं नानुगमिष्याम्येकः ॥३४॥

पदार्थान्वयः—भोई-हे प्रिये ! जहा-जैसे य-पुनः भुयगो-सर्प तणुय-शरीर में उत्पन्न हुई निम्मोयणिं-काँचली को हिच्च-छोड़ करके पलेइ-भाग जाता है मुत्तो-निरपेक्ष होता हुआ एमे-इसी प्रकार ए-मेरे जाया-दोनों पुत्र भोए-भोगों को पयहंति-छोड़ते हैं ते-उन दोनों के साथ अहं-मैं इक्को-अकेला कहं-कैसे नाणुगमिस्स-न जाऊँ ।

मूलार्थ—हे प्रिये ! जैसे सर्प अपने शरीर में उत्पन्न हुई काँचली को त्याग कर निरपेक्ष होता हुआ भाग जाता है, उसी प्रकार तेरे ये दोनों ही पुत्र सांसारिक भोगों को छोड़कर चले जा रहे हैं। जब ऐसा है तब मैं भी उनके साथ ही क्यों न जाऊँ ? अर्थात् मैं अकेला यहाँ पर क्या करूँ।

टीका—भृगु जी कहते हैं कि हे प्रिये ! जिस प्रकार सर्प अपने शरीर में उत्पन्न हुई काँचली को निकालकर परे फेंक देता है और स्वयं वहाँ से चला जाता है और पीछे फिर कर उसको देखता तक भी नहीं, इसी प्रकार तेरे ये दोनों पुत्र संसार के विषयभोगों को अति तुच्छ समझकर उन्हें छोड़कर जा रहे हैं। ऐसी दशा में मैं इनके बिना अकेला घर में बैठा रहूँ, यह किस प्रकार उचित समझा जा सकता है। सो फिर मैं भी इनके साथ ही क्यों न चला जाऊँ ? तात्पर्य कि मेरे जैसे व्यक्ति को इन योग्य पुत्रों के बिना घर में रहना किसी प्रकार से भी उचित नहीं। अतः मैं इनके साथ ही चले जाने को श्रेयस्कर समझता हूँ।

अब फिर इसी विषय में प्रकारान्तर से कहते हैं—

छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया,
मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा,
धीरा हु भिक्खारियं चरन्ति ॥३५॥

छित्त्वा जालमबलमिव रोहिताः,
मत्स्या यथा कामगुणान् प्रहाय।
धौरेयशीलास्तपसा उदाराः,
धीराः खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति ॥३५॥

पदार्थान्वयः—छिंदित्तु–छेदन करके जालं–जाल को अबलं व–निर्बल की तरह जहा–जैसे रोहिया–रोहित जाति का मच्छा–मत्स्य उसी तरह कामगुणे–कामगुणों को पहाय–छोड़कर धोरेय–धौरी—वृषभवत् सीला–स्वभाव तवसा–

तप से उदारा-प्रधान धीरा-सत्त्व वाले हु-निश्चय ही भिक्खारियं-भिक्षाचरी को चरति-आचरते हैं।

मूलार्थ—जैसे रोहित जाति का मत्स्य निर्बल जाल को छेदन करके चला जाता है, उसी प्रकार कामगुणों को त्यागकर ये मेरे पुत्र जा रहे हैं क्योंकि तपःप्रधान और धर्मधुरधर धीर पुरुष ही भिक्षाचर्या—मुनिवृत्ति—का अनुसरण करते हैं।

टीका—जैसे कोई बलवान् पुरुष निर्बल—जीर्ण वस्तु को तोड़कर अर्थात् उसके प्रतिबन्ध को दूर करके आगे निकल जाता है अथवा जैसे रोहित मत्स्य निर्बल जाल में फँसने पर उसे अपनी तीक्ष्ण पूँछ से काटकर उसके बन्धन से निकल जाता है, उसी प्रकार मेरे ये पुत्र कामभोगरूप जाल को तोड़कर प्रव्रज्या के लिए जा रहे हैं। परन्तु यह भी कोई साधारण काम नहीं अर्थात् भिक्षाचर्या—संयमवृत्ति को पालन करना धीर पुरुषों का ही काम है, जो कि धर्म में बलवान् वृषभ की तरह धुरधर हो और तप के आचरण में प्रधान हो। तात्पर्य कि संसार के विषयभोगों का त्याग करके जिस मुनिवृत्ति को ग्रहण करने के लिये ये कुमार जा रहे हैं, वह भी परम धीर और गम्भीर प्रकृति के पुरुषों द्वारा ही आचरण की जा सकती है।

पति के इस उपदेश को सुनकर बोध को प्राप्त हुई यशा ने अपने मन में जो कुछ विचार किया, अब उसका वर्णन करते हैं—

नहेव कुंचा समइक्कमंता,
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं,
ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का ॥३६॥

नभसीव क्रौञ्चाः समतिक्रामन्तः,
ततानि जालानि दलित्वा हंसाः।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम,
तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका ॥३६॥

पदार्थान्वय —नहे–आकाश में कुचा–क्रौंच पक्षी व–यत् समइकमता–म्यक् प्रकार से जाते हैं तयाणि–विस्तीर्ण जालाणि–जाल को दलितु–दलन रके हसा–हस—पक्षी जाते हैं उसी प्रकार पलेंति–जाते हैं मज्झ–मेरे पुत्ता–पुत्र –और पई–पति य–पुन ते–उनके साथ अह–मैं एक्का–अकेली कह–कैसे णुगमिस्स–न जाऊँ।

मूलार्थ—आकाश में सम्यक् प्रकार से जैसे क्रौंच पत्ती जाते हैं और स्तृत जाल को भेदन करके जैसे हस चले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पति सार को छोड़कर जा रहे हैं, तो फिर अकेली मैं उनके साथ क्योंकर न जाऊँ र्थात् मुझे भी उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए।

टीका—इस गाथा में यशा देवी के मानसिक विचारों का दिग्दर्शन कराया या है। यह मन में विचार करती है कि जैसे आकाश में क्रौंच पक्षी अव्याहत गति से चले जाते हैं और जैसे जालों को अनर्थरूप जानकर उनके अनेक खड करके हंस चले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे पुत्र और पतिदेव भी विषयों के विकट जाल को तोड़कर क्रौंच और हस की तरह सयम रूप आकाश में अव्याहत रूप से विचरने के लिये जा रहे हैं। जब कि ऐसी अवस्था है तो मैं अकेली घर में कैसे रहूँ अर्थात् मैं भी इनके पीछे ही क्यों न जाऊँ ? पुत्रों और पति के चले जाने पर पीछे स्त्री का घर में रहना किसी प्रकार से भी शोभा योग्य नहीं माना जाता। अत मुझे भी इनके साथ ही सयमव्रत ग्रहण कर लेना चाहिए।

इसके अनन्तर भृगु पुरोहित, उसकी धर्मपत्नी और दोनों कुमार इन चारों की एक सम्मति होने पर ये चारों ही वीतराग देव के धर्म में दीक्षित हो गये अर्थात् चारों ने सयम मार्ग को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार उनके सयम ग्रहण करने के अनन्तर जो कुछ हुआ, अब सूत्रकार उसका वर्णन करते हैं। यथा—

पुरोहियं तं ससुयं सदारं,
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुम्बसारं विउलुत्तमं च,
रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥३७॥

पुरोहितं तं ससुतं सदारं,
श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान्।
कुडुम्बसारं विपुलोत्तमं च,
राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी ॥३७॥

पदार्थान्वय —तं–उस पुरोहियं–पुरोहित को ससुयं–पुत्रों के और सदारं–अपनी स्त्री के साथ सोचा–सुनकर अभिनिक्खम्म–घर से निकलकर भोए–भोगों को पहाय–छोड़कर च–और कुडुंब–कुटुंब सार–प्रधान धन विउलुत्तमं–विस्तीर्ण और उत्तम तं–उसे ग्रहण करते हुए देखकर रायं–राजा को अभिक्खं–बार बार देवी–कमलावती समुवाय–कहने लगी।

मूलार्थ—संसार के समस्त कामभोगों का त्याग करके अपने पुत्रों और स्त्री के साथ घर से निकलकर दीक्षित हुए भृगु पुरोहित को सुनकर उसके धनादि प्रधान पदार्थों को ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले राजा को, उसकी देवी—धर्मपत्नी कमलावती ने बार २ इस प्रकार कहा।

टीका—जब भृगुपुरोहित ने सांसारिक पदार्थों का त्याग करके अपनी स्त्री और पुत्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली अर्थात् वे चारों ही दीक्षित हो गये तो इसकी सूचना पाकर वहाँ के राजा ने उसका कुटुम्ब और उसके घर में होने वाले विपुल धन आदि पदार्थों को अपने अधीन कर लेने का विचार किया क्योंकि भृगुपुरोहित जिस धनादि विपुल सामग्री का त्याग करके दीक्षित हुआ, वह प्रायः अधिकतर राजा के यहाँ से ही आई हुई थी। इसलिए उसने उसे ग्रहण करने में कोई दोष नहीं समझा, परन्तु उसकी कमलावती नाम की राणी को राजा का यह विचार उचित नहीं लगा। तब वह राजा से बार २ इस प्रकार कहने लगी।

कमलावती राणी ने राजा से जो कुछ कहा, अब उसी का वर्णन निम्नलिखित गाथा में किया जाता है। यथा—

वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं, धणं आयाउमिच्छसि ॥३८॥

वान्ताशी पुरुषो राजन्, न स भवति प्रशंसनीयः ।
ब्राह्मणेन परित्यक्तं, धनमादातुमिच्छसि ॥३८॥

पदार्थान्वय —वंतासी-वमन किये हुए को खाने वाला राय-राजन् ! पुरिसो-पुरुष न-नहीं सो-वह पसंसिओ-प्रशंसा के योग्य होइ-होता है माहणेण-ब्राह्मण के द्वारा परिचत्त-त्यागे हुए धण-धन को आदाउं-ग्रहण करने की इच्छसि-तुम इच्छा करते हो ।

मूलार्थ—हे राजन् ! वमन किये हुए को खाने वाला पुरुष कभी प्रशंसा का पात्र नहीं होता । परन्तु ब्राह्मण के द्वारा त्यागे गये धन को तुम ग्रहण करने की इच्छा करते हो !

टीका—रानी कहती है कि जिस प्रकार वमन किये हुए भुक्त पदार्थ को ग्रहण करने वाला पुरुष इस लोक में प्रशंसा का पात्र नहीं बन सकता, उसी प्रकार ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने में आपकी भी प्रशंसा नहीं होगी किन्तु निन्दा की ही अधिक संभावना है। तात्पर्य कि पहले तो आपने इस धन को संकल्प द्वारा वमन किया और अब इसे ब्राह्मण ने वमन कर दिया । इस प्रकार यह धन दो बार वमन किया गया है । अतः आप जैसे भद्र पुरुष को ऐसे वमनतुल्य हेय पदार्थ को कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। सारांश कि जैसे वान्ताशी पुरुष संसार में श्लाघनीय नहीं होता किन्तु निन्दा एवं भर्त्सना के योग्य माना जाता है, उसी प्रकार आप भी प्रशंसा के योग्य नहीं रहोगे ।

अस्तु, यदि इस वमन किये हुए धन को आप ग्रहण भी कर लें तो भी इससे आपकी बढ़ी हुई धनपिपासा की शांति होनी कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है, उसकी पूर्ति तो विश्व के सारे पदार्थ भी नहीं कर सकते । अब इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥३९॥

सर्वं जगद्यदि तव, सर्वं वापि धनं भवेत् ।
सर्वमपि ते अपर्याप्तं, नैव त्राणाय तत्तव ॥३९॥

पदार्थान्वय —सव्व–सर्व जगं–जगत् जइ–यदि तुह–तेरा होवे वा–अथवा सव्व–सर्व धणं–धन वि–अपि शब्द से क्षेत्रादि तेरे भवे–होवें सव्वपि–सर्व पदार्थ भी ते–तेरे लिए – अपज्जत्त–अपर्याप्त हैं—तेरी तृष्णा को पूर्ण करने में असमर्थ हैं। नेयं–यह पदार्थ तव–तेरे कष्टादि को मिटाने के लिए नेव–नहीं हैं ताणाय–रक्षा के लिए।

मूलार्थ—हे राजन्! यदि यह सारा जगत् तेरा हो जाय, सारे धनादि पदार्थ भी तेरे पास हो जायँ, तो भी यह सब अपर्याप्त ही है अर्थात् विश्व के सारे पदार्थ भी तेरी तृष्णा को पूरी करने में असमर्थ हैं और ये सब पदार्थ मरणादि कष्टों के समय तेरी किसी प्रकार की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

टीका—देवी कमलावती कहती है कि हे राजन्! यदि समस्त जगत् तेरे वश में हो जाय तथा विश्व में जितना भी धन है वह सब तेरे पास आ जाय, ऐसा होने पर भी यह सब पदार्थसमूह तेरी तृष्णा को पूर्ण नहीं कर सकता क्योंकि यह तृष्णा आकाश के समान अनन्त है और धन असंख्यात है। तथा ये सब पदार्थ तेरे जरा, रोग और मरण आदि कष्टों को मिटाने में किंचिन्मात्र भी सहायक नहीं हो सकते। अत इनकी लालसा करनी व्यर्थ है। देवी के कथन का अभिप्राय स्पष्ट है। वह यह कि यदि कोई मनुष्य करोड़ों रुपया खर्च कर भी यह चाहे कि मुझे जरा—बुढ़ापा अथवा मृत्यु की प्राप्ति न हो तो उसकी यह इच्छा कभी सफल नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि यह धनादि पदार्थ जरा और मृत्यु के कष्ट में कुछ भी वास्तविक सहायता नहीं पहुँचा सकते तो फिर ब्राह्मण के त्यागे हुए—एक प्रकार से वमन किये हुए—धन को ग्रहण करने की जो जघन्य लालसा है, उसका कारण केवल बढ़ी हुई तृष्णा है, जिसकी पूर्ति बिना सन्तोष के और किसी वस्तु अथवा उपाय द्वारा नहीं हो सकती।

अब राणी फिर कहती है कि—

मरिहिसि रायं! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥४०॥

मरिष्यसि राजन् ! यदा तदा वा,
मनोरमान् कामगुणान् प्रहाय ।
एकः खलु धर्मो नरदेव ! त्राणं,
न विद्यतेऽन्यमिहेह किञ्चित् ॥४०॥

पदार्थान्वयः—राय-राजन् ! जया-जिस समय वा-अथवा तया-उस समय तू मरिहिसि-मरेगा मणोरमे-मनोरम कामगुणे-कामगुणों को पहाय-छोड़कर हु-जिससे एक्को-एक धम्मो-धर्म ही नरदेव-हे नरदेव ! ताणं-त्राण है इह-इस लोक में अन्नं-अन्य पदार्थ इह-इस लोक में मृत्यु के समय किंचि-किंचिन्मात्र भी न विज्जई-नहीं है।

मूलार्थ—हे राजन् ! जब मृत्यु का समय आयगा, उस समय तू अवश्य मरेगा और मनोरम—सुन्दर कामगुणों को छोड़कर मृत्यु को प्राप्त होगा। हे नरदेव ! इस लोक में मृत्यु के समय पर एक धर्म ही रक्षा करने वाला होगा। धर्म के बिना अन्य कोई इस मनुष्य का त्राता नहीं है।

टीका—देवी ने फिर कहा कि हे राजन् ! जब मृत्यु का समय आयगा, उस समय तू अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होगा। तथा इन अति प्यारे और सुन्दर कामगुणों को भी त्यागकर मृत्यु को प्राप्त होगा अर्थात् इस समय जिन सांसारिक पदार्थों से तू प्रगाढ प्रेम कर रहा है, इनमें से कोई भी तेरा साथी बनने का नहीं है। इसलिए हे नरदेव ! विश्व में इस प्राणी का एकमात्र धर्म ही रक्षक है। धर्म के बिना और कोई भी पदार्थ न तो इसका रक्षक है और न साथ जाने वाला है। प्रस्तुत गाथा में संसार के सम्बन्ध को लेकर धर्म की आवश्यकता और संसार की अनित्यता का अच्छा चित्र खींचा है।

जब कि धर्म के बिना इस जीव का कोई भी त्राता नहीं तो फिर क्या करना चाहिए ? अब इसी विषय में कहते हैं—

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा,
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा,
परिग्गहारम्भनियत्तदोसा ॥४१॥

नाहं रमे पक्षिणी पञ्जर इव,
छिन्नसन्ताना चरिष्यामि मौनम्।
अकिञ्चना ऋजुकृता निरामिषा,
परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता ॥४१॥

पदार्थान्वयः—न-नहीं अहं-मैं रमे-रति पाती हूँ वा-जैसे पक्खिणि-पक्षिणी पिंजरे-पिंजरे में संताणछिन्ना-स्नेह की संतति का विच्छेद है, जिसके मोणं-मुनिवृत्ति को चरिस्सामि-ग्रहण करूँगी अकिंचणा-द्रव्य से रहित उज्जुकडा-सरलतापूर्वक अनुष्ठान करने वाली निरामिसा-विषयरूप मांस से रहित तथा परिग्गहारंभनियत्तदोसा-परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्त हुई।

मूलार्थ—पिंजरे में रही हुई पक्षिणी की तरह मैं इस संसार में रति—आनन्द को नहीं पाती, अतः जिसमें स्नेह की सन्तति का विच्छेद हो जाता है, ऐसी मुनिवृत्ति को मैं ग्रहण करूँगी। अकिंचन, ऋजुकृत और निरामिष होकर तथा परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्ति को प्राप्त करती हुई।

टीका—इस गाथा के द्वारा कमलावती ने अपने हार्दिक भावों को बड़ी सुन्दरता से प्रकट कर दिया है। वह राजा से कहती है कि जैसे पिंजरे में रहती हुई पक्षिणी आनन्द नहीं पाती उसी प्रकार जन्म, जरा और मृत्यु आदि अनेक उपद्रवों वाले इस भव रूप पंजर में रहती हुई मैं भी आनन्द को प्राप्त नहीं करती। अतः स्नेह के बन्धन से रहित होती हुई मैं मुनिवृत्ति को धारण करूँगी। तदर्थ मैं द्रव्य और भाव से अकिंचन बनूँगी। द्रव्य से हेमादिरहित होना, भाव से कषायरहित होना। तथा सरलता-पूर्वक क्रिया करने वाली, विषय रूप मांस की अभिलाषा का त्याग करती हुई और आरम्भ तथा परिग्रह रूप दोष से निवृत्ति ग्रहण करूँगी। इस प्रकार कमलावती ने, संसार से निवृत्त होकर भावसंयम ग्रहण करने का जो अभिप्राय था, उसको स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया। यहाँ पर 'वा' शब्द उपमा के अर्थ में आया है। तथा 'संताणछिन्ना' में छिन्न शब्द का परनिपात प्राकृत से है। एवं 'परिग्गहारंभनियत्तदोसा' इसमें पूर्वापरनिपात अतंत्र है।

अब फिर प्रस्तुत विषय का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं—



दवग्गिणा जहारण्णे, डज्झमाणेसु जन्तुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति, रागद्दोसवसं गया ॥४२॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं ॥४३॥

दवाग्निना यथारण्ये, दह्यमानेषु जन्तुषु ।
अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते, रागद्वेषवशं गताः ॥४२॥
एवमेव वयं मूढाः, कामभोगेषु मूर्च्छिताः ।
दह्यमानं न बुध्यामहे, रागद्वेषाग्निना जगत् ॥४३॥

पदार्थान्वय—दवग्गिणा–दवाग्नि द्वारा जहा–जैसे अरण्णे–वन में डज्झमाणेसु–जलते हुए जन्तुसु–जन्तुओं को—देखकर—अन्ने–अन्य सत्ता–जीव पमोयन्ति–आनन्द मनाते हैं रागद्दोस–रागद्वेष के वसं गया–वश में होते हुए ।

एवमेव–इसी प्रकार वयं–हम मूढा–मूढ हैं कामभोगेसु–कामभोगों में मुच्छिया–मूर्च्छित हैं डज्झमाणं–जलते हुए प्राणियों को देखकर न बुज्झामो–बोध को प्राप्त नहीं होते जो रागद्दोसग्गिणा–रागद्वेष रूप अग्नि से जगं–जगत् जला रहा है ।

मूलार्थ—जैसे वन की अग्नि से जलते हुए जीवों को देखकर रागद्वेष के वशीभूत हुए अन्य जीव हर्ष मनाते हैं, उसी प्रकार कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हुए हम मूढ़ भी जलते हुए प्राणियों को देखकर बोध को प्राप्त नहीं होते क्योंकि रागद्वेषरूप अग्नि से यह जगत् जल रहा है ।

टीका—कमलावती कहती है कि हे राजन् ! वन में दवाग्नि के प्रचण्ड होने से अनेक जंतु जलकर भस्म हो जाते हैं परन्तु वन से बाहर के जीव उन भस्म हुए जंतुओं को देखकर रागद्वेष के कारण आनन्द मनाते हैं । अविवेक के प्रभाव से उनके हृदय में ये भाव उत्पन्न होते हैं कि ये हमारे परम शत्रु थे । अच्छा हुआ, जो कि भस्म हो गये । अब निष्कंटकता हो जायगी तथा वन में हम अब सुखपूर्वक निवास करेंगे, इत्यादि । उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के वश में होकर हम भी उन पशुओं की तरह महामूढ बनकर कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं क्योंकि रागद्वेष रूप अग्नि के द्वारा

जलते हुए प्राणिवर्ग को देखकर हमें कुछ भी बोध नहीं होता। परन्तु जो विवेक और विचार रखने वाले पुरुष होते हैं, वे अन्य जीवों को संकट में पड़े देखकर द्रवित हो उठते हैं और उनकी रक्षा का उपाय करने लगते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यह कष्ट किसी दिन हम पर भी आने वाला है तथा इनकी आत्मा और हमारी आत्मा दोनों समान हैं। अतः इनके कष्टों में सहानुभूति प्रदर्शित करना हमारा मुख्य कर्तव्य है। परन्तु जो विवेकरहित और प्रमादी जीव हैं, वे अन्य के कष्टों को देखकर उनमें सहायक होने के स्थान पर उलटा हर्ष मनाते हैं। हे राजन्! हम इनमें से ही हैं क्योंकि हम यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि सांसारिक पदार्थों—धन, स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि—पर अत्यन्त स्नेह रखने वाले जीव इनको यहीं पर छोड़कर परलोक की यात्रा कर गये हैं। वे, जाते हुए न तो स्वयं इनको साथ लेकर गये और न ये स्वयं ही उनके साथ गये किन्तु ये सब यहीं पर पड़े रहे और यहीं पर इनको छोड़कर वे स्नेही चले गये। यह देखकर हमको कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अन्यथा हमको इस बात का पूर्णतया भान रहना चाहिए कि हमारा वास्तविक कर्तव्य क्या है, हमारे साथ जाने वाला और यहाँ पर रह जाने वाला पदार्थ क्या है तथा हम किससे प्रेम करें और किससे उदासीन रहें एवं परलोकयात्रा में हमारा सहायक कौन हो सकता है, और जिन विषयभोगों में हम मूर्च्छित हो रहे हैं तथा जिनके लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहने और अनर्थ करने को हम उद्यत रहते हैं, वे हमारा कहाँ तक भला कर सकते हैं, कहाँ तक हमारा साथ दे सकते हैं। तात्पर्य कि विचारपूर्वक अपने कर्तव्य का निश्चय करने में हम सर्वथा अज्ञ बने हुए हैं। इसी लिए दूसरे के त्यागे हुए धनादि वस्तु को प्राप्त करके हमें अत्यन्त हर्ष होता है, यह कितनी मूढ़ता और स्वार्थपरायणता है।

अस्तु, जो पुरुष विवेकविकल नहीं विचारशील हैं, अब उनका कर्तव्य बतलाते हैं। जैसे कि—

भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव ॥४४॥

भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च, लघुभूतविहारिण ।
आमोदमाना गच्छन्ति, द्विजा कामक्रमा इव ॥४४॥

पदार्थान्वय —भोगे-भोगों को भोच्चा-भोगकर य-और फिर वमित्ता-को छोड़कर लहुभूय-लघुभूत विहारिणो-अप्रतिबद्ध विहार करने वाले आमोय-णा-आनन्दित होते हुए गच्छन्ति-जाते हैं कामकमा-स्वेच्छापूर्वक विचरने वाले या-पक्षी की इव-तरह ।

मूलार्थ—जो विवेकी पुरुष होते हैं, वे प्रथम भोगों को भोगकर फिर नको छोड़कर वायु की भांति अत्यन्त लघु होकर अप्रतिबद्ध विहार करते हैं ौर तथाविध अनुष्ठान में आनन्द मनाते हुए विचरते हैं जैसे कि पक्षिगण पनी इच्छापूर्वक गमन करते अथवा विचरते हैं ।

टीका—जो पुरुष विचारशील और पुण्यवान् होते हैं, वे आयुपर्यन्त इन पयभोगों में खचित नहीं रहते किन्तु कुछ समय तक इनका उपभोग करके बाद में नका परित्याग करते हुए आत्मशुद्धि की ओर प्रवृत्त होते हैं । तथा कामभोगों का रित्याग करके वायु की तरह लघु और स्वच्छ होकर बन्धनरहित पक्षी की भांति अप्रति-द्धविहारी होकर आनन्द में मग्न रहते हुए सदा स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं । तात्पर्य कि ासारिक विषयभोगों से विरक्त होकर ज्ञानपूर्वक सयम को ग्रहण करने वाले महात्मा रुषों की प्रवृत्ति ठीक उस पक्षी के समान है कि जो सर्वथा बन्धनरहित, स्वतन्त्र और वेच्छापूर्वक विचरने वाला है । जिस प्रकार आकाश में विचरने वाले पक्षी को कोई न्धन नहीं, उसी प्रकार संयमशील को भी किसी प्रकार का लौकिक बन्धन नहीं । जैसे क्षी निरन्तर विचरता रहता है, ऐसे वे भी सदा अप्रतिबद्धविहारी होते हैं । एव जिस कार पक्षी स्वेच्छापूर्वक गमन करता है, उसी प्रकार मुनिजन भी जहाँ २ धर्म का अधिक लाभ देखते हैं और सयम की अधिक निर्मलता देखते हैं, वहा पर अपनी इच्छा से जाते हैं तथा रागद्वेष की न्यूनता से उनका जीवन सदा आनन्दपूर्ण और शांतियुक्त रहता है, यह उनमें विशेषता है ।

राजा को प्रतिबोध करने के निमित्त अब राणी फिर कामभोगादि विषयों के परित्याग की चर्चा करती हुई कहती है—

इमे य बद्धा फन्दन्ति, मम हत्थज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥४५॥

इमे च बद्धाः स्पन्दन्ते, मम हस्तमार्य ! आगताः ।
वयं च सक्ताः कामेषु, भविष्यामो यथेमे ॥४५॥

पदार्थान्वयः—इमे–ये प्रत्यक्ष च–समुच्चयार्थ में है बद्धा–नियन्त्रित किये हुए भी फन्दन्ति–अस्थिर स्वामी होने से चंचल हैं वय–हम च–फिर सत्ता–आसक्त हैं कामेसु–कामभोगों में जहा–जैसे इमे–ये भृगुपुरोहित आदि हो गये हैं उसी प्रकार भविस्सामो–हम भी होंगे अर्थात् धर्म में दीक्षित होंगे ।

मूलार्थ—ये कामभोग रक्षा करने पर भी चचल हैं, हे आर्य ! जो कि मेरे और आपके हस्तगत हो रहे हैं और फिर हम इनमें आसक्त हो रहे हैं । अतः जैसे भृगुपुरोहित आदि इनको छोड़ गये हैं, उसी प्रकार हम भी छोड़ेंगे ।

टीका—देवी कमलावती फिर कहती है कि हे आर्य ! ये कामभोगादि अनेक प्रकार से सुरक्षित किये जाने पर भी अस्थिरस्वभावी होने से चचलता को ही धारण किये हुए हैं, जो कि मेरे और आपके हस्तगत हो रहे हैं और हम इनमें आसक्त हो रहे हैं । परन्तु जैसे ये भृगुपुरोहित आदि इनको छोड़कर चले गये हैं, उसी प्रकार हम भी इनका परित्याग करके धर्म में दीक्षित होने के लिए जायँगे । प्रस्तुत गाथा में कामभोगों की अस्थिरता और उनके त्याग का प्रतिपादन किया गया है, जो कि मुमुक्षु पुरुष को सदा और सर्वथा उपादेय है । तथा उक्त गाथा में यद्यपि अकेला 'मम' शब्द है तथापि वह 'तव' का भी उपलक्षण है । एवं 'अज्ज' शब्द के 'आर्य' और 'अद्य' ये दोनों प्रतिरूप बनते हैं, सो इनका यथायोग्य अर्थ कर लेना चाहिए ।

अस्तु, अब शास्त्रकार इस बात का वर्णन करते हैं कि इन कामादि विषयों के त्यागने में ही सुख है, भोगने में नहीं । यथाहि—

सामिसं कुललं दिस्स, बज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामि निरामिसा ॥४६॥

सामिषं कुललं दृष्ट्वा, बाध्यमानं निरामिषम् ।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा, विहरिष्यामि निरामिषा ॥४६॥

पदार्थान्वय—सामिस–मांस के सहित कुलल–गृध्र—पक्षी—को दिस्स–

देखकर वज्झमाणा—अन्य पक्षियों द्वारा पीडित होता हुआ निरामिस—आमिप से रहित पक्षी को पीडा से रहित देखकर आमिम—मास को सव्व-सर्वप्रकार से उज्झित्ता—त्यागकर विहरिस्सामि—विचरूँगी निरामिसा—निरामिप होती हुई।

मूलार्थ—मांससहित गृद्धपक्षी को अन्य पक्षियों द्वारा पीड़ित होते हुए और मांसरहित को सुखी देखकर मैं सर्वप्रकार से मांसरहित होकर—मांस को छोड़कर विचरूँगी।

टीका—देवी कमलावती कहती है कि हे राजन्! जैसे एक पक्षी के पास मास का टुकड़ा है। उसे देखकर अन्य पक्षी उस पर झपट पड़ते और उसे अनेक प्रकार की पीड़ा पहुँचाते हैं परन्तु जिस पक्षी के पास मास नहीं होता वह आनन्दपूर्वक विचरता है अथवा जब वही पक्षी मांस के टुकड़े को छोड़ देता है तो वह सुखी हो जाता है अर्थात् फिर उसे कोई नहीं सताता। इसी प्रकार अति स्नेहयुक्त होने से ये धन धान्यादि पदार्थ भी मास के समान हैं तथाच जो इसमें अत्यन्त आसक्त हो रहे हैं, वे अनेक प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित हो रहे हैं किन्तु जिन्होंने इनको मांस का लोथड़ा समझकर त्याग दिया है वे सुखी हैं अर्थात् उनको किसी प्रकार का दु:ख नहीं होता। इसलिए इन मांसतुल्य विषयभोगों का त्याग करके अर्थात् निरामिप होती हुई मैं संयममार्ग में विचरूँगी। यहा पर एकवचन की क्रिया के स्थान में बहुवचन का प्रयोग प्राकृत के 'व्यत्ययश्च' इस नियम से जानना। प्रस्तुत गाथा में धनधान्यादि पदार्थों में मूर्च्छित होने और उनके त्याग करने, इन दोनों बातों का फलवर्णन करते हुए शास्त्रकार ने इनकी हेयोपादेयता को स्पष्ट बतला दिया है, जिससे कि मुमुक्षु पुरुषों को अपने कर्तव्य का निर्णय करने में सुविधा रहे।

अब इसी प्रस्ताव में अन्य ज्ञातव्य विषय का वर्णन करते हैं—

गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे ॥४७॥

गृध्रोपमान् तु ज्ञात्वा, कामान् संसारवर्धनान्।
उरगः सौपर्णेयपार्श्वे इव, शङ्कमानस्तनु चरेत् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—उ–तु–समुच्चयार्थ में गिद्धोवमे–गृद्धपक्षी की उपमा वाले नच्चा–जानकर कामे–कामभोगों को ससारवड्ढणे–संसार के बढाने वाले व्व–जैसे उरगो–साँप सुवण्ण–गरुड के पासि–समीप सकमाणो–शंकता हुआ तणु–स्तोक यत्न से चरे–विचरता है ण–वाक्यालकार में है ।

मूलार्थ—गृद्धपक्षी की उपमा वाले और ससार को बढ़ाने वाले इन कामभोगों को जानकर जैसे साँप गरुड़ के समीप शनैः २ शंकाशील होकर चलता है, उसी प्रकार तू भी सयममार्ग में यत्न से चल ।

टीका—देवी कहती है कि हे राजन्! ये कामभोग गीध पक्षी के मुख में रक्खे हुए मास के टुकड़े के समान हैं और ससार के बढाने वाले हैं। ऐसा जानकर गरुड के पास से शंकायुक्त होकर शनैः २ जाने वाले सर्प की भांति तू भी इनसे शंकित रहता हुआ यत्नपूर्वक सयममार्ग में विचरने का उद्योग कर। तात्पर्य कि जिस प्रकार सर्प गरुड से शंकित रहता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को सदा पापकर्म के आचरण से सशंकित रहना चाहिए । यहाँ पर 'इव' शब्द *यद्यपि भिन्नक्रम में दिया है तथापि* उसका *सम्बन्ध* सौपर्णेय के साथ ही करना चाहिए ।

जब कि इस प्रकार का उपदेश है तो फिर क्या करना चाहिए ? अब इसी विषय में कहते हैं—

नागो व्व वंधणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए ।
एयं पत्थं महारायं उस्सुयारि त्ति मे सुयं ॥४८॥

नाग इव वन्धन छित्त्वा आत्मनो वसतिं व्रजेत् ।
एतत्पथ्य महाराज ! इषुकार ! इति मया श्रुतम् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—नागो–हाथी व्व–वत् बंधणं–बन्धन को छित्ता–छेदन करके अप्पणो–आत्मा की वसहिं–वस्ति को वए–जावे महारायं–हे महाराज ! एयं–यह पत्थं–पथ्यरूप उपदेश उस्सुयारि–हे इषुकार ! त्ति–इस प्रकार मे–मैंने सुयं–सुना है ।

मूलार्थ—जैसे हस्ती बन्धन को तोड़कर वन में चला जाता है, उसी प्रकार तू भी कर्मबन्धन को तोड़कर आत्मवसति—मोक्ष—में जा। हे महाराज ! हे इषुकार ! इस प्रकार यह पथ्यरूप उपदेश मैंने सुना है ।

टीका—महाराज इषुकार से उसकी राणी कमलावती कहती है कि जिस प्रकार संगल आदि बन्धनों को तोड़कर हस्ती सुखपूर्वक वन में चला जाता है, उसी प्रकार आप भी कर्मों के बन्धनों को तोड़कर आत्मवसति—मोक्ष—में चले जाओ। हे महाराज! यह उपदेश बड़ा ही पथ्यरूप है। इसी के द्वारा जीव अपने ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हे इषुकार! इस प्रकार मैंने महात्माजनों से श्रवण किया है। यहाँ पर कमलावती ने अपने कथन को परम्परा प्राप्त बतलाते हुए उसे उपादेय तथा प्रामाणिक बतलाने का यत्न किया है तथा साधुजनों से सुना हुआ यह उपदेश उनकी विशिष्टता तथा पूज्यता का भी द्योतक है। क्योंकि साधुपुरुष सदा सत्यवक्ता और हितोपदेष्टा होते हैं।

राणी कमलावती के उपदेश से जब राजा इषुकार को प्रतिबोध हो गया, तब वे दोनों—राजा और राणी—किस ओर प्रवृत्त हुए, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥४९॥

त्यक्त्वा विपुल राज्य, कामभोगांश्च दुस्त्यजान्।
निर्विषयौ निरामिषौ, निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ ॥४९॥

पदार्थान्वय—विउलं-विस्तीर्ण रज्जं-राज्य को चइत्ता-छोड़कर य-और दुच्चए-दुस्त्यज कामभोगे-कामभोगों को निव्विसया—विषयरहित निरामिसा—आमिष—धनधान्यादि से रहित निन्नेहा-स्नेह से रहित और निप्परिग्गहा-परिग्रह से रहित हुए।

मूलार्थ—वे दोनों—राणी और राजा—विपुल राज्य और दुस्त्यज कामभोगों को छोड़कर विषयों से, धनधान्यादि पदार्थों से एव स्नेह तथा परिग्रह से रहित हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में देवी कमलावती के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन है अर्थात् राणी चाहती थी कि उसके पतिदेव सासारिक पदार्थों के मोह को छोड़कर प्रव्रजित हो जायँ। सो उसके उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त हुए राजा ने अपना विस्तृत राज्य तथा कामभोगादि पदार्थों का परित्याग करके दीक्षा के लिए प्रस्थान कर

दिया, यही उसके उपदेश की सफलता है। तब इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि राज्य और कामभोगादि विषयों का परित्याग करने से वे दोनों निर्विषय अर्थात् विषयों से रहित हो गये। विषयरहित होने से आमिषतुल्य धनधान्यादि पदार्थों से उनकी आसक्ति जाती रही। अतएव वे निरामिष बन गये। निरामिष होने से उनका किसी पर भी ममत्व न रहा। इसलिये वे निःस्नेह अर्थात् स्नेह—प्रीति—राग—से रहित हो गये। स्नेह से रहित होना ही निष्परिग्रह होना अर्थात् परिग्रह से रहित होना है क्योंकि मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है—"मुच्छापरिग्गहो वुत्तो"। अतः वे दोनों परिग्रह से भी रहित हो गये। तात्पर्य कि उन्होंने द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से संयम को अपना लिया।

इसके अनन्तर उन दोनों की क्या चर्या रही, अब इसी विषय को प्रतिपादन करते हैं—

सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ॥५०॥

सम्यग् धर्म विज्ञाय, त्यक्त्वा कामगुणान् वरान्।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं, घोरं घोरपराक्रमौ ॥५०॥

पदार्थान्वयः—सम्मं–सम्यक् धम्मं–धर्म को वियाणित्ता–जानकर वरे–श्रेष्ठ—प्रधान कामगुणे–कामगुणों को चिच्चा–त्यागकर तवं–तपकर्म अहक्खायं–यथाख्यात—अर्हदादि ने जिस प्रकार से वर्णन किया है घोरं–अति विकट पगिज्झ–ग्रहण करके घोरपरक्कमा–घोर पराक्रम वाले हुए।

मूलार्थ—धर्म को सम्यक्—भली प्रकार से जानकर, प्रधान कामभोगों को छोड़कर तीर्थंकरादि द्वारा प्रतिपादन किये हुए घोर तप कर्म को स्वीकार करके वे दोनों घोर पराक्रम वाले हुए।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि उन दोनों—राणी और राजा ने श्रुत और चारित्र रूप धर्म को भली भाँति जानकर संसार के प्रधान से प्रधान विषयभोगों का भी परित्याग कर दिया, जिनका कि त्याग करना बहुत ही कठिन है। इसके

टीका—महाराज इषुकार से उसकी राणी कमलावती कहती है कि जिस प्रकार सगल आदि बन्धनों को तोड़कर हस्ती सुखपूर्वक वन में चला जाता है, उसी प्रकार आप भी कर्मों के बन्धनों को तोड़कर आत्मवसति—मोक्ष—में चले जाओ। हे महाराज ! यह उपदेश बड़ा ही पथ्यरूप है। इसी के द्वारा जीव अपने ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हे इषुकार ! इस प्रकार मैंने महात्माजनों से श्रवण किया है। यहाँ पर कमलावती ने अपने कथन को परम्परा प्राप्त बतलाते हुए उसे उपादेय तथा प्रामाणिक बतलाने का यत्न किया है तथा साधुजनों से सुना हुआ यह उपदेश उनकी विशिष्टता तथा पूज्यता का भी द्योतक है। क्योंकि साधुपुरुष सदा सत्यवक्ता और हितोपदेष्टा होते हैं।

राणी कमलावती के उपदेश से जब राजा इषुकार को प्रतिबोध हो गया, तब वे दोनों—राजा और राणी—किस ओर प्रवृत्त हुए, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥४९॥

त्यक्त्वा विपुलं राज्यं, कामभोगांश्च दुस्त्यजान्।
निर्विषयौ निरामिषौ, निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ ॥४९॥

पदार्थान्वय—विउलं—विस्तीर्ण रज्जं—राज्य को चइत्ता—छोड़कर य—और दुच्चए—दुस्त्यज कामभोगे—कामभोगों को निव्विसया—विषयरहित निरामिसा—आमिष—धनधान्यादि से रहित निन्नेहा—स्नेह से रहित और निप्परिग्गहा—परिग्रह से रहित हुए।

मूलार्थ—वे दोनों—राणी और राजा—विपुल राज्य और दुस्त्यज कामभोगों को छोड़कर विषयों से, धनधान्यादि पदार्थों से एवं स्नेह तथा परिग्रह से रहित हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में देवी कमलावती के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन है अर्थात् राणी चाहती थी कि उसके पतिदेव सांसारिक पदार्थों के मोह को छोड़कर प्रव्रजित हो जायँ। सो उसके उपदेश से प्रतिबोध को प्राप्त हुए राजा ने अपना विस्तृत राज्य तथा कामभोगादि पदार्थों का परित्याग करके दीक्षा के लिए प्रस्थान कर

दिया, यही उसके उपदेश की सफलता है। तब इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि राज्य और कामभोगादि विषयों का परित्याग करने से वे दोनों निर्विषय अर्थात् विषयों से रहित हो गये। विषयरहित होने से आमिषतुल्य धनधान्यादि पदार्थों से उनकी आसक्ति जाती रही। अतएव वे निरामिष बन गये। निरामिष होने से उनका किसी पर भी ममत्व न रहा। इसलिये वे निःस्नेह अर्थात् स्नेह—प्रीति—राग—से रहित हो गये। स्नेह से रहित होना ही निष्परिग्रह होना अर्थात् परिग्रह से रहित होना है क्योंकि मूर्च्छा का नाम ही परिग्रह है—"मुच्छापरिग्गहो वुत्तो"। अतः वे दोनों परिग्रह से भी रहित हो गये। तात्पर्य कि उन्होंने द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से संयम को अपना लिया।

इसके अनन्तर उन दोनों की क्या चर्या रही, अब इसी विषय को प्रतिपादन करते हैं—

सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमा ॥५०॥

सम्यग् धर्मं विज्ञाय, त्यक्त्वा कामगुणान् वरान्।
तपः प्रगृह्य यथाख्यातं, घोरं घोरपराक्रमौ ॥५०॥

पदार्थान्वयः—सम्मं—सम्यक् धम्मं—धर्म को वियाणित्ता—जानकर वरे—श्रेष्ठ—प्रधान कामगुणे—कामगुणों को चिच्चा—त्यागकर तवं—तपकर्म अहक्खायं—यथाख्यात—अर्हदादि ने जिस प्रकार से वर्णन किया है घोरं—अति विकट पगिज्झ—ग्रहण करके घोरपरक्कमा—घोर पराक्रम वाले हुए।

मूलार्थ—धर्म को सम्यक्—भली प्रकार से जानकर, प्रधान कामभोगों को छोड़कर तीर्थंकरादि द्वारा प्रतिपादन किये हुए घोर तप कर्म को स्वीकार करके वे दोनों घोर पराक्रम वाले हुए।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि उन दोनों—राणी और राजा ने श्रुत और चारित्र रूप धर्म को भली भांति जानकर संसार के प्रधान से प्रधान विषयभोगों का भी परित्याग कर दिया, जिनका कि त्याग करना बहुत ही कठिन है। इसके

नन्तर उन्होंने उस घोर—अति विकट—तपकर्म का आचरण करना आरम्भ किया, सका प्रतिपादन अर्हतादि ने साधुओं को उद्देश रखकर किया है। उस तप रूप र कर्म के तीव्र अनुष्ठान से वे दोनों घोर पराक्रमी हुए अर्थात् उक्त तपरूप कर्म के भाव से उन्होंने आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को दूर करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की, थवा यों कहिए कि उन्होंने कर्मरूप शत्रुओं को पराजित करने में पूर्ण पराक्रम दिखलाया।

साराश कि प्रथम धर्म को भली प्रकार से जानने का प्रयत्न करना चाहिए। जब सका यथार्थ बोध हो जाय तब विषयभोगों का परित्याग करके ज्ञानपूर्वक तपस्या का ाचरण करना चाहिए। उसके बिना आत्मा के साथ लगे हुए कर्मरूप मल का दग्ध होना सम्भव है। अतः ज्ञानपूर्वक तपकर्म के अनुष्ठान से शुद्ध हुई आत्मा परमात्मा के रूप को प्राप्त हो जाती है, जो कि सब का परम ध्येय और परम लक्ष्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसहार और निगमन निम्नलिखित दो गाथाओं से करते हैं—

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा, दुक्खस्सन्तगवेसिणो ॥५१॥
एवं ते क्रमशो बुद्धा, सर्वे धर्मपरायणाः।
जन्ममृत्युभयोद्विग्नाः, दुःखस्यान्तगवेषिणः ॥५१॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार ते–वे छओं जीव कमसो–क्रम से बुद्धा–प्रतिबोध को प्राप्त हुए सव्वे–सर्व धम्मपरायणा–धर्मपरायण हुए जम्म-मच्चु-भउ विग्गा–जन्म-मृत्यु के भय से उद्विग्न हुए तथा दुक्खस्संत–दुःख के अन्त के गवेसिणो–गवेषक हुए।

मूलार्थ—इस प्रकार वे छः जीव क्रम से प्रतिबोध को प्राप्त हुए और सभी धर्म में तत्पर हुए तथा जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न होकर दुःखों के अन्त के गवेषक बने।

टीका—अब शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार वे छओं जीव क्रम से प्रतिबोध को प्राप्त हुए। यथा—साधुओं के दर्शन से दोनों कुमारों को प्रतिबोध हुआ, कुमारों के कथन

से भृगुपुरोहित को वैराग्य हुआ, भृगुपुरोहित से उसकी धर्मपत्नी यशा को बोध हुआ, इन चारों को दीक्षित हुए जानकर कमलावती को वैराग्य हुआ और राणी के उपदेश से राजा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। इस प्रकार ये छः जीव अनुक्रम से एक दूसरे के उपदेश से धर्म में दीक्षित हुए अर्थात् संसार में विरक्त होकर सर्वविरति धर्म में एकनिष्ठा से तत्पर हो गये।

संयम ग्रहण का मुख्य उद्देश्य जन्म-मरण के दृढ़तर बन्धन से मुक्त होना है। इसलिए जन्म, जरा और मृत्यु आदि दुःखों का अन्त किस प्रकार या किन उपायों से हो सकता है अर्थात् सर्वप्रकार के दुःखों का अन्त किस प्रकार से हो सकता है, वे इसी की गवेषणा में प्रवृत्त हुए। तात्पर्य कि सर्वविरतिरूप संयम द्वारा दुःखों का समूल घात करने के लिये कटिबद्ध हो गये।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी बात का उल्लेख करते हैं—

सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण, दुक्खस्सन्तमुवागया ॥५२॥

शासने विगतमोहाना, पूर्वं भावनाभाविता।
अचिरेणैव कालेन, दुःखस्यान्तमुपागता ॥५२॥

पदार्थान्वयः—विगयमोहाण—मोहरहित के सासणे—शासन में पुव्विं—पूर्वजन्म में भावणभाविया—भावना से भावित हुए अचिरेणेव—थोड़े ही कालेण—काल में दुक्खस्सन्त—दुःखों के अन्त को उवागया—प्राप्त हो गये—मुक्त हो गये।

मूलार्थ—अर्हत् शासन में पूर्वजन्म की भावना से भावित हुए [वे छओं जीव] थोड़े ही काल में दुःखों के अन्त को प्राप्त हो गये *अर्थात्*—मुक्त हो गये।

टीका—प्रतिबोध होने के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि मोहनीय कर्म का समूलघात करने वाले श्रीअरिहन्तदेव के शासन में जो पूर्वजन्म की भावना से भावित थे अर्थात् जिन्होंने पूर्वजन्म में भी तप और संयम का भूरितर आराधन किया हुआ था—अतएव उसके प्रभाव से जिनके बहुत से कर्म क्षीण भी हो चुके थे—थोड़े ही काल में दुःखों के अन्त को प्राप्त हो गये। तात्पर्य कि शेष कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो गये।

प्रस्तुत गाथा में इस भाव को भी व्यक्त किया है कि पूर्वजन्म में किया हुआ अभ्यास उत्तर जन्म में भी सहायक होता है और उसी के द्वारा आगामी जन्म में शीघ्र सफलता प्राप्त होती है तथा अभ्यास से चारित्रावरणीय कर्म क्षयोपशम दशा को प्राप्त हो जाता है। उससे इस जीव को धर्म की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को धर्म के अभ्यास में प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

अब मन्दबुद्धि पुरुषों के स्मरणार्थ अध्ययन की समाप्ति करते हुए सूत्रकार उन छः आत्माओं का नाम निर्देश करते हुए फिर कहते हैं। यथा—

राया सह देवीए, माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे ॥५३॥
त्ति बेमि।

इति उसुयारिज्जं चउद्दसमं अज्झयणं समत्तं ॥१४॥

राजा सह देव्या, ब्राह्मणश्च पुरोहितः।
ब्राह्मणी दारकौ चैव, सर्वे ते परिनिर्वृताः ॥५३॥
इति ब्रवीमि।

इति इषुकारीयं चतुर्दशमध्ययनं समाप्तम् ॥१४॥

पदार्थान्वय —राया–राजा सह–साथ देवीए–देवी के य–और माहणो–ब्राह्मण पुरोहिओ–पुरोहित च–और माहणी–ब्राह्मणी एव–निश्चय ही दारगा–उसके दोनों पुत्र ते–वे सव्वे–सब परिनिव्वुडे–निर्वृति—मोक्ष—को प्राप्त हुए त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—राजा और उसकी राणी, ब्राह्मण और उसकी धर्मपत्नी तथा उसके दोनों पुत्र ये सब निर्वृति—मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार मैं—सुधर्मास्वामी—कहता हूँ।

टीका—इस गाथा में मन्दबुद्धि पुरुषों को सद्बोध प्राप्ति के निमित्त उन भाग्यशाली जीवों का फिर से नाम लिया गया है । यथा—इषुकार राजा, उसकी कमलावती राणी, भृगुपुरोहित और उसकी धर्मपत्नी यशा तथा यशा के दोनों कुमार ये छओं जीव कर्मबन्ध के कारणभूत राग द्वेष और कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप अग्नि के सर्वथा शान्त होने से परम शान्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हो गये क्योंकि जब तक इस आत्मा में राग, द्वेष और कषायों की विद्यमानता है तब तक इसको शांति नहीं होती । जिस समय यह आत्मा कषायों से सर्वथा मुक्त हो जाता है, उस समय इसको परमनिर्वृति—निर्वाण—मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसलिए मोक्षप्राप्ति के निमित्त कर्मबन्धनों का टूटना परम आवश्यक है और कर्मबन्धन से छूटने के लिए कषायों की निवृत्ति परम आवश्यक है तथाच कषायों की निवृत्ति संयम की आराधना से हो सकती है । अतः दर्शनज्ञान और चारित्ररूप रत्नत्रयी की सम्यग् उपासना के द्वारा संयम में प्रवृत्ति करने वाला जीव कर्मों के जाल को तोड़कर तथा आत्मा में रहे हुए कर्मजन्य अज्ञानान्धकार को दूर करके केवल प्राप्ति के द्वारा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता हुआ चारों अघाती कर्मों के क्षय होने से परमनिर्वृति—निर्वाणपद—मोक्षपद—को प्राप्त कर लेता है, जिसका कि अन्य दार्शनिकों ने कैवल्य या विदेहमुक्ति के नाम से उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त "त्ति बेमि" पद की व्याख्या पहले की तरह ही समझ लेनी ।

चतुर्दशाध्ययन समाप्त ।

अह सभिक्खू पंचदहं अज्झयणं

अथ सभिक्षुर्नाम पञ्चदशमध्ययनम्

चौदहवें अध्ययन में जो निदान से रहित होकर क्रियानुष्ठान करते हैं, उनके गुणों का वर्णन किया गया है परन्तु वे गुण भिक्षुओं में ही उपलब्ध होते हैं। अत इस पन्द्रहवें अध्ययन में भिक्षुओं के ही गुणों का यत् किंचित् उल्लेख किया जाता है, जिसकी कि आदिम गाथा इस प्रकार है—

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं,
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने।
संथवं जहिज्ज अकामकामे,
अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥१॥

मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्मं,
सहित ऋजुकृतः छिन्ननिदानः।
संस्तवं जह्यादकामकामी,
अज्ञातैषी परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥१॥

पदार्थान्वयः—मोणं—संयमवृत्ति को चरिस्सामि—आचरण करूँगा समिच्च—विचार कर धम्मं—धर्म को सहिए—सम्यग्दर्शनादि से युक्त उज्जुकडे—ऋजुकृत

नियाणछिन्ने–निदान से रहित सथव–संस्तव को जहिज्ज–छोड़े अकामकामे–कामभोगों की कामना न करने वाला या मुक्ति की कामना करने वाला अन्नायएसी–अज्ञातकुल की भिक्षा करने वाला परिव्वए–प्रतिबद्धता से रहित होकर विचरे स–वह भिक्खू–भिक्षु होता है।

मूलार्थ—मैं धर्म को प्राप्त करके मुनिवृत्ति का आचरण करूँगा [ऐसी प्रतिज्ञा वाला] दर्शनादि से युक्त, माया से रहित होकर क्रियानुष्ठान करने वाला, निदान और संस्तव से रहित तथा विषयों की कामना न करने वाला अपितु मोक्ष की इच्छा रखने वाला तथा अज्ञात कुल में भिक्षा करने वाला और अप्रतिबद्धविहारी जो हो, वह भिक्षु होता है।

टीका—इस गाथा में भिक्षु के कर्तव्यों का दिग्दर्शन किया गया है। जैसे कि—किसी भद्र आत्मा ने यह विचार किया कि मैं अब मुनिवृत्ति को धारण करूँगा, क्योंकि मुझको धर्म की प्राप्ति हो गई है। इस विचार के अनुसार जब वह दीक्षित हो गया तो उसको इन नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है, तभी वह भिक्षु कहला सकेगा। इसी लिए भिक्षु के निम्नलिखित नियम उक्त गाथा में बतलाये गये हैं। यथा—दर्शनादि से युक्त होना अर्थात् तत्त्वार्थ में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला होना, माया—कपट—से रहित होकर क्रियानुष्ठान करना, तथा उसका जो भी क्रियानुष्ठान हो, वह सब निदान से रहित हो और जिसने संस्तव का त्याग कर दिया हो। संस्तव नाम सम्बन्धियों के परिचय का है। पूर्वसंस्तव माता, पिता आदि का और पश्चात् संस्तव श्वशुरादि का तथा मित्रवर्ग का होता है। एवं जो विषयों की कामना को छोड़कर मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला हो, तथा—जो भिक्षा के लिये अपनी तपश्चर्या को न बतलाने और प्रतिबन्धरहित होकर विचरने वाला हो अर्थात् जो इन पूर्वोक्त नियमों के पालन करने वाला हो, वह भिक्षु कहलाता है। यद्यपि वृत्तिकारों ने 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने गुणों को जतलाकर भिक्षा न लेने वाला किया है परन्तु दशाश्रुतस्कन्ध के पाँचवें अध्ययन में श्रावक की प्रतिज्ञा के अधिकार में ऐसा वर्णन किया है कि—'प्रतिज्ञाधारी श्रावक ज्ञातकुल की गोचरी करे अर्थात् अपनी जाति की गोचरी करे क्योंकि उसमें अभी ममत्व का भाव शेष रहता है। जब वह साधु बन गया, तब उसका संसार से ममत्व सर्वथा छूट जाता है। तब उसके लिए ज्ञातकुल की गोचरी नहीं रहती।

इसलिए साधु के वास्ते अज्ञातकुल की गोचरी का विधान है'। इस वर्णन से 'अज्ञातैषी' का ज्ञातकुल से भिक्षा न लेने वाला—यह अर्थ भी सगत प्रतीत होता है। तथा उक्त गाथा के समुच्चय भाव पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि दीक्षित पुरुष सिंह की तरह निर्भय होकर रहे और सिंह की तरह ही विचरे। 'नियाणछिन्ने' में छिन्न शब्द का परनिपात प्राकृत होने से जानना।

अथ भिक्षु के स्वरूपवर्णन में उसके अन्य गुणों का वर्णन करते हैं। यथा—

राओवरयं चरेज्ज लाढे,
विरए वेयवियायरक्खिए।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
जे कम्हिवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥२॥

रागोपरतश्चरेल्लाढः,
विरतो वेदविदात्मरक्षितः।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी,
यः कस्मिन्नपि न मूर्च्छितः स भिक्षुः ॥२॥

पदार्थान्वयः—राओवरय-राग से रहित लाढे-सदनुष्ठान से युक्त चरेज्ज-विचरे विरए-विरतियुक्त वेयविय-सिद्धान्त का वेत्ता आयरक्खिए-आत्मरक्षक पन्ने-प्रज्ञावान् अभिभूय-परिषहों को जीतकर सव्वदसी-सर्वदर्शी जे-जो कम्हिवि-किसी वस्तु पर भी न मुच्छिए-मूर्च्छित नहीं होता स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—राग से रहित और सदनुष्ठानपूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, सिद्धान्त का वेत्ता, आत्मरक्षक, बुद्धिमान्, और परिषहों को जीतकर सर्वप्राणियों को अपने समान देखने वाला तथा जो किसी वस्तु पर भी मूर्च्छित नहीं होता, वही भिक्षु है।

टीका—इस काव्य में भिक्षु का स्वरूप उसके गुणों द्वारा वर्णन किया गया है। जैसे कि भिक्षु उसे कहते हैं, जो राग और द्वेष से रहित हो। क्योंकि राग से

रहित पुरुष ही विषयों से निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। फिर जो सदनुष्ठानपूर्वक विचरता है, वह भिक्षु है। क्योंकि सदनुष्ठानपूर्वक विचरता हुआ जीव ही परोपकार कर सकता है। तथा जो सिद्धान्त को जानकर दुर्गति से आत्मा की रक्षा करने वाला हो, उसको वेदविदात्मरक्षित कहते हैं अर्थात् वही भिक्षु है। 'वेद्यते अनेन तत्त्वमिति वेदः सिद्धान्तस्तस्य वेदन विन् तया, आत्मरक्षितो दुर्गतिपतनात् त्रायते अनेनेति वेदविदात्मरक्षितः' अथवा वेदवित्—सिद्धान्त का वेत्ता और आय—ज्ञानादि लाभ के द्वारा आत्मा की रक्षा करने वाला, और हेय—ज्ञेय—उपादेय के स्वरूप का ज्ञाता भिक्षु है। तथा जो परिषहों का विजेता, सर्वजीवों पर समभाव रखने वाला और सचित्त, अचित्त एव मिश्रित रूप किसी पदार्थ पर भी ममत्व न रखने वाला हो, वही भिक्षु है। तथा 'सर्वदर्शी' का यह भी अर्थ किया है कि 'सर्वं दशति भक्षयति—अर्थात् साधु रसगृद्धि को छोड़ता हुआ जैसा आहार मिले, उसे समतापूर्वक सर्व ही भक्षण कर लेवे किंतु नीरस समझकर उसे फैंक न देवे।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अक्कोसवहं विइत्तु धीरे,
मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥३॥

आक्रोशवधं विदित्वा धीरः,
मुनिश्चरेल्लाढो नित्यमात्मगुप्तः।
अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः,
यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ॥३॥

पदार्थान्वयः—अक्कोसवहं—आक्रोश वध को विइत्तु—जानकर धीरे—धैर्यवान् मुणी—साधु लाढे—सदनुष्ठानयुक्त चरे—विचरे। निच्च—सदा ही आयगुत्ते—आत्मगुप्त होकर अव्वग्गमणे—व्यग्र मन से रहित असंपहिट्ठे—हर्ष से रहित जे—जो कसिणं—सम्पूर्ण परिषहों को अहियासिए—सहन करता है स—वह भिक्खू—भिक्षु है।

मूलार्थ—आक्रोश—वध आदि परिषहों को, अपने किये हुए कर्मों का फल जानकर जो धैर्ययुक्त होकर सहन करता है, तथा सदनुष्ठानयुक्त मुनि नित्य ही आत्मगुप्त होकर देश में विचरता है, एवं हर्ष-विषाद से रहित होकर जो सम्पूर्ण परिषहों को सहन करता है, वह भिक्षु है।

टीका—आक्रोशपरिषह—असभ्य वचन, वधपरिषह—घात करना, इनके उदय होने पर मुनि इस बात का विचार करे कि यह सब, मेरे पूर्व किये हुए कर्मों का ही फल है। अतः धैर्यशील मुनि उक्त परिषहों के उपस्थित होने पर भी अक्षुब्ध ही रहे अर्थात् किसी प्रकार का क्षोभ न करे। तथा सदा ही आत्मा को असंयत प्रवृत्ति से गुप्त रक्खे, और सदनुष्ठानपूर्वक अप्रतिबद्ध होकर देश में विचरे—विहार करे। अपितु किसी भी परिषह के आने पर मन को व्यग्र न करे अर्थात् व्याकुल न हो जाय किन्तु शांतिपूर्वक उनको सहन करे तथा आक्रोशादि परिषहों को सहन करके हर्षित भी न होवे अर्थात् मैंने अमुक परिषह को जीत लिया, देखो मैं कितना शूरवीर हूँ, इस प्रकार की गर्वोक्ति से आत्मगत हर्ष को भी प्रकट न करे। इस भांति जो सम्पूर्ण परिषहों पर विजयी होता है, वही भिक्षु कहलाने के योग्य है। तात्पर्य कि भिक्षुपद की सार्थकता शांतिपूर्वक कष्टों के सहन करने में है, केवल वेषधारण कर लेने में नहीं।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

पन्तं सयणासणं भइत्ता,
सीउण्हं विविहं च दंसमसगं ।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥४॥

प्रान्तं शयनासनं भजित्वा,
शीतोष्णं विविधं च दंशमशकम् ।
अव्यग्रमना असंप्रहृष्टः,
यः कृत्स्नमध्यासयेत् स भिक्षुः ॥४॥

पदार्थान्वयः—पन्त–निस्सार सयण–शय्या आसण–आसन भइत्ता–सेवन करके सीउण्ह–शीत और उष्ण च–तथा विविह–नानाप्रकार के दसमसग–दंश और मशक के परिषहों के प्राप्त होने पर अव्वग्गमणे–आकुलतारहित असपहिट्ठे–हर्षरहित जे–जो कसिण–सम्पूर्ण परिषहों को अहियासए–सहन करता है स–वह भिक्खू–भिक्षु है।

मूलार्थ—निस्सार शय्या और आसन को सेवन करके शीतोष्ण तथा नानाविध दंश और मशक परिषहों के प्राप्त होने पर जो हर्ष और विषाद को प्राप्त नहीं होता किन्तु शांतिपूर्वक सम्पूर्ण परिषहों को सहन कर लेता है, वह भिक्षु है।

टीका—शय्या और आसन यदि इच्छानुकूल न मिले तो भी अर्थात् निस्सार शय्या, आसन और भोजन आदि का उपयोग करके शीत, उष्ण तथा दंश, मशक आदि परिषहों के उपस्थित होने पर भी जो मुनि व्याकुल नहीं होता तथा हर्ष और विषाद को प्राप्त नहीं होता किन्तु धैर्यपूर्वक सब परिषहों को सहन कर लेता है, वही भिक्षु है अर्थात् भिक्षु पद की शोभा को बढ़ाने वाला है।

अब फिर इसी विषय का उल्लेख करते हैं—

नो सक्कइमिच्छई न पूयं,
नोवि य वन्दणगं कुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी,
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥५॥

न सत्कृतिमिच्छति न पूजां,
नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम्।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी,
सहितः आत्मगवेषकः स भिक्षुः ॥५॥

पदार्थान्वयः—सक्कइ–सत्कार को नो इच्छई–नहीं चाहता न पूयं–न पूजा को चाहता है नोवि य–और न वन्दणगं–वन्दना की इच्छा रखता है कुओ–कहाँ से पसंसं–प्रशंसा की इच्छा करे से–वह संजए–संयत और सुव्वए–सुव्रत तवस्सी–तप

ने वाला सहिए-ज्ञान से युक्त आयगवेसए-आत्मा की गवेषणा करने वाला म-
ह भिक्खू-भिक्षु है।

मूलार्थ—जो सत्कार और पूजा की इच्छा नहीं रखता, वन्दना और प्रशंसा को नहीं चाहता, वह संयत, सुव्रती, तपस्वी और ज्ञानादि के साथ आत्मा की गवेषणा करने वाला है और वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा में सत्कार पुरस्कार परिषह की चर्चा की गई है। वास्तव भिक्षु वही है, जो अपने सत्कार आदि की इच्छा नहीं रखता। जैसे कि—मेरे आने लोग खड़े हो जायँ और अब मैं कहीं जाऊँ तो मेरी भक्ति के निमित्त मुझे छोड़ने वें, तथा वस्त्रादि से मेरी पूजा करें, और विधिपूर्वक मेरी वन्दना करें तथा मय २ पर मेरी प्रशंसा करें, इत्यादि। तात्पर्य कि इन सत्कार, पूजा आदि वस्तुओं की जो आकांक्षा नहीं करता, वह भिक्षु है। वही संयत—संयमशील, सुव्रती—सुन्दर तों वाला, परमतपस्वी—उत्कृष्ट तप करने वाला, ज्ञान और क्रिया से युक्त तथा आत्मा की खोज करने वाला है। सारांश कि इन उक्त गुणों से जो विभूषित है, वह भिक्षु कहलाता है।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

जेण पुणो जहाइ जीवियं,
मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी,
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥६॥

येन पुनर्जहाति जीवितं,
मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति।
नरनारिं प्रजह्यात् सदा तपस्वी,
न च कौतूहलमुपैति स भिक्षुः ॥६॥

पदार्थान्वयः—जेण-जिससे पुणो-फिर जहाइ-छोड़ देता है जीविय-संयम—जीवितव्य वा-अथवा मोहं-मोह कसिणं-सम्पूर्ण नियच्छइ-बाँधता है

नरनारिं–पुरुष और स्त्री की संगति को पजहे–छोड देवे सया–सदैव तवस्सी–तप करने वाला य–और न कोऊहल–नहीं कौतूहल को उवेइ–प्राप्त होता स–वही भिक्खू–भिक्षु है।

मूलार्थ—जिसके सग करने से सयमरूप जीवितव्य छूटता हो अथवा सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का बन्ध होता हो, ऐसे नर और नारी की सगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड देवे और कुतूहलता को प्राप्त न होवे, वही भिक्षु कहलाता है।

टीका—इस गाथा में सयम के विघात करने वाले पदार्थों के ससर्ग का निषेध किया गया है अर्थात् जिनके ससर्ग से सयमरूप जीवन का विनाश होता हो अथवा मोहनीय कर्म का सम्पूर्ण प्रकार से बन्ध होता हो, इस प्रकार के पुरुष अथवा स्त्री की संगति को तपस्वी साधु सदा के लिए छोड देवे। क्योंकि इनके संसर्ग से आत्मगुणों की विराधना होने की सभावना है तथा कौतूहलवर्धक व्यापार का भी साधु को सदा त्याग ही रखना चाहिए क्योंकि इससे मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। इसलिए स्त्री आदि की कथा तथा अन्य कामवर्द्धक विचारों का सर्वथा त्याग करने वाला भिक्षु—साधु—मुनि कहलाता है।

इस प्रकार भिक्षु के मुख्य कर्तव्यों का वर्णन करके अब उसको अपनी जीवन यात्रा के लिए जिन कामों का निषेध है, उनके विषय में कहते हैं—

छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं,
सुविणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं।
अंगवियारं सरस्स विजयं,
जे विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू॥७॥

छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं,
स्वप्नं लक्षणदण्डवास्तुविद्याम्।
अङ्गविकारं स्वरस्य विजयं,
यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः॥७॥

पदार्थान्वयः—छिन्न–छिन्नविद्या सर–स्वरविद्या भोम–भूकम्पविद्या अतलिक्ख–अन्तरिक्षविद्या सुविण–स्वप्नविद्या लक्खण–लक्षणविद्या दण्ड–दण्डविद्या वत्थुविज्ज–वास्तुविद्या अगवियार–अंगविचारविद्या सरस्स विजय–स्वर की विद्या जे–जो विज्जाहिं–उक्त विद्याओं से न जीवई–आजीविका नहीं करता स–वह भिक्खू–भिक्षु कहाता है।

मूलार्थ—छिन्नविद्या, स्वरविद्या, भूकंपविद्या, अन्तरिक्षविद्या, स्वप्नविद्या, लक्षणविद्या, दण्डविद्या, वास्तुविद्या, अंगविचारविद्या, और स्वर की विद्या—इन विद्याओं से जो अपनी आजीविका—जीवननिर्वाह नहीं करता, वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि साधु इन उपर्युक्त विद्याओं के द्वारा शरीरयात्रा चलाने अर्थात् आहार, पानी आदि की गवेषणा न करे। छिन्नविद्या—वस्त्र, काष्ठ आदि के छेदन की विद्या। जैसे कि—इस प्रकार से काष्ठ या वस्त्र आदि छेदन किया हुआ शुभ फल देता है। स्वरविद्या—षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का वर्णन करना। भूकम्पविद्या—भूकम्प के द्वारा शुभाशुभ फल का वर्णन करना। यथा—"शब्देन महता भूमिर्यदा रसति कम्पते। सेनापतिरमात्यश्च राजा राष्ट्रं च पीड्यते॥" इत्यादि। अन्तरिक्षविद्या—आकाश में गन्धर्व नगरादि को देखकर उसके शुभाशुभ का विचार करना। जैसे कि—"कपिलं शस्यघाताय, माञ्जिष्ठे हरणं गवाम्। अव्यक्तवर्णं कुरुते बलक्षोभं न संशयः॥ गन्धर्वनगरं स्निग्धं सप्राकारं सतोरणम्। सौम्यां दिशं समाश्रित्य राज्ञस्तद्विजयङ्करम्॥" इत्यादि। स्वप्नविद्या—जिसके द्वारा स्वप्न का शुभाशुभ फल बतलाया जाय। यथा—"गायने रोदनं ब्रूयान्नर्तने वधबन्धनम्। हसने शोचनं ब्रूयात् पठने कलहं तथा॥" इत्यादि। लक्षणविद्या—जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष के लक्षण वर्णन किये जायँ। जैसे कि—"चक्षुःस्नेहेन सुखितो दन्तस्नेहेन च भोजनमिष्टम्। त्वक्स्नेहेन च सौख्यं नखस्नेहेन भवति परमधनम्॥" इत्यादि। तथा पशुओं के शुभाशुभ लक्षण बतलाने वाली विद्या का भी इसी में समावेश समझना। दण्डविद्या—काष्ठ के पर्वों—गाठों—के फलाफल का वर्णन करना। जैसे कि—"एक पर्व वाली यष्टि प्रशंसा करने वाली होती है, और दो पर्व वाली क्लेशकारिणी होती है" इत्यादि। वास्तुविद्या—जिसके द्वारा प्रासादादि बनाने के शुभाशुभ लक्षण वर्णन किये जाते हैं। यथा—"कुटिला भूमिजाश्चैव, वैनीका द्रन्द्रजास्तथा। लतिनो नागराश्चैव प्रासादाः क्षितिमण्डनाः॥

सूचक पदविभागेन, कर्ममार्गेण सुन्दराः । फलायामिकरा लोके भङ्गभेदयुता विभोः ॥ अण्डकैस्तु विविधकाले, निर्गमैश्चारुरूपकै । चित्रपत्रैर्विचित्रैस्तु विविधाकाररूपकैः ॥" इत्यादि । अंगविद्या—जिसके द्वारा अंगस्फुरण का फलाफल कहा जाय । जैसे कि—सिर के स्फुरण से राज्य की प्राप्ति होती है, दक्षिण नेत्र के स्फुरण से प्रिय का मिलाप होता है, इत्यादि । स्वर की विद्या—पशुओं के शब्दों को सुनकर उनके शुभाशुभ फल का विचार करना । यथा—"गतिस्तारा स्वरो वाम पोदक्याः शुभदः स्मृत । विपरीत प्रवेशे तु स एवामीष्टदायक ॥" तथा—"दुर्गास्वरत्रय स्यात् ज्ञातव्य शाकुनेन नैपुण्यात् । चिलिचिलिशब्द सफलः सुसु मध्यमलचलो विफल ॥" इत्यादि । सो इन उक्त प्रकार की विद्याओं से जो अपना जीवन व्यतीत करने वाला है, वह भिक्षु नहीं कहा जाता किन्तु भिक्षु वही कहलाता है, जो इन विद्याओं से जीवन व्यतीत नहीं करता ।

अथ मंत्रादि के द्वारा भिक्षाग्रहण करने का निषेध करते हैं—

मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं,
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥८॥

मंत्रं मूलं विविधं वैद्यचिन्तां,
वमनविरेचनधूमनेत्रस्नानम् ।
आतुरस्मरण चिकित्सक च,
तत् परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥८॥

पदार्थान्वयः—मन्त-मंत्र मूलं-मूल विविहं-नाना प्रकार की वेज्जचिन्त-वैद्य की चिन्ता वमण-वमन विरेयण-विरेचन धूम-धूम नेत्त-नेत्रौषधि सिणाणं-स्नान आउरे-आतुर अवस्थाएँ सरणं-माता पिता आदि की शरणा—स्मरण करना च-और तिगिच्छिय-अपने रोग का प्रतिकार करना तं-वह परिन्नाय-ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़कर परिव्वए-संयम मार्ग में चले स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है ।

मूलार्थ—मन्त्र, मूल, नाना प्रकार की चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम, नेत्रौषधि, स्नान, रुग्ण अवस्था में माता पिता आदि का स्मरण और अपने रोग की चिकित्सा, इन पूर्वोक्त वस्तुओं को ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़कर जो संयम मार्ग में चलता है, वही भिक्षु है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में यह बतलाया गया है कि साधु इन वस्तुओं से अपना जीवन निर्वाह न करे तथा इन वस्तुओं को व्यवहार में लावे। जैसे मंत्र—ॐकार से लेकर स्वाहा पर्यन्त तथा ह्रींकारादि वर्णविन्यासरूप मन्त्र कहलाता है। मूल—सहदेवी, मूलिका तथा काकोल्यादि के मूल का उपयोग करना। वैद्यचिन्ता—ओषधि और पथ्य आदि के लिए वैद्य का चिन्तन करना। एवं वमन कराना, विरेचन देना, मनःशिला आदि ओषधियों का धूम के लिए उपयोग करना, नेत्र की ओषधि तथा संस्कार करना और सन्तानोत्पत्ति के लिए मन्त्र तथा ओषधि के द्वारा संस्कृत जल से स्नान कराना, आतुर अवस्था में अपने माता पिता आदि का स्मरण कराना और रुग्णावस्था में अपनी चिकित्सा करना यह सब कुछ भिक्षु के लिए त्याज्य है। जब कि उसने संसार से अपना सम्बन्ध ही छोड़ दिया तो फिर उसको इन वस्तुओं को उपयोग में लाने की आवश्यकता भी नहीं है। अतएव कहा है कि जो ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़कर विशुद्ध संयम मार्ग में विचरता है, वही भिक्षुपद को अलंकृत करता है। क्योंकि इन पूर्वोक्त मन्त्रादि क्रियाओं का अनुष्ठान साधुवृत्ति को कलंकित करने वाला है। इसी लिए इनको त्याज्य कहा है।

अब साधु के त्यागने योग्य अन्य बातों का उल्लेख करते हैं। यथा—

खत्तियगणउग्गरायपुत्ता,
माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं,
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥९॥

क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः,
ब्राह्मणा भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोकपूजां,
तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥९॥

पदार्थान्वय —खत्तिय-क्षत्रिय गणउग्गरायपुत्ता-गण, उग्रकुल के पुत्र तथा राजपुत्र माहण-ब्राह्मण भोइय-भोगिकपुत्र य-और विविहा-नानाप्रकार के सिप्पिणो-शिल्पी लोग तेसिं-उनकी नो वयइ-न कहे सिलोग-श्लाघा और पूय-पूजा—सत्कार त-उसको परिन्नाय-जानकर परिव्वए-संयम मार्ग में चले स-वह भिक्खू-भिक्षु है ।

मूलार्थ—क्षत्रिय, गण, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और नाना प्रकार के शिल्पी लोग, जो इनकी श्लाघा और पूजा को नहीं कहता, और उसको ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़कर संयम मार्ग में विचरता है, वही भिक्षु कहलाता है ।

टीका—इस गाथा में साधु [illegible] पुरुषों की श्लाघा करने और इनके सत्कार पुरस्कार में सम्मति देने का निषेध किया है । जैसे कि—क्षत्रिय राजा, मल्लादि समूह, आरक्षकादि कुल तथा राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगकुल के पुत्र और नाना प्रकार के शिल्पी लोग—सुतार आदि—इनकी श्लाघा [ये बहुत अच्छा काम करने वाले हैं, खूब निशाना लगाते हैं, खूब युद्ध करते हैं] और पूजा—सत्कार [इनको यह उपहार देना चाहिए, इनका इस विधि से सत्कार करना चाहिए, इत्यादि] आदि को न कहे अर्थात् उक्त प्रकार से इनके कार्यों का समर्थन न करे क्योंकि ऐसा करने पर पापादि कर्मों की अनुमोदना होती है । इस प्रकार जानकर जो साधु संयम मार्ग में विचरता है, वही सच्चा भिक्षु है । इसके अतिरिक्त इनकी श्लाघा पूजा के कथन से इनके परिचय की वृद्धि होती है । इनके संसर्ग में अधिक आना पड़ता है, जो कि दोषों का मूल है । इसलिए भी साधु के वास्ते इनका निषेध किया है ।

निम्नलिखित बातों का भी साधु को निषेध है । यथा—

गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा,
अप्पवइएण व संथुया हविज्जा ।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा,
जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥१०॥

गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टाः,
अप्रव्रजितेन च संस्तुता भवेयुः ।
तेषामिहलौकिकफलार्थं,
यः संस्तवं न करोति स भिक्षुः ॥१०॥

पदार्थान्वय—गिहिणो-गृहस्थ जे-जो पव्वइएण-प्रव्रजित होने के पश्चात दिट्ठा-परिचित होवें व-अथवा अप्पवइएण-गृहस्थावास में संथुया-परिचित हविज्जा-होवें तेसिं-उनका इहलोइय-इस लोक के फलट्ठा-फल के लिये जो-जो संथवं-संस्तव न करेइ-नहीं करता स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है ।

मूलार्थ—जो पुरुष दीक्षित होने पर वा गृहस्थावास में, परिचित होने वाले गृहस्थों का ऐहिक—इस लोक में होने वाले फल के लिये संस्तव—स्तुति—विशेष परिचय नहीं करता, वह भिक्षु है ।

टीका—इस गाथा में साधु को पूर्वपरिचित अथवा दीक्षा के बाद परिचय में आने वाले गृहस्थों के साथ ऐहिक फल—वस्त्र पात्रादि की प्राप्ति के निमित्त संस्तव—परिचय करने का निषेध किया गया है क्योंकि इस प्रकार का संस्तव—परिचय करना साधुवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध है । किन्तु धर्मोपदेश के लिये इसका निषेध नहीं क्योंकि यहाँ पर किसी ऐहिक फल की आशा नहीं है । अतएव शास्त्रकारों ने साधु को धर्मोपदेश देने की सर्वप्रकार से छूट रक्खी है अर्थात् जो सुनना चाहे, उसको उपदेश देवे और जिसकी इच्छा न भी हो, उसको भी साधु, धर्म का उपदेश देवे परन्तु उसमें किसी ऐहिक फल की इच्छा का समावेश न होना चाहिए । यहाँ पर 'संस्तव' शब्द विशेष परिचय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

अब फिर कहते हैं—

सयणासणपाणभोयणं ,
विविहं खाइमसाइमं परेसिं ।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे,
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥११॥

शयनासनपानभोजन ,
विविध खाद्य स्वाद्य परे: ।
अददद्भि प्रतिषिद्ध: निर्ग्रन्थो,
यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षु: ॥११॥

पदार्थान्वयः—सयण-शय्या आसण-आसन पाण-पान भोयण-भोजन विविह-नाना प्रकार के खाइम-खादिम साइम-स्वादिम परेसिं-पर—गृहस्थों के अदए-न देने से पडिसेहिए-निषेध करने पर नियण्ठे-निर्ग्रन्थ जे-जो तत्थ-उनसे न पउस्सई-द्वेष नहीं करता स-वह भिक्खू-भिक्षु है ।

मूलार्थ—शय्या, आसन, पानी और भोजन तथा नाना प्रकार के खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ, गृहस्थों के न देने से अपितु निराकरण—निषेध करने पर भी जो निर्ग्रन्थ द्वेष—क्रोध नहीं करता, वह भिक्षु है ।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि भिक्षा के लिये किसी गृहस्थ के घर में गये हुए साधु को यह गृहस्थ यदि भिक्षा न दे प्रत्युत तिरस्कारपूर्वक साधु को वहां से हटा देवे तो निर्ग्रन्थ साधु उस पर किसी प्रकार का द्वेषभाव न करे । जैसे कि शय्या, आसन, भोजन, पानी तथा नाना प्रकार के खादिम—पिंड खर्जूरादि—पदार्थ तथा एला, लवंग आदि स्वादिम पदार्थों में से किसी पदार्थ की याचना करने पर साधु को गृहस्थ न देवे, किन्तु भर्त्सनापूर्वक वहां से चले जाने को कहे, ऐसी अवस्था में भी जो निर्ग्रन्थ—साधु उस गृहस्थ से द्वेष नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है । तात्पर्य कि साधु का कर्तव्य—धर्म है कि वह अपने लिये प्रासुक वस्तु की गवेषणा करे और गृहस्थ के घर में जाकर अमुक आवश्यक वस्तु की याचना

करे। आगे यह गृहस्थ की इच्छा पर निर्भर है कि वह साधु को देवे या न देवे। साधु को तो, देने पर अथवा न देने पर सम भाव में ही रहना उचित है किन्तु किसी पर राग या द्वेष करना साधु का धर्म नहीं है। इसी लिए वह निर्ग्रन्थ कहलाता है क्योंकि उसमें राग-द्वेष की ग्रन्थि नहीं होती, अतएव उसके समीप शत्रु और मित्र दोनों समान हैं। प्रस्तुत गाथा में खादिम और स्वादिम शब्द सचित्त और अचित्त दोनों के लिए प्रयुक्त हुए हैं परन्तु साधु के लिए वही पदार्थ ग्राह्य होगा जो कि अचित्त, प्रासुक अथवा निर्दोष होगा। अत एला आदि सचित्त पदार्थों को साधु स्वीकार नहीं कर सकता। यहाँ पर "परेसिं" यह पंचमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार भिक्षासम्बन्धी सर्वदोषों का उल्लेख हो जाने पर अब ग्रासैषणा-दोष के परिहार विषय में कहते हैं—

जं किंचि आहारपाणगं विविहं,
खाइमसाइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे,
मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू ॥१२॥

यत्किञ्चिदाहारपानकं विविधं,
खाद्यं स्वाद्यं परेभ्यो लब्ध्वा।
यस्तत् त्रिविधेन नानुकम्पेत,
संवृतमनोवाक्कायः स भिक्षुः ॥१२॥

पदार्थान्वय —जं-जो किंचि-किंचिन्मात्र आहार-आहार पाणग-पानी विविह-नाना प्रकार के खाइम-खादिम साइम-स्वादिम परेसिं-गृहस्थों से लद्धु-मिलने पर जो-जो त-उस आहार से तिविहेण-तीनों योगों से अणुकंपे-अनुकम्पा न-नहीं करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जे-जिसने मण-मन वय-वचन काय-काया सुसंवुडे-भली प्रकार से संवृत किये हैं, स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—यत्किंचित् आहार, पानी तथा नाना प्रकार के खादिम, स्वादिम पदार्थ गृहस्थों से प्राप्त करके जो उस आहार से त्रिविध योग द्वारा बाल, वृद्ध और ग्लानादि पर अनुकम्पा नहीं करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जिसने मन, वचन और काया को भली प्रकार से संवृत किया है, वही भिक्षु है।

टीका—इस काव्य में यह भाव प्रकाशित किया गया है कि साधु, आहार पानी में रसगृद्धि को छोड़कर, अगारदोष को हरे तथा संविभागी होकर वृद्ध, बाल और ग्लानादि की रक्षा करे। इसी लिए कहा है कि जो यत्किंचित् आहार पानी तथा खादिम स्वादिमादि के मिलने पर उससे मन, वचन और काया के द्वारा वृद्ध, ग्लान और बाल आदि की रक्षा नहीं करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जो मन, वचन और काया को भली प्रकार से संवृत्त करने वाला तथा प्राप्त हुए आहारादि से वृद्ध, ग्लानादि की रक्षा करने वाला हो, वही भिक्षु है। अथवा यहाँ पर 'न' के स्थान में 'ना' समझकर उसका पुरुष अर्थ कर लेने से उक्त गाथा का सरल और सीधा यह अर्थ करना चाहिए कि जो 'ना' साधु पुरुष, गृहस्थ के घर से उपलब्ध हुए विशुद्ध आहारादि से बाल, वृद्ध और ग्लान पर अनुकम्पा करता है, वह भिक्षु है, जो कि मन, वचन और काया से संवृत्त है।

इस प्रकार अगार दोष के त्यागने पर अब धूमदोष के परिहार विषय में कहते हैं—

आयामगं चेव जवोदणञ्च,
सीयं सोवीरजवोदगं च।
न हीलए पिण्डं नीरसं तु,
पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ॥१३॥

आयामकं चैव यवोदनं च,
शीतं सौवीरं यवोदकं च।
न हीलयेत् पिण्डं नीरसं तु,
प्रान्तकुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—आयामगं-अवश्रावण च-समुच्चयार्थक है एव-पादपूरणार्थक है च-और जवोदणं-यव का भात सीयं-शीतल आहार सोवीरं-काजी के वर्तन धोवन च-और जवोदगं-यवों का धोवन नो हीलए-इनकी हीलना न करे तु-वितर्क अर्थ में पिंडं नीरसं-नीरस पिंड की भी निन्दा न करे। पंतकुलाईं-जो प्रान्तकुल हैं उनमें परिव्वए-जावे स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—आयामक, यवभात, शीतल आहार, सौवीर, यवों का पानी और नीरस आहार की जो अवहेलना—निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में भिक्षा को जाता है, वही भिक्षु है।

टीका—आयामक और यवों का भात तथा शीतलपिंड, काजी का धोवन, यवों का धोवन और नीरस आहार [जिसमें रस स्वल्प हो और जो बलप्रद न हो] गृहस्थों के घर से इस प्रकार के आहार पानी के मिलने पर जो उस आहार पानी की अवहेलना नहीं करता—तिरस्कार या निन्दा नहीं करता तथा भिक्षा के लिये प्राय प्रान्तकुलों में ही जाता है, वही सच्चा भिक्षु है। जिन कुलों में प्रायः सरस आहार की उपलब्धि नहीं होती, वे प्रान्तकुल कहलाते हैं। तात्पर्य कि जिन घरों में बढ़िया और सरस आहार की योगवाही नहीं, उन्हीं घरों में प्रायः आहार के लिए जाना और जिन घरों में सरस और सुन्दर आहार मिलता हो, उन घरों से प्राय उदासीन रहना तथा वहां से जैसा आहार मिल जाय उसी में सन्तोष मानना और उक्त आहार से किसी प्रकार की घृणा न करना किन्तु समतापूर्वक उससे क्षुधा की निवृत्ति करना यह उज्ज्वल और निर्दोष मुनिवृत्ति है और उसी का अनुसरण करने वाला भिक्षु कहा वा माना जा सकता है। आयामक शब्द की वृत्तिकार ने "आयाममेव आयामकम्—अवश्रावणम्" यह व्याख्या की है।

अब भिक्षु की एक और कसौटी बतलाते हैं, जिसके द्वारा भिक्षु के स्वरूप की और भी अधिक स्पष्टता हो जाती है। यथा—

सद्दा विविहा भवन्ति लोए,
दिव्वा माणुस्सगा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला,
जो सोच्चा न विहिज्जई स भिक्खू ॥१४॥

सद्दा विविहा भवन्ति लोए,
दिव्वा माणुस्सगा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला,
जो सोच्चा न विहिज्जई स भिक्खू ॥१४॥

शब्दा विविधा भवन्ति लोके,
दिव्या मानुष्यकास्तैरश्चा:।
भीमा भयभैरवा उदारा:,
य श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षुः ॥१४॥

पदार्थान्वयः—सद्दा-शब्द विविहा-नाना प्रकार के लोए-लोक में भवन्ति-होते हैं दिव्वा-देवसम्बन्धी माणुस्सगा-मनुष्यसम्बन्धी तथा तिरिच्छा-तिर्यंचसम्बन्धी भीमा-रौद्र शब्द भयभेरवा-भय से भैरव—भयकर—भय के उत्पादक उराला-प्रधान शब्द जो-जो सोच्चा-सुनकर न-नहीं विहिज्जई-भय को प्राप्त होता स-वह भिक्खू-भिक्षु होता है।

मूलार्थ—देवता, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी नाना प्रकार के अति भयानक और रौद्र शब्द लोक में होते हैं। उन शब्दों को सुनकर जो भयभीत नहीं होता, वही भिक्षु है।

टीका—इस गाथा में साधु को परम साहसी और हर प्रकार से निर्भय रहने का उपदेश किया गया है। लोक में अनेक प्रकार के भयानक शब्द होते हैं, उनमें कितनेक देवतासम्बन्धी और कितनेक मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी हैं। उन शब्दों को सुनकर जो भय से ग्रसित नहीं होता अर्थात् अपनी धारणा से नहीं गिरता, वह भिक्षु है। तात्पर्य कि कभी २ देवता आदि, परीक्षा के निमित्त अथवा किसी द्वेष के कारण, धर्मध्यान में लगे हुए साधु को धर्मपथ से गिराने के लिए उसके समीप आकर अनेक प्रकार के भयकर शब्द सुनाते हैं, जिनको सुनकर वह अपने ध्यान से च्युत होकर अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति से वंचित रह जाय, परन्तु विचारशील साधु को इस प्रकार के भयोत्पादक शब्दों को सुनकर भी अपने धर्मध्यान से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। जिस महात्मा ने इस प्रकार की दशा के उपस्थित होने पर भी अपने मन को विचलित नहीं किया, वही अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकता है अर्थात् उसी का आत्मा अपने गुणों के विकास में उत्क्रान्ति पैदा कर सकता है। इसलिए जो व्यक्ति किसी भयोत्पादक शब्द के कारण अपने शांति और धैर्यगुण के उत्कर्ष में

अन्तर नहीं आने देता किन्तु उसके द्वारा अपने आत्मा में उत्तरोत्तर विकास का सम्पादन करता है, वही भिक्षु है ।

धर्म का मूल सम्यक्त्व है । अब उसी की दृढता के विषय में कहते हैं—

वायं विविहं समिच्च लोए,
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा ।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ॥१५॥

वादं विविधं समेत्य लोके,
सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा ।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी,
उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—वाय–वाद विविह–विविध प्रकार समिच्च–जान करके लोए–लोक में सहिए–ज्ञानादि से युक्त वा स्वहित के करने वाला य–और खेयाणुगए–संयम के अनुगत तथा कोवियप्पा–कोविदात्मा पन्ने–प्रज्ञावान् अभिभूय–परिषह को जीतकर सव्वदंसी–सर्व जीवों को आत्मा के समान देखने वाला उवसन्ते–उपशान्तात्मा अविहेडए–किसी को विघ्न न करने वाला स–वह भिक्खू–भिक्षु होता है ।

मूलार्थ—लोक में होने वाले नाना प्रकार के वादों को जानकर, ज्ञान से युक्त, सयम के अनुगत, कोविदात्मा, प्रज्ञावान् और सर्व प्रकार के परिषहों को जीतकर ससार के सभी प्राणियों को अपने समान देखने वाला उपशान्तात्मा तथा जो किसी को भी विघ्न करने वाला नहीं, वह भिक्षु है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा का संक्षिप्त भावार्थ यह है कि—इतर प्रकार के दर्शनों के विवाद को सुनकर भी साधु को अपने आत्मीय ज्ञान—सम्यक्त्व से कभी विचलित नहीं होना चाहिए । जैसे कि ससार में अनेक प्रकार के वादी लोग हैं, जो कि अपने २ दर्शन के वशीभूत हुए परस्पर वाद-विवाद करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं । कोई

इस जगत् को ईश्वरकृत मानते हैं, कोई स्वभावजन्य कहते हैं। कोई वाममार्ग पर आरूढ हैं तो कोई पांचभौतिक अर्थात् पाच भूतों के उपासक हैं। यथा किसी का कथन है कि—'सेतुकरणेऽपि धर्मो भवत्यसेतुकरणेऽपि किल धर्मः। गृहवासेऽपि च धर्मो वनेऽपि वसतां भवति धर्म। मुण्डस्य भवति धर्मः, तथा जटाभिः सवाससा धर्मः।' इत्यादि। दार्शनिकों के इन जटिल वाद-विवादों को सुनकर वा जानकर साधु अपने सम्यग् ज्ञानादि से विचलित न होवे। तथा अपने आत्मा के हित से भी पराङ्मुख न होवे। क्योंकि लोक में इस प्रकार के विवादग्रस्त विचारों का मूल कारण मिथ्यात्वादि दोष हैं। परन्तु साधु को तो कर्मक्षय के हेतुभूत विशुद्ध संयम का ही अनुसरण करना चाहिए। तथा जिसने शास्त्रों के द्वारा आत्मा के स्वरूप को जान लिया है, उसको कोविदात्मा अर्थात् पण्डित कहते हैं। प्रज्ञावान उसको कहते हैं, जिसको सदसत् वस्तु का पूर्ण विवेक हो अर्थात् जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है, वह प्रज्ञावान् कहलाता है। अतएव वह परीषहों पर विजय प्राप्त करके सर्वदर्शी हो जाता है अर्थात् उसकी विवेकपूर्ण दृष्टि में विषमता को स्थान नहीं रहता किन्तु जीवमात्र को वह अपने ही स्वरूप में देखता है। क्योंकि वह उपशान्तात्मा है अतएव जीवमात्र को अपने आत्मा के समान देखता हुआ वह किसी के भी कार्य का विघातक नहीं होता अर्थात् किसी के कार्य में विघ्न अथवा हानि करने वाला नहीं होता। सारांश कि जो व्यक्ति इन उक्त गुणों से युक्त है, वही भिक्षुपद को सार्थक करने वाला होता है। इस विषय में इतना और समझ लेना चाहिए कि सिद्धान्त के विषय में जैनभिक्षु का मन्तव्य दूसरों से चाहे भिन्न ही है तो भी दूसरों को अन्तराय अथवा दूसरों से वितंडावाद करना तथा वाद-विवाद के लिए दूसरों को बलात् आमन्त्रित करना, उसकी साधुमर्यादा से सर्वथा बाहर है। इसलिए इन बातों को विचारशील साधु को कभी आचरण में नहीं लाना चाहिए। तथा—"खेदानुगतः" का अर्थ है संयम से युक्त होना। वृत्तिकार को भी यही अर्थ अभिमत है। यथा—'खेदयति कर्म अनेनेति खेद संयमस्तेनानुगतो युक्तः' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों को खेदित—व्ययित—किया जाय उसको खेद कहते हैं, वह संयम है। उसके अनुगत अर्थात् युक्त जो हो, वह खेदानुगत—संयमयुक्त कहलाता है।

अब अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार फिर भिक्षु के ही स्वरूप का वर्णन करते हैं। यथा—

असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते,
जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के ।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी,
चिच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥१६॥

त्ति बेमि ।

इति सभिक्खुयं पंचदसमं अज्झयणं समत्तं ॥१५॥

अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्रः,
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
अणुकषायी लघ्वल्पभक्षी,
त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः ॥१६॥

इति ब्रवीमि ।

इति सभिक्षुकं पञ्चदशमध्ययनं समाप्तम् ॥१५॥

पदार्थान्वय —असिप्पजीवी–शिल्पकला से आजीविका न करने वाला अगिहे–घर से रहित अमित्ते–मित्ररहित जिइन्दिओ–जितेन्द्रिय सव्वओ–सर्व प्रकार से विप्पमुक्के–बन्धन से मुक्त अणुकसाई–अल्प कषाय वाला अप्प–स्तोक लहु–हलका, निस्सार भक्खी–भक्षण करने वाला गिहं–घर को चिच्चा–छोड़ करके एगचरे–रागद्वेष से रहित होकर अकेला ही जो विचरता है या गुणयुक्त होकर अकेला ही जो विचरता है स–वह भिक्खू–भिक्षु है । त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हूँ ।

मूलार्थ—अशिल्पजीवी, गृह से रहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वप्रकार से मुक्तबन्धन, अल्प कषाय वाला, स्वल्प और लघु भोजन करने वाला और घर को छोड़कर जो अकेला विचरता है, वह भिक्षु कहलाता है ।

टीका—इस गाथा में सामान्यरूप से भिक्षु के सारे गुणों का वर्णन कर दिया गया है अर्थात् प्रस्तुत गाथा में भिक्षु के जिन गुणों का उल्लेख किया है, उनमें अन्य समस्त गुणों का समावेश हो जाता है। साधु, शिल्पकला—चित्र पत्र छेदन आदि—के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह न करे। उसका किसी प्रकार का भी कोई घर या मठ नहीं होना चाहिए, तथा संसार में साधु का कोई मित्र अथवा शत्रु भी नहीं होना चाहिए अर्थात् उसमें रागद्वेष नहीं होना चाहिए क्योंकि संसार में मित्रता और शत्रुता का कारण राग और द्वेष ही है। राग से मित्रता और द्वेष से शत्रुता पैदा होती है। तथा साधु जितेन्द्रिय होना चाहिए अर्थात् इन्द्रियों पर उसका पूरा काबू हो और सर्वप्रकार से सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो एवं अल्पकषायी—संज्वलनरूप कषायों वाला हो। तात्पर्य कि उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ की मात्रा बहुत ही स्वल्प हो। इसके अतिरिक्त वह बहुत ही थोड़ा तथा निःसार भोजन करने वाला हो तथा घर को छोड़कर वन में सिंह की तरह अकेला ही निर्भय होकर संसार में विचरने वाला हो। ये उक्त गुण जिस व्यक्ति में विद्यमान हों वह भिक्षु है, वह मुनि है और वही सच्चा त्यागशील साधु है। "अशिल्पजीवी" इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि साधु शिल्पकला के जानने वाला तो भले हो परन्तु उसके द्वारा आजीविका करने वाला नहीं होना चाहिए। श्रीसुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! जैसे मैंने भगवान् से श्रवण किया है, वैसे ही मैंने तेरे प्रति कह दिया है, इसमें मेरी निजी कल्पना कुछ नहीं।

पञ्चदशाध्ययन समाप्त।

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो बहुलसंवरो बहुलसमाधिर्गुप्तो गुप्तेन्द्रियो गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।

पदार्थान्वयः—कयरे-कौन खलु-निश्चय से ते-वे थेरेहिं-स्थविर भगवन्तेहिं-भगवन्तों ने दस-दश बम्भचेर-ब्रह्मचर्य के समाहि-समाधि के ठाणा-स्थान पन्नत्ता-प्रतिपादन किये हैं, जे-जिनको भिक्खु-भिक्षु सोच्चा-सुन करके निसम्म-हृदय में अवधारण करके संजमबहुले-संयमबहुल संवरबहुले-संवरबहुल समाहिबहुले-समाधिबहुल गुत्ते-मन, वचन और काया जिसके गुप्त हैं गुत्तिंदिए-गुप्तेन्द्रिय गुत्तबम्भयारी-गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी सया-सदैव अप्पमत्ते-अप्रमत्त होकर विहरेज्जा-विचरे ।

मूलार्थ—वे कौन से, दश ब्रह्मचर्य के समाधिस्थान स्थविर भगवन्तों ने प्रतिपादन किये हैं, जिनको शब्द से सुनकर, अर्थ से निश्चित करके भिक्षु संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल और मन वचन कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी सदा अप्रमत्त होकर विचरे ।

टीका—शिष्य गुरु से पूछता है कि हे भगवन् ! वे कौन से दश ब्रह्मचर्य के समाधिस्थान हैं, जिनको सुनकर और अर्थ से सुनिश्चित करके भिक्षु संयम बहुत करे, संवर बहुत करे, समाधि की प्राप्ति करे और मन, वचन तथा काया को वश में करे तथा पाँचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होवे, एवं ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरण करे ।

अब गुरु उत्तर देते हैं । यथा—

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहि-ठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा निशम्य बहुलसंयमो बहुलसंवरो बहुलसमाधिर्गुप्तो गुप्तेन्द्रियो गुप्तब्रह्मचारी सदाऽप्रमत्तो विहरेत्

पदार्थान्वयः—इमे–ये खलु–निश्चय से ते–वे थेरेहिं–स्थविर भगवन्तेहिं–भगवंतों ने दस–दश बम्भचेर–ब्रह्मचर्य के समाहिठाणा–समाधि-स्थान पन्नत्ता–प्रतिपादन किये हैं, जे–जिनको भिक्खू–भिक्षु सोच्चा–सुन करके निसम्म–हृदय में अवधारण करके संजमबहुले–संयमबहुल संवरबहुले–संवरबहुल समाहिबहुले–समाधिबहुल गुत्ते–मन, वचन और काया जिसके गुप्त हैं गुत्तिंदिए–गुप्तेन्द्रिय गुत्तबम्भयारी–गुप्तियों के सेवन से गुप्त ब्रह्मचारी सया–सदैव अप्पमत्ते–अप्रमत्त होकर विहरेज्जा–विचरे ।

मूलार्थ—स्थविर भगवंतों ने ये वक्ष्यमाण, ब्रह्मचर्य के दश समाधिस्थान प्रतिपादन किये हैं, जिनको सुनकर और समझकर भिक्षु संयमबहुल, संवरबहुल, समाधिबहुल और मन वचन कायगुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरे ।

टीका—शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए गुरु कहते हैं—वे ब्रह्मचर्य के दश समाधिस्थान ये हैं, जिनका कि आगे उल्लेख किया जाता है, जिनको सुनकर और विचार कर भिक्षु संयम बहुत करे, संवर बहुत करे, समाधि की प्राप्ति करे और मन, वचन तथा काया को वश में करे और पाँचों इन्द्रियों को विषयों से हटाकर गुप्तेन्द्रिय होवे, एवं ब्रह्मचर्य की नवगुप्तियों के सेवन से गुप्तब्रह्मचारी और सदा अप्रमत्त होकर विचरे ।

अब ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानों में से प्रथम स्थान के विषय में कहते हैं—

तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ वा भंसेज्जा, तम्हा नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे ॥१॥

तद्यथा—विविक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः। न स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शंका वा कांक्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः ॥१॥

पदार्थान्वयः—तं जहा–जैसे कि—विवित्ताइं–विविक्त—एकान्त—स्त्री, पशु, पंडक से रहित सयणासणाइं–शय्या और आसन सेवित्ता–सेवन करे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ हवइ–है नो–नहीं इत्थी–स्त्री पसु–पशु पण्डग–नपुंसक से संसत्ताइं–संसक्त सयणासणाइं–शय्या और आसन सेवित्ता–सेवन करने वाला हवइ–होवे से–वह

निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। त–यह कह–कैसे इति चे–यदि ऐसे कहा जाय तो आयरियाह–आचार्य कहते हैं निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ को खलु–निश्चय से इत्थी–स्त्री पसु–पशु पण्डग–नपुंसक संसत्ताइं–संसक्त सयणासणाइं–शयनासनादि का सेवमाणस्स–सेवन करते हुए बंभयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य में संका–शंका वा–अथवा कंखा–आकांक्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह वा–अथवा समुप्पज्जेज्जा–उत्पन्न होवे भेयं–भेद वा–अथवा लभेज्जा–प्राप्त होवे वा–समुच्चय अर्थ में है उम्मायं–उन्माद को पाउणिज्जा–प्राप्त होवे दीहकालियं वा–अथवा दीर्घकालिक रोगायंकं–रोगातंक हवेज्जा–होवे केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भंसेज्जा–भ्रष्ट होवे तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं इत्थी–स्त्री पसु–पशु पण्डग–पण्डक–नपुंसक से संसत्ताइं–संसक्त सयणासणाइं–शयन और आसन के सेविता–सेवन करने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ होता है।

मूलार्थ—जैसे कि—स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित शय्या और आसन आदि का जो सेवन करने वाला है, वह निर्ग्रन्थ है। अर्थात् स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शय्या और आसन के सेवन करने वाला जो नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है। यदि कहें कि ऐसा क्यों? तो इस पर आचार्य कहते हैं—स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयनासन का सेवन करने वाले निर्ग्रंथ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और सन्देह उत्पन्न हो जाता है, अथवा संयम का भेद और उन्माद की प्राप्ति हो जाती है, दीर्घकालिक रोग और आतंक का आक्रमण हो जाता है, और केवलि-प्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए स्त्री, पशु नपुंसक से अधिष्ठित शयनासनादि को जो सेवन नहीं करता, वही निर्ग्रन्थ है।

टीका—ब्रह्मचर्य के इस प्रथम समाधिस्थान में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वाला निर्ग्रन्थ साधु, ऐसे स्थान में निवास न करे जहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक का वास हो। कारण कि स्त्री, पशु और नपुंसक से अधिष्ठित स्थान में निवास करने से ब्रह्मचारी निर्ग्रंथ के ब्रह्मचर्य में समाधि का रहना कठिन है। इसी विषय को शिष्य के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यदि ब्रह्मचारी स्त्री, पशु और नपुंसक से अधिष्ठित स्थान में रहने लगे तो उसके मन में शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा—संशय—के उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। शंका—

ब्रह्मचर्य में शंका का उत्पन्न होना। जैसे कि—क्या मैं मैथुन का सेवन करूँ अथवा न करूँ ? अथच जो ब्रह्मचारी ऐसे स्थानों का सेवन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं या नहीं ? आकांक्षा—स्त्री के मिलने पर मैं अवश्य ही उसका संग कर लूँगा, अथवा मैंने जो यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म को धारण किया है, इसका फल मुझे मिलेगा या कि नहीं ? तात्पर्य कि जब मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता है, तब मनुष्य के मुख से इस प्रकार के शब्द निकलते हैं—"सत्यं वच्मि हितं वच्मि सारं वच्मि पुनः पुनः। अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारंगलोचना ॥" इत्यादि। इसके अनन्तर फिर ये भाव उत्पन्न होने लगते हैं कि—तीर्थंकरों ने जो मैथुनक्रीडा के दोष वर्णन किये हैं, वास्तव में वे दोष नहीं हैं। जब इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो गया तो फिर वह विचारने लगता है कि—"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः। प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणापि चेतसा ॥" इत्यादि। जब इस प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न हो गई तो फिर धर्म में तो सन्देह उत्पन्न हो ही जाता है। उस सन्देह का परिणाम यह निकलता है कि चारित्र धर्म का विनाश हो जाता है। फिर उसको उन्माद—पागलपन—हो जाता है। इसका परिणाम दीर्घकालिक रोगों की उत्पत्ति है। इस प्रकार अन्त में वह केवली भगवान् से प्रतिपादित धर्म से पतित हो जाता है। अतः ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के लिए स्त्री, पशु और नपुंसक संसेवित स्थान का सर्वथा त्याग करना ही समुचित और शास्त्र-सम्मत है।

अब द्वितीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं। यथा—

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा ॥२॥

नो स्त्रीणां कथां कथयिता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कथां कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्रीणां कथां कथयेत् ॥२॥

पदार्थान्वय.—नो-नहीं इत्थीणं-स्त्रियों की कहं-कथा कहित्ता-कहने वाला हवइ-होवे से-वह निग्गन्थे-निर्ग्रंथ है। त कहमिति चे-यह कैसे ? यदि इस प्रकार कहा जाय तो आयरियाह-आचार्य कहते हैं कि—निग्गन्थस्स-निर्ग्रंथ को खलु-निश्चय ही इत्थीणं-स्त्रियों की कहं-कथा कहेमाणस्स-कहते हुए को बम्भयारिस्स-ब्रह्मचारी के बम्भचेरे-ब्रह्मचर्य में सका-शंका वा-अथवा कंखा-कांक्षा वा-अथवा विइगिच्छा-सन्देह वा-अथवा समुप्पज्जिज्जा-उत्पन्न होवे भेयं-संयमभेद को वा-अथवा लभेज्जा-प्राप्त करे उम्मायं-उन्माद को पाउणिज्जा-प्राप्त करे वा-अथवा दीहकालियं-दीर्घकालिक रोगायकं-रोगातंक हवेज्जा-होवे वा-अथवा केवलिपन्नत्ताओ-केवलिप्रणीत धम्माओ-धर्म से भंसेज्जा-भ्रष्ट हो तम्हा-इसलिए नो-नहीं इत्थीणं-स्त्रियों की कहं-कथा कहेज्जा-कहे।

मूलार्थ—जो स्त्रियों की कथा नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ होता है। ऐसा कहने पर शिष्य ने प्रश्न किया कि क्यों ? तब आचार्य कहते हैं कि—स्त्रियों की कथा करते हुए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा और सन्देह उत्पन्न हो जाता है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की प्राप्ति होती है और दीर्घकालिक ज्वरादि रोगों का आक्रमण होता है तथा केवलि भगवान् के प्रतिपादन किये हुए धर्म से वह पतित हो जाता है, इसलिए स्त्री की कथा न करे।

टीका—इस गाथा में ब्रह्मचर्य की समाधि के द्वितीय स्थान का वर्णन किया गया है। गुरु, शिष्य के प्रति कहते हैं कि ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियों की कथा में प्रवृत्त न हो। यदि होगा तो उसके ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, सन्देह आदि दोषों के उत्पन्न होने की संभावना तथा चारित्रादि का विनाश, उन्माद और दीर्घकालिक रोग की प्राप्ति होगी

एवं वह भगवान् केवलि से प्रतिपादित धर्म से पतित हो जायगा। स्त्रीकथा से यहाँ पर शास्त्रकारों का अभिप्राय स्त्रियों के रूप-लावण्य का वर्णन तथा अन्य कामवर्द्धक चेष्टाओं के निरूपण आदि से है परन्तु पतिव्रता स्त्रियों के शील और संयम को दृढ करने वाले आख्यानों के कहने में कोई दोष नहीं है। तथा सूत्रकार के कथनानुसार तो अकेली स्त्री के प्रति धर्म-कथा के प्रबन्ध का भी साधु को अधिकार नहीं है और कामकथा की तो बात क्या है।

अब तृतीय समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं। यथा—

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा ॥३॥

नो स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वाऽऽकाङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मात्खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतो विहरेत् ॥३॥

पदार्थान्वय—नो—नहीं इत्थीहिं—स्त्रियों के सद्धिं—साथ सन्निसेज्जागए—पीठ आदि—एक आसन पर बैठा हुआ विहरित्ता—विचरने वाला हवइ—होवे से—वह निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ होता है तं—वह कहं—कैसे ? इति चे—यदि ऐसा कहें तो आयरियाह—

आचार्य कहते हैं निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ को खलु–निश्चय ही इत्थीहिं–स्त्रियों के सद्धिं–साथ सन्निसेज्जागयस्स–एक शय्या पर बैठे हुए बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य में सका–शका वा–अथवा कखा–काङ्क्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह वा–अथवा समुप्पज्जेज्जा–उत्पन्न होवे वा–अथवा भेद–संयम का भेद वा–समुच्चयार्थ में लभेज्जा–प्राप्त करे उम्माय–उन्माद को पाउणिज्जा–प्राप्त करे वा–अथवा दीहकालिय–दीर्घकालिक रोगायक–रोगातक हवेज्जा–होवे वा–अथवा केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भंसेज्जा–भ्रष्ट होवे तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं इत्थीहिं–स्त्रियों के सद्धिं–साथ सन्निसेज्जागए–एक पीठादि पर बैठा हुआ विहरेज्जा–विचरे ।

मूलार्थ—जो स्त्रियों के साथ एक पीठ—आसन पर बैठकर विचरने वाला न होवे, वह निर्ग्रन्थ है। वह कैसे? इस पर आचार्य कहते हैं कि निश्चय ही निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी को स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठने से उसके ब्रह्मचर्य में शका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, सयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयकर रोगों का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रंथ स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कभी न विचरे।

टीका—इस गाथा में निर्ग्रन्थ साधु को स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने का निषेध किया गया है अर्थात् जिस एक पीठ आदि आसन पर स्त्री बैठी हो, उसी पीठ पर साधु न बैठे। यदि वह बैठेगा तो उसके ब्रह्मचर्य में वही शका आदि दोषों का आगमन होगा और सयमविनाश आदि की प्राप्ति होगी। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु को स्त्री के साथ एक आसन पर कभी बैठने का दु साहस नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वृत्तिकार तो यहाँ तक कहते हैं कि—"उत्थितास्वपि हि तासु मुहूर्त तत्र नोपवेष्टव्यम्" अर्थात् स्त्री के उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक वहाँ साधु को न बैठना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर तत्काल बैठने से उनकी स्मृति आदि दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत में आरूढ होने वाली साध्वी स्त्री के लिए पुरुष के साथ एक आसन पर बैठने तथा उनके उठकर चले जाने पर भी वहाँ पर एक मुहूर्त से प्रथम बैठने का निषेध है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध करने का तात्पर्य केवल ब्रह्मचर्य की रक्षा है।

अब चतुर्थ समाधिस्थान के विषय में कहते हैं। यथा—

नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे । तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा ॥४॥

नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थः । तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निर्ध्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वाऽऽकाङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निर्ध्यायेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—नो—नहीं इत्थीण—स्त्रियों के मणोहरा—मनोहर—मन को हरने वाले मणोरमाइ—मनोरम—सुन्दर इन्दियाइ—इन्द्रियों को आलोइत्ता—आलोकन करने वाला निज्झाइत्ता—ध्यान करने वाला हवइ—होवे से—वह निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ है । त कहमिति चे—वह ऐसा क्यों है ? इस पर आयरियाह—आचार्य कहते हैं कि निग्गन्थस्स—निर्ग्रन्थ बम्भयारियस्स—ब्रह्मचारी को खलु—निश्चय से इत्थीण—स्त्रियों के

मणोहराइ—मन को हरने वाले और मणोरमाइ—मन को सुन्दर लगने वाले इन्दियाइ—इन्द्रियों को आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स—अवलोकन और ध्यान करते हुए बम्भचेरे—ब्रह्मचर्य में संका—शंका वा—अथवा कंखा—कांक्षा वा—अथवा वितिगिच्छा—सन्देह वा—अथवा समुप्पज्जिज्जा—उत्पन्न होवे वा—अथवा भेद—संयम का भेद वा—सयुच्चयार्थ में लभेज्जा—प्राप्त करे उम्मायं—उन्माद को पाउणिज्जा—प्राप्त करे वा—अथवा दीहकालियं—दीर्घकालिक रोगायङ्कं—रोगातङ्क हवेज्जा—होवे वा—अथवा केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भंसेज्जा—भ्रष्ट होवे तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ इत्थीणं—स्त्रियों के मणोहराइं—मनोहर—मन को हरने वाले मणोरमाइं—मनोरम—सुन्दर इन्दियाइं—इन्द्रियों को आलोएज्जा—आलोकन करे निज्झाएज्जा—ध्यान करे।

मूलार्थ—जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन और ध्यान नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? शिष्य की इस शंका पर आचार्य कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को देखता और ध्यान करता है, उसके ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ, स्त्रियों की मनोहर और सुन्दर इन्द्रियों का अवलोकन और ध्यान न करे।

टीका—ब्रह्मचर्य के चतुर्थ समाधि-स्थान में निर्ग्रन्थ भिक्षु को स्त्रियों के अंगों के अवलोकन और ध्यान करने का निषेध किया गया है। तात्पर्य कि निर्ग्रन्थ साधु मन को हरने और आह्लाद उत्पन्न करने वाले स्त्रियों के अंगों को सामान्य अथवा विशेष रूप से न देखे। क्योंकि स्त्रियों के अंगों का बार बार अवलोकन करने से उसके ब्रह्मचर्य में पीछे बतलाये गये शंका आदि समस्त दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। एवं संयम के विनाश और धर्म से पतित होने का भय रहता है। इसलिए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी को अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्रीजनों को कामदृष्टि से कभी भी अवलोकन नहीं करना चाहिए। यहाँ पर 'आलोकिता' शब्द का अर्थ ईषद्द्रष्टा और 'निर्ध्याता' शब्द का अर्थ प्रबन्ध से निरीक्षण करने वाला है। सारांश कि ब्रह्मचारी

निर्ग्रन्थ, स्त्रियों के अंगों का किसी रूप में भी अवलोकन न करे क्योंकि उनको देखने से कामचेष्टा में उत्तेजना बढती है। जब इस प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा में साधु कटिबद्ध होगा, तभी उसकी समाधि स्थिर रह सकती है, अन्यथा नहीं।

अब पाँचवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥५॥

नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा दूष्यान्तरे वा भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं

वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा श्रोता (न) भवति, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा शृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजितशब्दं वा, रुदितशब्दं वा, गीतशब्दं वा, हसितशब्दं वा, स्तनितशब्दं वा, क्रन्दितशब्दं वा, विलपितशब्दं वा शृण्वन् विहरेत् ॥५॥

पदार्थान्वय—नो—नहीं निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ इत्थीणं—स्त्रियों के कुड्डन्तरंसि—कुड्य—पत्थर की दीवार आदि में वा—अथवा दूसन्तरंसि—वस्त्र के अन्तर में भित्तन्तरंसि—दीवार के अन्तर में कूइयसद्द—विलास समय का कूजित शब्द रुइयसद्द—प्रेमरोष का शब्द गीयसद्द—गीतशब्द हसियसद्द—हसितशब्द—हँसने का शब्द थणियसद्द—रतिसमय में किया हुआ स्तनितशब्द कन्दियसद्द—आक्रन्दन शब्द विलवियसद्द—प्रलापरूप विलपित शब्द सोया—सुनने वाला हवइ—होवे से—वह निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे—यह ऐसा क्यों है? इस पर आयरियाह—आचार्य कहते हैं कि निग्गन्थस्स—निर्ग्रन्थ खलु—निश्चय से इत्थीणं—स्त्रियों के कुड्डन्तरंसि—कुड्य आदि में दूसन्तरंसि—वस्त्र के अन्तर में भित्तन्तरंसि—दीवार के अन्तर में कूइयसद्द—विलास समय का कूजित शब्द रुइयसद्द—प्रेमरोष का शब्द गीयसद्द—गाने का शब्द हसियसद्द—हँसने का शब्द थणियसद्द—रतिसमय में किया स्तनित शब्द कन्दियसद्द—आक्रन्दनशब्द विलवियसद्द वा—अथवा प्रलापरूप विलपित शब्द को सुणेमाणस्स—सुनते हुए बम्भयारिस्स—ब्रह्मचारी के बम्भचेरे—ब्रह्मचर्य में संका—शङ्का

वा—अथवा कंखा—कांक्षा वा—अथवा विइगिच्छा—सन्देह वा—अथवा समुप्पज्जिज्जा—उत्पन्न होवे भेदं—संयम का भेद वा—समुच्चयार्थ में लभेज्जा—प्राप्त करे उम्मायं—उन्माद को पाउणिज्जा—प्राप्त करे वा—अथवा दीहकालियं—दीर्घकालिक रोगायंकं—रोगातंक हवेज्जा—होवे वा—अथवा केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भंसेज्जा—भ्रष्ट होवे। तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ साधु इत्थीणं—स्त्रियों के कुड्डन्तरंसि—कुड्य—पत्थर की दीवार आदि में वा—अथवा दूसन्तरंसि—वस्त्र के अन्तर में भित्तन्तरंसि—दीवार के अन्तर में कूइयसद्दं—विलास समय का कूजित शब्द रुइयसद्दं—प्रेमरोष का शब्द गीयसद्दं—गीत शब्द हसियसद्दं—हसित शब्द—हँसने का शब्द थणियसद्दं—रतिसमय में किया हुआ स्तनित शब्द कन्दियसद्दं—आक्रन्दन शब्द विलवियसद्दं—विलाप शब्द सुणेमाणे—सुनने वाला विहरेज्जा—विचरे।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ साधु, कुड्यान्तर में—पाषाणभित्ति के अन्तर में, वस्त्र के अन्तर में और भित्ति के अन्तर में, स्त्रियों के कूजितशब्द, रुदितशब्द, गीतशब्द, हास्यशब्द और स्तनितशब्द तथा क्रन्दित और विलाप शब्द को सुनने वाला न होवे। यह किस लिए? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि निर्ग्रंथ साधु कुड्य के व्यवधान से, वस्त्र के अन्तर से, वा दीवार के अन्तर से यदि स्त्रियों के कूजने, रोने, गाने, हँसने, कहकहा मारने, आक्रन्दन करने वा प्रलाप करने के शब्द को सुने तो उस ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा और विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, संयम का विनाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ कुड्यान्तर में—पाषाणभित्ति के अन्तर में, वस्त्र के अन्तर में और भीत के अन्तर में स्त्रियों के कूजितशब्द, रुदितशब्द, गीत, हास्य और स्तनितशब्द तथा क्रन्दित और विलापशब्दों को सुनता हुआ न विचरे।

टीका—इस पंचम समाधि-स्थान में स्त्रियों के विविध प्रकार के शब्दों को सुनने का साधु के लिए निषेध किया है। निर्ग्रन्थ साधु कुड्यान्तर में—अर्थात् पत्थर के बने हुए घर में ठहरा हुआ, तथा वस्त्र के अन्तर में [illegible] में या पक्की ईंटों से बने हुए घर में ठहरा हुआ स्त्रियों के कूजित, रुदित [illegible], स्तनित,

क्रन्दित और विलाप शब्दों को सुनने की चेष्टा न करे। सुरतसमय में कपोतादि पक्षियों के समान जो अव्यक्त शब्द है, उसे कूजित कहते हैं। प्रेममिश्रित रोष से रतिकलहादि में होने वाला शब्द रुदित कहा जाता है। प्रमोद में आकर स्वरतालपूर्वक किया गया गान गीत कहलाता है। एवं प्रसन्नता से अतीव हँसना हास्य शब्द है। अत्यधिक रतिसुख में उत्पन्न होने वाला शब्द स्तनित कहलाता है। भर्ता के रोष से तथा प्रकृति के ठीक न होने से जो शोकपूर्ण शब्द हैं, वे आक्रन्दित और विलपित के नाम से प्रसिद्ध हैं। क्योंकि इन पूर्वोक्त शब्दों के रुचिपूर्वक श्रवण से साधु के ब्रह्मचर्य में पूर्वोक्त शंका आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका परिणाम संयमभेद और धर्म से पतित होना है। इसलिए जहाँ पर ऐसे शब्द सुनाई दें, वहाँ पर निर्ग्रन्थ साधु कभी निवास न करे। कारण कि इनसे मन की चंचलता में वृद्धि होती है, और ब्रह्मचर्य में आघात पहुँचता है।

अब छठे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो निग्गन्थे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥६॥

नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का

वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्वरतं पूर्वक्रीडितमनुस्मरेत् ॥६॥

पदार्थान्वयः—नो-नहीं निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ इत्थीणं-स्त्रियों के पुव्वरय-पूर्व—गृहस्थावास में स्त्री के साथ किया हुआ जो विषयविलास, उसका पुव्वकीलिय-पूर्व—स्त्री के साथ की हुई क्रीडा का अणुसरित्ता-स्मरण करने वाला हवइ-होवे, से-वह निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे-वह कैसे ? यदि इस तरह कहा जाय, तो इस पर आयरियाह-आचार्य कहते हैं इत्थीणं-स्त्रियों के साथ की हुई पुव्वरय-पूर्वरति पुव्वकीलिय-पूर्वक्रीडा का अणुसरमाणस्स-अनुस्मरण करने वाले निग्गन्थस्स बम्भयारिस्स-निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के बम्भचेरे-ब्रह्मचर्य में सका-शका वा-अथवा कखा-काक्षा वा-अथवा विइगिच्छा-सन्देह वा-अथवा समुप्पज्जिज्जा-उत्पन्न होवे वा-अथवा भेद-सयम का भेद वा-समुच्चयार्थ में लभेज्जा-प्राप्त करे उम्माय-उन्माद को पाउणिज्जा-प्राप्त करे वा-अथवा दीहकालिय-दीर्घकालिक रोगायक-रोगातक हवेज्जा-होवे वा-अथवा केवलिपन्नत्ताओ-केवलिप्रणीत धम्माओ-धर्म से भंसेज्जा-भ्रष्ट होवे। तम्हा-इसलिए खलु-निश्चय से नो-नहीं निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ इत्थीणं-स्त्रियों के पुव्वरय-पूर्वगृहस्थावास में स्त्री के साथ किये हुए विषयविलास को पुव्वकीलिय-पूर्व—स्त्री के साथ की हुई क्रीडा को अणुसरेज्जा-स्मरण करे।

मूलार्थ—निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियों की पूर्वरति और पूर्वक्रीडा का स्मरण करने वाला न होवे क्योंकि स्त्रियों के पूर्वरत और पूर्वक्रीडा का स्मरण करने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, कांक्षा अथवा सन्देह आदि दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, सयम का नाश एव उन्माद की प्राप्ति होती है तथा दीर्घकालिक भयकर रोगों का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों के पूर्वरत और पूर्वक्रीडा का स्मरण न करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु को स्त्रियों की रतिक्रीडा के स्मरण का निषेध किया है। तात्पर्य कि यदि कोई साधु विवाह-सस्कार के अनन्तर दीक्षित हुआ हो तो

वह अपनी पहली अवस्था में स्त्री के साथ हुई रतिक्रीडा एवं भोग-विलासों का स्मरण न करे। ऐसा करने से उसके ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा, सन्देह आदि अनेक दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं परिणामस्वरूप वह केवलिप्रणीत धर्म से पतित हो जाता है। इसलिए विचारशील निर्ग्रन्थ को गृहस्थावस्था में सेवन किये गये कामभोगों का कदापि स्मरण न करना चाहिए। तथा विवाह से प्रथम ही दीक्षित होने वाले साधु को जो कामजन्य वार्ता का श्रवण करके उसके स्मरण करने का निषेध है, अर्थात् कुमार अवस्था से ही दीक्षित होने वाला साधु कामजन्य वार्ता को सुनकर उसका स्मरण कभी न करे। क्योंकि इस स्मरण से उसके ब्रह्मचर्य में पूर्व कहे दोषों के आगमन का ही भय है।

अब सातवें समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ॥७॥

नो प्रणीतमाहारमाहर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहारमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रंश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहरेत् ॥७॥

पदार्थान्वय—नो–नहीं पणीयं–प्रणीत आहार–आहार आहरित्ता–करने वाला हवइ–होवे से–वह निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे–वह कैसे ? यदि इस प्रकार कहा जाय तो आयरियाह–आचार्य कहते हैं—निग्गन्थस्स–निर्ग्रन्थ के खलु–निश्चय से पणीयं–प्रणीत आहारं–आहार आहारेमाणस्स–करते हुए बम्भयारिस्स–ब्रह्मचारी के बम्भचेरे–ब्रह्मचर्य में सका–शका कखा–काक्षा वा–अथवा विइगिच्छा–सन्देह समुप्पज्जिज्जा–उत्पन्न होवे भेद–सयम का भेद वा–अथवा लभेज्जा–प्राप्त करे उम्माय–उन्माद रोग को वा–अथवा पाउणिज्जा–प्राप्त करे वा–अथवा दीहकालियं–दीर्घकालिक रोगायक–रोग का आतङ्क हवेज्जा–होवे केवलिपन्नत्ताओ–केवलिप्रणीत धम्माओ–धर्म से भसेज्जा–भ्रष्ट होवे। तम्हा–इसलिए खलु–निश्चय से नो–नहीं निग्गन्थे–निर्ग्रन्थ पणीय–प्रणीत आहार–आहार को आहारेज्जा–करे।

मूलार्थ—जो साधु प्रणीत आहार करने वाला नहीं, वह निर्ग्रन्थ है। ऐसा क्यों ? इस पर आचार्य कहते हैं कि प्रणीत—स्निग्ध आहार करने से ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांचा, विचिकित्सा के उत्पन्न होने की सभावना रहती है, सयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयकर रोगों का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत आहार न करे।

टीका—जो आहार गलद्बिन्दु—अतिस्निग्ध है, वह पौष्टिक एव धातुवर्द्धक होने से ब्रह्मचारी के ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि उससे ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं होती किन्तु उसमें क्षति पहुँचती है तथा सयमविनाश आदि पूर्वोक्त दोषों के उत्पन्न होने की सभावना रहती है। अतः ब्रह्मचारी को स्निग्ध आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अर्थात् भक्तपान की तरह खादिम और स्वादिम पदार्थों के विषय में भी जान लेना। तात्पर्य कि जिस आहार से इन्द्रियाँ प्रदीप्त होती हों और कामाग्नि प्रचण्ड होती हो, उस आहार को साधु न करे।

अब आठवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स

खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ॥८॥

नो अतिमात्रया पानभोजनमाहर्ता भवति, स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत्? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पानभोजनमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पानभोजनमाहरेत् ॥८॥

पदार्थान्वय—नो—नहीं अइमायाए—अतिमात्रा से पाणभोयण—पानी और भोजन आहारेत्ता—करने वाला हवइ—होता, से—वह निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ है। तं कहमिति चे—यह कैसे? इस पर आयरियाह—आचार्य कहते हैं—निग्गन्थस्स—निर्ग्रन्थ के खलु—निश्चय से अइमायाए—अतिमात्रा से पाणभोयणं—पान और भोजन आहारेमाणस्स—करते हुए बम्भयारिस्स—ब्रह्मचारी के बम्भचेरे—ब्रह्मचर्य में संका—शंका कंखा—कांक्षा वा—अथवा विइगिच्छा—सन्देह समुप्पज्जिज्जा—उत्पन्न होवे भेदं—संयम का भेद वा—अथवा लभेज्जा—प्राप्त करे उम्मायं—उन्माद रोग को वा—अथवा पाउणिज्जा—प्राप्त करे दीहकालियं—दीर्घकालिक रोगायंकं—रोग का आतंक हवेज्जा—होवे केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भंसेज्जा—भ्रष्ट होवे। तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ अइमायाए—अतिमात्रा से पाणभोयणं—पान और भोजन आहारेज्जा—ग्रहण करे।

मूलार्थ—जो प्रमाण से अधिक पानी पीने वाला और भोजन करने वाला नहीं, वही निर्ग्रन्थ साधु है। ऐसा क्यों? तब आचार्य कहते हैं कि प्रमाण से अधिक पानी पीने और भोजन करने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, सन्देह के उत्पन्न होने की संभावना रहती है, संयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण होता है एवं केवलि-प्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ अतिमात्रा से पान और भोजन न करे।

टीका—इस गाथा में निर्ग्रन्थ साधु को अधिक प्रमाण में भोजन करने का निषेध किया गया है। प्रमाण से अधिक किया हुआ भोजन रोग और विकृति का कारण होता है। इससे ब्रह्मचारी साधु के ब्रह्मचर्य में शंका आदि पूर्वोक्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को प्रमाण से अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। शास्त्रों में पुरुष के ३२, स्त्री के २८ और नपुंसक के २४ कवल—ग्रास लिखे हैं। इससे अधिक प्रमाण में साधु को भोजन नहीं करना चाहिए।

अथ नवम समाधि-स्थान की चर्चा करते हैं—

नो विभूसाणुवादी हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा ॥९॥

नो विभूषानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः। तत् कथमिति चेत्? आचार्य आह—विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्या-

भिलषणीयो भवति । ततस्तस्य स्त्रीजनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती भवेत् ॥९॥

पदार्थान्वय —नो-नहीं विभूसाणुवादी-शरीर को विभूषित करने वाला हवइ-होवे, से-वह निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ है । त कहमिति चे-वह कैसे ? आयरियाह-इस पर आचार्य कहते हैं—विभूसावत्तिए-विभूषा में वर्तने वाला विभूसियसरीरे-विभूषित शरीर इत्थिजणस्स-स्त्रीजन को अभिलसणिज्जे-अभिलषणीय—प्रार्थनीय हवइ-होता है । तओ-तदनन्तर णु-वाक्यालङ्कार में है तस्स-उस इत्थिजणेणं-स्त्रीजन के द्वारा अभिलसिज्जमाणस्स-प्रार्थना किये हुए बम्भयारिस्स-ब्रह्मचारी के बम्भचेरे-ब्रह्मचर्य में सका-शका कखा-कांक्षा वा-अथवा विइगिच्छा-सन्देह समुप्पज्जिज्जा-उत्पन्न होवे भेद-सयम का भेद वा-अथवा लभेज्जा-प्राप्त करे उम्माय-उन्माद रोग को वा-अथवा पाउणिज्जा-प्राप्त करे वा-अथवा दीहकालिय-दीर्घकालिक रोगायक-रोग का आतङ्क हवेज्जा-होवे केवलिपन्नत्ताओ-केवलिप्रणीत धम्माओ-धर्म से भसेज्जा-भ्रष्ट होवे । तम्हा-इसलिए खलु-निश्चय से नो-नहीं निग्गन्थे-निर्ग्रन्थ विभूसाणुवादी-शरीर को विभूषित करने वाला हविज्जा-होवे ।

मूलार्थ—जो विभूषा को करने वाला नहीं, वह निर्ग्रन्थ है । कैसे ? तब आचार्य कहते हैं कि विभूषा को करने वाला और विभूषितशरीर, स्त्रीजन को अभिलषणीय होता है । तत्पश्चात् स्त्रीजन द्वारा प्रार्थना किये गये उस ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शका, कांक्षा, सन्देह के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, सयम का नाश होता है, उन्माद की उत्पत्ति तथा दीर्घकालिक भयकर रोगों का आक्रमण होता है एव केवलिप्रणीत धर्म से वह पतित हो जाता है । इसलिए ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ विभूषा न करे ।

टीका—इस गाथा में निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के लिए विभूषा—स्नान तथा शृङ्गार आदि करने का निषेध किया गया है क्योंकि शृङ्गार आदि करने अर्थात् अनेक

प्रकार से शरीर को विभूषित करने वाला साधु स्त्रियों को प्यारा लगने लगता है। फिर वे—स्त्रीजन—जब उससे प्रेम करने लगते हैं तो उसके ब्रह्मचर्य को दूषित करने वाले नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। वह संयम का विराधक बनता हुआ धर्म से भी पतित हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी पुरुष कभी विभूषा न करे। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि प्रस्तुत गाथा में शरीर को विभूषित—अलङ्कृत करने का निषेध है किन्तु शौच का निषेध नहीं अर्थात् शरीर को पवित्र—साफ रखने का निषेध नहीं किया। इसलिए साधु की शरीरसम्बन्धी जितनी भी क्रिया है, वह सब शौच के निमित्त भले ही हो परन्तु विभूषा के लिए नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार चारित्रशील विधवा स्त्री शरीर की रक्षा करती है, उसे पवित्र रखती है किन्तु शृङ्गार की इच्छा उसके मन में नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष शरीर को सुरक्षित अथच स्वस्थ रखने के लिए शौचादि कर्म करे किन्तु शृङ्गार के लिए न करे। तब ही उसकी समाधि स्थिर रह सकती है। कहा भी है—"उज्ज्वलवेष पुरुष दृष्ट्वा स्त्री कामयते" अर्थात् उज्ज्वल वेष रखने वाले पुरुष को स्त्री चाहती है। अतएव जो पुरुष शरीर को विभूषित करते हुए भी ब्रह्मचर्य रखने का साहस करते हैं, वे भूल करते हैं।

अब दशवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं। यथा—

नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी हवइ, से निग्गन्थे। तं कहमिति चे? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादिस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी भवेज्जा, से निग्गन्थे। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ ॥१०॥

नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थः। तत्कथमिति चेत् ? आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो शब्दरूपरसगन्धस्पर्शानुपाती भवेत्, स निर्ग्रन्थः। दशमं ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानं भवति ॥१०॥

पदार्थान्वयः—नो—नहीं सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला हवइ—होवे से—वह निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ है। त कहमिति चे—यह कैसे ? इस पर आयरियाह—आचार्य कहते हैं निग्गन्थस्स—निर्ग्रन्थ खलु—निश्चय सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादिस्स—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाले बम्भयारिस्स—ब्रह्मचारी के बम्भचेरे—ब्रह्मचर्य में सका—शंका वा—अथवा कखा—आकांक्षा विइगिच्छा—संशय समुप्पज्जिज्जा—उत्पन्न हो जावे हैं भेद—संयम का भेद लभेज्जा—प्राप्त होता है उन्माय—उन्माद को पाउणिज्जा—प्राप्त होता है वा—अथवा दीहकालिय—दीर्घकालीन रोगायक—रोग और आतंक हवेज्जा—होता है केवलिपन्नत्ताओ—केवलिप्रणीत धम्माओ—धर्म से भसेज्जा—भ्रष्ट हो जाता है। तम्हा—इसलिए खलु—निश्चय से नो—नहीं सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला भवेज्जा—होवे, से—वह निग्गन्थे—निर्ग्रन्थ है। यह दसमे—दशवाँ बम्भचेर—ब्रह्मचर्य समाहिठाणे—समाधिस्थान हवइ—है।

मूलार्थ—जो शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला न होवे, वह निर्ग्रन्थ है। कैसे ? आचार्य कहते हैं कि शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श के भोगने वाले निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में निश्चय ही शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, सन्देह उत्पन्न हो जाता है, संयम का भेद हो जाता है, उन्माद की प्राप्ति हो जाती है, दीर्घकालीन रोग और आतंक की प्राप्ति होती है और केवलि के प्रतिपादन किये हुए धर्म से वह पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला न होवे। यह दशवाँ ब्रह्मचर्य समाधिस्थान है।

टीका—इस सूत्र में निर्ग्रन्थ के लिए शब्दादि विषयों के भोगोपभोग का निषेध किया है। तात्पर्य कि निर्ग्रन्थ साधु, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सुभाषितादि शब्द, चित्रगत स्त्री आदि का रूप, मधुराम्लादि रस, सुरभि गन्ध और सुकोमल स्पर्श, इनके भोगने वाला न होवे। क्योंकि ये पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषय समाधि में विघ्न करने वाले होते हैं। इन पाँचों विषयों से निवृत्त होने पर ही समाधि में स्थिरता हो सकती है। इसके विपरीत जो पुरुष इन विषयों का सेवन करते हैं, वे विभ्रमयुक्त होकर समाधि से पतित हो जाते हैं। इसलिए जो पदार्थ समाधि में विघ्न डालने वाला हो, उसका ब्रह्मचारी को अवश्यमेव त्याग कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उक्त पाँचों विषयों का सेवन करने वाले उनके वशवर्ती होते हुए अपमृत्यु को भी प्राप्त हो सकते हैं। अत इन पाँचों का त्याग करके समाधि में स्थित होना ही ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ का सब से प्रथम कर्तव्य है। यदि कोई कहे कि मन की दृढता होने पर इन विषयों का सेवन भयावह नहीं हो सकता ? तो इसका समाधान यह है कि मन की चचलता अपार है और सभी जीव समानकोटि के नहीं होते परन्तु यह उपदेश सर्वसाधारण के लिए है। अतः ब्रह्मचारी को इनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

हवन्ति य इत्थ सिलोगा। तं जहा—

भवन्ति चात्र श्लोका। तद्यथा—

पदार्थान्वयः—हवंति-हैं य-और इत्थ-यहाँ पर सिलोगा-श्लोक। त जहा-जैसे कि—

मूलार्थ—और यहाँ पर श्लोक भी हैं। जैसे कि—

टीका—उक्त पाठ में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचर्य के इन दश समाधि स्थानों का प्रतिपादन करने वाले पद्यरूप श्लोक भी हैं। तात्पर्य कि प्रथम दश समाधि स्थानों का वर्णन गद्य में किया है और अब उनका वर्णन पद्यरूप में करते हैं। यद्यपि प्राकृत के पद्यों को गाथा और काव्य के नाम से कहा गया है तथापि मागधी भाषा में पद्यरूप समास को श्लोक भी कहते हैं।

अब उक्त प्रतिज्ञान के अनुसार वर्णन करते हैं। यथा—

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थिजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥१॥

य विविक्तमनाकीर्णं, रहितं स्त्रीजनेन च।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थम्, आलय तु निषेवेत ॥१॥

पदार्थान्वय —ज-जो विवित्त-विविक्त स्त्री पशु और नपुंसक रहित अणाइन्न-आकीर्णता से रहित य-और इत्थिजणेण-स्त्रीजन से रहिय-रहित बम्भचेरस्स-ब्रह्मचर्य की रक्खट्ठा-रक्षा के लिए आलय-स्थान—उपाश्रय का निसेवए-सेवन करे। तु-पादपूर्ति में।

मूलार्थ—जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित तथा आकीर्णता और स्त्रीजन से रहित है, साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उसी स्थान को सेवन करे।

टीका—इस गाथा में साधु को ऐसे विविक्त एकान्त स्थान में निवास करने का आदेश है कि जहाँ पर स्त्री, पशु और नपुंसक का निवास न हो तथा आकीर्णता से रहित एव जिसमें स्त्री आदि का पुनः पुन तथा अकाल में आवागमन न हो अर्थात् ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु इस प्रकार के एकान्त उपाश्रय आदि में निवास करे। यहाँ पर 'आलय' सामान्य वसति का बोधक है अर्थात् कोई भी स्थान हो परन्तु उक्त दोषों से रहित तथा एकान्त होना चाहिए, तब ही वह समाहित चित्त से वहाँ रह सकता है। अन्यथा पूर्व वर्णन किये गये शका और सयमभेद आदि दोषों की सभावना है।

अब द्वितीय समाधि स्थान का वर्णन करते हैं—

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बम्भचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥२॥

मन प्रह्लादजननीं, कामरागविवर्धनीम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षु, स्त्रीकथां तु विवर्जयेत् ॥२॥

पदार्थान्वयः—मणपल्हायजणणी-मन को आनन्द देने वाली कामरागविवड्ढणी-कामराग को बढाने वाली बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य में रत भिक्खू-भिक्षु थीकहं-स्त्रीकथा को विवज्जए-त्याग देवे। तु-पादपूर्ति में।

मूलार्थ—मन को आह्लाद देने वाली और काम तथा राग को बढ़ाने वाली स्त्रीकथा को ब्रह्मचर्यरत भिक्षु त्याग देवे।

टीका—इस गाथा में कामवर्द्धक स्त्रीकथा का ब्रह्मचारी भिक्षु के लिए निषेध किया गया है। तात्पर्य कि जिस कथा से मन में वैकारिक आनन्द पैदा हो, काम में उत्तेजना बढ़े और राग की वृद्धि हो, ऐसी स्त्रीकथा को ब्रह्मचारी भिक्षु सदा के लिए त्याग देवे। किन्तु जिस कथा से राग की निवृत्ति और मन में वैराग्य की उत्पत्ति हो, यदि ऐसी स्त्रीकथा हो तो उसका निषेध नहीं। जैसे कि संवेगनी आदि कथाएँ हैं तथा सीता आदि सतियों की कथाएँ हैं। सारांश कि धर्मविवर्द्धक कथाओं के कहने में कोई आपत्ति नहीं।

अब तीसरे समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥३॥

समं च संस्तवं स्त्रीभिः, संकथां चाभीक्ष्णम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥३॥

पदार्थान्वयः—समं-साथ च-और संथवं-संस्तव थीहिं-स्त्रियों से च-और संकहं-साथ बैठकर कथा करना अभिक्खणं-बारम्बार बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य में रत भिक्खू-भिक्षु निच्चसो-सदा ही परिवज्जए-छोड़ देवे।

मूलार्थ—स्त्रियों के संस्तव—अधिक परिचय और एक आसन पर बैठकर कथा करना ब्रह्मचर्य में रति—प्रीति रखने वाला भिक्षु सदा के लिए छोड़ देवे।

टीका—स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कथा करना तथा उनके साथ अधिक परिचय करना और पुनः पुनः उनके साथ सप्रेम सम्भाषण करना, इत्यादि भावों का ब्रह्मचारी भिक्षु सदा के लिए त्याग कर देवे। अन्यथा उसकी समाधि में विघ्न उपस्थित करने वाले पूर्वोक्त अनेक दोष उत्पन्न होंगे। तात्पर्य कि साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त स्त्रियों का संसर्ग कभी न करे।

अब चतुर्थ समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

अंगपच्चंगसंठाणं , चारुल्लवियपेहियं ।
बम्भचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥४॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं , चारूल्लपितप्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, चक्षुर्ग्राह्यं विवर्जयेत् ॥४॥

पदार्थान्वयः—अंग—मस्तक आदि अंग पच्चंग—प्रत्यंग—स्तन आदि संठाण—आकार विशेष वा कटि आदि चारु—सुन्दर ल्लविय—बोलना पेहियं—देखना बम्भचेर—ब्रह्मचर्य में रओ—रत थीण—स्त्रियों के चक्खुगिज्झ—चक्षुर्ग्राह्य विषय विवज्जए—छोड़ देवे।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी भिक्षु स्त्रियों के अंग प्रत्यंग और संस्थान आदि का निरीक्षण करना तथा उनके साथ सुचारु भाषण और कटाक्षपूर्वक देखना इत्यादि बातों को एवं चक्षुग्राह्य विषयों को त्याग देवे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भिक्षु के लिए स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग आदि के निरीक्षण का तथा संभाषण और कटाक्षपूर्वक देखने का निषेध किया गया है। जैसे कि—स्त्रियों के मस्तक आदि अंग, कुच कक्षा आदि प्रत्यंग और कटिसंस्थानों का निरीक्षण करना एवं उनके साथ मनोहर भाषण तथा कटाक्षपूर्वक देखना इत्यादि बातों को और चक्षुग्राह्य विषयों को ब्रह्मचारी भिक्षु छोड़ देवे। यद्यपि रूप का स्वभाव आँखों में प्रवेश करना और आँखों का स्वभाव उसे ग्रहण करना है परन्तु उस पर किसी प्रकार का राग-द्वेष न करना, यही संयमशील आत्मा की दृढ़ता है। क्योंकि चक्षु इन्द्रिय रूप में प्रवेश न करे, ऐसा तो हो ही नहीं सकता किन्तु उस पर राग-द्वेष न करना, यही समाधि की स्थिरता का मूल कारण है। अपिच जो ब्रह्मचारी अपनी आँखों को कामरागवर्द्धक रूप को देखने से हटा नहीं सकता, उसकी समाधि कभी स्थिर नहीं रह सकती। अतः ब्रह्मचारी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी आँखों को हर प्रकार से वश में रखने का प्रयत्न करे।

अब पंचम समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं ।
बम्भचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥५॥

कूजितं रुदितं गीत, हसितं स्तनितक्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्यरत' स्त्रीणां, श्रोत्रग्राह्यं विवर्जयेत् ॥५॥

पदार्थान्वय —कूइय–कूजित रुइय–रुदित गीय–गीत हसिय–हसित—हास्य थणिय–स्तनित कन्दिय–क्रन्दित शब्द बम्भचेर–ब्रह्मचर्य में रओ–रत थीण–स्त्रियों के सोयगिज्झ–श्रोत्रग्राह्य शब्द को विवज्जए–त्याग देवे ।

मूलार्थ—ब्रह्मचर्य में प्रीति रखने वाला भिक्षु, स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य कूजित, रुदित, गीत, हसित, स्तनित और क्रदित शब्दों को त्याग देवे अर्थात् न सुने ।

टीका—इस गाथा में भिक्षु के लिए स्त्रियों के कूजित आदि श्रोत्रग्राह्य शब्दों के श्रवण करने का निषेध किया गया है । यद्यपि शब्दो का स्वभाव श्रोत्रेन्द्रिय में प्रविष्ट होने का है और श्रोत्र का स्वभाव सुनने का है तथापि उन शब्दों को सुनकर राग-द्वेष के वशीभूत न होना ही यहाँ पर उपदिष्ट तत्त्व का सार है । तथा स्त्रियों के हास्य, गीत आदि के श्रवण करने से कामचेष्टा उत्तेजित होती है और उसका परिणाम तो संयम का विनाश और धर्म से भ्रष्टता आदि ऊपर बतलाया ही जा चुका है । इसलिए भिक्षु को इनका सदा त्याग ही करना चाहिए ।

अब छठे समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहभुत्तासियाणि य ।
बम्भचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइवि ॥६॥

हास्यं क्रीडां रतिं दर्पं, सह भुक्तासितानि च ।
ब्रह्मचर्यरतः स्त्रीणां, नानुचिन्तयेत् कदापि च ॥६॥

पदार्थान्वय —हास–हास्य किड्ड–क्रीडा रइ–रति दप्प–दर्प सह–स्त्री के साथ भुत्ता–भोजन आदि किया य–और आसियाणि–एक आसन पर बैठना बम्भचेर–ब्रह्मचर्य में रओ–रत थीण–स्त्रियों के—पूर्वसस्तव कयाइवि–कदाचित् भी नाणुचिन्ते–चिन्तन न करे ।

मूलार्थ—स्त्रियों के साथ हास्य, क्रीडा, रति, दर्प और साथ बैठकर किया हुआ भोजन, इत्यादि बातों का ब्रह्मचारी भिक्षु कभी स्मरण न करे ।

टीका—इस गाथा में स्त्रियों के साथ किये हुए हास्यादि का स्मरण व चिन्तन करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध बतलाया गया है। जैसे कि स्त्री के साथ हास्य किया हुआ, क्रीडा की हुई, प्रीति से बर्ताव किया हुआ तथा स्त्री के गर्व का नाश करने के लिए दर्प किया हुआ और साथ में बैठकर भोजन किया हुआ इत्यादि पूर्व बातों का ब्रह्मचारी पुरुष कदापि स्मरण—चिन्तन न करे। कारण कि इनके चिन्तन से मन में कामजन्य विकृति के पैदा होने की सम्भावना रहती है। इसलिए पूर्वानुभूत क्रीडा आदि का भिक्षु कदापि स्मरण न करे।

वृत्ति में इस गाथा का दूसरा पाद इस प्रकार से देकर उसका निम्नलिखित अर्थ किया है। यथाहि—

"सहसावत्तासियाणि य—सहसाऽवत्रासितानि च। वृत्तिः—पराङ्मुख-स्थितादेः सपदि त्रासोत्पादकानि अक्षिस्थगनमर्मघट्टनादीनि।" अर्थात् स्त्री का अकस्मात् त्रास के कारण अक्षि आदि का ढाँपना तथा मर्मयुक्त वचनों का बोलना, इत्यादि पूर्वानुभूत बातों का स्मरण साधु न करे। तथा जो पुरुष अविवाहित ही भिक्षु हो गये हैं, उनको इन बातों की ओर ध्यान ही न देना चाहिए।

अब सातवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

पणीयं भत्तपाणं च, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥७॥

प्रणीत भक्तपानं च, क्षिप्र मदविवर्धनम्।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षु:, नित्यश परिवर्जयेत् ॥७॥

पदार्थान्वयः—पणीय-प्रणीत भत्त-भात च-और पाण-पानी खिप्प-शीघ्र मयविवड्ढण-मद बढाने वाला बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य में रत भिक्खू-भिक्षु निच्चसो-सदैव काल परिवज्जए-छोड देवे।

मूलार्थ—स्निग्ध अन्न और पानी, जो कि शीघ्र ही मद को बढ़ाने वाला हो, ब्रह्मचर्य मे रत—अनुरक्त—भिक्षु सदा के लिए ऐसे भोजन को त्याग देवे।

टीका—जो आहार अति स्निग्ध और कामवासना को शीघ्र ही बढ़ाने वाला है, उसको ब्रह्मचारी साधु, कदापि ग्रहण न करे क्योंकि इससे साधु के

ब्रह्मचर्य में क्षति पहुँचती है। इसके साथ ही कामवर्द्धक—बलप्रद ओषधियों का निषेध भी समझ लेना।

अब आठवें समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बम्भचेररओ सया ॥८॥

धर्मलब्धं मितं काले, यात्रार्थं प्रणिधानवान्।
नाऽतिमात्रं तु भुञ्जीत, ब्रह्मचर्यरतः सदा ॥८॥

पदार्थान्वय —धम्मलद्धं–धर्म से प्राप्त हुआ मियं–मित—स्वल्प काले–प्रस्ताव में जत्तत्थं–संयम यात्रा के लिए पणिहाणवं–चित्त की स्वस्थता के साथ अइमत्तं–प्रमाण से अधिक न भुंजिज्जा–न खावे बम्भचेररओ–ब्रह्मचर्य में रत सया–सदा।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी पुरुष समय पर धर्म से प्राप्त हुआ स्तोकमात्र, संयम यात्रा के लिए, चित्त की स्वस्थता के साथ प्रमाण से अधिक भोजन न करे।

टीका—इस गाथा में ब्रह्मचारी के लिए प्रमाण से अधिक भोजन करने का निषेध किया गया है। धर्मयुक्त—आचारपूर्वक, एषणीय—निर्दोष आहार, जो कि गृहस्थ के घर से प्राप्त हुआ है, वह स्तोकमात्र और समय पर साधु को खाना चाहिए। किन्तु प्रमाण से अधिक आहार साधु न करे। प्रमाण से अधिक आहार करने पर कामाग्नि के प्रदीप्त होने तथा विसूचिका आदि रोगों के होने का भय रहता है। तथा उक्त निर्दोष आहार भी स्वस्थ चित्त से करना चाहिए, विपरीत इसके व्याकुल चित्त से किये गये आहार का परिणमन ठीक रूप में नहीं होता तथाच उससे समाधि की स्थिरता भी नहीं रहती। इसलिए संयमशील ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक आहार न करे। यदि गाथा के भाव को और भी संक्षेप में कहें तो इतना ही कह सकते हैं कि साधु को आगमोक्त विधि के अनुसार ही भोजन करना चाहिए।

अब नवम समाधि-स्थान का वर्णन करते हैं—

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥९॥

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमण्डणं ।
बम्भचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥९॥

विभूषां परिवर्जयेत्, शरीरपरिमण्डनम् ।
ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः, शृङ्गारार्थं न धारयेत् ॥९॥

पदार्थान्वयः—विभूस-विभूषा को परिवज्जेज्जा-सर्व प्रकार से त्याग देवे सरीरपरिमण्डणं-शरीर का मण्डन—अलंकार करना बम्भचेररओ-ब्रह्मचर्य में रत भिक्खू-भिक्षु सिंगारत्थं-शृङ्गार के लिए न धारए-न धारण करे।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी भिक्षु विभूषा और शरीर का मण्डन करना छोड़ देवे तथा शृङ्गार के लिए कोई भी काम न करे।

टीका—इस गाथा में ब्रह्मचारी के लिए शरीर को विभूषित करने का निषेध किया गया है। ब्रह्मचर्य में अनुराग रखने वाला साधु शरीर की विभूषा को त्याग देवे अर्थात् शृङ्गार के निमित्त वस्त्रादि का उत्तम संस्कार करना और शरीर का मण्डन करना, केश श्मश्रु आदि का सँवारना छोड़ देवे। कारण कि शृङ्गार से मन में विकार के उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहती है। अतः संयमशील भिक्षु को सर्व प्रकार से शरीर की भूषा और मण्डन का त्याग कर देना चाहिए। इसलिए उक्त गाथा में 'परि' उपसर्ग का ग्रहण किया गया है।

अब दशम समाधि-स्थान के विषय में कहते हैं—

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१०॥

शब्दान् रूपांश्च गन्धांश्च, रसान् स्पर्शांस्तथैव च ।
पञ्चविधान् कामगुणान्, नित्यशः परिवर्जयेत् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—सद्दे-शब्दों को य-और रूवे-रूपों को य-और गन्धे-गन्धों को रसे-रसों को य-और फासे-स्पर्शों को तहेव-उसी प्रकार पंचविहे-पाँच प्रकार के कामगुणे-कामगुणों को निच्चसो-सदा के लिए परिवज्जए-त्याग देवे।

मूलार्थ—इसी प्रकार शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श इन पाँच प्रकार के कामगुणों को सदा के लिए छोड़ देवे।

टीका—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इस दशवें समाधि-स्थान में इस बात की चर्चा की गई है कि ब्रह्मचारी भिक्षु शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के कामगुणों का सदा के लिए परित्याग कर देवे। क्योंकि ये पाँचों ही विषय कामदेव की वृद्धि में कारणभूत हैं अर्थात् कामदेव की उत्तेजना में सहायक हैं। जैसे कि—शब्द—मधुर स्वर और नृत्य आदि में कामवर्द्धक शब्दों का सुनना, रूप—कामदृष्टि से रूप का देखना, गन्ध—पुष्पमाला आदि का पहरना, रस—मधुर आदि रसों का सेवन करना, स्पर्श—कोमल स्पर्श का भोगना, इत्यादि कामगुणों के सेवन का ब्रह्मचारी पुरुष को निषेध है। इसके अतिरिक्त अपने आपको ब्रह्मचारी कहलाते हुए भी जो पुरुष इन विषयों का सेवन करते हैं, वे समाधि-स्थान से अवश्य च्युत हो जाते हैं। अतः ब्रह्मचारियों को इनसे पूरे तौर पर सावधान रहना चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का ही दृष्टान्तपूर्वक फिर से वर्णन करते हैं। यथा—

आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसणं ॥११॥

आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा।
संस्तवश्चैव नारीणां, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥११॥

पदार्थान्वय—आलओ-स्थान थीजणाइण्णो-स्त्रीजन से आकीर्ण य-और थीकहा-स्त्रीकथा मणोरमा-मन को आनन्द देने वाली संथवो-संस्तव च-और एव-अवधारणार्थ में है नारीणं-नारियों से तासिं-उनकी इंदियदरिसणं-इन्द्रियों का दर्शन।

मूलार्थ—स्त्रीजन से आकीर्ण स्थान, स्त्रियों की मनोरम कथा, स्त्रियों से अधिक परिचय और उनकी इन्द्रियों का दर्शन; ये आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुटविष के समान हैं (यह तीसरी गाथा के उत्तरार्द्ध के साथ सम्बन्ध होने से अर्थ होता है)।

टीका—इस गाथा में पूर्व कहे हुए समाधि-स्थानों को अब एक एक पद में वर्णन करके दिखलाते हैं। जैसे कि—१ स्त्रीजन से आकीर्ण स्थान, २ स्त्रीकथा जो

मन को हरने वाली है, और ३ स्त्रियों से संस्तव अर्थात् परिचय तथा ४ उनकी इन्द्रियों का देखना—ये चारों कारण ब्रह्मचर्य के संरक्षक नहीं हैं किन्तु उसके विनाश के हेतु हैं। जो सूत्रकर्ता ने "थीजणाइण्णो" पद दिया है, इस कथन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि केवल स्त्रीजन से ही आकीर्ण वह स्थान है। इसलिए पुरुष के न होने के कारण वह स्थान ब्रह्मचारी के लिए अयोग्य है। यदि पुरुषों से आकीर्ण हो तो उस स्थान का निषेध नहीं है। साध्वी के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए अर्थात् वह स्थान पुरुषों से आकीर्ण न हो। स्त्री का सतीत्व सिद्ध करने के लिए भी स्त्रीकथा करने का निषेध नहीं है। इसी कारण से सूत्रकर्ता ने गाथा के द्वितीय भाग में स्त्रीकथा के साथ 'मनोरमा' पद दिया है। जो कथा कामजन्य हो, उसके करने का निषेध है। इसी प्रकार अन्य दो पदों के अर्थविषय में स्वबुद्धि से अनुभव कर लेना चाहिए।

कूइयं, रुइयं गीयं, हासभुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥१२॥

कूजितं रुदितं गीत, हास्यभुक्तासितानि च।
प्रणीत भक्तपान च, अतिमात्र पानभोजनम् ॥१२॥

पदार्थान्वय—कूइय–कूजित रुइय–रुदित गीय–गीत य–और हास–हास्य भुत्ता–खाया हुआ आसियाणि–एक आसन पर बैठना पणीय–प्रणीत भत्तपाणं–भात पानी च–पुन अइमाय–प्रमाण से अधिक पाणभोयणं–पानी और भोजन।

मूलार्थ—स्त्रियों के कूजित रुदित गीत और हास्य आदि शब्दों का सुनना, उनके साथ बैठकर खाये हुए स्निग्ध भोजन आदि का तथा भोगे हुए विषय-विकारों का स्मरण करना एवं प्रमाण से अधिक भोजन करना (ये सब आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान हैं)।

टीका—इस गाथा में मोहोत्पादक शब्दादि का विषय वर्णन किया गया है। जैसे कि कामक्रीडा के समय कूजित शब्द, विरह के होने से अथवा किसी प्रकार के दुःख का अनुभव होने से रुदित शब्द और मन प्रसन्न होने से गीत शब्द, हास्य, साथ बैठकर खाया हुआ, स्निग्ध अन्न और पानी, प्रमाण से अधिक पानी और भोजन, इत्यादि कृत्य ब्रह्मचारी पुरुष न करे। कारण कि मोहोत्पादक शब्द, पूर्वविषयों

की स्मृति इत्यादि ये क्रियाएँ ब्रह्मचारी के लिए लाभप्रद नहीं हैं। सूत्रकर्ता ने जो "भुत्तासियाणि" यह पद दिया है, इसके दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। जैसे कि एक तो स्त्रियों के साथ बैठना या बैठकर खाना, दूसरा विषय सेवन करना। ये स्मृतियाँ ब्रह्मचारी के लिए अत्यन्त हानिप्रद हैं तथा इस पद से यह भी भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि पूर्वकाल में पति-पत्नी एकत्र बैठकर भोजनादि भी करते थे। इसी लिए सूत्रकार ने इसकी स्मृति करने का निषेध किया है। गाथा के प्रत्येक पद, जो कामोत्पादक थे, उनके प्रतिकूल वैराग्योपादक अर्थ में लिये गये हैं। इनका ठीक ज्ञान स्वानुभव से ही हो सकता है।

गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥१३॥

गात्रभूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥१३॥

पदार्थान्वय—गत्त—शरीर का भूसणं—शृङ्गार च—और इट्ठ—इष्टपना य—पुनः कामभोगा—शब्दादि विषय, जो दुज्जया—दुर्जय हैं अत्तगवेसिस्स—आत्मगवेषी नरस्स—नर को विस—विष तालउड—तालपुट जहा—जैसे हैं।

मूलार्थ—शरीर का शृङ्गार और इष्टपना तथा दुर्जय काम भोग शब्दादि विषय, ये आत्मगवेषी पुरुष को तालपुट विष के समान त्याज्य हैं।

टीका—इन तीनों गाथाओं में पूर्वोक्त सभी गाथाओं के भाव को सङ्कलित कर दिया गया है। स्त्रीजनाकीर्ण स्थान से लेकर दुर्जय कामभोगों तक जितने भी विषय निर्दिष्ट किये गये हैं (जो कि संख्या में दस होते हैं), वे सब आत्मा की गवेषणा करने वाले पुरुष के लिए तालपुटविष—अत्युग्र—शीघ्र मारने वाले—के समान हैं अर्थात् जैसे जीवन की इच्छा रखने वाला कोई भी पुरुष विष का ग्रहण नहीं करता किन्तु उससे सर्वथा अलग रहता है, उसी प्रकार आत्मशुद्धि की आकांक्षा रखने वाला साधु इन पूर्वोक्त विषयों को विष के समान समझकर इनसे सर्वथा पृथक् रहे। तात्पर्य कि आत्मा की शुद्धि में ब्रह्मचर्य की नितान्त आवश्यकता है। बिना ब्रह्मचर्य के आत्मशुद्धि का होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है और उक्त विषय—

दशस्थान—ब्रह्मचर्य के विघातक हैं। अतः ब्रह्मचर्य में अनुराग रखने वाले साधु को इनका किसी समय में भी संसर्ग नहीं करना चाहिए। यहाँ पर सूत्रकार ने जो तालपुट विष का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह है कि उक्त विष बड़ा ही उग्र होता है। यहाँ तक कि होठों के भीतर आते ही वह मनुष्य को मार देता है। यदि समय का खयाल करें तो जितना समय तालवृक्ष से उसके फल के गिरने में लगता है, उतना समय उक्त विष को प्राणी के प्राणों को हरने में लगता है। तथा जिस प्रकार यह तालपुटविष प्राणों—जीवन—का संहारक है, उसी प्रकार ये पूर्वोक्त दश स्थान संयमरूप जीवन के विघातक हैं। इसलिए संयमशील ब्रह्मचारी पुरुष इनका कभी भी सेवन न करे, इसी में उसका श्रेय है।

इस पूर्वोक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि इन दुर्जय कामभोगों का ब्रह्मचारी पुरुष सर्वथा त्याग कर देवे। अब इसी भाव का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१४॥

दुर्जयान् कामभोगाँश्च, नित्यशः परिवर्जयेत्।
शङ्कास्थानानि सर्वाणि, वर्जयेत् प्रणिधानवान् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—दुज्जए-दुर्जय कामभोगे-कामभोगों को य-पादपूर्ति में निच्चसो-सदा ही परिवज्जए-त्याग देवे संकाठाणानि-शंका के स्थान सव्वाणि-सब वज्जेज्जा-त्याग देवे पणिहाणवं-एकाग्र मन वाला।

मूलार्थ—इसलिए एकाग्रमन वाला साधु, दुर्जय कामभोगों और सर्व प्रकार के शंका स्थानों का सदा के लिए परित्याग कर देवे।

टीका—जब कि ये कामभोगादि विषय तालपुट विष के समान हैं तो इनका त्याग करना ही कल्याण के देने वाला है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि एकाग्र मन वाला साधु समाधि की दृढ़ता के लिए इन दुर्जय—दुःखपूर्वक जीते जाने वाले—कामभोगों को तथा शंका के स्थानों को (जहाँ पर कि शंका उत्पन्न होती हो) छोड़ देवे। क्योंकि शंकास्थान ही ब्रह्मचर्य में शंका प्रभृति दोषों के उत्पादक हैं। और इनका

अन्तिम फल, धर्म से पतित होना बतलाया ही गया है। तथा जैसे यह उपदेश ब्रह्मचारी पुरुष के लिए है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य में पूर्णनिष्ठा रखने वाली स्त्री के लिए भी समझ लेना चाहिए।

इन उक्त दोषों का परित्याग कर देने के बाद ब्रह्मचारी साधु का जो कर्तव्य है, अब उसके विषय में कहते हैं—

धम्मारामे चरे भिक्खू, धिइमं धम्मसारही ।
धम्मारामरते दन्ते, बम्भचेरसमाहिए ॥१५॥

धर्मारामे चरेद् भिक्षुः, धृतिमान् धर्मसारथिः ।
धर्मारामे रतो दान्तः, ब्रह्मचर्यसमाहितः ॥१५॥

पदार्थान्वय —धम्मारामे-धर्म के आराम में—बगीचे में भिक्खू-भिक्षु चरे-विचरे धिइम-धृतिमान् धम्मसारही-धर्म का सारथि धम्मारामरते-धर्म में रत दन्ते-दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला बम्भचेर-ब्रह्मचर्य में समाहिए-समाहितचित्त—समाधि वाला।

मूलार्थ—फिर ब्रह्मचर्य में समाहित, धैर्यशील, धर्मसारथि, धर्म में अनुराग रखने वाला और दान्त—इन्द्रियों को दमन करने वाला—भिक्षु धर्म के आराम—बगीचे—में विचरे।

टीका—जिस प्रकार सतप्तहृदय प्राणियों के सन्ताप को दूर करने वाला आराम होता है, ठीक उसी प्रकार इस संसार में दुष्कर्मसतप्त जीवों को शांति प्राप्त करने के लिए धर्मरूप आराम है। उसी में समाहितचित्त, उपशान्त, धैर्यशील, धर्मसारथि और धर्मानुरागी बनता हुआ सयमशील भिक्षु विचरण करे। तात्पर्य कि धर्माराम में रमण करने वाले को परमशांति की प्राप्ति होती है। वही धर्मसारथि बनकर अनेक भव्य जीवों को सन्मार्ग पर लाता हुआ उनको ससार के जन्म-मरण रूप अगाध समुद्र से पार कर देता है। इसी प्रकार उपशान्त होकर धर्म का अनुरागी बनता हुआ ब्रह्मचर्य की समाधि वाला होवे।

यह सब वर्णन ब्रह्मचर्य की रक्षा अथच विशुद्धि के लिए किया गया है। अब ब्रह्मचर्य के माहात्म्य के विषय में कहते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा , जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बम्भयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करन्ति तं ॥१६॥
देवदानवगन्धर्वा , यक्षराक्षसकिन्नरा. ।
ब्रह्मचारिण नमस्कुर्वन्ति, दुष्कर य करोति तत् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—देवदाणवगन्धव्वा-देव, दानव और गन्धर्व जक्खरक्खस-किन्नरा-यक्ष, राक्षस और किन्नर बम्भयारिं-ब्रह्मचारी को नमंसंति-नमस्कार करते हैं दुक्करं-दुष्कर जे-जो करंति-करता है—पालन करता है तं-उस ब्रह्मचर्य को।

मूलार्थ—ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सब नमस्कार करते हैं क्योंकि वह दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है।

टीका—इस गाथा में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन किया गया है। इसी लिए कहते हैं कि ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी नमस्कार करते हैं। क्योंकि वह बड़ा ही दुष्कर कार्य कर रहा है, जो कि ब्रह्मचर्य का पालन करता है। देवों में—वैमानिक देव, ज्योतिष्क देव, भवनपति—दानवसंज्ञा वाले देव और स्वरविद्या के जानने वाले गन्धर्व देव, यक्ष—व्यन्तर जाति के देव [जिनका निवासस्थान प्रायः वृक्षों में होता है], राक्षस—मांस की इच्छा रखने वाले और किन्नर ये सब ही व्यन्तर जाति के देव हैं। ये सब के सब ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं क्योंकि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना कुछ साधारण सी बात नहीं अर्थात् कायर पुरुष इस ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते। इसको पालन करने वाला तो बड़ा ही शूरवीर पुरुष होना चाहिए। इसलिए ब्रह्मचर्य का पालन करना बड़ा ही दुष्कर है और जो इसका पालन करता है, वह अवश्य ही देव दानव और गन्धर्वादि के द्वारा पूजनीय और वंदनीय है। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मचर्य रूप धर्म सर्वोत्तम धर्म है। अतः इसको अवश्यमेव धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि देवता लोग ब्रह्मचारी पुरुष को केवल नमस्कार मात्र ही नहीं करते किन्तु ब्रह्मचारियों की *यथासमय रक्षा भी* करते हैं। जैसे कि सतीशिरोमणि सीता की परीक्षा के समय पर अग्निकुण्ड का जलकुण्ड बन गया।

अब प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहते हैं—

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहा वरे ॥१७॥
त्ति बेमि ।

इति बम्भचेरसमाहिठाणअज्झयणं समत्तं ॥१६॥

एष धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः ।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथा परे ॥१७॥
इति ब्रवीमि ।

इति ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानमध्ययनं समाप्तम् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—एस–यह धम्मो–धर्म धुवे–ध्रुव है निच्चे–नित्य है सासए–शाश्वत है जिणदेसिए–जिनप्रतिपादित है अणेण–इसके द्वारा सिद्धा–पहले सिद्ध हुए च–और सिज्झंति–वर्तमान में सिद्ध होते हैं सिज्झिस्संति–भविष्यकाल में सिद्ध होंगे तहा–तथा वरे–अनन्त अनागत काल में ।

मूलार्थ—जिनदेशित यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है । इसके द्वारा भूतकाल में सिद्ध हुए, वर्तमानकाल में होते हैं और आगामी काल में होंगे ।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिपादन किया हुआ यह ब्रह्मचर्य रूप धर्म ध्रुव है, नित्य है और शाश्वत है । ध्रुव इसलिए है कि इसको परवादियों ने भी स्वीकार किया है । नित्य इसलिए है कि यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सदैव एक स्वभाव होने से स्थिर है और शाश्वत इसको इस वास्ते कहते हैं कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भी इसका पर्याय—परिवर्तन नहीं होता तथा भिन्न भिन्न पर्यायों का धारण करने वाला है ।

यद्यपि ध्रुव, नित्य और शाश्वत ये तीनों शब्द समान अर्थ के वाचक हैं तथापि नाना प्रकार के शिष्यों के हित और सुगमता से बोध के लिए इनका यहाँ पर प्रयोग किया है । इसके अतिरिक्त शास्त्रकार इस धर्म का त्रैकालिक फल बतलाते हुए कहते

हैं कि इस धर्म के अनुष्ठान द्वारा भूतकाल में अनन्त आत्मा सिद्ध गति को प्राप्त हुए, तथा वर्तमानकाल में महाविदेहादि क्षेत्रों में सिद्ध होते हैं और आगामी काल में होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि यह धर्म, मुक्ति के साधन का एक मुख्य अंग है। अतः इसका पालन करना प्रत्येक भव्य आत्मा का कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व की भाँति ही समझ लेना।

षोडशाध्ययन समाप्त।

अह पावसमणिज्जं सत्तदहं अज्झयणं

अथ पापश्रमणीयं सप्तदशमध्ययनम्



गत सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का वर्णन किया गया है परन्तु वे गुप्तियाँ उसी समय ठीक रह सकती हैं, जब कि पापस्थानों को छोड़ दिया जाय। अब इस सोलहवें अध्ययन के अनन्तर अब पापश्रमण नामक सत्तरवें अध्ययन का आरम्भ किया जाता है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

जे केइ उ पव्वइए नियण्ठे,
धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं,
विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ॥१॥

यः कश्चित्तु प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः,
धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः।
सुदुर्लभं लब्ध्वा बोधिलाभं,
विहरेत् पश्चाच्च यथासुखं तु ॥१॥

१ जो काम साधुओं के करने योग्य नहीं हैं, उन्हें करने वाले साधु को पापश्रमण कहते हैं।

पदार्थान्वय —जे-जो केइ-कोई एक उ-पादपूरणे पव्वइए-प्रव्रजित नियण्ठे-निर्ग्रन्थ धम्म-धर्म को सुणित्ता-सुनकर विणओववन्ने-विनय से युक्त सुदुल्लह-अति दुर्लभ लहिउ-प्राप्त करके बोहिलाभ-बोधिलाभ को विहरेज्ज-विचरता है पच्छा-पीछे से य-पुन जहासुह-जैसे सुख हो तु-एव के अर्थ में है।

मूलार्थ—कोई एक प्रव्रजित निर्ग्रन्थ, धर्म को सुनकर विनय से युक्त अविदुर्लभ बोधिलाभ को प्राप्त करके, पीछे से यथारुचि विचरता है अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक जैसे सुख प्रतीत हो, वैसे चलता है।

टीका—कोई जीव, धर्म को सुनकर दीक्षा ग्रहण करके निर्ग्रन्थ बन गया और ज्ञान दर्शन चारित्र रूप विनय से भी युक्त हो गया तथा परम दुर्लभ बोधिलाभ [जिनप्रणीत धर्म] की प्राप्ति भी हो गई परन्तु पीछे से वह अपनी इच्छा के अनुसार बर्तने लगा अर्थात् शास्त्रविहित मर्यादा की उपेक्षा करके अपने को जैसे सुख हो उस प्रकार से आचरण करने लगा, तात्पर्य कि प्रथम सिंह की भाँति घर से निकलकर फिर शृगाल की वृत्ति को स्वीकार कर लिया। यहाँ पर 'सुदुल्लह' इस वाक्य में 'सु' उपसर्ग अत्यंत अर्थ का वाचक है। क्योंकि संसारभ्रमण में प्रत्येक वस्तु सुलभता से प्राप्त हो सकती है परन्तु बोधिलाभ का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। इस पर भी कितने एक जीव ऐसे हैं कि इस दुर्लभ बोधिलाभ के प्राप्त हो जाने पर भी उसका यथावत् संरक्षण नहीं करते अर्थात् संयम लेकर भी उसका आराधन नहीं करते किन्तु अकरणीय कार्यों में लग जाते हैं।

जब कोई एक साधु दीक्षित होकर यथारुचि विचरने लगा, तब गुरुओं ने उसको हित बुद्धि से अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। इस पर शिष्य ने गुरु को जो उत्तर दिया है, अब उसका वर्णन करते हैं—

सिज्जा दढा पाउरणं मि अत्थि,
उप्पज्जई भोत्तु तहेव पाउं।
जाणामि जं वट्टइ आउसुत्ति,
किं नाम काहामि सुएण भन्ते ॥२॥

शय्या दृढा प्रावरणं मेऽस्ति,
उत्पद्यते भोक्तुं तथैव पातुम् ।
जानामि यद्वर्तत आयुष्मन्निति,
किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भगवन् ॥२॥

पदार्थान्वयः—सिज्जा-शय्या दढा-दृढ पाउरण-वस्त्र मि-मेरे अत्थि-है उप्पज्जई-उत्पन्न हो जाता है भोत्तु-खाने के लिए तहेव-तथैव पाउ-पीने के लिए जाणामि-जानता हूँ ज वट्टइ-जो वर्त रहा है आउसु-हे आयुष्मन् ! त्ति-इस कारण से किं नाम-क्या काहामि-करूँगा भन्ते-पूज्य सुएण-श्रुत के पठन से ।

मूलार्थ—हे आयुष्मन् ! वसति—निवासस्थान दृढ है, वस्त्र मेरे पास हैं, खाने और पीने के लिए अन्न और जल मिल जाता है तथा वर्तमान में जो हो रहा है उसे मैं जानता हूँ, अतः हे भगवन् ! श्रुत के पठन से मैं क्या करूँ ?

टीका—इस गाथा में पापश्रमण के लक्षण और श्रुत के विषय में उसके जो विचार हैं, उनका दिग्दर्शन किया गया है । गुरुओं ने जब शिष्य को श्रुत के पठन का उपदेश किया, तब उत्तर में शिष्य ने कहा कि भगवन् ! शय्या—निवास स्थान दृढ है अर्थात् शीत, आतप और वर्षा आदि के उपद्रवों से रहित है तथा शीतादि की निवृत्ति के लिए वस्त्र भी मेरे पास विद्यमान हैं एवं खाने के लिए अन्न—भोजन और पीने के लिए स्वच्छ पानी मिल जाता है, तथा वर्तमान काल में जो कुछ हो रहा है उसे मैं भली भाँति जानता हूँ अत श्रुत के पढ़ने से मुझे क्या लाभ ? कारण कि आपने श्रुत का अध्ययन किया है । आपको भी केवल वर्तमान के पदार्थों का ही ज्ञान है और मुझको भी, जिसने श्रुत को नहीं पढ़ा, वर्तमान के पदार्थों का बोध है । इसलिए आपके और मेरे ज्ञान में कोई विशेषता नहीं तो फिर श्रुताध्ययन के निमित्त व्यर्थ ही हृदय, गल और तालु को सुखाने से क्या लाभ ? क्योंकि श्रुत के द्वारा आप अतीन्द्रिय पदार्थों को तो जानते ही नहीं, जिससे कि उसकी आवश्यकता प्रतीत हो । अतः श्रुत के अध्ययन से कोई विशेष लाभ प्रतीत नहीं होता ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जे केइ उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥३॥

यः कश्चित् तु प्रव्रजितः, निद्राशीलः प्रकामशः।
भुक्त्वा पीत्वा सुखं स्वपिति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥३॥

पदार्थान्वय —जे–जो केइ–कोइ उ–वितर्क में पव्वइए–प्रव्रजित हो गया है निद्दासीले–निद्राशील पगामसो–अत्यन्त निद्रालु भुच्चा–खाकर पिच्चा–पीकर सुहं–सुखपूर्वक सुवई–सो जाता है पावसमणि त्ति–पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—जो कोई प्रव्रजित होकर—दीक्षित होकर अत्यन्त निद्राशील है और खा पीकर सुख से सो जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—इस गाथा में पापश्रमण के लक्षण वर्णन किये गये हैं अर्थात् पापश्रमण किसको कहते हैं, इसकी चर्चा की है। जैसे कोई पुरुष दीक्षाग्रहण करने के अनन्तर भी अत्यन्त निद्रालु बना हुआ है, तथा दधि ओदनादि को खाकर और तक्र आदि को पीकर अर्थात् नानाविध भोज्य और पेय पदार्थों का सेवन करके खूब आनन्द-पूर्वक सोता हुआ अपनी आवश्यक क्रियाओं की भी उपेक्षा कर देता है, वह पापश्रमण कहा जाता है। तात्पर्य कि पापरूप क्रियाओं के द्वारा जिसकी लक्षणा—पहचान—की जाय, वह पापश्रमण है। यद्यपि यहाँ पर केवल 'निद्दासीले—निद्राशील' का प्रयोग ही पर्याप्त था तथापि 'पगामसो—प्रकामशः' का प्रयोग अत्यन्त निद्रालुता का बोध कराने के लिए किया गया है। जैसे कि उठाने पर भी जल्दी नहीं उठना तथा उठने पर भी आँखें मीचे रहना।

ऐसा नहीं कि अनपढ़ ही पापश्रमण होते हैं किन्तु पढ़े हुए भी पापश्रमण कहे या माने जाते हैं। तथाहि—

आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥४॥

आचार्योपाध्यायैः , श्रुतं विनयं च ग्राहितः ।
ताँश्चैव खिंसति बालः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥४॥

पदार्थान्वयः—आयरियउवज्झाएहिं–आचार्य और उपाध्याय के द्वारा सुय–श्रुत च–और विणय–विनय गाहिए–सिखाया गया ते–उनकी चेव–निश्चय ही खिंसई–निंदा करता है बाले–विवेकविकल पावसमणि त्ति–पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है ।

मूलार्थ—आचार्य और उपाध्याय के द्वारा श्रुत और विनय से शिक्षित किया हुआ जो शिष्य विवेकविकल होकर फिर उन्हीं की निन्दा करता है वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—आचार्य या उपाध्याय ने जिसको श्रुत और विनय रूप धर्म की अर्थपाठ से भली प्रकार शिक्षा दी है तथा उसे योग्य भी बना दिया परन्तु वह विवेकविकल—मूर्ख शिष्य यदि उन्हीं की निन्दा करने लग जाय तो उसे पापश्रमण कहते हैं । क्योंकि जिनसे श्रुत का ग्रहण किया जाय, उनकी तो मन वचन और काया से सदा ही विनय करनी चाहिए । इसके विपरीत जो उनकी निन्दा करता है, वह पढा लिखा होने पर भी विवेकविकल होने से बाल अर्थात् मूर्ख है । यहाँ पर उक्त गाथा में आये हुए 'खिंसई' पद का अर्थ है 'निन्दति'—निन्दा करता है ।

इस प्रकार ज्ञानाचार की अवहेलना से पापश्रमण का उल्लेख किया है । दर्शनाचार की अवहेलना से जो पापश्रमण होता है, अब उसके विषय में लिखते हैं—

आयरियउवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पई ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥५॥
आचार्योपाध्यायानां , सम्यग् न परितृप्यति ।
अप्रतिपूजकः स्तब्धः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥५॥

पदार्थान्वयः—आयरिय–आचार्य उवज्झायाणं–उपाध्याय की सम्म–जो सम्यक् प्रकार नो पडितप्पई–सेवा नहीं करता अप्पडिपूयए–उनकी पूजा नहीं करता थद्धे–अहंकारयुक्त पावसमणि त्ति–इस प्रकार पापश्रमण वुच्चई–कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो शिष्य अहङ्कारयुक्त होकर आचार्य और उपाध्याय की भली प्रकार से सेवा नहीं करता और न उनकी पूजा करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—ज्ञानाचार के पश्चात् अब सूत्रकार दर्शनाचार के विषय में कहते हैं। तात्पर्य कि दर्शनाचार के भेदों में एक गुरुवात्सल्य नाम का भेद है। जो शिष्य उसकी सम्यक् प्रकार से आराधना नहीं करता, वह पापश्रमण कहा जाता है। जैसे कि आचार्य और उपाध्याय आदि गुरुजनों की सेवा पूजा न करना, उनकी इच्छा के अनुसार उनके कार्यों में उपयोग न रखना तथा अर्हदादि के गुणानुवाद से पराङ्मुख रहना और अहङ्कारी होना ये सब पापश्रमण के लक्षण हैं। इसी प्रकार दर्शनाचार के अन्य भेदों की अवहेलना के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार दर्शनाचार को लेकर पापश्रमणता का वर्णन किया गया है। अब चारित्राचार के विषय में कहते हैं—

सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥६॥

सम्मर्दयमानः प्राणिनः, बीजानि हरितानि च।
असंयतः संयतमन्यमानः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥६॥

पदार्थान्वयः—सम्मद्दमाणे–संमर्दन करता हुआ पाणाणि–प्राणियों का बीयाणि–बीजों य–और हरियाणि–हरी का असंजए–असंयत होने पर भी संजयमन्नमाणे–संयत मानता हुआ पावसमणि त्ति–पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है।

मूलार्थ—प्राणी, बीज और हरी का समर्दन करता हुआ तथा असंयत होने पर भी अपने आपको संयत मानने वाला पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—चारित्राचार में पहले ईर्यासमिति का प्रयोग किया जाता है। अतः सूत्रकर्ता ने प्रथम उसी का उल्लेख किया है। जैसे कि द्वीन्द्रियादि प्राणी, शाल्यादि बीज और दूर्वादि हरी। इसी प्रकार सर्व एकेन्द्रिय जीव जान लेने चाहिऐं। चलते समय इन सब का मर्दन करता हुआ जो चला जाता है और असंयत होता हुआ भी फिर

अपने को संयत मानता है, वह पापश्रमण है । क्योंकि वह ईर्याविषय में सर्वथा विवेकरहित हो रहा है और जीवों के समर्दन से उसका हृदय दया से शून्य हो रहा है । वास्तव में साधु की मुख्यपरीक्षा उसके चलने से ही की जाती है । जब कि चलने में ही उसे विवेक नहीं तो उसके अन्य कार्य भी विवेकशून्य ही होंगे । तथा जिस प्रकार बीजादि के विषय में कहा गया है उसी प्रकार पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के विषय में भी जान लेना चाहिए । यहाँ गाथा में आये हुए "सम्मद्दमाणे"—समर्दन शब्द का तात्पर्य अतिनिर्दयपन की सूचना करना है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं ।
अप्पमज्जियमारुहई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥७॥

संस्तारं फलक पीठं, निषद्यां पादकम्बलम् ।
अप्रमृज्यारोहति , पापश्रमण इत्युच्यते ॥७॥

पदार्थान्वयः—संथार-कम्बलादि फलग-पट्टादि पीढ-आसन निसिज्ज-स्वाध्यायभूम्यादि पायकम्बल-पादपुंछन अप्पमज्जिय-विना प्रमार्जन किये जो आरुहई-आरोहण करता है—बैठता है, वह पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है ।

मूलार्थ—संस्तारक, फलक, पीठ, पादपुंछन और स्वाध्याय भूमि, इन पर जो विना प्रमार्जन किये बैठता है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया है कि विना प्रमार्जन किये जो किसी वस्तु पर बैठना अथवा किसी वस्तु को उठाना है, यह भी असंयम का ही कारण है । अतः इस प्रकार का आचरण करने वाला भी पापश्रमण ही कहा जाता है । जैसे कि कम्बल आदि संस्तारक, चम्पक आदि फलक, पीठादि आसन, स्वाध्याय भूमि आदि निषद्या और पादपुंछन इत्यादि उपकरणों को विना प्रमार्जन किये उपयोग में लाने वाला पापश्रमण है क्योंकि प्रमार्जन किये विना इन उपकरणों का उपयोग करते समय यदि इन पर कोई जीव चढा हुआ हो तो उसकी हिंसा हो जाने की संभावना है, तथा प्रमाद के बढने का भी इससे भय रहता है, जो कि संयम का विघातक है ।

इसलिए संयमशील साधु को चाहिए कि वह यत्नपूर्वक और प्रमार्जन किये हुए वस्त्र पात्र आदि उपकरणों को अपने उपयोग में लावे।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥८॥

द्रुत द्रुत चरति, प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम् ।
उल्लङ्घनश्च चण्डश्च, पापश्रमण इत्युच्यते ॥८॥

पदार्थान्वय —दवदवस्स-शीघ्र शीघ्र चरई-चलता है पमत्ते-प्रमत्त होकर य-फिर अभिक्खणं-बार बार उल्लंघणे-बालादि के ऊपर से लँघ जाता है य-और चण्डे-क्रोध से युक्त य-पादपूर्ति में है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—जो शीघ्र शीघ्र चलता हो, प्रमत्त होकर बालादि के ऊपर से लँघ जाता हो और क्रोधी हो, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु गोचरी आदि क्रियाओं में अति शीघ्रता से चलता है और प्रमादवश होकर बार बार बालकों के ऊपर से लँघ जाता है और यदि कोई शिक्षा देवे तो उस पर भी क्रोध करता है, वह पापश्रमण है अर्थात् ये लक्षण पापश्रमण के हैं। तात्पर्य कि ईर्यासमिति में अनुपयोगता, प्रमाद के वशीभूत होकर अनुचित उल्लंघनादि क्रियाओं में प्रवृत्ति करनी तथा शिक्षा देने वाले पर क्रोध करना, ये सब अविनीतता के लक्षण हैं। इन्हीं लक्षणों से युक्त हुआ साधु पापश्रमण कहा जाता है।

यहाँ पर जो "अभिक्खणं" पद पढ़ा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि किसी कारणविशेष से यदि यत्नपूर्वक शीघ्र भी चलना पड़े तो वह प्रत्यवायजनक नहीं किन्तु सदैव बिना विधि से चलना दोषावह है।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं—

पडिलेहेइ पमत्ते, अवउज्झइ पायकम्बलं।
पडिलेहाअणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥९॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः, अपोज्झति पादकम्बलम् ।
प्रतिलेखनायामनायुक्त:, पापश्रमण इत्युच्यते ॥९॥

पदार्थान्वयः—पडिलेहेइ–प्रतिलेखना करता है पमत्त–प्रमत्त होकर अवउज्झइ–यत्र यत्र रख देता है पायकम्बल–पात्र और कम्बल पडिलेहा–प्रतिलेखना में अणाउत्ते–अनुपयुक्त है पावसमणि त्ति–पापश्रमण वुच्चई–कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो प्रमत्त होकर प्रतिलेखना करता है, पात्र और कम्बल जहाँ तहाँ रख देता है और प्रतिलेखना में अनुपयुक्त है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—जो साधु वसति आदि स्थानों को प्रमत्त होकर प्रत्युपेक्षण करता है, तथा पात्र कम्बलादि उपाधि को जहाँ तहाँ रख देता है अथवा जिसका भाण्डोपकरण विना ही प्रतिलेखना किये विखरा हुआ पड़ा रहता है, इतना ही नहीं किन्तु जिसका प्रतिलेखना में बिलकुल ही उपयोग नहीं है, वह पापश्रमण है । क्योंकि उक्त क्रियाओं का यदि उपयोग और यत्नपूर्वक अनुष्ठान किया जायगा, तभी संयम की भली प्रकार से आराधना हो सकेगी अन्यथा उसका विघात होगा । उक्त गाथा में जो "पायकम्बल" शब्द है, उसके दो अर्थ होते हैं—एक तो पात्र और कम्बल, दूसरा पाँव पोंछने का वस्त्रखण्ड । ये दोनों ही अर्थ यहाँ पर ग्राह्य हैं ।

अब फिर इसी विषय की आलोचना करते हैं—

पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिया ।
गुरुपरिभावए निच्चं, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१०॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः, स किञ्चित्खलु निशम्य ।
गुरुपरिभावको नित्य, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१०॥

पदार्थान्वयः—पडिलेहेइ–प्रतिलेखना करता है पमत्ते–प्रमत्त होकर से–वह किंचि–किंचित् हु–भी निसामिया–सुनकर गुरुपरिभावए–गुरुजनों का परिभव करता है निच्च–सदा ही पावसमणि त्ति–पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई–कहा जाता है ।

मूलार्थ—जो प्रमत्त होकर प्रतिलेखना करता है और विकथादि के कारण किंचिन्मात्र भी गुरुजनों के रोकने पर सदैव उनका तिरस्कार करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है ।

टीका—इस गाथा में यह बतलाया गया है कि जो साधु प्रतिलेखना में प्रमाद करता है अर्थात् सावधानता से नहीं करता तथा उसी काल में कुछ विकथा आदि को सुनकर चित्त को विक्षिप्त कर लेता है और जब गुरुओं ने कहा कि वत्स! प्रमादरहित होकर काम करो, इस क्रिया में और कोई कार्य नहीं करना चाहिए तब उसी समय उनका तिरस्कार करने लग जाता है और कहता है कि इसमें मेरा क्या दोष है, आपने जैसा सिखलाया है वैसा करता हूँ, यदि यह ठीक नहीं तो आप स्वय कर लो ? मैं तो इसी प्रकार करूँगा। कहीं २ पर "गुरु परिभासए निच्च—गुरुपरिभाषको नित्यम्" ऐसा पाठ भी है। तब इसका यह अर्थ होगा कि सदैव गुरुजनों के सामने बोलने वाला अर्थात् असभ्य बर्ताव करने वाला अथवा उनकी शिक्षा को विपरीत समझने वाला।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं—

वहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥११॥

बहुमायी प्रमुखरः, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥११॥

पदार्थान्वय —बहुमाई—बहुत छल करने वाला पमुहरी—बिना सम्बन्ध प्रलाप करने वाला थद्धे—अहङ्कारी लुद्धे—लोभी अणिग्गहे—इन्द्रियों के पराधीन असंविभागी—समविभाग न करने वाला अवियत्ते—प्रीति न करने वाला पावसमणि त्ति—पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—छल करने वाला, विना विचारे बोलने वाला, अहङ्कारी, लोभी, इन्द्रियों को वश में न रखने वाला, और समविभाग न करने तथा प्रीति न करने वाला पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—इस गाथा में भी पापश्रमण के लक्षणों का वर्णन है। जैसे कि छल कपट करना, असम्बद्ध प्रलाप करना, मन में अहङ्कार और लोभ रखना, इन्द्रियों के वशीभूत होना, वृद्ध और ग्लान आदि से प्रेम न रखना और लाये हुए आहार का उनके साथ समविभाग न करना—ये सब पापश्रमण के लक्षण हैं अर्थात् इन लक्षणों

पदार्थान्वयः—ससरक्खपाए—रज से भरे हुए पाँव होने पर भी सुवई—सो जाता है सेज्ज—शय्या को न पडिलेहई—प्रतिलेखन नहीं करता संथारए—संस्तारक पर अणाउत्ते—उपयोगशून्य होकर सोता या बैठता है पावसमणि त्ति—पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—रज से भरे हुए पाँव होने पर भी जो उसी तरह सो जाता है और शय्या की प्रतिलेखना भी नहीं करता तथा संस्तारक पर विना ही उपयोग जो बैठता अथवा सोता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु पाँव साफ किये विना ही अपने बिस्तरे पर बैठता अथवा सोता है एवं शय्या आदि की प्रतिलेखना या प्रमार्जना भी नहीं करता तथा कम्बलादि के संस्तारक—बिछौने पर अनुपयुक्त होकर—आगम विधि की अवहेलना करके सोता है, वह पापश्रमण कहा जाता है। क्योंकि शास्त्रों में साधु के लिए कुक्कुटी की तरह चारों ओर से अपने आपको समेटकर शयन करने का विधान है। इस पूर्वोक्त सारे कथन से सिद्ध होता है कि साधु जिस वसति में रहे, उसकी वह यत्नपूर्वक प्रतिलेखना और प्रमार्जना करे तथा शय्या पर सोते अथवा बैठते समय उसके पाँव में किसी प्रकार की धूलि अथवा कीचड़ न लगा हो और शयन भी उसका आगमोक्त विधि के अनुसार होना चाहिए। क्योंकि शास्त्रमर्यादापूर्वक यत्न से आचरण करने पर ही संयम का सम्यक् रूप से पालन हो सकता है अन्यथा नहीं।

इस प्रकार चारित्र को लेकर पापश्रमण के स्वरूप का वर्णन हुआ। अब आचार के अतिक्रमण करने से जिस प्रकार पापश्रमण होता है, उसका उल्लेख करते हैं—

दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१५॥

दुग्धदधिविकृती, आहारयत्यभीक्ष्णम्।
अरतश्च तपःकर्मणि, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१५॥

पदार्थान्वयः—दुद्ध—दुग्ध दही—दधि विगईओ—जो विकृति हैं उनका आहारेइ—आहार करता है अभिक्खणं—बार बार अरए—रतिरहित य—और तवोकम्मे—तपःकर्म में पावसमणि त्ति—पापश्रमण, इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो दुग्ध और दधि रूप विकृतियों का बार २ आहार करता है और तप कर्म में जिसकी प्रीति नहीं, वह पापश्रमण है।

टीका—दुग्ध, दधि और घृत आदि पदार्थों को विकृति कहते हैं क्योंकि ये विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं। अतः जो साधु इन विकृतियों को छोड़ने के बदले इनका बार बार सेवन करता है परन्तु तपकर्म के अनुष्ठान में अरुचि रखता है, तात्पर्य कि दुग्ध, घृत आदि बलप्रद पदार्थों के खाने में तो सब से आगे हो जाता है और जब तपस्या करने का समय उपस्थित होता है तब पीछे हट जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है। यहाँ पर विकृति शब्द से उन्हीं पदार्थों का ग्रहण अभीष्ट है, जो कि अपने पहले पर्याय को छोड़कर दूसरे पर्याय को प्राप्त हो गये हैं। जैसे—दुग्ध, दधि आदि। वे ही पदार्थ यदि प्रमाण से अधिक सेवन किये जायें तो विकार को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। इसलिए ये विकृति के नाम से प्रसिद्ध हैं। संयमशील साधु को इनका निरन्तर सेवन करना योग्य नहीं, यही इस गाथा का सारांश है।

अब फिर इसी विषय की चर्चा करते हैं—

अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१६॥

अस्तमयति च सूर्ये, आहारयत्यभीक्ष्णम्।
चोदित प्रतिचोदयति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१६॥

पदार्थान्वयः—अत्थन्तम्मि—अस्त होने तक सूरम्मि—सूर्य के य—पादपूर्ति में है अभिक्खणं—बार बार आहारेइ—आहार करता है चोइओ—प्रेरणा करने पर पडिचोएइ—प्रेरणा करने वाले को प्रत्युत्तर देता है पावसमणि त्ति—पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो सूर्य के अस्त होने तक निरन्तर आहार करता है, और प्रेरणा करने वाले पर आक्षेप करता है, वह पापश्रमण कहा जाता है।

टीका—जो साधु सूर्योदय से लेकर सन्ध्या समय तक बराबर खाने में ही लगा रहता है, अथवा जिसका मन सदैव आहार का ही चिन्तन करता रहता है,

और यदि किसी अन्य साधु ने उसे कहा कि 'आयुष्मन्! इस प्रकार सदा आहार की ही लालसा नहीं रखनी चाहिए और न इस तरह बार बार आहार करना चाहिए। यह साधु का आचार नहीं है। साधु को तो मनुष्यजन्म, श्रुति, श्रद्धा और संयम में वीर्य—इन चारों अंगों की दुर्लभता का विचार करते हुए अधिकतया तप कर्म के अनुष्ठान में ही पुरुषार्थ करना चाहिए'। गुरुजनों की इस उपदेशपूर्ण प्रेरणा का वह उत्तर देता है कि 'आप तो परोपदेश में ही पंडित हो। यदि आपको ये उक्त चारों अंग दुर्लभ प्रतीत होते हैं तो आप ही किसी विकट तपस्या के अनुष्ठान में लग जाओ? मेरे प्रति कहने की आपको क्या आवश्यकता है?' इस प्रकार का बर्ताव करने वाला पापश्रमण कहलाता है। किसी के मत में 'अत्थन्तम्मि'—'अस्तमयति' इसका, प्रतिदिन आहार करता है—यह अर्थ भी है। तात्पर्य कि तपश्चर्या के दिनों में भी आहार का त्याग नहीं करता किन्तु निरन्तर खाता ही रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि संयमशील साधु को कभी २ मर्यादित आहार का भी त्याग करना चाहिए ताकि उसे तप कर्म उपार्जन करने का भी अवसर प्राप्त होता रहे।

अब फिर कहते हैं—

आयरियपरिच्चाई, परपासण्डसेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१७॥

आचार्यपरित्यागी, परपाषण्डसेवकः।
गाणंगणिको दुर्भूतः, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१७॥

पदार्थान्वयः—आयरिय-आचार्य के परिच्चाई-त्याग करने वाला परपासण्ड-परपाषण्ड के सेवए-सेवन करने वाला गाणंगणिए-छः २ मास में गच्छ संक्रमण करने वाला दुब्भूए-निन्दित पावसमणि त्ति-पापश्रमण वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—आचार्य का परित्याग करने वाला और परपाखंड का सेवन करने वाला तथा छः मास के अनन्तर ही गच्छ का परिवर्तन करने वाला पापश्रमण होता है।

टीका—कोई निकृष्ट साधु इस बात का विचार करता है कि ये आचार्य सदैव तप करने का ही उपदेश करते रहते हैं तथा आहार आदि में जो कुछ सुन्दर

पदार्थ आता है, वह बाल, वृद्ध और ग्लानादि को दे दिया जाता है। इसलिए इनका त्याग करके जो पाखण्डी कहे जाते हैं, उन्हीं में चले जाना अच्छा है। क्योंकि वहाँ पर खाने पीने की भी अधिक सुविधा है और तपस्या का भी टटा नहीं। इस विचार से वह साधु आचार्य का परित्याग कर देता है और पाखड का अनुयायी बन जाता है। इस हेतु से उसको पापश्रमण कहते हैं। एव शास्त्र में लिखा है कि नूतन शिष्य की छ मास तक विशेष सेवा—सार समाल—करनी चाहिए। इसी मर्यादा को ध्यान में रखकर अपनी सेवा के निमित्त जो साधु छः मास के अनन्तर ही गच्छ का परिवर्तन कर देता है अर्थात् एक गच्छ को छोडकर दूसरे गच्छ में चला जाता है, वह भी पापश्रमण है। क्योंकि इन उक्त दोनों ही प्रकार के विचारों में स्वार्थ और आचारशून्यता की ही अधिक मात्रा विद्यमान है। वेष से तो यद्यपि वह श्रमण ही दिखाई देता है परन्तु मन उसका दुराचार की ओर ही प्रवृत्त हो रहा है। इससे उसको पापश्रमण कहते हैं।

इसी प्रकार वीर्याचार से जो रहित है, वह भी पापश्रमण है। अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१८॥

स्वकीयं गृहं परित्यज्य, परगृहे व्याप्रियते।
निमित्तेन व्यवहरति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१८॥

पदार्थान्वयः—सयं-अपना गेहं-घर परिच्चज्ज-छोडकर परगेहंसि-पर घरों में वावरे-आहार के लिए जाकर उनका कार्य करे य-और निमित्तेण-शुभाशुभ निमित्त से ववहरई-व्यवहार करता है पावसमणि त्ति-पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई-कहा जाता है।

मूलार्थ—जो अपना घर छोड़कर पर घरों में जाकर उनका काम करता है और निमित्त से—शुभाशुभ बतलाकर व्यवहार करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपना घर छोडकर अर्थात् दीक्षाग्रहण करके भिक्षा के लिए दूसरों के घरों में जाकर उनका काम करने लगता है अथवा भिक्षा देने वाले

गृहस्थों के लिए क्रय-विक्रय रूप व्यवहार करता है या उनसे करवाता है अथच निमित्त के द्वारा—शुभाशुभ कथन के द्वारा धन उपार्जन करता है, उपलक्षण से गृहस्थों के ही कामों में लगा रहता है, यह पापश्रमण कहलाता है। तात्पर्य कि जब गृहस्थ के आचार व्यवहार को छोडकर सन्यासी हुआ और फिर भी गृहस्थों के ही कामों में लिपटे तो साधु और गृहस्थ में विशेषता ही क्या रही ? इसलिए जो श्रेष्ठ एव सयमशील साधु हैं, वे गृहस्थसम्बन्धी कार्यों तथा क्रय-विक्रय रूप व्यापारों से सदा और सर्वथा अलग रहते हैं ताकि उनमें पापश्रमण की जघन्य प्रवृत्ति होने न पाय।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं—

सन्नाइपिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥१९॥

स्वज्ञातिपिण्डं भुङ्क्ते, नेच्छति सामुदानिकम्।
गृहिनिषद्यां च वाहयति, पापश्रमण इत्युच्यते ॥१९॥

पदार्थान्वय —सन्नाइपिण्ड—अपनी जाति—अपने ज्ञातिजनों के आहार को जेमेइ—भोगता है नेच्छई—नहीं चाहता सामुदाणिय—बहुत घरों की भिक्षा च—और गिहिनिसेज्ज—गृहस्थ की शय्या पर वाहेइ—चढ जाता है—बैठ जाता है पावसमणि त्ति—पापश्रमण इस प्रकार वुच्चई—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो अपने ज्ञातिजनों के आहार को भोगता है, बहुत घरों की भिक्षा को नहीं चाहता और गृहस्थ की शय्या पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

टीका—जो साधु अपने सम्बन्धी जनों के घरों से ही आहार लाकर खाता है किन्तु सामुदयिक गोचरी नहीं करता अर्थात् अन्य सामान्य घरों से भिक्षा लाने की इच्छा नहीं करता तथा गृहस्थों के घरों में जाकर उन्हीं के विस्तरों पर आराम से लेटता है, वह पापश्रमण है। इसका आशय यह है कि साधु का आचार प्रतिदिन किसी अमुक परिचित दो चार घरों से भिक्षा लाकर खाने का नहीं है तथा केवलमात्र अपने किसी सम्बन्धी के ही घर से भिक्षा लाकर खाने की उसके लिए आज्ञा नहीं और न किसी गृहस्थ की शय्या पर बैठने की उसे आज्ञा है परन्तु विपरीत इसके

जो साधु अपने परिचितों के घर से भिक्षा लाता और गृहस्थों के घर में जाकर उनके बिछौने आदि पर बैठता या सोता है, वह शास्त्राज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से पापश्रमण कहा जाता है। अतः अपने परिचित और सम्बन्धिजनों के घरों से सरस और स्निग्ध आहार लाकर खाने तथा गृहस्थों के पात्र, वस्त्र और शय्या आदि का उपयोग करने में जिन दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है उनका विचार करते हुए संयमशील साधु को इनके सम्पर्क से सर्वथा अलग रहना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए, उक्त दोषों के सेवन और त्याग का जो फल है, अब शास्त्रकार इसी विषय का वर्णन करते हैं—

एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे,
रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए,
न से इहं नेव परत्थ लोए ॥२०॥

एतादृशः पञ्चकुशीलसंवृतः,
रूपधरो मुनिप्रवराणामधोवर्ती।
अस्मिंल्लोके विषमिव गर्हितः,
न स इह नैव परत्र लोके ॥२०॥

पदार्थान्वयः—एयारिसे—एतादृश पंचकुसीलसंवुडे—पाँच कुशीलों से संवृत—युक्त रूवंधरे—साधु के वेष को धारण करने वाला मुणिपवराण—प्रधान मुनियों के मध्य में हेट्ठिमे—अधोवर्ती है अयंसि लोए—इस लोक में विसमेव—विष की तरह गरहिए—निन्दनीय है न से—न वह इह—इस लोक में नेव—और नहीं परत्थ लोए—परलोक में।

मूलार्थ—उक्त कहे हुए पाँच कुशीलों से युक्त, अथच संवर से रहित और साधु के वेष को धारण करने वाला, प्रधान मुनियों के मध्य में अधोवर्ती और इस लोक में विष के समान निन्दनीय है, तथा उसके यह लोक और परलोक दोनों ही नहीं सुधरते।

टीका—इस प्रकार साधु, जो कि पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और स्वच्छन्द इन पाँच प्रकार के कुशीलों का अनुसरण करने वाला, संवर से रहित—आस्रव का निरोध न करने वाला, और मुनि का मुखवस्त्रिका और रजोहरण आदि जो वेष है, उसको जिसने धारण कर रक्खा है परन्तु प्रधान मुनियों के संयमस्थान से अधोवर्ती अर्थात् जघन्य संयमस्थान के धरने वाला केवल वेषधारी मात्र है, (यह) इस लोक में विष के समान गर्हित है—निन्दा के योग्य है। तात्पर्य कि जैसे संसार में विष निन्दनीय—त्याज्य समझा जाता है, उसी प्रकार उसकी भी लोगों में निन्दा होती है। इस प्रकार यह न तो इस लोक का रहा और न उसका परलोक ही सुधरा किन्तु दोनों से ही भ्रष्ट हो गया। सारांश कि यह लोक और परलोक ये दोनों, गुणों के उपार्जन से ही सुधरा करते हैं, केवल वेषमात्र धारण कर लेने से नहीं।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त दोषों के सेवन करने का फल बतलाकर अब उनके त्याग का जो फल है, उसका वर्णन करते हैं—

जे वज्जए एए सया उ दोसे,
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे ।
अयंसि लोए अमयं व पूइए,
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥२१॥

त्ति बेमि ।

इति पावसमणिज्जं सत्तदहं अज्झयणं समत्तं ॥१७॥

यो वर्जयेदेतान् सदा तु दोषान्,
स सुव्रतो भवति मुनीनां मध्ये ।
अस्मिल्लोकेऽमृतमिव पूजितः,
आराधयति लोकमिमं तथा परम् ॥२१॥

इति ब्रवीमि ।

इति पापश्रमणीयं सप्तदशमध्ययनं समाप्तम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जे–जो वज्जए–वर्जता है एए–कहे हुए उक्त दोसे–दोषों को सया–सदैव से–वह सुव्वए–सुव्रत होइ–होता है मुणीण मज्झे–मुनियों के मध्य में अयंसि–इस लोए–लोक में अमय व–अमृत की भाँति पूइए–पूजित है आराहए–आराधन कर लेता है इणं–इस लोगम्–लोक को तहा–तथा परं–परलोक को तु–वितर्क। त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो साधु उक्त दोषों को त्याग देता है, वह मुनियों के मध्य में सुन्दर व्रत वाला होता है और लोक में अमृत के समान पूजनीय—अभिलषणीय हो जाता है तथा इस प्रकार वह दोनों लोकों को आराधन कर लेता है।

टीका—इस गाथा में, जिस साधु ने उक्त दोषों का परित्याग कर दिया है उसके गुणों का वर्णन है अर्थात् उक्त दोषों के त्याग का फल प्रतिपादन किया गया है। तात्पर्य—उक्त दोषों से रहित पुरुष सदा के लिए भाव मुनियों की कोटि में गिना जाता है तथा निरतिचार चारित्र का आराधक होने से लोक में वह अमृत के समान वाञ्छनीय होता है अर्थात् जैसे अमृत सब को प्रिय है, उसी प्रकार वह भी सब को आदेय होता है तथा परलोक में सद्गति का भाजन होने से वहाँ भी पूज्य है। इस प्रकार वह दोनों लोकों का आराधक बन जाता है। इससे प्रमाणित हुआ कि विचारशील साधु को उक्त दोषों के त्याग और सद्गुणों के धारण करने में ही सदा प्रयत्नशील होना चाहिए, जिससे कि आत्मशुद्धि के द्वारा उसका दुर्लभ मनुष्यजन्म सदा के लिए सफल हो जाय।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की तरह ही जान लेना।

सप्तदशाध्ययन समाप्त।

अह संजइज्जं अट्ठारहमं अज्झयणं

अथ संयतीयमष्टादशमध्ययनम्

गत सत्रहवें अध्ययन में पापजनक कार्यों के त्याग करने का उपदेश दिया है क्योंकि पापों के छोड़ने से ही संयत होता है तथा पापों का त्याग करने के लिए समृद्धि और भोगों के त्याग की नितान्त आवश्यकता है। अत इस अठारहवें अध्ययन में समृद्धि और भोगों का परित्याग करने वाले संजय नाम के महाराज का वर्णन किया जाता है। यह इन दोनों अध्ययनों का परस्पर सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा इस प्रकार है—

कम्पिल्ले नयरे राया, उदिण्णबलवाहणे ।
नामेणं संजओ नामं, मिगव्वं उवणिग्गए ॥१॥

काम्पिल्ये नगरे राजा, उदीर्णबलवाहनः ।
नाम्ना संजयो नाम, मृगव्यामुपनिर्गतः ॥१॥

पदार्थान्वयः—कम्पिल्ले—काम्पिल्यपुर नयरे—नगर में राया—राजा उदिण्ण-बलवाहणे—उदय हुआ है बल—सेना, वाहन—अश्व रथादि जिसके नामेण—नाम से संजओ नाम—संजय नाम वाला मिगव्व—मृगया—शिकार—के लिए उवणिग्गए—नगर से निकला।

मूलार्थ—काम्पिल्यपुर नगर का संजय नाम वाला राजा, सेना और वाहनादियुक्त होकर शिकार के लिए नगर से बाहर निकला।

टीका—काम्पिल्यपुर नगर में एक संजय नाम का राजा राज्य करता था। पूर्वकृत पुण्य के प्रभाव से उसके यहाँ सेना, हाथी, घोड़े और वाहनादि सभी कुछ विद्यमान था। वह एक दिन शिकार खेलने के लिए नगर से बाहर निकला अर्थात् नगर से निकलकर किसी जंगल की ओर प्रस्थित हुआ।

अब प्रथम उसके प्रस्थान का वर्णन करते हैं। यथा—

हयाणीए गयाणीए, रहाणीए तहेव य।
पायत्ताणीए महया, सव्वओ परिवारिए ॥२॥

हयानीकेन गजानीकेन, रथानीकेन तथैव च।
पदात्यनीकेन महता, सर्वतः परिवारितः ॥२॥

पदार्थान्वयः—हयाणीए—घोड़ों की अनीका—समूह से गयाणीए—गजों की अनीका से य—और तहेव—उसी प्रकार रहाणीए—रथों की अनीका से पायत्ताणीए—पदातियों की अनीका से महया—बड़े प्रमाण से सव्वओ—सर्व प्रकार से परिवारिए—घिरा हुआ।

मूलार्थ—जो कि अश्व, गज, रथ और पदाति आदि के महान् समूह से सर्व ओर से घिरा हुआ है। तात्पर्य है कि अश्व, रथ और पदाति सेना के समूह के साथ वह नगर से बाहर निकला।

टीका—जब वह राजा शिकार के लिए निकला, तब उसके साथ घोड़ों की सेना, हाथियों की सेना, रथों की सेना और पैदल सेना, बहुत बड़े प्रमाण में विद्यमान थी। उसके द्वारा वह चारों ओर से घिरा हुआ था।

नगर से बाहर निकलने के बाद राजा ने क्या किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

मिए छुहित्ता हयगओ, कम्पिल्लुज्जाणकेसरे।
भीए सन्ते मिए तत्थ, वहेइ रसमुच्छिए ॥३॥

मृगान् क्षिप्त्वा हयगतः, काम्पिल्योद्यानकेसरे ।
भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र, विध्यति रसमूर्च्छितः ॥३॥

पदार्थान्वयः—मिए—मृगों को छुहित्ता—प्रेरित करके हयगओ—घोड़े पर चढ़ा हुआ कम्पिल्लुज्जाण—कांपिल्यपुर के उद्यान में केसरे—केसर नाम वाले में भीए—डरते हुए सन्ते—थके हुए मिए—मृगों को तत्थ—उस वन में वहेइ—व्यथित करता है रसमुच्छिए—रस में मूर्च्छित हुआ।

मूलार्थ—रसों में मूर्च्छित हुआ वह राजा घोड़े पर चढ़कर काम्पिल्यपुर के केसरी नाम के उद्यान में थके और डरे हुए मृगों को प्रेरित करके व्यथित करता है।

टीका—पूर्वोक्त सेना-समूह के साथ वह काम्पिल्यपुर के केसरी उद्यान में पहुँचा और वहाँ पर रहने वाले मृगों का उसने शिकार किया क्योंकि वह रसमूर्च्छित—जिह्वालोलुप अर्थात् मांस खाने वाला है। जो पुरुष मांस के लिप्सु होते हैं तथा मृगया में रत रहते हैं, उनका हृदय दया से सर्वथा शून्य होता है। अतएव उसने थके और भयभीत हुए मृगों को भी मारने में तनिक सकोच नहीं किया। सूत्र में पढ़े गये 'मिए' शब्द का सस्कृत में 'मितान्' अनुवाद भी होता है। ऐसे अनुवाद में उक्त पद का यह अर्थ करना कि उस जगल में परिमित मृग थे, जिनका राजा ने वध किया।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी का वर्णन करते हैं—

अह केसरम्मि उज्जाणे, अणगारे तवोधणे ।
सज्झायज्झाणसंजुत्तो, धम्मज्झाणं झियायइ ॥४॥

अथ केसर उद्याने, अनगारस्तपोधनः ।
स्वाध्यायध्यानसंयुक्तः, धर्मध्यानं ध्यायति ॥४॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ केसरम्मि—केसर उज्जाणे—उद्यान में अणगारे—अनगार तवोधणे—तपोधन सज्झाय—स्वाध्याय ज्झाण—ध्यान से संजुत्तो—युक्त धम्मज्झाण—धर्मध्यान झियायइ—ध्याता था—धर्मध्यान करता था।

मूलार्थ—उस समय केसरी उद्यान में, स्वाध्याय ध्यान से युक्त परम तपस्वी एक अनगार धर्मध्यान कर रहा था।

टीका—उस वन में एक परम तपस्वी अनगार—साधु स्वाध्यायध्यान से युक्त होकर धर्मध्यान कर रहा था। इस कथन से केसरोद्यान में मुनि के निवास और मुनिवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तव में मुनिवृत्ति का उद्देश्य तपस्वी होना, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होना ही है। इसके विपरीत जो लोग साधु बनकर विकथा में निमग्न स्वाध्याय ध्यान से रहित होते हुए धर्मध्यान को छोड़कर केवल आर्त और रौद्र ध्यान में निमग्न रहते हैं, वे मुनिवृत्ति के लक्ष्य से कोसों दूर हैं।

अप्फोवमण्डवम्मि , झायइ क्खवियासवे।
तस्सागए मिगे पासं, वहेइ से नराहिवे ॥५॥

अफोवमण्डपे , ध्यायति क्षपितास्रवः।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं, विध्यति स नराधिपः ॥५॥

पदार्थान्वयः—अप्फोवमण्डवम्मि—द्राक्षा आदि लताओं के कुञ्ज में झायइ—ध्यान करता है क्खवियासवे—क्षय किये हैं आश्रव जिसने तस्स—उसके पास—समीप आगए—आये हुए मिगे—मृगों को वहेइ—मारता है से—वह नराहिवे—राजा।

मूलार्थ—वह मुनि अफोव—द्राक्षा और नागवल्ली आदि लताओं के मण्डप के नीचे ध्यान कर रहा है। उसने आश्रवों का क्षय कर दिया है। ऐसे उस मुनि के समीप आये हुए मृगों को उस राजा ने मारा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि का ध्यानस्थान और उसकी आत्मशुद्धि का प्रसंगवश दिग्दर्शन कराया गया है। आत्मध्यान के लिए कितना विविक्त और शान्त स्थान होना चाहिए, यह इसमें भली भाँति वर्णित है। 'अफोव' शब्द 'वृक्षगुच्छ-गुल्मलतासछन्न' स्थान का बोधक है। यहाँ 'ध्यायति' क्रिया का दो बार प्रयोग करना ध्यान की निरन्तरता—सततचिन्तन—का सूचक है।

इसके बाद फिर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

अह आसगओ राया, खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता, अणगारं तत्थ पासई ॥६॥

अथाश्वगतो राजा, क्षिप्रमागम्य स तस्मिन् ।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा, अनगारं तत्र पश्यति ॥६॥

पदार्थान्वयः—अह–अनन्तर आसगओ–घोड़े पर चढ़ा हुआ राया–राजा खिप्प–शीघ्र आगम्म–आकर सो–वह राजा तहिं–उस मंडप के पास हए–मारे हुए मिए उ–मृगों को पासित्ता–देखकर तत्थ–वहाँ पर अणगार–साधु को पासई–देखता है।

मूलार्थ—तत्पश्चात् घोड़े पर चढ़ा हुआ वह राजा शीघ्र ही वहाँ आकर उन मारे हुए मृगों को देखकर ही, वहाँ पर एक साधु को देखता है।

टीका—उन मृगों पर बाण चलाकर उनको वेधन करने के अनन्तर घोड़े पर सवार हुआ वह राजा वहाँ आया, जहाँ कि उसके बाणों से मरे हुए मृग पड़े थे। वहाँ आकर उसने मरे हुए मृगों के अतिरिक्त एक साधु मुनिराज को देखा। तात्पर्य कि अपने शिकार को देखने के लिए गये हुए राजा की वहाँ पर ठहरे हुए एक तपस्वी महात्मा पर भी दृष्टि पड़ी। यहाँ पर 'तु' शब्द एव अर्थ में आया हुआ है।

इसके अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

अह राया तत्थ संभन्तो, अणगारो मणाहओ ।
मए उ मन्दपुण्णेणं, रसगिद्धेण घत्तुणा ॥७॥

अथ राजा तत्र संभ्रान्तः, अनगारो मनाग् हतः ।
मया तु मन्दपुण्येन, रसगृद्धेन घातुकेन ॥७॥

पदार्थान्वयः—अह–तत्पश्चात् राया–राजा तत्थ–उस स्थान पर संभन्तो–भयभीत सा हुआ अणगारो–साधु भी मणा–थोड़ा सा आहओ–अभिहनन किया मए–मैंने उ–वितर्क में मन्दपुण्णेण–मन्दभागी ने रसगिद्धेण–रसमूर्च्छित ने और घत्तुणा–घातक ने।

मूलार्थ—तदनन्तर वह राजा वहाँ पर मुनि को देखकर सम्भ्रान्त—भयभीत—सा हो गया और मन में कहने लगा कि—मुझ हतभागी ने, जो कि रसों में आसक्त और निरपराध जीवों का घात करने वाला हूँ, थोड़ा सा इस मुनि को भी अभिहनन कर दिया है!

टीका—जिस समय राजा ने वहाँ पर एक ध्यानारूढ तपस्वी मुनि को देखा, उस समय वह भयभीत सा हो गया। फिर अपने मन में विचार करने लगा कि अहो! मैं बड़ा ही मन्दभागी हूँ, जो कि मैंने इन मृगों के साथ थोड़ा सा इस मुनि को भी अभिहनन कर दिया! अर्थात् थोड़े से काम के वास्ते मैंने इस मुनि का बड़ा भारी अपराध किया, जो कि इन मृगों का विनाश किया। यह मेरी रसगृद्धि—मांसलोलुपता और घातकता का सजीव चित्र है! जो कि मैंने इस महात्मा के मृगों का अभिहनन करके इनको भी थोड़ा सा अभिहत किया। तात्पर्य कि इन मृगों के विनाश से इस महात्मा के चित्त को जो खेद पहुँचा है, वही मनाक् अभिहनन है।

इसके अनन्तर उस राजा ने क्या किया? अब इसी विषय में कहते हैं—

आसं विसज्जइत्ता णं, अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए, भगवं एत्थ मे खमे ॥८॥

अश्वं विसृज्य, अनगारस्य स नृपः।
विनयेन वन्दते पादौ, भगवन्नत्र मे क्षमस्व ॥८॥

पदार्थान्वयः—आसं-घोड़े को विसज्जइत्ता-छोड़ करके अणगारस्स-अनगार के सो-वह निवो-नृप विणएण-विनय से वन्दए-वन्दना करता है पाए-पाँवों को भगवं-हे भगवन्! एत्थ-इस मृगवध के सम्बन्ध में मे-मेरा—अपराध खमे-क्षमा करो।

मूलार्थ—तदनन्तर वह राजा अश्व को छोड़कर मुनि के चरण-कमलों की वन्दना करता है और कहता है कि हे भगवन्! मेरे इस अपराध को क्षमा करो।

टीका—इसके अनन्तर वह राजा तुरत ही घोड़े पर से उतरकर उस मुनि के चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगा और कहने लगा कि हे भगवन्! मैंने अज्ञानता से आपके इन मृगों का जो वध किया है, इसके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ अर्थात् आप मुनिराज मेरे इस महान् अपराध को क्षमा करें। इसके अतिरिक्त इस गाथा से यह भी शिक्षा मिलती है कि अज्ञानवश यदि किसी से किसी का कोई

अपराध हो जाय तो वह उससे अवश्य क्षमा की प्रार्थना करे, जिससे कि कर्मों के बन्ध टूट जायँ अथवा शिथिल हो जायँ।

राजा के द्वारा स्वकृत अपराध की क्षमा-याचना के अनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

अह मोणेण सो भगवं, अणगारो झाणमस्सिओ।
रायाणं न पडिमन्तेइ, तओ राया भयद्दुओ ॥९॥

अथ मौनेन स भगवान्, अनगारो ध्यानमाश्रितः।
राजानं न प्रतिमन्त्रयते, ततो राजा भयद्रुतः ॥९॥

पदार्थान्वयः—अह–तदनतर मोणेण–मौन भाव से सो–वह भगव–भगवान् अणगारो–अनगार झाण–ध्यान के अस्सिओ–आश्रित हुआ रायाण–राजा को न पडिमन्तेइ–प्रत्युत्तर नहीं देता है। तओ–उसके पश्चात् राया–राजा भयद्दुओ–अति भयभीत हुआ।

मूलार्थ—(गर्द्धमाली नाम से प्रख्यात) वह अनगार भगवान् मौनभाव से ध्यानारूढ होता हुआ उस राजा को कोई भी प्रत्युत्तर न दे सका। तब राजा अति भयभीत हो गया।

टीका—जिस समय राजा ने मुनि से अपने अपराध की क्षमा माँगने के लिए प्रार्थना की, उस समय मुनि आत्म-समाधि में निमग्न हो रहे थे। इसलिए उन्होंने क्षमा प्रार्थना के उत्तर में राजा के प्रति कुछ न कहा। परन्तु राजा ने यह सोचा कि मुनि ने क्रोध में आकर उसको उत्तर नहीं दिया। इस कारण वह अति भयभीत हो उठा।

भयभीत हुए राजा ने मुनि से जिस प्रकार कहा, अब उसी का वर्णन करते हैं—

संजओ अहमम्मीति, भगवं! वाहराहि मे।
कुद्धे तेएण अणगारे, डहेज्ज नरकोडिओ ॥१०॥

संजयोऽहमस्मीति, भगवन्! व्याहर माम्।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः, दहेत नरकोटीः ॥१०॥

पदार्थान्वयः—संजओ-संजय नाम वाला अहम्-मैं अम्मीति-हूँ, इस हेतु से भगवं-हे भगवन्! वाहराहि-बोलो मे-मुझसे। कुद्ध-कुपित हुआ अणगारे-अनगार तेएण-तेज से डहेज्ज-भस्म कर देता है नरकोडिओ-करोड़ों मनुष्यों को।

मूलार्थ—हे भगवन्! मैं संजय नामक राजा हूँ, इस हेतु से मुझे उत्तर दो क्योंकि कुपित हुआ अनगार—साधु अपने तप तेज से करोड़ों मनुष्यों को भस्म कर देता है।

टीका—राजा ने मुनि से कहा कि भगवन्! मैं संजय नाम का राजा हूँ। इसलिए आप मुझसे बोलें अर्थात् मेरी प्रार्थना की अभिभाषण द्वारा स्वीकृति देने की कृपा करें क्योंकि कुपित हुआ तपस्वी अपने तेज से करोड़ों मनुष्यों को भस्म कर देने की सामर्थ्य रखता है। राजा ने अपना परिचय देते हुए जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यह कि राजा कहता है कि मैं कोई नीच पुरुष नहीं किन्तु संजय नाम का इस नगर का राजा हूँ। अतः मुझसे आप अवश्य संभाषण करें। नीच पुरुषों से संभाषण करना भले ही अच्छा न हो परन्तु मैं तो वैसा नहीं हूँ। मैं तो स्वकृत अपराध की क्षमा देने की आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। 'मे' यहाँ पर 'सुप्' का व्यत्यय हुआ है।

राजा की इस अभ्यर्थना के उत्तर में मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसी ॥११॥

अभयं पार्थिव! तव, अभयदाता भव च।
अनित्ये जीवलोके, किं हिंसायां प्रसजसि ॥११॥

पदार्थान्वय—पत्थिवा-हे पार्थिव! तुब्भं-तुझे अभओ-अभय है अभयदाया-अभय देने वाला भवाहि-तू हो य-पुनः अणिच्चे-अनित्य जीवलोगम्मि-जीवलोक में किं-क्यों हिंसाए-हिंसा में पसज्जसि-आसक्त हो रहा है।

मूलार्थ—हे पार्थिव! तुझे अभय है। तू भी अभय देने वाला हो। अनित्य जीवलोक में क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है?

और रूप भी मनोहर होने के साथ २ अविचचल है। तात्पर्य कि इन पदार्थों की अनित्यता का विचार करते हुए विचारशील पुरुष को परलोक में काम आने वाले धर्मादि पदार्थों का ही सचय करना चाहिए और उन्हीं के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अब मोहत्याग के विषय में कहते हैं—

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥१४॥

दाराश्च सुताश्चैव, मित्राणि च तथा बान्धवाः।
जीवन्तमनुजीवन्ति, मृतं नानुव्रजन्ति च ॥१४॥

पदार्थान्वयः—दाराणि–स्त्रियाँ य–और सुया–पुत्र च–पुन एव–पादपूर्ति में मित्ता–मित्र य–और तह–तथा बन्धवा–बान्धव जीवत–जीते के साथ अणुजीवति–जीते हैं—उसके उपार्जन किये हुए द्रव्य से जीते हैं य–और मय–मरे हुए के साथ नाणुव्वयति–नहीं जाते।

मूलार्थ—स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और बान्धव सब जीते के साथ ही जीते हैं—उसके उपार्जन किये हुए धन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं किन्तु मरे हुए के साथ नहीं जाते।

टीका—इसमें राजा को मुनि ने जो उपदेश किया है, उसका आशय राजा के मोह को दूर करना है। मुनि का कथन है कि स्त्री, पुत्र, मित्र और बान्धवादि जितने भी जीव हैं, वे सब इसके जीते हुए के ही साथी हैं। मरने पर इनमें से कोई भी इसका साथ देने वाला नहीं। जीते हुए भी जब यह जीव उनका पालन-पोषण कर रहा है तभी तक उसके सगी हैं। निर्धन होने पर ये जीते जी भी इसका साथ छोड़ देते हैं। तब ऐसे सम्बन्धियों के लिए दिन-रात अनर्थ करना और उनको अपने जीवन का आधार समझना बुद्धिमान् पुरुष के लिए कहाँ तक उचित है, इसका स्वय विचार करना चाहिए। यहाँ पर 'च' अप्यर्थक है और 'दाराणि' यह प्राकृत के कारण नपुसक है।

अब इनके परस्पर सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराते हैं—

नीहरंति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे॥१५॥

निःसारयन्ति मृतं पुत्राः, पितरं परमदुःखिताः।
पितरोऽपि तथा पुत्रान्, बन्धवो राजन्! तपश्चरेः॥१५॥

पदार्थान्वय—नीहरंति–निकाल देते हैं मयं–मरे हुए पियरं–पिता को पुत्ता–पुत्र परमदुक्खिया–परम दुःखी होकर पियरो वि–पिता भी तहा–उसी प्रकार पुत्ते–पुत्रों को बन्धू–भाई—भाई को। अतः रायं–हे राजन्! तवं–तप चरे–कर।

मूलार्थ—हे राजन्! पुत्र, मरे हुए पिता को परम दुःखी होकर घर से निकाल देते हैं और इसी प्रकार मरे हुए पुत्र को पिता तथा भाई को भाई निकाल देता है। अतः तू तप का आचरण कर।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जब पिता की मृत्यु हो जाती है, तब उसके पुत्र उसे बाहर ले जाते हैं और उसको जलाकर घर को आ जाते हैं। इसी प्रकार पुत्र के मरने पर पिता और भाई की मृत्यु पर भाई करता है। तात्पर्य कि एक मरता है और दूसरा उसको ले जाकर जला आता है, यह संसार के सम्बन्ध की अवस्था है अर्थात् कोई किसी का साथ नहीं देता। ऐसी दशा में तो इनका मोह छोड़कर तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ लगे हुए कर्ममल को जलाकर आत्मशुद्धि करने के अतिरिक्त मुमुक्षु पुरुष का और कोई भी कर्तव्य नहीं होना चाहिए।

इसके अनन्तर क्या होता है, अब इसी का वर्णन करते हैं—

तओ तेणऽज्जिए दव्वे, दारे य परिरक्खिए।
कीलन्तिऽन्ने नरा रायं, हट्ठतुट्ठमलंकिया॥१६॥

ततस्तेनार्जिते द्रव्ये, दारेषु च परिरक्षितेषु।
क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन्! हृष्टतुष्टाऽलङ्कृताः॥१६॥

पदार्थान्वयः—तओ–तत्पश्चात् तेण–उसके द्वारा अज्जिए–उपार्जन किये हुए दव्वे–द्रव्य में य–और दारे–स्त्रियों में परिरक्खिए–सर्व प्रकार से रक्षित की हुई

हो तथा अधिकारी भी उत्तम हो तो फिर उसको सफल होते देरी नहीं लगती। इसी लिए मुनि के उपदेश को सद्यः सफलता प्राप्त हुई। कारण कि इधर राजा भी स्वकृत अपराध की क्षमा-याचना में प्रवृत्त होने से अनुकम्पित हृदय था और उधर मुनि भी आदर्शजीवी थे। इसलिए मुनि ने जिस समय संसार की अस्थिरता और स्वार्थपरायणता का चित्र राजा के सामने खींचा, उसी समय वह राजा के स्वच्छ हृदय-पट पर अंकित हो गया अर्थात् संसार से वैराग्य हो गया। यहाँ 'महया' यह सुप्व्यत्यय से जानना।

इसके अनन्तर अर्थात् वैराग्य होने के बाद राजा ने क्या किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

संजओ चइउं रज्जं, निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अन्तिए ॥१९॥

संजयस्त्यक्त्वा राज्यं, निष्क्रान्तो जिनशासने।
गर्दभालेर्भगवतः, अनगारस्यान्तिके ॥१९॥

पदार्थान्वयः—संजओ—संजय राजा चइउं—छोड़ करके रज्जं—राज्य को निक्खन्तो—दीक्षित हुआ जिणसासणे—जिनशासन में भगवओ—भगवान् गद्दभालिस्स—गर्दभाली अणगारस्स—अनगार के अन्तिए—समीप में।

मूलार्थ—संजय राजा राज्य को छोड़कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिनशासन—जिनधर्म—में दीक्षित हो गया।

टीका—मुनि के उपदेश को सुनकर संसार से विरक्त हुआ वह राजा गर्दभालि नाम के उस अनगार के पास जिनशासन में दीक्षित हो गया। यहाँ पर जिनशासन का नाम लेने से अर्थात् जैनदर्शन का उल्लेख करने से सुगतादि अन्य दर्शनों की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि बौद्धग्रन्थों में बहुत सी जैन-कथाओं का बुद्ध के नाम से संग्रह किया हुआ देखा जाता है। जैसे कि भृगु पुरोहित की कथा का बौद्ध जातकों में ज्यों का त्यों उल्लेख मिलता है। इसलिए उक्त गाथा में 'निक्खन्तो जिणसासणे—निष्क्रान्तो जिनशासने' यह कहा गया है। इस पर

बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि—'न तु सुगतादिदेशिते असद्दर्शने एव' अर्थात् संजय ऋषि जिनशासन में ही दीक्षित हुआ है किन्तु बौद्धादि असद्दर्शन में नहीं।

इस सारे सन्दर्भ में, एक कामभोगासक्त सम्राट् को संसार से सर्वथा विरक्त होकर मोक्षमार्ग के पथिक बनने का सुअवसर किस प्रकार प्राप्त हुआ, इस विषय का दिग्दर्शन किया गया है। इसके अनन्तर गुरुओं के पास दीक्षित होकर, हेयोपादेय के स्वरूप को समझकर और दशविध समाचारी को ग्रहण करके वह मुनि नियत-विहारी होकर विचरने लगा। किसी समय वह विचरता हुआ एक ग्राम में चला गया। वहाँ पर उसकी एक क्षत्रियमुनि से भेंट हुई। उस समय उनका आपस में जो वार्तालाप हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं—

चिच्चा रट्ठं पव्वइए, खत्तिओ परिभासई।
जहा ते दीसई रूवं, पसन्नं ते तहा मणो ॥२०॥

त्यक्त्वा राष्ट्रं प्रव्रजित, क्षत्रियः परिभाषते।
यथा ते दृश्यते रूपं, प्रसन्नं ते तथा मनः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—चिच्चा—छोड़ करके रट्ठं—राष्ट्र को पव्वइए—प्रव्रजित हुआ खत्तिओ—क्षत्रिय—उसको परिभासई—कहता है जहा—जैसे ते—तेरा रूवं—रूप दीसई—दीखता है तहा—उसी प्रकार ते—तेरा मणो—मन भी पसन्नं—प्रसन्न प्रतीत होता है।

मूलार्थ—अपने राष्ट्र—राज्य या देश को छोड़कर दीक्षित हुए एक क्षत्रिय ऋषि, संजय ऋषि से कहते हैं कि जिस प्रकार तुम्हारा बाहर से रूप दीखता है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी प्रसन्न ही प्रतीत होता है।

टीका—जिस समय संजय ऋषि विचरते हुए किसी ग्राम में पहुँचते हैं, उस समय उनकी एक क्षत्रिय मुनि से भेंट हुई, जिनका कि नाम प्रसिद्ध नहीं है। वह क्षत्रिय मुनि पूर्वजन्म में वैमानिक जाति के देव थे। वहाँ से च्युत होकर वे क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए। किसी निमित्तविशेष से उनको वहाँ पर जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके प्रभाव से वे संसार से विरक्त होकर जैनभिक्षु बन गये। उन्होंने संजय मुनि को देखा, और कहने लगे कि जैसे आपका रूप—विकार रहित आकृति—

शान्त और प्रसन्न देखने में आता है, उसी प्रकार से आपका मन भी प्रसन्न प्रतीत होता है क्योंकि मन की प्रसन्नता पर ही बाहर के स्वरूप—आकृति—की प्रसन्नता निर्भर है। बिना मन की प्रसन्नता के बाह्य स्वरूप में प्रसन्नता नहीं आ सकती। इससे प्रतीत होता है कि आप अन्दर और बाहर दोनों तर्फ से प्रसन्न हैं। इसी हेतु से मैं भी प्रसन्न हूँ, यह फलितार्थ है। इसके अनन्तर वे क्षत्रिय ऋषि फिर कहते हैं कि—

किंनामे किंगुत्ते, कस्सट्ठाए व माहणे।
कहं पडियरसी बुद्धे, कहं विणीए त्ति वुच्चसी ॥२१॥

किं नाम किं गोत्रम्, कस्यार्थं वा माहनः।
कथं प्रतिचरसि बुद्धान्, कथं विनीत इत्युच्यसे ॥२१॥

पदार्थान्वय—किंनामे–क्या नाम है किंगुत्ते–क्या गोत्र है व–अथवा कस्सट्ठाए–किस प्रयोजन के लिए माहणे–माहन हुए हो कह–किस प्रकार से बुद्धे–बुद्धों की पडियरसी–परिचर्या—सेवा करते हो ? कह–किस प्रकार तुमको विणीए–विनयवान् वुच्चसि–कहा जाता है ? त्ति–ऐसे प्रश्न किये।

मूलार्थ—आपका नाम क्या है ? आपका गोत्र कौन सा है ? किसलिए आप माहन हुए हो ? किस प्रकार बुद्धों की परिचर्या करते हो ? तथा किस प्रकार से आप विनयशील कहे जाते हो ?

टीका—क्षत्रिय ऋषि ने सजय ऋषि से पाँच प्रश्न किये। जैसे कि—(१) आपका नाम क्या है—नामविषयक, (२) आपका गोत्र क्या है ? गोत्र के विषय में, (३) आप किस प्रयोजन के लिए साधु हुए हो ? साधु होने के सम्बन्ध में, (४) आप किस प्रकार आचार्य प्रभृति गुरुजनों की सेवा करते हो ? गुरुओं के विषय में, और (५) आप विनयशील कैसे हो ? विनय विषयक ऐसे पाँच प्रश्न किये। माहन शब्द का यौगिक अर्थ है—मा=मत, हन=मार। अर्थात् मन, वचन और शरीर से किसी भी जीव के मारने का भाव जिसमें नहीं, उसे माहन (साधु) कहते हैं। यद्यपि माहन शब्द गृहस्थ—श्रावक के लिए भी आता है तथापि इस स्थान में साधु का ही वाचक है।

अथ संजय ऋषि उक्त प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर देते हैं। यथा—

संजओ नाम नामेणं, तहा गुत्तेण गोयमो।
गद्दभाली ममायरिया, विज्जाचरणपारगा ॥२२॥

संयतो नाम नाम्ना, तथा गोत्रेण गोतमः।
गर्दभालयो ममाचार्याः, विद्याचरणपारगाः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—संजओ—संजय नाम—प्रसिद्ध नामेणं—नाम से तहा—उसी प्रकार गुत्तेण—गोत्र से गोयमो—गोतम गद्दभाली—गर्दभालि मम—मेरे आयरिया—आचार्य हैं विज्जा—विद्या—ज्ञान चरण—चारित्र के पारगा—पारगामी।

मूलार्थ—संजय मेरा नाम है, गोतम मेरा गोत्र है और गर्दभालि मेरे आचार्य हैं, जो कि विद्या और चारित्र के पारगामी हैं।

टीका—क्षत्रिय ऋषि के प्रश्नों का संजय ऋषि ने इस प्रकार से उत्तर दिया—१ मेरा नाम संजय है, २ मेरा गोत्र गोतम है, ३ मेरे आचार्य गर्दभालि मुनि हैं जो कि विद्या और चारित्र में परिपूर्ण हैं, ४ मैं विद्या और चारित्र की प्राप्ति के लिए साधु हुआ हूँ जिसका कि अंतिम फल मोक्ष है, ५ मैं अपने गुरुजनों की सेवा करता हूँ और उन्हीं का उपदेश सुनने और तदनुसार आचरण करने से मुझे विनय धर्म की प्राप्ति हुई है अर्थात् मैं विनीत बना हूँ। यद्यपि नीचे के दोनों उत्तर मूल गाथा में उपलब्ध नहीं तथापि तीसरे प्रश्न के उत्तर में ही इन दोनों का समावेश हो जाता है। तात्पर्य कि अपने आचार्य गर्दभालि मुनि के विद्याचारित्र की परिपूर्णता के वर्णन में ही उनकी सेवा और उनसे प्राप्त होने वाले विनयधर्म का भी अर्थतः उल्लेख आ जाता है। इसलिए सेवा और विनय के लिए पृथक् उत्तर नहीं दिया।

इस प्रकार संजय मुनि के उत्तर से प्रसन्न हुए क्षत्रिय ऋषि फिर संजय मुनि से इस प्रकार कहने लगे कि—

किरियं अकिरियं विणयं, अन्नाणं च महामुणी।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं, मेयन्ने किं पभासई ॥२३॥

क्रियामक्रियां विनयः, अज्ञानं च महामुने ।
एतेषु चतुर्षु स्थानेषु, तत्त्वज्ञाः किं प्रभाषन्ते ॥२३॥

पदार्थान्वय —किरिय–क्रियावादी अकिरिय–अक्रियावादी विणय–विनयवादी च–और अन्नाण–अज्ञानवादी महामुणी–हे महामुने ! एएहिं–इन चउहिं–चार ठाणेहिं–स्थानों में जीव बसते हैं मेयन्ने–तत्त्वज्ञ किं पभासई–क्या २ नहीं बोलते ।

मूलार्थ—हे महामुने ! क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चार स्थानों में रहते हुए जीव अपनी २ इच्छा के अनुसार बोलते हैं।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे महामुने ! इस संसार में मेयज्ञ—जीवाजीवादि पदार्थों के जानने वाले लोग, चार प्रकार से भाषा का व्यवहार करते हैं । यद्यपि वे अपने आप में मेयज्ञ कहलाते हैं परन्तु वास्तव में, वे मेयज्ञ नहीं हैं क्योंकि उनका कथन युक्तियुक्त न होने से असमंजस है । वे क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन भेदों से चार प्रकार के हैं । (१) क्रियावादी लोग—क्रियाविशिष्ट आत्मा को मानते हुए साथ ही—विभु अविभु, कर्ता अकर्ता, क्रियावान् अक्रियावान्, मूर्त और अमूर्त भी मानते हैं । परन्तु उनका यह कथन एकान्त रूप से तो सिद्ध नहीं हो सकता । तथाहि—यदि आत्मा को विभु माना जाय तब तो शरीर के अतिरिक्त स्थल में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए । परन्तु आत्मा का चैतन्य लिंग तो शरीर में ही उपलब्ध होता है, उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं पर भी उसकी चेतना प्रतिभासित नहीं होती । तथा सुख-दुःख का भान भी शरीर में ही होता है । शरीर के अतिरिक्त प्रदेश में सुख-दुःख की उपलब्धि नहीं होती । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा विभु—व्यापक—नहीं है । एवं यदि आत्मा को अविभु अर्थात् अंगुष्ठ-प्रमाणमात्र मानें, जैसे कि अन्यत्र लिखा है—'अंगुष्ठमात्र पुरुष' तो यह पक्ष भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि आत्मा शरीर के किसी एक देश में ही होगा, तब वहीं पर सुख-दुःख की उपलब्धि होगी परन्तु सुख-दुःख का अनुभव सर्वत्र होता है, एवं शरीर के किसी विभाग में लगे हुए शस्त्र के घाव से दुःख की अनुभूति भी नहीं हो सकेगी, इसलिए अविभु अर्थात् अंगुष्ठप्रमाण भी नहीं मान सकते । इसी

प्रकार आत्मा में सर्वदा कर्तृत्व का मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि उसमें सर्वदा क्रियाशीलता स्वीकार की जाय तो मोक्ष का ही अभाव हो जायगा। (२) अक्रियावादी लोग आत्मा में क्रिया का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते परन्तु उनका यह मन्तव्य प्रत्यक्षविरुद्ध है क्योंकि आत्मा की क्रियाशीलता प्रत्यक्षसिद्ध है। (३) विनयवादी लोग विनय को ही सर्वरूप से प्रधानता देते हैं। उनके मत में 'सब की विनय करना' यही धर्म है। परन्तु यह कथन भी कुछ सुन्दर प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें योग्यायोग्य की परीक्षा को कोई स्थान उपलब्ध नहीं होता। (४) अज्ञानवादी लोग अज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मान रहे हैं। उनके विचारानुसार जितना भी कष्ट होता है वह सब ज्ञानी—ज्ञानवान् को ही होता है, अज्ञानी को नहीं। परन्तु यह पक्ष भी असंगत है क्योंकि ज्ञान के बिना अज्ञान की प्रतीति का होना ही सम्भव नहीं। अतः एकमात्र अज्ञान को श्रेष्ठ मानना किसी प्रकार भी उचित प्रतीत नहीं होता।

अब क्षत्रिय ऋषि अपने इस उक्त कथन को प्रमाणित करते हुए फिर कहते हैं—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिणिव्वुए।
विज्जाचरणसंपन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे ॥२४॥
इति प्रादुःकरोति बुद्धः, ज्ञातकः परिनिर्वृतः।
विद्याचारित्रसंपन्नः, सत्यः सत्यपराक्रमः ॥२४॥

पदार्थान्वयः—इइ—इस प्रकार पाउकरे—प्रकट करते हुए बुद्धे—तत्त्ववेत्ता नायए—ज्ञातपुत्र श्रीमहावीर परिनिव्वुडे—परिनिर्वृत विज्जाचरणसंपन्ने—विद्या और चारित्र से युक्त सच्चे—सत्यवादी सच्चपरक्कमे—सत्य पराक्रम वाले।

मूलार्थ—विद्या और चारित्र से युक्त, सत्यवादी, सत्यपराक्रम वाले, तत्त्ववेत्ता, परम निर्वृत—निर्वाणप्राप्त, ज्ञातपुत्र, भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने इस प्रकार से इस तत्त्व को प्रकट किया है।

टीका—क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि हे मुने! क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी इन चारों का विवरण ज्ञातपुत्र भगवान्

श्रीवर्द्धमान् स्वामी ने स्वय किया है, जो कि कषायरूप अग्नि के सर्वथा शान्त होने से परमनिर्वृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं। तथा विद्याचरण से युक्त अर्थात् क्षायक ज्ञान और चारित्र से संपन्न थे एव सत्यवक्ता और सत्यपरमार्थ से भाव शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले, अतएव तत्त्ववेत्ता थे। यहाँ पर 'बुद्ध' शब्द भगवान् महावीर—ज्ञातपुत्र का विशेषण है। तथा उक्त गाथा के पर्यालोचन से यह भी प्रतीत होता है कि उक्त दोनों ऋषि महावीर स्वामी के अतिनिकटकालवर्ती थे।

अथ धर्माधर्म की फलश्रुति का वर्णन करते हैं। यथा—

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं ॥२५॥

पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति, चरित्वा धर्ममार्यम् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—नरए—नरक घोरे—घोर में पडंति—पड़ते हैं जे—जो नरा—नर पावकारिणो पाप करने वाले हैं च—और दिव्व—देव गइं—गति को गच्छति—प्राप्त होते हैं आरियं—आर्य धम्म—धर्म को चरित्ता—आचरण करके।

मूलार्थ—जो पुरुष पापकर्म करने वाले हैं, वे घोर नरक में पड़ते हैं और आर्य धर्म का अनुष्ठान करने से देवगति को प्राप्त होते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बतलाया गया है कि जो जीव असत् की प्ररूपणा करते हैं तथा हिंसादि पापकर्म में प्रवृत्त हैं, वे घोर नरक के अतिथि होते हैं। तात्पर्य कि असत् प्ररूपणा और हिंसादि पापकर्म में प्रवृत्ति इन दोनों का फल नरक की प्राप्ति है। परन्तु जो जीव असत् प्ररूपणा और हिंसा आदि पापकर्म से पराङ्मुख होकर श्रुतचारित्र रूप आर्य धर्म का आराधन करते हैं, वे देवलोक में जाते हैं। यद्यपि सत् की प्ररूपणा और श्रुतचारित्र रूप आर्य धर्म का सम्यग् आराधन, इनका फल मोक्ष की प्राप्ति कथन किया गया है तथापि यदि इस धर्माराधक जीव के समस्त कर्म क्षय न हुए हों अर्थात् कुछ बाकी रह गये हों तो उसका फल देवलोक की प्राप्ति ही शास्त्रों में वर्णन किया है। इसलिए असत् प्ररूपणा और

असत्—पाप—कर्म का त्याग तथा सत् की प्ररूपणा और आर्य धर्म का अनुसरण करना ही विचारशील पुरुष के लिए सर्वथा कल्याणप्रद है, यह इसका फलितार्थ है।

इसके अनन्तर क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से फिर कहते हैं कि—

मायावुइयमेयं तु, मुसा भासा निरत्थिया।
संजममाणोऽवि अहं, वसामि इरियामि य ॥२६॥

मायोदितमेतत् तु, मृषा भाषा निरर्थिका।
संयच्छन्नप्यहम् , वसामि ईर्यायां च ॥२६॥

पदार्थान्वय—माया—माया से वुइयम्—कहा हुआ एय—यह तु—वितर्क में तथा निश्चय में है मुसा—मृषा भासा—भाषा निरत्थिया—निरर्थक संजममाणोऽवि—संयम में रहा हुआ भी अहं—मैं वसामि—वसता हूँ य—और इरियामि—गोचरी आदि के लिए जाता हूँ।

मूलार्थ—हे मुने! क्रियावादी प्रभृति लोग माया से बोलते हैं। उनकी भाषा मिथ्या अतएव निरर्थक है। मैं उनकी भाषा को सुनता हुआ भी संयम में रहता हूँ, उपाश्रय में निवास करता हूँ और यत्नपूर्वक गोचरी आदि के लिए जाता हूँ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि सजय मुनि से कहते हैं कि हे मुने! ये जो क्रियावादी प्रभृति लोग हैं, ये सब माया—कपट—से बोलते हैं। इनकी भाषा मिथ्या अत एव निरर्थक है। अतः इनकी बातें सुनने में मैं बड़ा संयम रखता हूँ। इसी लिए उपाश्रय आदि में बसता रहता हूँ और गोचरी के लिए यत्नपूर्वक जाता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि मैं इन क्रियावादियों की कपटमयी भाषा को सुनने में यत्न रखता हूँ अर्थात् अपने ध्यान से च्युत नहीं होता परन्तु जो सर्वथा असत् की प्ररूपणा करते हैं, उनके कथन को तो मैं सुनता भी नहीं और सुनना चाहता भी नहीं। क्योंकि असत् प्ररूपणा के श्रवण से मनुष्य को पापकर्मों का बन्ध होता है, जिसके कारण वह दुर्गति में जाने का अधिकारी हो जाता है। 'निरर्थिका' का अर्थ है कि जिसके सुनने से आत्मा को बोध न हो।

अब फिर इन्हीं के विषय में कुछ और विशेष कहते हैं—

सव्वे ते विइया मज्झं, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए, सम्मं जाणामि अप्पयं ॥२७॥

सर्वे ते विदिता मया, मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
विद्यमाने परे लोके, सम्यग् जानाम्यात्मानम् ॥२७॥

पदार्थान्वय —सव्वे-सब ते-वे विइया-जान लिये मज्झ-मैंने मिच्छा-दिट्ठी-मिथ्यादृष्टि अणारिया-अनार्य हैं विज्जमाणे-विद्यमान होने पर परे लोए-परलोक के सम्म-सम्यक्—भली प्रकार जाणामि-जानता हूँ अप्पय-आत्मा को ।

मूलार्थ—मैंने उन सर्व वादियों के सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से जान लिया । वे सब मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं । परलोक के विद्यमान होने से मैं आत्मा को जानता हूँ ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि मैंने इन क्रियावादी और अक्रियावादी प्रभृति मतों को अच्छी तरह से समझ लिया है । इनके प्ररूपक सब मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं । तात्पर्य कि मिथ्यात्व में प्रवृत्त होने से वे मिथ्यादृष्टि और अनार्योचित कर्मों का आचरण करने के कारण अनार्य कहे या माने जा सकते हैं । कारण कि इन लोगों ने ऐहिक सुख को ही सर्वोपरि मान रक्खा है । अतएव परलोक का अस्तित्व इनकी दृष्टि से ओझल हो रहा है । आत्मा के सद्भाव और उसकी भवपरम्परा पर इनको विश्वास नहीं होता, जिससे कि ये ऐहिक कामभोगों में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनर्थोत्पादक कर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं परन्तु मैं परलोक की सत्ता अथ च आत्मा की भवपरम्परा को भली भाँति जानता हूँ ।

आप किस प्रकार जानते हैं ? इसका उत्तर क्षत्रियराजर्षि निम्नलिखित दो गाथाओं के द्वारा देते हैं । यथा—

अहमासी महापाणे, जुइमं वरिससओवमे ।
जा सा पालीमहापाली, दिव्वा वरिससओवमा ॥२८॥

से चुए बम्भलोगाओ, माणुस्सं भवमागए।
अप्पणो य परेसिं च, आउं जाणे जहा तहा ॥२९॥

अहमास महाप्राणे, द्युतिमान् वर्षशतोपमः।
या सा पालिर्महापालिः, दिव्या वर्षशतोपमा ॥२८॥
स च्युतो ब्रह्मलोकात्, मानुष्यं भवमागतः।
आत्मनश्च परेषां च, आयुर्जानामि यथा तथा ॥२९॥

पदार्थान्वय —अह—मैं आसि—था महापाणे—महाप्राण विमान में जुइम—द्युति वाला वरिससओवमे—सौ वर्ष की उपमा वाला जा—जो सा—वह पालि—पल्योपम वा महापाली—सागरोपमवाली दिव्वा—देवसम्बन्धि स्थिति वरिस—वर्ष सओवमा—सौ की उपमावाली। से—वह अब चुए—च्युत होकर बमलोगाओ—ब्रह्मलोक से माणुस्सं—मनुष्य सबंधी भव—भव में आगए—आ गया अप्पणो—अपने य—और परेसिं—पर के जन्म की आउ—आयु को जहा—जैसे है तहा—उसी प्रकार जाणे—जानता हूँ।

मूलार्थ—मैं महाप्राण विमान में अतिप्रकाशवान् और सौ वर्ष की उपमा वाला देव था, जो कि सौ वर्ष की यह देवसम्बन्धि स्थिति पल्योपम वा सागरोपम संज्ञा वाली है। अब मैं वहाँ से च्यवकर—ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य भव में आया हूँ तथा मैं अपनी और दूसरों की आयु को जैसे है, वैसे ही जानता हूँ।

टीका—इस गाथा युगल में राजर्षि ने अपने जातिस्मरण ज्ञान का परिचय देते हुए परलोक और आत्मा की भव-परम्परा के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। राजर्षि ने कहा कि हे मुने ! मैं ब्रह्मदेवलोक के महाप्राण विमान में देव था, तथा देवों की प्रभा से युक्त था। जैसे इस लोक में सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु मानी गई है उसी प्रकार मैं देवलोक में उत्कृष्ट आयु से युक्त था अर्थात् मेरी आयु दस सागर प्रमाण थी। इन देवलोकों में पल्योपम और सागरोपम संज्ञा वाली आयु बतलाई गई है इसलिए देव सम्बन्धि सौ वर्ष की उत्कृष्ट आयु का मान दस सागर प्रमाण होता है। शास्त्रों में पल्योपम और सागरोपम की व्याख्या इस प्रकार से की गई

है—एक योजन लंबा और एक योजन चौड़ा कूप, युगलियों के सूक्ष्म केशों से इस प्रकार भरा जावे कि एक बाल के असंख्यात खंड कल्पना करके उन खंडों से उस कूप को भरपूर करना चाहिये । फिर जब वह कूप भर जावे तो उसमें से सौ २ वर्ष के बाद एक २ खंड निकालते हुए जब वह कूप खाली हो जावे तब एक पल्योपम काल होता है । इसी की पालि संज्ञा है, इसी प्रकार जब दश कोटाकोटि कूप खाली हो जावें तो उसका एक सागरोपम काल होता है । इसी की महापालि संज्ञा है । फिर राजर्षि कहते हैं कि उस ब्रह्मलोक से च्यवकर अर्थात् अपनी देवसम्बन्धि आयु को समाप्त करके मैं इस मनुष्य जन्म को प्राप्त हुआ हूँ । इस विषय का मुझे जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा अनुभव हुआ है और इसी ज्ञान के द्वारा मैं अपनी तथा दूसरों की भव-परिस्थिति को भली भाँति जान सकता हूँ, इसलिए वादियों का जो परलोक—पुनर्जन्म के विषय में अविश्वास है वह सर्वथा अज्ञान-मूलक है । कारण कि जिस प्रकार मैं अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त को जानकर उस पर पूर्ण विश्वास करता हूँ उसी प्रकार दूसरों की जन्म परंपरा को भी मैं स्वीकार करता हूँ । अतः परलोक का अस्तित्व अबाधित है । तथा क्रिया काण्ड की सप्रयोजनता भी परलोक के अस्तित्व पर ही निर्भर है । अठाईसवीं गाथा में जो 'वरिससओवमा' 'वर्ष शतोपमाः' पद पढ़ा गया है उसमें मध्यम पद लोपी तत्पुरुष समास है । यथा—'वर्ष शत जीवित उपमा यस्य स वर्ष शतोपमाः' ।

क्षत्रिय राजर्षि अब साधु के कुछ विशेष कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए फिर कहते हैं—

नाणारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजओ ।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥३०॥

नानारुचिं च छन्दश्च, परिवर्जयेत् संयतः ।
अनर्था ये च सर्वार्थाः, इति विद्यामनुसंचरे ॥३०॥

पदार्थान्वय —नाणा—नाना प्रकार रुइ—रुचि च—और छन्द—अभिप्राय च—समुच्चय में परिवज्जेज्ज—छोड़ देवे संजओ—साधु अणट्ठा—हिंसादि अनर्थ जे—जो

य—पुनः सम्मत्या—सर्व क्षेत्रादि के विषय व्यापार इइ—इस प्रकार विज्ञाम्—सम्यक् ज्ञान अणु—अंगीकार करके संचरे—विचर ।

मूलार्थ—क्रियावादी प्रभृति लोगों की नाना प्रकार की रुचि और अभिप्राय का साधु सर्वथा त्याग कर देवे । तथा सर्व स्थानों में जो अनर्थकारी क्रियाएं हैं उन्हें भी छोड़ देवे । इस प्रकार सम्यग् ज्ञान को अंगीकार करके साधु विचरे अथवा तू विचर ।

टीका—इस गाथा में क्षत्रिय ऋषि ने सजय मुनि को उपदेश करने के ध्यान से सयमशील साधुमात्र के लिए बहुत ही मूल्य की बातें कही हैं । राजर्षि कहते हैं कि हे मुने ! इस ससार में जितने भी क्रियावादी प्रभृति मत हैं, उनकी नाना प्रकार की रुचि और भिन्न २ प्रकार के अभिप्राय हैं । उन सब को छोड़कर अर्थात् उन सब की उपेक्षा करके तू केवल संयम मार्ग में ही विचर ? क्योंकि इनमें कोई तो नास्तिक है और कोई आस्तिक है, तथा कोई क्रियावाद का स्थापक है और कोई उत्थापक है । अतः किसी की ओर भी तेरे को लक्ष्य नहीं देना चाहिए । तथा हिंसा आदि जो अनर्थ के कार्य हैं और सर्व प्रकार के जो गृह क्षेत्रादि विषयक व्यापार हैं, उन सब का परित्याग कर देना चाहिए । इस प्रकार सम्यग् ज्ञान को अगीकार करके तू केवल संयम मार्ग में ही विचरण कर । तात्पर्य कि इन वादियों के सम्पर्क से संयम से विचलित होने की आशका रहती है, इसलिए इन की बातों को सुनना अनावश्यक ही नहीं अपितु अनर्थकारी भी है ।

इसके अनन्तर राजर्षि फिर कहते हैं कि—

पडिक्कमामि पसिणाणं, परमंतेहिं वा पुणो ।
अहो उट्ठिओ अहोरायं, इइ विज्जा तवं चरे ॥३१॥

प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्यः, परमन्त्रेभ्यो वा पुनः ।
अहो उत्थितोऽहोरात्रम्, इति विद्वान् तपश्चरेत् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—पडिक्कमामि—निवृत्त हो गया हूँ पसिणाण—प्रश्नों से परमंतेहिं—तथा गृहों के कार्यों से वा—समुच्चय अर्थ में है पुणो—फिर अहो—विस्मय

मूलार्थ—हे मुने ! धीर पुरुष क्रिया में रुचि करे और अक्रिया का परित्याग कर देवे । तथा सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर धर्म का आचरण करे जो कि अति दुष्कर है । अथवा तू धर्म का आचरण कर ।

टीका—क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे मुने ! जो धीर पुरुष होते हैं उनकी रुचि क्रियावाद अर्थात् आस्तिकता में ही होती है, किन्तु अक्रिया-नास्तिकता की ओर उनका ध्यान बिलकुल नहीं होता । अतः सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न होकर बुद्धिमान् पुरुष को सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिए । यहां पर इस विचार को अवश्य ध्यान मे रखना कि सम्यग्दर्शनसम्पन्न पुरुष ही धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो सकता है, और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सब से प्रथम अन्तरात्मा में आस्तिकता के भाव पैदा करने की नितान्त आवश्यकता है । इसी दृष्टि को लेकर क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि तुम सम्यग् दृष्टि से दृष्टि-सम्पन्न—ज्ञान-सम्पन्न होकर केवल धर्म का ही आचरण करो क्योंकि धर्म का आचरण अति दुष्कर है ।

अब प्रस्तुत विषय में कतिपय महापुरुषों के उदाहरण देते हैं—

एयं पुण्णपयं सुच्चा, अत्थधम्मोवसोहियं ।
भरहो वि भारहं वासं, चिच्चा कामाइ पव्वए ॥३४॥

एतत् पुण्यपदं श्रुत्वा, अर्थधर्मोपशोभितम् ।
भरतोऽपि भारतं वर्षं, त्यक्त्वा कामान् प्राव्राजीत् ॥३४॥

पदार्थान्वय—एयं-यह पुण्णपयं-पुण्यपद सुच्चा-सुनकर अत्थ-अर्थ धम्म-धर्म से जो उवसोहियं-उपशोभित भरहो वि-भरत भी भारहं वासं-भारतवर्ष को चिच्चा-छोड़कर तथा कामाइ-कामभोगों को छोड़कर पव्वए-दीक्षित हो गया ।

मूलार्थ—इस अनन्तरोक्त पुण्यपद को सुनकर—जो कि अर्थ और धर्म से उपशोभित है—महाराजा भरत भी भारतवर्ष और कामभोगों को छोड़कर दीक्षित हो गए ।

टीका—मुमुक्षु पुरुषों को धर्म में दृढ़ बनाने के लिए, क्षत्रिय ऋषि संजय मुनि से कहते हैं कि इस अवसर्पिणी काल में होने वाले प्रथम चक्रवर्ती भरत

राजा, इस अनन्तरोक्त पुण्य पद का श्रवण करके—जो कि अर्थ—स्वर्गादि और उसके उपायभूत धर्म से उपशोभित है [ऐसे पुण्यपद को सुनकर] परम रमणीय भारतवर्ष और कामभोगादि पदार्थों का परित्याग करके प्रव्रजित हो गये—दीक्षित हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि वह उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हो गये और उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रख्यात हुआ। यह सम्राट् भगवान् श्री ऋषभदेव के पुत्र थे, इनकी दिग्विजय का सविस्तर वर्णन श्री जम्बूप्रज्ञप्ति सूत्र के भारताख्यापक प्रकरण में है। तथा उत्तराध्ययन की टीकाओं में से भी इसका सविस्तर वर्णन देख लेना चाहिए।

अब दूसरे चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं—

सगरोऽवि सागरन्तं, भारहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा, दयाए परिनिव्वुडे ॥३५॥

सगरोऽपि सागरान्तं, भारतवर्षं नराधिपः।
ऐश्वर्यं केवलं त्यक्त्वा, दयया परिनिर्वृतः ॥३५॥

पदार्थान्वयः—सगरोऽवि—महाराज सगर भी सागरन्त—समुद्रपर्यन्त इस्सरिय—ऐश्वर्य केवल—सम्पूर्ण हिच्चा—छोड़कर दयाए—दया से परिनिव्वुडे—निर्वृति को प्राप्त हुआ नराहिवो—नरों का अधिपति।

मूलार्थ—महाराजा सगर भी भारतवर्ष के सागर पर्यन्त ऐश्वर्य का परित्याग करके, दया से, परम निवृत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त हुए।

टीका—इसी प्रकार सगर नाम के दूसरे चक्रवर्ती राजा भी सागर पर्यन्त पृथिवी—जो कि भारतवर्ष की तीन दिशाओं की सीमा है और चतुर्थी दिशा में क्षुद्र (क्षुल्लक) हैमवन्त पर्वत है—के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को छोड़कर संयमाराधन के द्वारा आठों कर्मों का क्षय करके मोक्ष को चले गए। कहते हैं कि इस सम्राट् के ६० हज़ार पुत्र गंगा के लाने में संहार को प्राप्त हुए थे, उनके वियोग में उन्होंने संसार सागर से पार करने वाली जिस दीक्षा को ग्रहण किया जिसके प्रभाव से वह चारों कषायों का समूल घात करके परम कल्याणस्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त हो गये। इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती पद को प्राप्त करने

पर भी मनुष्य को संयोग वियोग रूप कर्मों के रस का अनुभव करना पड़ता है सामान्य मनुष्य की तो गणना ही क्या है ? इसलिए विचारशील पुरुष को कर्मबन्धन से मुक्त होने का ही प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि—व्याख्याप्रज्ञप्ति में लिखा है कि—'दुक्खीणभते दुक्खेण फुडे' इत्यादि—अर्थात् कर्मविशिष्ट जीवों को ही दुःख होता है इत्यादि ।

अथ तृतीय चक्रवर्ती के नाम का प्रस्तुत विषय में उल्लेख करते हैं—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
पव्वज्जमब्भुवगओ, मघवं नाम महाजसो ॥३६॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः ।
प्रव्रज्यामभ्युपगतः, मघवा नाम महायशाः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—चइत्ता–छोड़कर भारहं वासं–भारतवर्ष को चक्कवट्टी–चक्रवर्ती महड्ढिओ–महाऋद्धि वाला पव्वज्जम्–दीक्षा को अब्भुवगओ–प्राप्त हुआ मघवं नाम–मघवा नाम वाला और महाजसो–महान् यश वाला ।

मूलार्थ—महान् यश और महा समृद्धि वाला मघवा नाम का चक्रवर्ती भारतवर्ष को छोड़कर प्रव्रजित हो गया अर्थात् उसने अपने महान् राज्य-वैभव को छोड़कर दीक्षा अंगीकार कर ली ।

टीका—इस गाथा में तीसरे चक्रवर्ती के राजत्याग का वर्णन है । महान् यशस्वी और महान समृद्धिशाली मघवा नाम के चक्रवर्ती इन सांसारिक विषय-भोगों को छोड़कर दीक्षित हो गये । तात्पर्य कि इनको दुःख और घोर कर्मबन्ध का कारण समझ कर इनका त्याग करके मोक्ष की साधनभूत जो प्रव्रज्या है उसको उन्होंने स्वीकार किया ।

अथ चतुर्थ चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं—

सणंकुमारो मणुस्सिन्दो, चक्कवट्टी महड्ढिओ ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ता णं, सोऽवि राया तवं चरे ॥३७॥

सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा, सोऽपि राजा तपोऽचरत् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—सणक्कुमारो–सनत्कुमार मणुस्सिन्दो मनुष्यों का राजा चक्कवट्टी–चक्रवर्ती महड्ढिओ–महती ऋद्धि वाला रज्जे–राज्य में पुत्तं–पुत्र को ठविया–स्थापन करके सोऽवि–वह भी राया–राजा तव–तप को चरे–आचरण करने लगा।

मूलार्थ—वह महासमृद्धिशाली सम्राट् सनत्कुमार भी पुत्र को राज्य में स्थापन करके तप का आचरण करने लगा।

टीका—कहते हैं कि चक्रवर्ती सनत्कुमार का रूप लावण्य बहुत ही अद्भुत था। शक्रेन्द्र ने भी इनके रूप की प्रशंसा की थी। अन्य देवता लोग इन्द्र महाराज के उक्त कथन में विश्वास न रखते हुए, इस लोक में वृद्ध ब्राह्मणों का रूप धारण करके उक्त चक्रवर्ती के दर्शन करने को आये। परन्तु चक्रवर्ती को अपने रूप का कुछ विशेष गर्व हो गया। उन्होंने दर्शनार्थ आये हुए देव-विप्रों से कहा कि आपने मेरे दर्शन राजसभा में करने, अभी तो मैं स्नानागार में हूँ। उन्होंने (देवों ने) इस बात को स्वीकार किया। स्नानादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर जब वह सम्राट् अपने सिंहासन पर आकर बैठे और उन देव-ब्राह्मणों को बुलाया तब पूर्वोक्त अशुभ कर्मों के प्रभाव से चक्रवर्ती को १६ रोग उत्पन्न हुए। शरीर की इस दशा पर विचार करते हुए वे संसार के सारे वैभव को छोड़कर दीक्षित हो गए और अन्त में सारे कर्मों का समूल घात करके मोक्ष को प्राप्त हुए।

अब पाँचवें चक्रवर्ती का वर्णन करते हैं—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरो लोए, पत्तो गइमणुत्तरं ॥३८॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
शान्तिः शान्तिकरो लोके, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥३८॥

पदार्थान्वयः—चइत्ता–छोड़कर भारहं वासं–भारतवर्ष को चक्कवट्टी–

चक्कवट्टी महड्ढिओ—महती समृद्धि वाला सन्ती—शांतिनाथ सन्तिकरो—शान्ति के देने वाला लोए—लोक में अणुत्तरं—प्रधान गइं—गति को पत्तो—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—शान्ति के देने वाले शान्तिनाथ नामा महासमृद्धिशाली चक्रवर्ती इस लोक में भारतवर्ष को छोड़कर अर्थात् अति रमणीय कामभोगों का परित्याग करके प्रधान गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

टीका—इस गाथा में शांतिनाथ नाम के पाँचवें चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थंकर देव का उल्लेख है। श्री शांतिनाथ भगवान् भी भारतवर्ष को छोड़कर और अपनी चक्रवर्ती की लोकोत्तर समृद्धि का त्याग करके संयम का आराधन करते हुए मुक्त हो गए। इनका संक्षिप्त जीवन इस प्रकार है—श्री शांतिनाथ भगवान् के जीव ने मेघरथ नामक राजा के भव में एक कपोत की रक्षा की थी और फिर दीक्षित होकर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया था। वहाँ से अपनी आयु की स्थिति को पूर्ण करके वे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में जाकर उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यव कर वे विश्वसेन राजा की अचिरा नाम की पट्टराणी की कुक्षि से उत्पन्न हुए। उस समय कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर और देश में अपस्मार मृगी का भयंकर रोग व्याप्त हो रहा था, श्री शांतिनाथ भगवान् के जीव के गर्भ में आने पर एकदा भगवान् की माता प्रासाद पर खड़ी होकर नगर की ओर देख रही थीं तब उनके शरीर से स्पर्शित होकर जो वायु उस देश व नगर को गई उसके प्रभाव से उस नगर और देश का वह रोग जाता रहा। इस कारण से महाराजा विश्वसेन ने जन्म के पश्चात् भगवान का 'श्री शान्तिनाथ' यह नामकरण किया। फिर वे चक्रवर्ती की पदवी को भोगकर तीर्थंकर देव हुए और मोक्ष को गए।

अब छठे चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं—

इक्खागुरायवसभो , कुन्थू नाम नरेसरो।
विक्खायकित्ती धिइमं, मुक्खं गओ अणुत्तरं ॥३९॥

इक्ष्वाकुराजवृषभः , कुन्थुनामा नरेश्वरः।
विख्यातकीर्तिर्धृतिमान् , मोक्षं गतोऽनुत्तरम् ॥३९॥

पदार्थान्वयः—इक्खागु—इक्ष्वाकु राय—राज्य-वंश—में वसभो—वृषभ के समान कुन्थू नाम—कुन्थु नाम वाले नरेसरो—नरेश्वर विक्खायकित्ती—विख्यातकीर्ति धिइम—धृतिमान् मुक्खं—मोक्ष को गओ—प्राप्त हुए अणुत्तरं—जो प्रधान है।

मूलार्थ—इक्ष्वाकु वंश में वृषभ के समान, विख्यात कीर्ति वाले भगवान् कुंथुनाथ छठे चक्रवर्ती—संयम का आराधन करके—मोक्षरूप प्रधान गति को प्राप्त हुए।

टीका—इस गाथा में छठे चक्रवर्ती और अठारहवें तीर्थंकर भगवान् कुंथुनाथ का उल्लेख किया गया है। भगवान् कुंथुनाथ इक्ष्वाकु वंश में वृषभ के समान अर्थात् सर्वोत्तम महापुरुष हुए हैं। ये अपनी दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और चक्रवर्ती की पदवी से अलंकृत होते हुए तीर्थंकर पद को प्राप्त करके सर्वप्रधान मोक्ष गति को प्राप्त हुए। सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध का पाठ इस प्रकार माना है—'विक्खायकित्ति भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं'—विख्यातकीर्तिर्भगवान्, प्राप्तो गतिमनुत्तराम्'। तथा अन्य वृत्तिकारों को भी यही पाठ अभिमत है, परन्तु बृहद्वृत्ति के कर्ता को तो ऊपर का पाठ ही स्वीकृत है। अस्तु, दोनों ही पाठों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अब सातवें चक्रवर्ती के सम्बन्ध में कहते हैं—

सागरन्तं जहित्ता णं, भरहवासं नरेसरो।
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४०॥

सागरान्तं त्यक्त्वा, भारतवर्षं नरेश्वरः।
अरश्चारजः[1] प्राप्तो, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४०॥

पदार्थान्वयः—सागरन्तं—सागरपर्यन्त पृथिवी को जहित्ता—छोड़कर और भरहवासं—भारतवर्ष को नरेसरो—नरेश्वर य—पुनः अरो—अरनामा चक्रवर्ती अरयं—विषय-विकार को त्यागकर अथवा अरत होकर—कर्मरज से रहित होकर पत्तो—प्राप्त हो गया अणुत्तरं—प्रधान गइं—गति को णं—वाक्यालंकार में।

---

1 'अरयं' ति—रतस्य रजसो वाऽभावस्तमरतमरजो वा पाठान्तरतोऽरसं वा शृंगारादि रसाभावमिति वृत्तिकारः।

मूलार्थ—नरेश्वर अरनामा चक्रवर्ती, सागर पर्यन्त पृथिवी और भारतवर्ष को छोड़कर विषय विकार से रहित होकर—अथवा कर्मरज से रहित होकर मोक्षगति को प्राप्त हो गया।

टीका—सातवें चक्रवर्ती अरनाथ के नाम से प्रसिद्ध थे। वे चक्रवर्ती की पदवी को भोगकर समुद्रपर्यन्त पृथिवी के साम्राज्य का परित्याग करके तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हुए सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त हुए। तात्पर्य कि विषय कषायों से सर्वथा मुक्त होकर केवलज्ञान को प्राप्त करके ससार में धर्म का शासन चलाते हुए परम कल्याणरूप निर्वाणपद को प्राप्त हुए। ये तीर्थंकरों में उन्नीसवें तीर्थंकर और चक्रवर्तियों में सातवें चक्रवर्ती हुए हैं। इसलिये ये उक्त दोनों ही शुभ नामों से स्मरण किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा के पूर्वार्द्ध को अन्यवृत्तिकारों ने इस प्रकार पढ़ा है यथा—'सागरंत चइत्ताण भरहं नरवरीसरो'।

अब नवमें चक्रवर्ती के सम्बन्ध में कहते हैं यथा—

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ।
चिच्चा य उत्तमे भोए, महापउमे तवं चरे ॥४१॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं, चक्रवर्ती महर्द्धिकः।
त्यक्त्वा च उत्तमान् भोगान्, महापद्मस्तपोऽचरत् ॥४१॥

पदार्थान्वय—चइत्ता—छोड़कर भारहं वासं—भारतवर्ष को चक्कवट्टी—चक्रवर्ती महड्ढिओ—महती ऋद्धि वाला य—फिर चिच्चा—छोड़कर उत्तमे—उत्तम भोए—भोगों को महापउमो—महापद्म तवं—तपश्चर्या चरे—आचरता हुआ।

मूलार्थ—भारतवर्ष के राज्य को छोड़कर महती समृद्धि वाला, महापद्म नामक चक्रवर्ती, उत्तम भोगों का परित्याग करके तप का आचरण करता हुआ मुक्त हो गया।

टीका—यद्यपि सातवें चक्रवर्ती के पश्चात् अनुक्रम से आठवें चक्रवर्ती का वर्णन आना चाहिये था, परन्तु संभूत नामा आठवें चक्रवर्ती का वर्णन इसलिए छोड़ दिया गया है कि वह संसार से विरक्त नहीं हुआ किन्तु ससार के विषयभोगों में

अत्यन्त आसक्त होने के कारण घोर कर्मों के उपार्जन से वह सातवें नरक में गया। प्रस्तुत प्रकरण में प्रायः मोक्षगामी आत्माओं के अधिकार का वर्णन अभिप्रेत होने से उसका उल्लेख नहीं किया गया। तथा पद्म नामा नवमा चक्रवर्ती, विष्णुकुमार के प्रयोग से मारे गए नमुचि से भयभीत होकर भारतवर्ष के उत्तमप्रास और लोकोत्तर—भोगों का परित्याग करके तप के आचरण में प्रवृत्त हो गया, जिस कारण वह समस्त कर्मों के बन्धन को तोड़कर सर्वप्रधान मोक्ष पद को प्राप्त हुआ। तात्पर्य कि, नमुचि महानास्तिक था। उसने जैनधर्मानुयायियों को अपने राज्य से बाहिर निकल जाने का आदेश कर रक्खा था। उस समय श्रीविष्णुकुमार ने ही नमुचि से श्रीसंघ को निर्भय किया था अर्थात् नमुचि को मारकर उसके उपद्रवों से श्रीसंघ को बचाया था। महापद्म चक्रवर्ती भी विष्णुकुमार के उसी प्रयोग से दीक्षित होकर तपश्चर्या में प्रवृत्त होते हुए अन्त में मुक्त हो गए। इसका विस्तृत वर्णन देखना हो तो अन्य वृत्तियों में से देख लेना। तथा कई एक वृत्तिकारों ने उक्त गाथा का उत्तरार्द्ध इस प्रकार दिया है—'चइत्ता उत्तमे भोए, महापउमो तवं चरे।

अब दशवें चक्रवर्ती का वर्णन करते हैं—

एगच्छत्तं पसाहित्ता, महिं माणनिसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४२॥

एकच्छत्रां प्रसाध्य, महीं माननिषूदन।
हरिषेणो, मनुष्येन्द्र, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४२॥

पदार्थान्वय —एगच्छत्त—एक छत्र महिं—पृथिवी को पसाहित्ता—वश करके माणनिसूरणो—वैरियों के मान का विनाश करने वाला हरिसेणो—हरिषेण मणुस्सिन्दो—मनुष्यों का इन्द्र—राजा अणुत्तर—प्रधान गइं—गति को पत्तो—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—वैरियों के मान का मर्दन करने वाला और पृथिवी पर एकच्छत्र राज्य करके हरिषेण नामा चक्रवर्ती अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुआ।

टीका—हरिषेण नामा चक्रवर्ती ने प्रथम छः खण्ड पृथिवी का साधन किया। उसमें अहंकार युक्त जितने भी राजा थे उन सबका मान-मर्दन करके समस्त भारतवर्ष

में एकच्छत्र राज्य स्थापन किया। इसके अनन्तर उस भाग्यवान् ने अपने समस्त राज्यवैभव का परित्याग करके तप और सयम का आराधन करते हुए मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। एकच्छत्र कहने का तात्पर्य यह है कि ३२ हजार देश के राजे उनकी आज्ञा का पालन करते थे, उनमें जो अहकार युक्त थे उनका अहकार भी जाता रहा। इस प्रकार की समृद्धि के होने पर भी उन्होंने इस ससार का परित्याग करके जिनदीक्षा धारण की और तप सयम के आराधन से मोक्ष को प्राप्त किया। सूत्र में आये हुए 'अनुत्तरगति' शब्द से मोक्ष ही अभिप्रेत है, क्योंकि मोक्षगति से प्रधान अन्य कोई गति नहीं। इसी अभिप्राय से बार २ अनुत्तर गति शब्द का प्रयोग किया गया है।

अब ग्यारहवें चक्रवर्ती के विषय में कहते हैं—

अन्निओ रायसहस्सेहिं, सुपरिच्चाई दमं चरे।
जयनामो जिणक्खायं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४३॥
अन्वितो राजसहस्रैः, सुपरित्यागी दममचारीत्।
जयनामा जिनाख्यातां, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४३॥

पदार्थान्वय—रायसहस्सेहिं–हजारों राजाओं से अन्निओ–युक्त सुपरिच्चाई–भली प्रकार से ससार को छोड़कर दम–इन्द्रियदमन चरे–करके जयनामो–जय नामा चक्रवर्ती जिणक्खाय–जिनेन्द्रदेव की कही हुई अणुत्तर–प्रधान गइ–गति को पत्तो–प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—जय नामा चक्रवर्ती, हजारों राजाओं से युक्त और सम्यक् प्रकार से राज्यादि वैभव का परित्याग करने वाला सयम धर्म का आचरण करके जिनभाषित सर्वप्रधान मोक्षगति को प्राप्त हुआ।

टीका—जय नाम से विख्यात ग्यारहवें चक्रवर्ती ने हजारों राजाओं के साथ ससार के विनाशशील विषयभोगों का परित्याग करके तप के अनुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि करते हुए अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त किया। इस कथन का तात्पर्य यह है कि ससार के विषयभोगों को तुच्छ समझकर उनसे अपने मन को हटाकर केवल परम कल्याणरूप और विनाश रहित जो मोक्षपद है उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक विचारशील पुरुष

को उद्यत रहना चाहिए। यही उसका परम ध्येय है। यहां पर वृत्तिकारों ने 'चरे' के दो प्रतिरूप दिये हैं। एक 'अचारीत्' दूसरा 'चरित्वा' अर्थात् एक लुङ् का दूसरा 'क्त्वा' का प्रयोग है। इसमें पाठकों को जैसा अर्थ करना अभीष्ट हो वैसे ही वे प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि तात्पर्य में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

इस प्रकार दश चक्रवर्ती राजाओं का उदाहरण देने के अनन्तर अब एक दर्पयुक्त राजा का उदाहरण देते हैं—

दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ता णं मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो, सक्खं सक्केण चोइओ ॥४४॥

दशार्णराज्य मुदित, त्यक्त्वा मुनिरचरत्।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्त', साक्षाच्छक्रेण चोदित' ॥४४॥

पदार्थान्वयः—दसण्ण—दशार्ण देश का रज्जं—राज्य मुइयं—प्रमोद वाला—उसको चइत्ता—छोड़कर मुणी—मुनिवृत्ति में चरे—विचरता हुआ दसण्णभद्दो—दशार्णभद्र राजा निक्खन्तो—धर्म के लिए संसार से निकला सक्खं—साक्षात् सक्केण—शक्रेन्द्र के द्वारा चोइओ—प्रेरित किया हुआ।

मूलार्थ—दशार्ण देश के प्रमोदयुक्त राज्य को छोड़कर, दशार्णभद्र नामा राजा साक्षात् इन्द्र के द्वारा प्रेरित किया गया धर्म के लिए संसार से निकला। अर्थात् प्रमोदपूर्ण राज्यवैभव को त्याग कर धर्म में दीक्षित हो गया।

टीका—एक समय पर महाराजा दशार्णभद्र की राजधानी में बाहर के किसी उद्यान में भगवान् महावीर स्वामी पधारे, तब उनको वन्दनार्थ जाने का विचार करते हुए उक्त राजा के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं आज इस प्रकार के समारोह के साथ जाकर भगवान् को वन्दना करूँ कि जिस प्रकार से आज तक किसी ने न की हो। तदनुसार महाराजा दशार्णभद्र, बड़े समारोह से अपनी चतुरंगिणी सेना को साथ लेकर बड़े अभिमान से भगवान् के दर्शन को प्रस्थित हुए। अर्थात् चल पड़े। इधर शक्रेन्द्र ने भी राजा दशार्णभद्र के भावों को उपयोग देकर अपने ज्ञान में देखा और विचारा कि भगवान् तो इन्द्रादि देवों के भी पूज्य हैं तो फिर इसने

अपनी समृद्धि का व्यर्थ ही अभिमान क्यों किया। अस्तु, मैं आज इसके अभिमान को चूर करूंगा। तब शक्र ने वैक्रिय लब्धि के द्वारा अनेकानेक हस्तियों पर अनेक प्रकार की रचनायें करके राजा को व्यामोहित कर दिया। परन्तु इधर महाराजा दशार्णभद्र भी बड़ा ही दृढ़प्रतिज्ञ था। उसने भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। तब इन्द्र ने उनके चरणों में वन्दना की और अपने अपराध की क्षमा मांगी। इधर तप और संयम का भली भाँति आराधन करते हुए दशार्णभद्र मुनि मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार से दशार्णदेश के राज्य को छोड़कर इन्द्र द्वारा प्रेरित किये जाने पर महाराजा दशार्णभद्र दीक्षित हुए।

अब प्रत्येकबुद्धों के विषय में कहते हैं—

नमी नमेइ अप्पाणं, सक्खं सक्केण चोइओ।
जहित्ता रज्जं वइदेही, सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥४५॥

नमिर्नामयत्यात्मानं , साक्षाच्छक्रेण चोदितः।
त्यक्त्वा राज्यं वैदेही, श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥४५॥

पदार्थान्वय—नमी—नमि राजा ने अप्पाणं—आत्मा को नमेइ—नम्र किया सक्खं—प्रत्यक्ष सक्केण—शक्र के द्वारा चोइओ—प्रेरित किये जाने पर जहित्ता—छोड़कर वइदेही—विदेह देश के रज्जं—राज्य को सामण्णे—श्रमण भाव में—संयम भाव में पज्जुवट्ठिओ—सावधान हुआ।

मूलार्थ—नमि राजा ने इन्द्र के द्वारा प्रत्यक्षरूप से प्रेरित किये जाने पर विदेह देश के राज्य का परित्याग करके संयमवृत्ति को धारण किया और अन्त में वह मोक्ष को गए।

टीका—इस गाथा में नमिराजर्षि का उल्लेख किया है। इसका सम्पूर्ण वृत्तान्त अर्थात् अन्तःपुर में होने वाले कंकणों के शब्दों को सुनकर वैराग्य उत्पन्न होना तथा जातिस्मरण ज्ञान के अनन्तर दीक्षा के लिए तैयार होने पर ब्राह्मण के वेष में आकर इन्द्र का सम्भाषण करना इत्यादि समस्त वर्णन प्रस्तुत सूत्र के नवमें अध्ययन में आ चुका है। राजर्षि नमि भी अपने समय के सम्राट् समूह में मुख्य थे। इन्होंने सांसारिक

वैभव को छोड़कर संयमवृत्ति को धारण किया और आत्मलिप्त कर्ममल को धोकर कैवल्य-प्राप्ति द्वारा मोक्षस्थान को अलंकृत किया। तथा अन्य प्रतियों में, प्रस्तुत गाथा के तृतीय पाद के—'जहित्तारज्ज' के स्थान पर—'चइऊणगेह' ऐसा पाठ देखने में आता है और वर्तमान में प्राय यही पाठ पढ़ने में आता है।

अथ प्रसंगवशात् चारों प्रत्येकबुद्धों के विषय में कहते हैं—

करकण्डू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु, गन्धारेसु य नग्गई ॥४६॥

करकण्डुः कलिंगेषु, पंचालेषु च द्विमुखः।
नमी राजा विदेहेषु, गन्धारेषु च निर्गति ॥४६॥

पदार्थान्वय —करकडू—करकडु राजा कलिंगेसु—कलिङ्गदेश में हुआ य—और पचालेसु—पचाल देश में दुम्मुहो—द्विर्मुख राजा हुआ नमी राया—नमि राजा विदेहेसु—विदेह देश में य—और गधारेसु—गन्धार देश में नग्गई—नग्गति—निर्गति राजा हुआ।

मूलार्थ—कलिंगदेश में करकडु, पचालदेश में द्विर्मुख, विदेहदेश में नमि और गन्धारदेश में नग्गति नाम का राजा हुआ। [ये सब राजे राजपाट को छोड़कर जैनधर्म में दीक्षित हुए] और संयम को पालकर मोक्ष को गये।

टीका—इस गाथा में चारों प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख किया गया है। इनमें कलिंगदेश के करकंडू को वृद्धवृषभ के दर्शन से वैराग्य उत्पन्न हुआ, पचालदेश के द्विर्मुख को इन्द्रस्तम्भ के देखने से वैराग्य हुआ तथा नमि राजा ने चूड़ियों के शब्दों को सुनकर संसार का परित्याग कर दिया और गन्धार देश के नग्गति राजा आम्रवृक्ष को देखकर वैराग्यवश दीक्षित हो गए। इस प्रकार ये चारों ही प्रत्येकबुद्ध संयमवृत्ति में आरूढ़ होते हुए अन्त में मोक्ष को गये। इनके विषय का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रस्तुत सूत्र की बड़ी टीकाओं में से देख लेना। तथा उक्त गाथा में दिया हुआ सप्तमी का बहुवचन एक वचन के स्थान पर समझना। परन्तु बृहद् वृत्तिकार ने उक्त गाथा के पाठ को इस प्रकार से स्वीकार किया है यथा—'करकडू कलिंगाण, पंचालाणं य दुम्मुहो। णमि राया विदेहाणं, गंधाराण य नग्गई॥' यहाँ पर सभी पद षष्ठ्यन्त दिखलाए हैं।

इसके अतिरिक्त बृहद्वृत्ति में ४५वीं गाथा को प्रक्षिप्त कहा है क्योंकि उसके भाव का वर्णन नवमें अध्ययन में स्पष्ट और विस्ताररूप से आ चुका है।

अब इनके विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एए नरिन्दवसभा, निक्खंता जिणसासणे।
पुत्ते रज्जे ठवित्ता णं, सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥४७॥

एते नरेन्द्रवृषभाः, निष्क्रान्ता जिनशासने।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा, श्रामण्ये पर्युपस्थिताः ॥४७॥

पदार्थान्वय—एए-ये सब नरिंदवसभा-नरेन्द्रों में वृषभ के समान निक्खंता-संसार को छोड़कर दीक्षित हुए जिणसासणे-जिनशासन में पुत्त-पुत्रों को रज्जे-राज्य में ठवित्ता-स्थापन करके सामण्णे-श्रमणता मे पज्जुवट्ठिया-सावधान हुए णं-वाक्यालंकार में।

मूलार्थ—नरेन्द्रों में वृषभ के समान—[श्रेष्ठ] ये सब राजे संसार को छोड़कर जिनशासन मे दीक्षित हुए, और पुत्रों को राज्य का भार सौंपकर स्वयं श्रमणवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करके मोक्ष को गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वैराग्य होने के पश्चात् विचारशील पुरुष को क्या करना चाहिए इस बात का दिग्दर्शन नमि आदि राजाओं के उदाहरण द्वारा कराया गया है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य होने के अनन्तर जिस प्रकार इन्होंने अपने २ राज्य पर पुत्रों को स्थापन करके श्रमणवृत्ति को स्वीकार करके आत्मशुद्धि के द्वारा कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया उसी प्रकार प्रत्येक मुमुक्षुपुरुष को चाहिए कि वह वैराग्य होने पर अपनी सांसारिक विभूति को अपने किसी उत्तराधिकारी के सुपुर्द करके स्वयं साधुवृत्ति का अनुसरण करता हुआ सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्ग का ही पथिक बनने का प्रयत्न करे।

इस प्रकार इन चारों प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख करके अब सिंधु सौवीर के अधिपति महाराजा उदायन के विषय में कहते हैं—

सोवीररायवसभो, चइत्ता णं मुणी चरे।
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४८॥

सोवीररायवसभो, चइत्ता मुणी चरे।
उद्दायणो पव्वइओ, पत्तो गइमणुत्तरं ॥४८॥

सौवीरराजवृषभाः , त्यक्त्वा मुनिरचरत्।
उदायनः प्रव्रजितः, प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥४८॥

पदार्थान्वय —सोवीररायवसभो—सिन्धु सौवीर देश का, राजवृषभ, राजाओं में श्रेष्ठ—चइत्ता—राज्य को छोड़कर मुणी—मुनिवृत्ति में चरे—विचरता हुआ उद्दायणो—उदायन राजा पव्वइओ—प्रव्रजित होकर अणुत्तर—प्रधान गइं—गति को पत्तो—प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—सौवीर देश का राजवृषभ महाराजा उदायन अपने राज्यवैभव को त्यागकर और प्रव्रजित होकर मुनिवृत्ति में आरूढ़ होता हुआ सर्व श्रेष्ठ मोक्षगति को प्राप्त हो गया।

टीका—सिन्धु सौवीर देश का राजा उदायन, जो कि उस समय के राजाओं में वृषभ के समान था, अपने राज्यपाट को छोड़कर जिनधर्म में दीक्षित हो गया। तात्पर्य यह है कि संसार से विरक्त होकर मुनिवृत्ति का आचरण करता हुआ ज्ञान और चरित्र-सम्पन्न होकर मोक्षगति को प्राप्त हुआ। उदायन राजा भगवान् महावीर स्वामी का परम भक्त और तत्कालीन राजाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वीतभयपत्तन में इसकी राजधानी थी। एक समय भगवान् महावीर स्वामी, विचरते हुए इसकी राजधानी के बाहर एक उद्यान में पधारे। भगवान् के आने का समाचार पाते ही, उदायन नृपति बड़ी श्रद्धा से भगवान् के दर्शन को गया और वहां पर उनके उपदेशामृत का पान करने से उसको वैराग्य हो गया। तदनुसार राज्य को पाप का हेतु समझकर उसने पुत्र को राज्य न देकर अपने भागनेय—भाणजा—को राजगद्दी पर बिठलाकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करली और शुद्ध चरित्र का पालन करके मोक्ष को प्राप्त किया।

अब बलदेव आदि के सम्बन्ध में कहते हैं—

तहेव कासिरायावि, सेओ सच्चपरक्कमो।
कामभोगे परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥४९॥

तथैव काशिराजोऽपि, श्रेयःसत्यपराक्रमः।
कामभोगान् परित्यज्य, प्राहन् कर्ममहावनम् ॥४९॥

पदार्थान्वयः—तहेव—उसी प्रकार कासिरायावि—काशिराज भी सेओ—श्रेष्ठ सच्च—संयम में परक्कमो—पराक्रम करने वाला कामभोगे—कामभोगों को परिच्चज्ज—सर्व प्रकार से छोड़कर पहणे—हनता हुआ कम्ममहावणं—कर्मरूप महा वन को।

मूलार्थ—उसी प्रकार काशिराज भी पवित्र संयम में पराक्रम करता हुआ कामभोगों को त्यागकर कर्म रूप महा वन का विनाश करने वाला हुआ अर्थात् कर्मों का विनाश करके मोक्ष को प्राप्त हुआ।

टीका—इस गाथा में नन्दन नाम के सातवें बलदेव का इतिहास वर्णन किया है। काशी नगरी में अग्निशिख नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी जयंती नाम की एक महारानी थी। उसकी कुक्षि से नन्दन नामा सातवा बलदेव उत्पन्न हुआ। वह अपने छोटे भाई वासुदेव के साथ कितना एक समय राज्य का सुख भोग, और दक्षिणार्द्ध भारत का राज्य करके फिर दीक्षित हो गया। दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर उसने अति प्रचण्ड तप का अनुष्ठान करके कर्मरूप महा वन को जला डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्षगति को प्राप्त हुआ। प्रस्तुत गाथा में इसी भाव को व्यक्त किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो प्राणी, तप और संयम के अनुष्ठान में पराक्रम करते हैं, और कामभोगों से सर्वथा विमुख हो जाते हैं वही पवित्रात्मा कर्मरूप महा वन को जड़ से उखाड़ कर परे फैंकने में समर्थ होते हैं, जैसे कि नन्दन नामा सातवें बलदेव ने कर्मरूप महा वन का समूल घात करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

अब दूसरे बलदेव के विषय में कहते हैं—

तहेव विजओ राया, अणट्ठाकित्ति पव्वए।
रज्जं तु गुणसमिद्धं, पयहित्तु महायसो ॥५०॥

तथैव विजयो राजा, आनष्टाकीर्तिः प्राव्राजीत्।
राज्यं गुणसमृद्धं, प्रहाय महायशाः ॥५०॥

पदार्थान्वयः—तहेव—उसी प्रकार विजओराया—विजय राजा अणट्ठाकित्ति—जिसकी अकीर्ति सर्व प्रकार से नष्ट हो चुकी है पव्वए—दीक्षित हो गया रज्जं—राज्य

को तु—जो गुणसमिद्ध—सर्व गुणों से युक्त था उसको पयहित्तु—छोड़कर महायसो—महान् यश वाला ।

मूलार्थ—उसी प्रकार से उत्तमकीर्ति और महान् यश वाला विजय नामा राजा भी सर्व-गुण-सम्पन्न राज्य को छोड़कर प्रव्रजित हो गया अर्थात् राज्य को छोड़कर संयम ग्रहण करके केवलज्ञान को प्राप्त करता हुआ मुक्त हो गया ।

टीका—इस गाथा में विजय नाम के दूसरे बलदेव की प्रव्रज्या का उल्लेख किया है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए उसने भी सांसारिक विषयभोगों का परित्याग करके संयम को धारण किया जिसके फल स्वरूप वह मोक्ष को प्राप्त हुआ । इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में जो 'अणट्ठाकित्ति' पद दिया गया है उसका अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—'आर्यत्वात्—अनार्तः—आर्तध्यानविकल , कीर्त्यादीनानाथादि-दानोत्थया प्रसिद्धोपलक्षित सन् । यद्वा अनार्ता—सकलदोषविगमतो अबाधिता कीर्तिरस्येत्यनार्तकीर्तिः सन्, पठ्यते च 'आणट्ठाकिइपव्वइत्ति' आज्ञा—आगमोऽर्थ-शब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो—हेतुरस्याः सा तथा विधा आकृतिर्यान्मुनि-वेपात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृतिः' । अर्थात् आर्तध्यान से रहित या आगमोक्त आज्ञा के पालने वाला, तथा दीनादि की रक्षा करने से जिसकी कीर्ति सर्व प्रकार से विस्तृत हो रही है इत्यादि ।

अब महाबल राजा का चरित्र वर्णन करते हैं यथा—

तहेवुग्गं तवं किच्चा, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
महव्वलो रायरिसी, अद्दाय सिरसा सिरं ॥५१॥

तथैवोग्रं तपः कृत्वा, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
महाबलो राजर्षि , आदाय शिरसा श्रियम् ॥५१॥

पदार्थान्वय—तहेव—उसी प्रकार उग्ग—प्रधान तव—तप किच्चा—करके अव्वक्खित्तेण—अव्याक्षिप्त चेयसा—चित्त से महव्वलो—महाबल रायरिसी—राजर्षि अद्दाय—ग्रहण करके सिरसा—शिर से सिरं—मोक्षरूप लक्ष्मी को ।

मूलार्थ—उसी प्रकार महाबल नामा राजर्षि ने उग्र तप करके अव्याक्षिप्त चित्त से मोक्षरूप लक्ष्मी को ग्रहण किया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में, महाबल नाम के राजर्षि का उग्र तप के अनुष्ठान द्वारा मोक्षरूप लक्ष्मी को प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। अर्थात् उसने आत्मलिप्त—कर्ममल को दूर करने के लिए स्वतःप्राप्त कामभोगादि विषयों का परित्याग करके बड़ा उग्र तप किया और अन्त में सर्वोत्तम मोक्षश्री को अपने मस्तक पर धारण किया। तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों को तोड़कर वह मोक्ष को गया। यहां पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह सब कथन भावी उपचार नैगमनय के मत से किया गया है, क्योंकि महाबल कुमार का वर्णन भगवती—व्याख्याप्रज्ञप्ति—सूत्र के एकादशवें शतक के दशवें उद्देश में किया हुआ है, वह सुदर्शन सेठ के पूर्व भव का ही कथन है। तथा उक्त गाथा में दिया हुआ 'अदाय' यह आर्ष प्रयोग है जो कि 'आदित' पद के स्थान पर ग्रहण किया गया है। तथा यदि 'आदाय' पद पढ़ा जावे तो उसका 'गृहीत्वा' यह क्त्वा प्रत्ययान्त प्रतिरूप होगा। इसके अतिरिक्त 'सिरसासिर' का तात्पर्य यह है कि उसने सिर देकर मोक्ष लिया अर्थात् सर्वोत्तम केवलज्ञान रूप लक्ष्मी को प्राप्त करके ही छोड़ा।

इस प्रकार पूर्वोक्त १७ गाथाओं के द्वारा इन महापुरुषों के संयम धारण-विषयक उदाहरण देकर अब दूसरे ज्ञातव्य विषय का वर्णन करते हैं—

कहं धीरो अहेऊहिं, उम्मत्तो व महिं चरे।
एए विसेसमादाय, सूरा दढपरक्कमा ॥५२॥

कथं धीरोऽहेतुभिः, उन्मत्त इव महीं चरेत्।
एते विशेषमादाय, शूरा दृढपराक्रमाः ॥५२॥

पदार्थान्वयः—कहं—कैसे धीरो—धैर्यवान् अहेऊहिं—कुहेतुओं से उम्मत्तो—उन्मत्त व—की तरह महिं—पृथिवी पर चरे—विचरे एए—ये पूर्व कहे गए (भरतादि राजे) विसेसम्—विशेषता को आदाय—ग्रहण करके सूरा—शूरवीर दढपरक्कमा—दृढ़ पराक्रम वाले हुए।

मूलार्थ—हे मुने! धैर्यवान् पुरुष, कुहेतुओं से उन्मत्त की तरह क्या पृथिवी पर विचर सकता है? अर्थात् नहीं विचर सकता। ये पूर्वोक्त भरतादि महापुरुष इसी विशेषता को लेकर शूरवीर और दृढ़ पराक्रम वाले हुए हैं।

टीका—क्षत्रिय राजर्षि कहते हैं कि हे मुने! धैर्यवान् जीव, किस प्रकार कुहेतुओं से उन्मत्त की तरह पृथिवी पर विचरे? कभी नहीं विचर सकता अर्थात् विचारशील पुरुष उन्मत्त की तरह कदापि असम्बद्ध भाषण नहीं कर सकता। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे उन्मादग्रस्त जीव के शब्द अर्थ-शून्य होते हैं उसी प्रकार इन क्रियावादी मतों के विचार भी तत्त्व से शून्य हैं तथा मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल हैं। इसी बात को जानकर इन पूर्वोक्त भरतादि महापुरुषों ने इन मतों की अपेक्षा करके जिनशासन में जो विशेषता थी उसको समझा और तदनुसार आचरण करते हुए वे शूरवीर और दृढ़ पराक्रमी हुए अर्थात् संयम का भली भाँति आराधन करके मोक्ष को गए। अतः हे मुने! जैसे उन्होंने जिन शासन में अपने चित्त को स्थिर करके अभीष्ट पद को प्राप्त किया उसी प्रकार तू भी उक्त शासन में अपने चित्त को स्थिर करके विचरता हुआ अभीष्ट पद को प्राप्त करने का यत्न कर। सारांश यह है कि संयमवृत्ति को ग्रहण करके बड़ी सावधानता से विचरना चाहिए किन्तु उन्मत्त की तरह विचरना ठीक नहीं, तथा जिस प्रकार उन्मत्त का कथन प्रामाणिक नहीं होता उसी प्रकार इन प्रवादियों के विचार भी विश्वास करने के योग्य नहीं हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अच्चन्तनियाणखमा, एसा मे भासिया वई।
अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्सन्ति अणागया ॥५३॥

अत्यन्तनिदानक्षमा , सत्या मया भाषिता वाक्।
अतारीषुस्तरन्त्येके , तरिष्यन्त्यनागताः ॥५३॥

पदार्थान्वयः—अच्चन्त—अत्यन्त नियाण—कारण से खमा—क्षमासमर्थ एसा—यह मे—मैंने वई—वाणी भासिया—भाषण की अतरिंसु—भूतकाल में तर गए एगे—कई एक तरिस्सन्ति—तरेंगे अणागया—अनागतकाल में तरंतेगे—और कई एक वर्तमान काल में तर रहे हैं।

मूलार्थ—कर्ममल के शोधन में अत्यन्त समर्थ यह वाणी मैंने तुम्हारे प्रति कही है, इस वाणी के द्वारा भूतकाल में कई एक जीव तर गए, भविष्यकाल में कई एक तरेंगे और वर्तमान में कई एक तर रहे हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा का निर्देश, जिनशासन की महिमा बतलाने के निमित्त से किया गया है और अपने कथन को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए भी उक्त गाथा का उल्लेख है। क्षत्रिय ऋषि कहते हैं कि हे मुने! मैंने जिस वाणी का उपदेश आपके समक्ष किया है वह कर्ममल के शोधन में अत्यन्त सामर्थ्य रखने वाली है अर्थात् कर्ममल को आत्मा से पृथक् करने में वह विशेष शक्ति रखती है। अधिक क्या कहूँ, जिन शासन की सर्व प्रकार से अनुकूलता रखने वाली इस वाणी के प्रभाव से अनेक जीव तर गए, अनेक तरेंगे और वर्तमान में अनेक तर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि दुस्तर ससार समुद्र से पार करने के लिए इस वाणी रूप नौका का जो भी कोई जीव आश्रय लेता है उसके पार होने में कोई भी सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त इस गाथा के दूसरे पाद में आए हुए 'एसा' पद के स्थान में किसी २ प्रति में 'सव्वा' और 'सचा' यह दो पाठान्तर भी देखने में आते हैं जिनका क्रम से 'सब का हित करने वाली, और सची वाणी' यह अर्थ है। तथा—जिन वाणी ही आत्मलिप्त कर्ममल को दूर करने में समर्थ है और कोई नहीं, यह इस गाथा का ध्वनित अर्थ है।

इसलिए उक्त अर्थ का निगमन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

कहं धीरे अहेऊहिं, अद्दाय परियावसे।
सव्वसंगविनिम्मुक्को, सिद्धे भवइ नीरए ॥५४॥
त्ति बेमि।
इति संजइज्जं समत्तं ॥१८॥

कथं धीरोऽहेतुभिः, आदाय पर्यावासयेत्।
सर्वसंगविनिर्मुक्तः, सिद्धो भवति नीरजाः ॥५४॥
इति ब्रवीमि।
इति संयतीय समाप्तं ॥१८॥

पदार्थान्वयः—कह–कैसे धीरे–धैर्यवान् अहेऊहिं–कुहेतुओं को अदाय–ग्रहण करके परियावसे–उनमें—कुहेतुओं में—बसे ? अपितु नहीं, किन्तु सव्व–सर्व संग–संग से विनिमुक्को–विनिर्मुक्त होकर सिद्धे–सिद्ध भवइ–होता है नीरए–कर्ममल से रहित त्ति–इस प्रकार बेमि–मैं कहता हूँ। यह संयताध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् पुरुष, इन कुहेतुओं में—क्रियावादादिमतों में—किस प्रकार बसे ? अर्थात् नहीं बस सकता, किन्तु सर्व प्रकार के संग से रहित हुआ पुरुष, कर्ममल से रहित होकर सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि जो विचारशील पुरुष हैं वे क्रियावादि प्रभृति मतों के कुहेतुओं को ग्रहण नहीं करते और ना ही उनके विशेष परिचय में आते हैं, किन्तु सर्व प्रकार के संसर्ग से मुक्त होकर ज्ञानपूर्वक चरित्र का सम्यक् आराधन करके कर्ममल से सर्वथा रहित होते हुए सिद्धगति को प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा के दूसरे पाद का 'अत्ताण परियावसे' ऐसा पाठ भी है। आत्मानं पर्यावासयेत्—अर्थात् कौन बुद्धिमान् पुरुष कुहेतुओं से अपने आत्मा को अहित—अनिष्ट—स्थान में निवास करने के लिए प्रेरित करे ? अपितु कोई भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसा नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि जो विचारशील पुरुष होते हैं वे अपनी आत्मा के अहित में कभी प्रवृत्त नहीं होते किन्तु जिस स्थान में आत्मा का हित हो उसी में वे आत्मा को रखते हैं। इसी आशय से उक्त गाथा में 'सव्वसंगविनिमुक्को' यह पढ़ा गया है अर्थात् विचारशील पुरुष सर्व प्रकार के संग से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त हो जाते हैं। द्रव्यसंग माता पिता आदि का है और भावसंग, मिथ्यात्वादि का है। तथा यहां पर पुनः २ जो अहेतु पद दिया है उसका अभिप्राय यह है कि अहेतु, अज्ञान का कारण है, और हेतु से सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार संजयमुनि को उपदेश देकर क्षत्रियऋषि तो विहार कर गए और संजयमुनि तपसंयम के अनुष्ठान द्वारा आत्मशुद्धि करते हुए अन्त में मोक्षगति को प्राप्त हो गए। सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि जिस प्रकार मैंने भगवान् से सुना उसी प्रकार मैंने तेरे प्रति कह दिया। इत्यादि।

अष्टादशाध्ययन समाप्त।

मियापुत्तीयं एगूणवीसइमं अज्झयणं

मृगापुत्रीयमेकोनविंशतितममध्ययनम्

गत अठारहवें अध्ययन में भोग और ऋद्धि के त्याग के विषय में कहा गया है। यद्यपि भोग और ऋद्धि के त्याग से श्रमणभाव की उत्पत्ति तो हो जाती है परन्तु साधुवृत्ति में जो शरीर का प्रतिकर्म नहीं करता वह और भी प्रशंसनीय होता है। अतः इस उन्नीसवें अध्ययन में शरीर का प्रतिकर्म न करने वाले एक महानुभाव मुनि की चर्या का वर्णन किया जाता है जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है यथा—

सुग्गीवे नयरे रम्मे, काणणुज्जाणसोहिए ।
राया बलभद्दि त्ति, मिया तस्सग्गमाहिसी ॥१॥

सुग्रीवे नगरे रम्ये, काननोद्यानशोभिते ।
राजा बलभद्र इति, मृगा तस्याग्रमहिषी ॥१॥

पदार्थान्वय —सुग्गीवे—सुग्रीवनामा नयरे—नगर रम्मे—रमणीय जो काणण—वृहद्वृक्षों से उज्जाण—क्रीड़ा आरामों से सोहिए—सुशोभित—उसमें राया—राजा बलभद्—बलभद्र त्ति—इस नाम वाला मिया—मृगा नाम वाली तस्स—उसकी अग्गमहिसी—पटराणी थी।

मूलार्थ—अनेकविध कानन और उद्यानादि से सुशोभित सुग्रीवनामा नगर में बलभद्र नाम का राजा था और मृगा नाम की उसकी पटराणी थी।

टीका—इस गाथा में बलभद्र नाम के राजा की सुग्रीव नामा राजधानी और उसकी मृगानाम की अग्रमहिषी का उल्लेख किया गया है। सुग्रीव नगर अनेक प्रकार के वनों उपवनों से सुशोभित था अर्थात् वह अनेक प्रकार के वृक्ष वृक्षों से आकीर्ण था और नानाविध क्रीड़ा के उद्यानों से युक्त था। जो उद्यान नागरिकों की क्रीड़ा के लिए निर्माण किए जाते हैं उन्हें 'आराम' कहते हैं। बलभद्र राजा की वहां पर राजधानी थी। वह राजा बड़ा ही न्यायसम्पन्न और प्रजाप्रिय था। उसकी मृगानाम्नी परमसुशीला और पतिव्रता भार्या थी।

अब सन्तति के विषय में कहते हैं—

तेसिं पुत्ते बलसिरी, मियापुत्ते त्ति विस्सुए।
अम्मापिऊण दइए, जुवराया दमीसरे ॥२॥

तयोः पुत्रो बलश्री, मृगापुत्र इति विश्रुतः।
अम्बापित्रोर्दयितः, युवराजो दमीश्वरः ॥२॥

पदार्थान्वयः—तेसिं–उन दोनों का पुत्ते–पुत्र बलसिरी–बलश्री नामा मियापुत्ते–मृगापुत्र त्ति–इस प्रकार विस्सुए–विख्यात हुआ अम्मापिऊण–माता पिता को दइए–प्यारा था जुवराया–युवराज था दमीसरे–दमीश्वर था।

मूलार्थ—उन दोनों का 'बलश्री' नाम का पुत्र था किन्तु लोगों में वह 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात था, माता पिता को बड़ा प्यारा था। वह युवराज तथा दमीश्वर था।

टीका—इन दोनों के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'बलश्री' रक्खा गया परन्तु संसार में वह 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात हुआ। कारण कि महाराजा बलभद्र, राणी के स्नेह से जब उसे 'मृगापुत्र' कहकर पुकारने लगा तब लोगों में भी वह उसी नाम से पुकारा जाने लगा। मृगापुत्र अपने माता पिता को अतीव प्रिय था और युवराज की पदवी से वह अभिषिक्त किया गया था, तथा जो राजा लोग उद्धत थे उनके दमन करने में समर्थ होने से वह दमीश्वर कहलाता था। इसके अतिरिक्त भावी नैगमनय के अनुसार इन्द्रियों का दमन करने वाले जो साधु महात्मा हैं उनका

भी ईश्वर अर्थात् उनसे भी बढ़कर इन्द्रियों का दमन करने वाला होने से वह दमीश्वर कहलाया। इस कथन से मृगापुत्र के आत्मा की विशिष्टता ध्वनित होती है।

अथ मृगापुत्र की सुख सम्पत्ति के विषय में कहते हैं—

नन्दणे सो उ पासाए, कीलए सह इत्थिहिं।
देवो दोगुन्दगो चेव, निच्चं मुइयमाणसो ॥३॥

नन्दने स तु प्रासादे, क्रीडति सह स्त्रीभिः।
देवो दोगुन्दकश्चेव, नित्यं मुदितमानसः ॥३॥

पदार्थान्वय —नन्दणे—नन्दन नाम के पासाए—प्रासाद में स—वह मृगापुत्र उ—वितर्क अर्थ में है कीलए—क्रीड़ा करता है इत्थिहिं—स्त्रियों के सह—साथ दोगुन्दगो—दोगुन्दक देवो—देव इव—की तरह च—पादपूर्ति में निच्चं—सदा मुइय—प्रसन्न माणसो—मन में।

मूलार्थ—जैसे दोगुन्दकदेव, स्वर्ग में सुखों का अनुभव करते हैं उसी प्रकार वह मृगापुत्र भी अपने नन्दन—सर्व लक्षणोपेत—प्रासाद में स्त्रियों के साथ सदैव प्रसन्नचित्त होकर क्रीड़ा करता था।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र के भोग-विलासजन्य सुख का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे दोगुन्दक संज्ञा वाले देव, स्वर्ग के विलक्षण सुखों का अनुभव करते हैं उसी प्रकार मृगापुत्र भी प्रसन्नचित्त से सांसारिक विषयभोगों का सम्पूर्ण रूप से अनुभव कर रहा है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि दोगुन्दक देवों में सुखों के अनुभव के समय में किसी प्रकार के विघ्न की शंका नहीं रहती, क्योंकि वे इन्द्र के गुरु स्थान में होते हैं अतः उन पर किसी का शासन नहीं चल सकता किन्तु उनसे प्रार्थना ही की जाती है। तथाहि—'दोगुन्दगाश्च त्रायस्त्रिंशा'। तथा च वृद्धाः—'त्रायस्त्रिंशा देवा नित्य भोगपरायणा दोगुन्दगा इति भणति' अर्थात्—सदाभोगपरायण जो त्रायस्त्रिंशत् देव हैं उनकी दोगुन्दग संज्ञा है। यहां पर गाथा में आया हुआ प्रासाद का विशेषण जो 'नन्दन' शब्द है वह राजभवन की विलक्षणता का द्योतक है। और 'मुदितमानस' के कहने से सातावेदनीय के फल का प्रदर्शन होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

मणिरयणकुट्टिमतले, पासायालोयणे ठिओ।
आलोएइ नगरस्स, चउक्कत्तियचच्चरे ॥४॥

मणिरत्नकुट्टिमतले, प्रासादालोकनस्थितः।
आलोकयति नगरस्य, चतुष्कत्रिकचत्वरान् ॥४॥

पदार्थान्वयः—मणिरयण—मणिरत्न कुट्टिमतले—कुट्टिमतल से युक्त पासाय—प्रासाद के आलोयणे—गवाक्ष में ठिओ—स्थित होकर आलोएइ—देखता है नगरस्स—नगर के चउक्क—चतुष्पथ को त्तिय—त्रिपथ को और चच्चरे—बहुपथों को।

मूलार्थ—किसी समय वह मृगापुत्र—मणिरत्नादि से युक्त प्रासाद के गवाक्ष में स्थित होकर नगर के चतुष्पथ (चौराह) त्रिपथ और बहुपथों को कुतूहल से देखने लगा।

टीका—किसी समय मृगापुत्र अपने निवास-भवन के गवाक्ष में खड़ा होकर नगर का अवलोकन करने लगा। उसका निवास-भवन चन्द्रकान्ता आदि मणियों तथा गोमेद आदि रत्नों से पूर्णतया शोभायमान था। (तात्पर्य यह है कि उसके थलभाग में—फर्श में—भी मणिरत्नादि लगे हुए थे। जहां पर चार मार्ग आकर मिलें उसको चतुष्क (चौंक) और जहां पर तीन मिलें उसे त्रिक एवं जहां पर अनेक मार्ग इकट्ठे हों उसको चत्वर कहते हैं)। सारांश यह है कि वह राजकुमार अपने रमणीय भवन पर से नगर के हर एक विभाग को भली प्रकार से देखता था। प्रस्तुत गाथा में रम्यभवन के सौन्दर्य और पुण्यात्मा के निवास का प्रासंगिक दिग्दर्शन कराया गया है।

रम्यभवन से नगर को देखने के अनन्तर क्या हुआ? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

अह तत्थ अइच्छन्तं, पासई समणसंजयं।
तवनियमसंजमधरं, सीलड्ढं गुणआगरं ॥५॥

अथ तत्रातिक्रामन्तं, पश्यति संयतश्रमणम् ।
तपोनियमसंयमधरं , शीलाढ्यं गुणाकरम् ॥५॥

पदार्थान्वय —अह–तदनन्तर तत्थ–वहाँ पर अइच्छन्त–चलते हुए समण–श्रमण संजय–संयत को पासई–देखता है जो तव–तप नियम–नियम संजम–संयम के धर–धरने वाला सीलड्ढ–शीलयुक्त और गुणआगर–गुणों की खान है ।

मूलार्थ—तदनन्तर वहाँ पर उसने एक संयमशील श्रमण—साधु—को देखा जो कि तप नियम और संयम को धारण करने वाला, शीलयुक्त और गुणों की खान था ।

टीका—जिस समय वह राजकुमार अपने निवास-भवन के गवाक्ष में खड़ा होकर नगर को देख रहा था उस समय उसने राजमार्ग में चलते हुए एक संयमशील साधु को देखा । वह साधु परम तपस्वी था अर्थात् द्वादशविध तप के आचरण करने वाला तथा अभिग्रहादि नियमों का पालक, सत्तरहभेदि संयम का धारक एवं शील-सम्पन्न और ज्ञानादि गुणों का आकर था । इसके अतिरिक्त सूत्र में जो श्रमण शब्द के साथ संयत विशेषण दिया है उसका तात्पर्य बौद्धादि भिक्षुओं की निवृत्ति से है क्योंकि सामान्यरूप से श्रमण शब्द का बौद्ध भिक्षुओं में भी व्यवहार होता है इसलिए श्रमण शब्द के साथ संयत विशेषण लगा दिया गया ताकि श्रमण शब्द से यहां पर जैन साधुओं का ही ग्रहण हो और उनके गुणों का भी प्रदर्शन हो सके ।

इसके अनन्तर क्या हुआ ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तं पेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाइ उ ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं, दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥६॥

तं पश्यति मृगापुत्र, दृष्ट्याऽऽनिमेषया तु ।
क्व मन्य ईदृश रूपं, दृष्टपूर्वं मया पुरा ॥६॥

पदार्थान्वयः—तं–उस मुनि को पेहई–देखता है मियापुत्ते–मृगापुत्र अणिमिसाइ–अनिमेष दिट्ठीए–दृष्टि से उ–एवार्थक कहिं–कहां मन्ने–मैं जानता हूं एरिसं–इस प्रकार का रूव–आकार दिट्ठपुव्व–पूर्वदृष्ट है मए–मैंने पुरा–पूर्वजन्म में देखा है क्या ?

मूलार्थ—उस मुनि को वह मृगापुत्र निर्निमेष दृष्टि से देखने लगा, और मन में सोचता है—मैं मानता हूं कि इस प्रकार का रूप मैंने प्रथम कहीं पर अवश्य देखा है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ध्यान से स्मृति ज्ञान की उत्पत्ति अथवा प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान से पूर्वजन्म की स्मृति के होने का दिग्दर्शन कराया गया है । अपनी मुनिवृत्ति के अनुसार गमन करते हुए उस मुनि को मृगापुत्र ने निरन्तर एकटक होकर देखा और मुनि के वेष को देखकर उसके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार का वेष तो मैंने आगे भी कहीं पर देखा है ऐसा मुझे इस वेष के देखने से भान होता है । तात्पर्य यह है कि साधु के वेष को देखकर उसे पूर्वदृष्ट की स्मृति हो आई । वास्तव में एकान्तचित्त होकर प्रत्यभिज्ञाज्ञान से जो विचार किया जाता है वह प्राय सफल ही होता है । परन्तु इसमें भावशुद्धि की सब से अधिक आवश्यकता है । सालम्बन ध्यान में दृष्टि की अनिमेषता ही सबसे अधिक आवश्यक है यह भाव उक्त गाथा से स्पष्ट व्यक्त होता है । तथा किसी २ प्रति में 'पेहई' के स्थान में 'देहई' ऐसा पाठ भी देखने में आता है जो कि 'पश्यति' के स्थान पर आदेश किया हुआ है ।

इसके अनन्तर क्या हुआ ? अब इसी के सम्बन्ध में कहते हैं—

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणंमि सोहणे ।
मोहं गयस्स सन्तस्स, जाईसरणं समुप्पन्नं ॥७॥

साधोर्दर्शने तस्य, अध्यवसाने शोभने ।
गतमोहस्य सत, जातिस्मरण समुत्पन्नम् ॥७॥

पदार्थान्वयः—साहुस्स-साधु के दरिसणे-दर्शन होने पर तस्स-उस मृगापुत्र के सोहणे-शोभन अज्झवसाणंमि-अध्यवसान होने पर मोह गयस्स-मैंने कहीं पर इसको देखा है इस प्रकार की चिन्ता से निर्मोहता को संतस्स-प्राप्त हो जाने पर जाईसरणं-जातिस्मरणज्ञान समुप्पन्नं-उत्पन्न हो गया ।

मूलार्थ—साधु के दर्शन होने के अनन्तर, मोह कर्म के कुछ दूर होने पर तथा अन्तःकरण में सुन्दर भावों के उत्पन्न होने से मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

टीका—साधु मुनिराज के दर्शन करने के अनन्तर मृगापुत्र के आन्तरिक परिणामों में बहुत शुद्धि हो गई। उसके कारण मृगापुत्र को जो मोह उत्पन्न हो रहा था—'कि मैंने इसको प्रथम कहीं पर देखा है'—उसमें क्षयोपशमभाव उत्पन्न होने से उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह है कि जब उसने एकाग्रचित्त से विचार किया तब पूर्वजन्म को आवरण करने वाले कर्मदल क्षयोपशमभाव में आ गए और जातिस्मरण ज्ञान को उन्होंने उत्पन्न कर दिया। जब एकाग्रचित्तवृत्ति से ध्यान किया जावे तब बहुत से कर्म, क्षय अथवा क्षयोपशमभाव को प्राप्त हो जाते हैं जिसका परिणाम आत्मगुणों में विकास का होना है।

जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र ने क्या देखा अब इसी विषय में कहते हैं—

देवलोगचुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणसमुप्पन्ने, जाइंसरइपुराणयं ॥८॥

देवलोकच्युतः सन्, मानुष भवमागतः।
संज्ञिज्ञानसमुत्पन्नो, जातिंस्मरतिपौराणिकीम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—देवलोग-देवलोक से चुओ-च्युत संतो-होकर माणुसं-मनुष्य के भवम्-भव में आगओ-आ गया हूँ सन्निनाण-संज्ञिज्ञान के समुप्पन्ने-उत्पन्न हो जाने पर जाइ-जाति की सरइ-स्मृति करता है पुराणय-पूर्वजन्म की।

मूलार्थ—मैं देवलोक से च्युत होकर मनुष्य के भव में आ गया हूँ ऐसा संज्ञिज्ञान हो जाने पर मृगापुत्र, पूर्वजन्म का स्मरण करने लगा।

टीका—मृगापुत्र को जब जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उसने ज्ञान में देखा कि मैं देवलोक से च्युत होकर अब मनुष्य के जन्म में आ गया हूँ। क्योंकि संज्ञि ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर पूर्वजन्म की स्मृति ठीक हो जाती है, संज्ञि ज्ञान जातिस्मरण ज्ञान का ही अपर नाम है—इस ज्ञान के द्वारा संज्ञि—(मनवाले) जन्मों

की बातों की स्मृति हो जाती है। वृद्ध आम्नाय में कहते हैं कि—इस ज्ञान वाला अपने लाख संज्ञी जन्मों को देख सकता है। इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि जो जन्म गर्भज हैं उन्हें तो वह देखेगा परन्तु जो सम्मूर्च्छिम हैं उनको नहीं देख सकता। हाँ, सम्मूर्च्छिम को छोड़कर वह संज्ञी के जन्मों को देखता चला जायगा। बहुत से जीवों को यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसका कारण प्रत्यभिज्ञान ही है। बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को प्रक्षिप्त माना है।

जातिस्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर मृगापुत्र ने अपने ज्ञान में क्या देखा? अब इसका वर्णन करते हैं—

जाईसरणे समुप्पन्ने, मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरइ पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥९॥

जातिस्मरणे समुत्पन्ने, मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं जातिं, श्रामण्यं च पुराकृतम् ॥९॥

पदार्थान्वयः—जाईसरणे—जातिस्मरण के समुप्पन्ने—उत्पन्न हो जाने पर मियापुत्ते—मृगापुत्र महिड्ढिए—महान् समृद्धि वाला सरइ—स्मरण करता है पोराणिय—पूर्व जाइ—जाति को च—और सामण्णं—श्रमण भाव को, जो पुराकयं—पुराकृत है।

मूलार्थ—महती समृद्धि वाला वह मृगापुत्र, जातिस्मरण ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्व की जाति और पूर्वकृत संयम का स्मरण करता है।

टीका—जातिस्मरण ज्ञान होने पर मृगापुत्र को अपने पूर्वजन्म के कृत्यों का स्मरण होने लगा। क्योंकि इस ज्ञान वाला पुरुष अपने ज्ञान में जिस समय अपने पूर्वजन्म को देखता है, उस समय उसको उस जन्म के सभी कृत्यों का भान होने लगता है। इसलिए मृगापुत्र ने जिस समय मुनि के रूप को देखा और उसके देखने से उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी समय पर उसको अपने पूर्वजन्म के ज्ञान के साथ ही ग्रहण किये हुए मुनिवेष का भी भान हो गया। अतः पूर्वजन्म की स्मृति के साथ ही उसको अपने श्रमण भाव का भी ज्ञान हो गया, जिसको कि उसने पूर्वजन्म में स्वीकार किया था।

पूर्वजन्म की धारण की हुई श्रमणता का ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसने क्या किया, अब इसी विषय का वर्णन किया जाता है—

विसएसु अरज्जंतो, रज्जंतो संजमम्मि य ।
अम्मापियरमुवागम्म , इमं वयणमव्ववी ॥१०॥

विषयेष्वरज्यन् , रज्यन् संयमे च ।
अम्बापितरावुपागम्य , इद वचनमब्रवीत् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—विसएसु-विषयों में अरज्जतो-राग न करता हुआ य-और सजमम्मि-सयम में रज्जतो-राग करता हुआ अम्मापियर-माता पिता के पास उवागम्म-आकर इम-यह वयणम्-वचन अव्ववी-कहने लगा ।

मूलार्थ—मृगापुत्र विषयों से विरक्त और सयम में अनुरक्त होता हुआ माता पिता के पास आकर यह वक्ष्यमाण वचन कहने लगा ।

टीका—जातिस्मरणज्ञान होने के अनन्तर जब मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्म में ग्रहण किये हुए श्रमण भाव को देखा तो उसे सासारिक विषय भोगों से उपरामता हो गई और सयम में अनुराग पैदा हो गया। तात्पर्य यह है कि विषयों से उपरति होने के साथ ही सयम ग्रहण में अभिरुचि बढ़ गई । और माता पिता के पास आकर वह इस प्रकार कहने लगा । उक्त गाथा में जो विषय वर्णित किया गया है उससे यह स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि इस जीव की जब विषयों से विरक्ति हो जाती है तब उसका चित्त मोक्ष के साधनभूत दर्शन ज्ञान और चरित्र के सम्पादन की ओर बढ़ता है । यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों के हृदय से विषयवासना का समूल नाश हो जाता है ।

मृगापुत्र ने माता पिता के पास आकर जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ! ॥११॥

श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि,
नरकेषु दुःख च तिर्यग्योनिषु।
निर्विण्णकामोऽस्मि महार्णवात्,
अनुजानीत प्रव्रजिष्यामि मातः! ॥११॥

पदार्थान्वयः—सुयाणि–सुने हैं मे–मैंने पच महव्वयाणि–पाँच महाव्रत नरएसु–नरकों के दुक्ख–दुःख च–और तिरिक्खजोणिसु–तिर्यग् योनियों के दुःख, अतः महण्णवाओ–ससाररूप समुद्र से निव्विण्णकामोमि–मैं निवृत्त होने की कामना वाला हो गया हूँ, अतः अम्मो–हे माता! पव्वइस्सामि–मैं दीक्षित होऊँगा अणुजाणह–मुझे आज्ञा दो।

मूलार्थ—हे मातः! मैंने पाँच महाव्रतों को तथा नरक और तिर्यग् योनि के दुःखों को सुना है। अतः मैं इस ससार रूपी समुद्र से निवृत्त होने का अभिलाषी हो गया हूँ। मुझे आज्ञा दो ताकि मैं दीक्षित हो जाऊँ।

टीका—माता पिता के पास आकर मृगापुत्र ने कहा कि मैंने पूर्वजन्म में पालन किये हुए पाँच महाव्रतों को जान लिया, तथा नरकों में अनुभव किये हुए दुःखों और पशुयोनि में भोगे हुए कष्टों को—उपलक्षण से देव और मनुष्य योनि के संयोग-वियोग-जन्य दुःखों को अच्छी तरह से स्मरण कर लिया है। अतः मैं इस ससार से निवृत्त होने की अभिलाषा रखता हूँ। आप मुझे आज्ञा दो कि मैं दीक्षाग्रहण करके संयम का आराधन करता हुआ इन सासारिक दुःखों से सदा के लिए छूटने का प्रयत्न करूं। उक्त गाथा में जो माता का सम्बोधन दिया है उसका तात्पर्य माता की पूज्यता प्रकट करना है। और 'श्रुतानि' यह पूर्व जन्म की अपेक्षा से जानना अर्थात् पूर्वजन्म में मैंने पाँच महाव्रतों का श्रवण किया है। तथा ससार में जो किंचिन्मात्र सुख भी है वह भी वस्तुतः दुःखरूप ही है यह इसका फलितार्थ है।

प्रव्रज्या का हेतु वैराग्य है, अतः वैराग्य के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए प्रथम सांसारिक सम्बन्ध का निरूपण करते हैं—

अम्मताय! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥१२॥

अम्ब ! तात ! मया भोगाः, भुक्ता विषफलोपमा. ।
पश्चात् कटुकविपाकाः, अनुबन्धदुःखावहाः ॥१२॥

पदार्थान्वयः—अम्म—हे माता ! ताय—हे तात ! मए—मैंने विसफलोवमा—विषफल की उपमा वाले भोगा—भोग भुत्ता—भोग लिये पच्छा—पश्चात् कडुय—कटुक विवागा—विपाक है इनका अणुबंध—अनुबन्ध दुहावहा—दु खों के देने वाला है।

मूलार्थ—हे माता और हे पिता ! मैंने इन भोगों को भोग लिया, जो विषफल के समान हैं, और पीछे से जिनका विपाक अत्यन्त कटु एवं निरन्तर दुःखों के देने वाला है।

टीका—मृगापुत्र अपने माता पिता से कहते हैं कि मैंने कामभोगों को भली भाँति भोग लिया। ये समस्त कामभोग विषफल के समान देखने में सुन्दर और खाने में मधुर तथा परिणाम में दुःख के देने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे विषफल देखने में तो सुन्दर होता है और खाने में भी स्वादु होता है परन्तु खाने के अनन्तर उसका फल मृत्यु होता है अर्थात् खाने वाले के प्राण ले लेता है उसी प्रकार ये कामभोग भी भोगने के समय तो अत्यन्त प्रिय लगते हैं परन्तु परिणाम में अधिक से अधिक दुःख के देने वाले हैं। अर्थात् इनका विपाक बहुत कटु अथ च अनिष्टप्रद है। इसलिए ये कामभोग, बाल जीवों को ही प्रियकर हो सकते हैं, विज्ञ जीवों को नहीं। विचारशील पुरुष तो इनके अनुबन्ध को भली भाँति जानते हैं अतएव वे इनसे सर्वथा दूर रहते हैं। इसके विपरीत जो बाल जीव इन विषयभोगों का सेवन करते हैं, वे जीव चारों गतियों के दुःखों का निरन्तर अनुभव करते हैं। इसलिए हे माता ! मैं इन विषयभोगों के सेवन की अभिलाषा को सर्वथा त्याग बैठा हूँ। आप से पुनः मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे संयम ग्रहण करने की आज्ञा दें, ताकि मैं इन उपस्थित दु खों से छूटने का प्रयत्न करूँ।

वास्तव में ये कामभोगादि विषय ही अनित्य एवं दुःखदायी नहीं अपितु यह शरीर भी अनित्य और दु खों की खान है। अब इस विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥१३॥

इद शरीरमनित्यम्, अशुच्यशुचिसंभवम् ।
अशाश्वतावासमिदं, दुःखक्लेशानां भाजनम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—इमं—यह सरीरं—शरीर अणिच्चं—अनित्य है असुइं—अपवित्र है और असुइसंभवं—अशुचि से उत्पन्न हुआ है असासयावासं—अशाश्वत ही इसमें जीव का निवास है इणं—यह शरीर दुक्खकेसाणं—दुःख और क्लेशों का भायणं—भाजन है।

मूलार्थ—यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है, और अशुचि से इसकी उत्पत्ति है। तथा इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत ही है, एवं यह शरीर दुःख और क्लेशों का भाजन है।

टीका—मृगापुत्र ने अपने माता पिता के प्रति इस शरीर की अनित्यता, अशुचिता और दुःखभाजनता का वर्णन करते हुए इसकी असारता का अच्छा चित्र खींचा है। वे कहते हैं कि यह शरीर अनित्य अर्थात् क्षणभंगुर है और स्वभाव से अपवित्र है क्योंकि इसकी उत्पत्ति शुक्र, शोणित आदि अपवित्र पदार्थों से ही देखी जाती है। तथा इस शरीर की अपेक्षा से इसमें निवास करने वाला जीव भी अशाश्वत ही है, अथवा इसमें जीवात्मा का निवास भी अशाश्वत ही है। प्रथम पक्ष में आधारभूत शरीर के अशाश्वत होने से उसके आधेयभूत जीव को भी अशाश्वत कहा गया है जो कि व्यवहारनयसम्मत औपचारिक कथन है। इसके अतिरिक्त यह शरीर नाना प्रकार के दुःख और क्लेशों का भाजन है। क्योंकि जितने भी शारीरिक अथवा मानसिक दुःख अथवा क्लेश हैं, वे सब शरीर के आश्रय से ही होते हैं। इसलिए यह शरीर अनेक प्रकार के दुःखों और क्लेशों का स्थान है। यहाँ पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि उक्त गाथा में शरीर को अनित्य बतलाया गया है किन्तु मिथ्या नहीं कहा गया। क्योंकि अनेकान्तवाद के सिद्धान्तानुसार पर्यायदृष्टि से सब पदार्थ अनित्य माने हैं, मिथ्या नहीं। मिथ्यापना और अनित्यपना ये दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं। इनकी व्याख्या भी भिन्न २ है। अतः शरीरादि को अनित्य कहने से उनको कोई सज्जन मिथ्या न समझें। इस विषय पर प्रसंगानुसार कहीं अन्यत्र प्रकाश डाला जायगा।

तथा च—

असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे ॥१४॥

अशाश्वते शरीरे, रतिं नोपलभेऽहम् ।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये, फेनबुद्बुदसंनिभे ॥१४॥

पदार्थान्वयः—असासए—अशाश्वत सरीरंमि—शरीर में अहं—मैं रइं—रति—प्रसन्नता न—नहीं उवलभामि—प्राप्त करता हूं क्योंकि— पच्छा—पीछे—अथवा पुरा—पहले चइयव्वे—छोड़ने वाले फेणबुब्बुय—फेन के बुलबुले के सन्निभे—समान ।

मूलार्थ—इस अशाश्वत शरीर में मैं प्रसन्नता प्राप्त नहीं करता क्योंकि फेन के बुलबुले के समान यह शरीर है, जो कि पहले अथवा पीछे अवश्य विनाश होने वाला है ।

टीका—मृगापुत्र अपने माता पिता से फिर कहते हैं कि यह शरीर अशाश्वत है। फेन के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है। अतः मुझे इसमें कोई आनन्द नहीं, क्योंकि दो दिन आगे अथवा पीछे इसको अवश्य छोड़ना पड़ेगा, फिर इसमें रति कैसी ? इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस शरीर का विनाश—वियोग अवश्यभावी है। यदि इसके द्वारा कुछ समय तक शब्दादि विषयों का उपभोग किया जावे तो भी इसने विनष्ट हो जाना है। अथवा किसी उपक्रम के द्वारा बाल्यादि अवस्था में बिना उपभोग किये भी इसके विनाश की सम्भावना हो सकती है। तात्पर्य यह है कि उपभुक्त अथवा अनुपभुक्त दोनों ही दशाओं में इसकी विनश्वरता निश्चित है, फिर ऐसे विनाशशील पदार्थ में कामभोगों के लिये आसक्त होना किसी प्रकार से भी बुद्धिमत्ता का काम नहीं। इसके अतिरिक्त इस शरीर में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है वह भी जल के बुलबुले के समान मात्र क्षणभर स्थायी रहने वाला है। इसलिए हे माता मुझे इस शरीर में किंचिन्मात्र भी स्नेह नहीं है।

अब संसार के निर्वेद विषय में कहते हैं—

माणुसत्ते असारम्मि, वाहीरोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि , खणंपि न रमामहं ॥१५॥

मनुष्यत्वे असारे, व्याधिरोगाणामालये ।
जरामरणग्रस्ते , क्षणमपि न रमेऽहम् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—असारम्मि–असार माणुसत्ते–मनुष्यभव में वाही–व्याधि रोगाण–रोगों के आलए–स्थान में जरा–बुढ़ापा मरण–मृत्यु से घत्थम्मि–ग्रसे हुए खणंपि–क्षणमात्र भी अहं–मैं न रमामि–रति–आनन्द नहीं पाता हूँ।

मूलार्थ—व्याधि और रोगों के घर, जरा और मृत्यु से ग्रसे हुए, इस असार मनुष्यजन्म में मैं क्षणमात्र भी प्रसन्न नहीं होता हूँ।

टीका—मृगापुत्र फिर अपनी माता से कहते हैं कि यह मनुष्य भव बिलकुल असार है क्योंकि यह सदा स्थिर रहने वाला नहीं। तथा आधि व्याधियों का घर है, एवं जरा और मृत्यु का चक्र हर समय इस पर घूम रहा है। अतः ऐसे मनुष्य भव में मुझे किसी प्रकार की भी प्रीति नहीं। अर्थात् इस प्रकार के क्षणभंगुर और जराग्रस्त रोगालय में आसक्त होकर, विषय भोगों का सेवन करना, मुझे किसी प्रकार से भी अभीष्ट नहीं है। यहां पर इतना स्मरण रहे कि सूत्र में मनुष्य जन्म को जो असार बतलाया है वह शरीर को लेकर केवल पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से ही कहा गया है। जीव तो शाश्वत है, कर्मों के सम्बन्ध से वह नवीन २ पर्याय-शरीर को धारण कर रहा है और उन्हीं पर्यायों में वह नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहा है। यथा उक्त सूत्र में कराया गया शारीरिक दुःखों का दिग्दर्शन, मानसिक दुःखों का भी उपलक्षण समझ लेना।

इस प्रकार मनुष्यभवसम्बन्धि दुःखों का वर्णन करने के अनन्तर अब उसकी प्रत्येक दशा के दुःख का दिग्दर्शन कराते हैं—

जम्मदुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥१६॥

जन्मदुःखं जरादुःखं, रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दुःखं खलु संसारः, यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—जम्मदुक्ख–जन्म का दुःख जरादुक्ख–बुढ़ापे का दुःख रोगा–रोग य–और मरणाणि–मरण का दुःख य–पुनः अहो–आश्चर्य है हु–निश्चय ही दुक्खो–दुःखरूप ससारो–संसार जत्थ–जहाँ पर कीसंति–क्लेश पाते हैं जंतुणो–जीव।

मूलार्थ—जन्म का दुःख, जरा का दुःख, रोग और मृत्यु का दुःख, आश्चर्य है कि इस दुःखमय संसार में खचित होकर जीव नाना प्रकार के दुःख और क्लेशों को प्राप्त हो रहे हैं।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे माता ! देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। इस दुःखमय संसार में जन्म, जरा, रोग और मृत्यु से ग्रसे हुए अथवा जकड़े हुए जीव अनेक प्रकार के क्लेश पा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि किसी के पीछे एक दुःख पड़ जाता है तो उसको किसी प्रकार से भी शांति नहीं मिलती। परन्तु इस जीव के पीछे तो जन्म, जरा, रोग और मृत्यु तथा उपलक्षण से अनिष्टसंयोग और इष्टवियोगजन्य अनेक प्रकार के अति भयंकर दुःख लगे हुए हैं। ऐसी दशा में भी ये अज्ञानी जीव इस संसार में निमग्न हो रहे हैं किन्तु इससे छूटने के उपाय का उन्हें तनिक भी ख्याल नहीं, यह कितने आश्चर्य की बात है। इसके अतिरिक्त संसार-निमग्न प्राणी दुःखों के उपस्थित होने पर उनसे छूटने का जो उपाय करते हैं, वह भी दुःखों को कम करने के बदले उनको बढ़ाने वाला ही होता है। अर्थात् दुःख-निवृत्ति का जो सम्यक् उपाय है, उससे यह सर्वथा भिन्न अथच विपरीत है। जैसे प्रचण्ड अग्नि को शान्त करने के लिए जल के उपयोग के स्थान में तैल का उपयोग करना अग्नि को शान्त करने की अपेक्षा उसको बढ़ाने वाला होता है ठीक उसी प्रकार से विपरीत बुद्धि रखने वाले इन संसार-निमग्न जीवों की दशा है। अर्थात् हिंसा आदि पापकर्मों के आचरण से उत्पन्न होने वाले दुःखों की निवृत्ति के लिए दशविध यतिधर्म का सेवन करने के बदले हिंसा आदि अशुभ व्यवहार में ही प्रवृत्त हो रहे हैं। इनकी इस बालप्रवृत्ति पर मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे ॥१७॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्य च, पुत्रदारांश्च बान्धवान्।
त्यक्त्वेम देह, गन्तव्यमवशस्य मे ॥१७॥

पदार्थान्वयः—खेत्त—क्षेत्र वत्थु—घर च—और हिरण्ण—सुवर्णादि पदार्थ पुत्त—पुत्र दार—स्त्री च—और बधवा—भाइयों को चइत्ता—छोड़कर तथा इम—इस देह—शरीर को मे—मैंने अवसस्स—अवश्य ही गंतव्य—जाना है, परलोक में। णं—वाक्यालंकार में।

मूलार्थ—क्षेत्र, गृह, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस शरीर को छोड़कर मैंने अवश्यमेव परलोक में गमन करना है।

टीका—क्षेत्र—धान्यादि बीज बपन करने के स्थान तथा आराम आदि सुन्दर स्थान। वास्तु—गृह, प्रासादादि निर्माण किये हुए स्थान। हिरण्य—सोना, चाँदी आदि धातु पदार्थ। पुत्र और स्त्री तथा भ्रातृवर्ग, इतना ही नहीं किन्तु यह शरीर भी इस जीव के साथ जाने वाला नहीं। अर्थात् इन सब पदार्थों को छोड़कर परवश हुआ यह जीव परलोक में चला जाता है और ये सब पदार्थ—जिनके लिए यह जीव अनेक प्रकार के छल-प्रपंच करता है—यहीं पर पड़े रहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस आत्मा का इन पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। अतः कर्मों की पराधीनता से यह जीव इनको यहीं पर छोड़कर परलोक में गमन कर जाता है। जब कि ऐसी अवस्था है, तब कौन बुद्धिमान् इन पदार्थों में आसक्त होकर अपनी आत्मा को दुःखों के अगाध सागर में डुबोने का जघन्य प्रयास करेगा? अतएव मैं इन पदार्थों में मूर्च्छित होकर अपनी आत्मा का अधःपतन नहीं करना चाहता किन्तु इनसे सर्वथा उपराम होकर केवल मोक्षमार्ग का पथिक बनना चाहता हूँ। यह प्रस्तुत गाथा का भावार्थ है।

इस प्रकार संसार के निर्वेदविषय का वर्णन करके अब भोगों के कटुविपाक का वर्णन करते हैं। यथा—

जहा किम्पागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१८॥

यथा किंपाकफलानां, परिणामो न सुन्दरः ।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दरः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे किंपागफलाणं—किम्पाक वृक्ष के फलों का परिणामो—परिणाम न सुंदरो—सुन्दर नहीं है एव—इसी प्रकार भुत्ताण—भोगे हुए भोगाणं—भोगों का परिणामो—परिणाम न सुदरो—सुन्दर नहीं है ।

मूलार्थ—जैसे किम्पाक वृक्ष के फलों का परिणाम सुन्दर नहीं है, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं है ।

टीका—इस गाथा में विषय-भोगों के कटु परिणाम का दृष्टान्त द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है । जैसे कि किम्पाक वृक्ष के फल देखने में सुन्दर, खाने में मधुर और स्पर्श में भी सुकोमल होते हैं किन्तु उनका परिणाम सुन्दर नहीं होता अर्थात् भक्षण करने वाले पर उनका प्रभाव यह होता है कि वह खाने के अनन्तर शीघ्र ही अपने प्राणों का त्याग कर देता है । जिस प्रकार किम्पाक फल देखने और खाने में सुन्दर तथा स्वादु होता हुआ भी भक्षण करने वाले के प्राणों का शीघ्र ही सहार कर देता है, ठीक उसी प्रकार इन विषय भोगों की दशा है । ये आरम्भ के समय (भोगते समय) तो बड़े ही प्रिय और चित्त को आकर्षित करने वाले होते हैं परन्तु भोगने के पश्चात् इनका बड़ा ही भयकर परिणाम—फल होता है । तात्पर्य यह है कि आरम्भिक काल में इनकी सुन्दरता और मनोज्ञता चित्त को बड़ी ही लुभाने वाली और प्रसन्न करने वाली होती है । इनके आकर्षण का प्रभाव सासारिक जीवों पर इतना अधिक पड़ता है कि वे प्राण देकर भी इनको प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । परन्तु उत्तरकाल में जब कि इनका उपभोग कर लिया जाय, इनका जो कटुफल जीवों को भोगना पड़ता है, उसकी तो कल्पना करते हुए भी रोमाञ्च हो उठता है । नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक क्लेश तथा नरक निगोदादि स्थानों की भयकर यातनाएँ सब इन्हीं के कटुफल हैं । इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को इनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए ।

अथ मृगापुत्र अपने अभिप्राय को दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेज्जो पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होइ, छुहातण्हाइपीडिओ ॥१९॥

अध्वानं यो महान्तं तु, अपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स दुःखी भवति, क्षुधातृष्णया पीडितः ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जो—जो पुरुष महंत—महान् अद्धाणं—मार्ग को तु—वितर्क में अपाहेज्जो—पाथेयरहित पवज्जई—अंगीकार करता है गच्छंतो—चलता हुआ सो—वह दुही—दुःखी होइ—होता है छुहा—भूख तण्हाइ—पिपासा से पीडिओ—पीड़ित होने पर।

मूलार्थ—जो कोई पुरुष बिना पाथेय के किसी विशाल मार्ग का अनुसरण करता है, वह मार्ग में चलता हुआ क्षुधा और तृष्णा से पीड़ित होकर जैसे दुःखी होता है [वैसे ही धर्म से रहित मनुष्य परलोक में दुःखी होता है] इस प्रकार अग्रिम श्लोक से अन्वय करके अर्थ करना।

टीका—मृगापुत्र अपनी माता और पिता से कहते हैं कि जैसे कोई लम्बे सफ़र को जाने वाला पुरुष पाथेय के बिना ही चल पड़ता है अर्थात् मार्ग में काम आने योग्य ख़र्चे के बिना ही सफ़र करने लग जाता है और रास्ते में जब उसे भूख और प्यास लगे तब उसको शान्त करने के लिए उसके पास कुछ भी न हो, तो जैसे वह पुरुष उस मार्ग में अत्यन्त दुःखी होता है इसी प्रकार धर्माचरण के बिना परलोक का सफ़र करने वाले इस जीव को अनेक प्रकार के असह्य कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसके विपरीत जिस पथिक के पास मार्ग में लगने वाली क्षुधा और तृष्णा की निवृत्ति के लिए पाथेय विद्यमान है और उससे वह अपने क्षुधा और पिपासाजन्य कष्ट को दूर करके सुखी हो जाता है, उसी प्रकार इस लोक में धर्म का आचरण करने वाला पुरुष परलोक की यात्रा में उपस्थित होने वाले कष्टों से बचा रहता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को परलोक में काम आने लायक पाथेय रूप धर्म का अवश्य सञ्चय कर लेना चाहिए।

अब इसी अभिप्राय को स्फुट करने के लिए कहते हैं कि—

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहिरोगेहिं पीडिओ ॥२०॥

एवं धर्ममकृत्वा, यो गच्छति परं भवम् ।
गच्छन् स दुःखी भवति, व्याधिरोगैः पीडितः ॥२०॥

पदार्थान्वय —एव–इसी प्रकार धम्मं–धर्म को अकाऊण–न करके जो–जो पुरुष गच्छइ–जाता है पर भवं–पर भव को सो–वह दुही–दुःखी होइ–होता है वाहि–व्याधि रोगेहिं–रोगों से पीडिओ–पीड़ित हुआ ।

मूलार्थ—इसी प्रकार धर्म का आचरण किये विना जो जीव परलोक में जाता है, वह जाता हुआ व्याधि और रोगादि से पीड़ित होने पर अत्यन्त दुःखी होता है ।

टीका—अब उक्त दृष्टान्त की दार्ष्टान्त में योजना करते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे पाथेय के बिना यात्री मार्ग में क्षुधा और तृष्णादि से व्यथित हुआ अत्यन्त कष्ट पाता है, उसी प्रकार धर्म का आचरण किये बिना ही जो प्राणी परलोक की यात्रा में प्रवृत्त होते हैं, वे व्याधि और शारीरिक रोगों से पीड़ित हुए अत्यन्त दुःखी होते हैं । कारण यह है कि धर्म के प्रभाव से ही व्याधि और रोगों की निवृत्ति होती है । जब कि धर्म ही छूट गया अथवा धर्म का आचरण ही नहीं रहा तब व्याधि और रोगादि का निरन्तर आगमन हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है । यहाँ पर व्याधि से शारीरिक व्यथा और रोग से मानसिक कष्ट का ग्रहण करना । यही अर्थ सूत्रकार को सम्मत है ।

अब इसी विषय का दूसरे रूप से वर्णन करते हैं । यथा—

अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेज्जो पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ॥२१॥

अध्वानं यो महान्तं तु, सपाथेयः प्रव्रजति ।
गच्छन् स सुखी भवति, क्षुधातृष्णाविवर्जितः ॥२१॥

पदार्थान्वय —जो—जो पुरुष महंत—महान् अद्धाणं—मार्ग को तु—वितर्क अर्थ में सपाहेओ—पाथेयसहित पवज्जई—गमन करता है गच्छन्तो—जाता हुआ सो—वह सुही—सुखी होइ—होता है छुहा—भूख तण्हा—प्यास से विवज्जिओ—रहित होकर।

मूलार्थ—जो पुरुष पाथेययुक्त होकर विशाल मार्ग की यात्रा करता है, वह मार्ग में क्षुधा और तृषा की बाधा से रहित होता हुआ सुखी रहता है।

टीका—जो पुरुष दीर्घ मार्ग की यात्रा में पर्याप्त पाथेय लेकर प्रवृत्त होता है, वह मार्ग में सुखी रहता है अर्थात् उसको मार्ग में भूख अथवा प्यास आदि का कोई भी कष्ट नहीं सताता क्योंकि उसके पास मार्ग के कष्ट को निवृत्त करने की पर्याप्त सामग्री होती है। यद्यपि मार्ग में क्षुधा और तृषा के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कष्ट उपस्थित हो सकते हैं तथापि समस्त कष्टों में क्षुधा और तृषा का कष्ट सब से अधिक प्रबल माना जाता है। इसलिए सूत्र में उन्हीं का निर्देश किया गया है।

अब उक्त दृष्टान्त का निगमन करते हुए कहते हैं कि—

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥२२॥
एवं धर्ममपि कृत्वा, यो गच्छति परं भवम्।
गच्छन् स सुखी भवति, अल्पकर्माऽवेदनः ॥२२॥

पदार्थान्वय —एवं—इसी प्रकार पि—सम्भावना में धम्मं—धर्म को काऊणं—करके जो—जो पुरुष गच्छइ—जाता है परं भवं—परभव को गच्छन्तो—जाता हुआ सो—वह सुही—सुखी होइ—होता है अप्पकम्मे—अल्प कर्म वाला अवेयणे—वेदना से रहित होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार जो जीव धर्म का संचय करके परलोक को जाता है, वह वहाँ जाकर सुखी हो जाता है और असातावेदनीय कर्म के अल्प होने से विशेष वेदना को भी प्राप्त नहीं होता।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार पाथेय को साथ लेकर यात्रा करने वाला पुरुष मार्ग में दुःखी नहीं होता, उसी प्रकार इस लोक में धर्म को संचित

करके परलोक में साथ ले जाने वाला पुरुष भी किसी प्रकार के कष्ट को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पाथेययुक्त यात्री मार्ग में सुखी रहता है, उसी प्रकार धर्म रूप पाथेय को साथ में लेकर परलोक की यात्रा करने वाला जीव भी सब प्रकार से सुखी रहता है। असातावेदनीय के स्वल्प होने से उसको वहाँ पर किसी प्रकार की विशेष वेदना नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि—'*हिंसापसूयाणिदुहाणिमत्ता*' अर्थात् हिंसा से सभी प्रकार के दुःखों का उद्भव होता है। इस कथन के अनुसार हिंसा—क्रूरता को अधर्म और अहिंसा—दया को धर्म कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अहिंसा—दया रूप धर्म का पालन करने से यह जीव दुःखों से छूट जाता है। इसी आशय को लेकर सूत्रकार ने धर्म के आचरण करने का फल अल्प कर्म और अवेदन बतलाया है। तात्पर्य यह है कि असातावेदनीय के अल्प होने से वेदना का अनुभव नहीं होता। यदि होता भी है तो बहुत स्वल्प, जो कि नहीं के समान होता है। इस सारे कथन से यह सिद्ध होता है कि मुमुक्षु पुरुष के लिए एकमात्र आचरणीय धर्म है, जो कि सर्व प्रकार के दुःखों का समूलघात करने में सब से अधिक शक्तिमान् है। उस धर्म का आचरण यदि वीतरागभाव से किया जाय तब तो उसका फल मोक्ष है और यदि सरागभाव से उसका अनुष्ठान किया जाय तब उसका फल ऊँचे से ऊँचे देवलोक की प्राप्ति तक है।

अब प्रस्तुत विषय में अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि—

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभंडाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥२३॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥२४॥

यथा गृहे प्रदीप्ते, तस्य गृहस्य यः प्रभुः।
सारभाण्डानि निष्कासयति, असारमपोज्झति ॥२३॥
एवं लोके प्रदीप्ते, जरया मरणेन च।
आत्मानं तारयिष्यामि, युष्माभ्यामनुगतः ॥२४॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे गेहे—घर के पलित्तम्मि—प्रज्वलित होने पर तस्स—उस गेहस्स—घर का जो—जो पहू—प्रभु है, वह—सारभंडाणि—सार वस्तुओं को नीणेइ—निकाल लेता है असारम्—असार को अवउज्झइ—छोड़ देता है।

एवं—इसी प्रकार लोए—लोक के पलित्तम्मि—प्रदीप्त होने पर जराए—जरा से य—और मरणेण—मृत्यु से अप्पाणं—आत्मा को तारइस्सामि—तारूँगा, अतः तुब्भेहिं—आपसे अणुमन्निओ—अनुज्ञा माँगता हूँ।

मूलार्थ—जिस प्रकार घर के प्रज्वलित होने पर उस घर का स्वामी उस घर में रही हुई सार वस्तुओं को निकाल लेता है और असार को छोड़ देता है, उसी प्रकार जरा और मरण से प्रदीप्त होने वाले इस लोक में मैं अपनी आत्मा को तारूँगा, अतः आप मुझे इसके लिए अनुमति प्रदान करें।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि घर के जलने पर उस घर का स्वामी उस घर में रहे हुए सार पदार्थों—रत्नसुवर्णादि—को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है और असार [जीर्णवस्त्र, खाट, बिछौना आदि जो चिरस्थायी तथा महर्घ नहीं हैं] पदार्थों को वहीं पर छोड़ देता है। उसी प्रकार यह लोक भी जन्म, जरा और मृत्यु की आग से प्रज्वलित हो रहा है। तात्पर्य यह है कि लोक में जरा और मृत्यु से संसारी जीव व्याकुल हो रहे हैं। जब घर का स्वामी घर को आग लग जाने पर सब से प्रथम उस घर में रहे हुए सार पदार्थों को ही निकालने का प्रयत्न करता है। ठीक उसी प्रकार मैं भी जन्म, जरा और मृत्यु से दग्ध, अत एव व्याप्त इस लोक में सारभूत अपनी आत्मा को इससे बाहर निकालने की इच्छा करता हूँ। अतः आप मुझे इसके लिए आज्ञा प्रदान करें ताकि मैं अपनी आत्मा का उद्धार कर सकूँ। यहाँ पर जो आज्ञा की प्रार्थना की गई है, वह युवराज पदवी की अपेक्षा से ही जाननी चाहिए। द्विवचन के स्थान पर 'तुब्भेहिं' पद, जिसमें बहुवचन का प्रयोग किया है, माता पिता के प्रति अधिक पूज्यभाव दिखलाने के अभिप्राय से किया गया है। एवं लोक शब्द से—स्वर्ग, पाताल और मर्त्य इन तीनों का ही ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि यह अग्नि इन तीनों में ही है।

युवराज मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता पिता ने उसके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तं बिन्तम्मापियरो, सामण्णं पुत्त ! दुच्चरं ।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ॥२५॥

तं ब्रूतोऽम्वापितरौ, श्रामण्यं पुत्र ! दुश्चरम् ।
गुणानां तु सहस्राणि, धारयितव्यानि भिक्षुणा ॥२५॥

पदार्थान्वयः—त–उस—मृगापुत्र को अम्मापियरो–माता-पिता बिंत–कहने लगे—पुत्त–हे पुत्र ! सामण्ण–श्रमणभाव—साधुवृत्ति दुचर–दुश्चर है गुणाण–गुणों का सहस्साइं–सहस्र—अर्थात् हजारों गुण तु–वितर्क में, निश्चय में है, धारेयव्वाइं–धारण करने चाहिए भिक्खुणा–भिक्षु को ।

मूलार्थ—हे पुत्र ! संयमवृत्ति का पालन करना अत्यन्त कठिन है । क्योंकि भिक्षु को हज़ारों गुण धारण करने पड़ते हैं । इस प्रकार उसको उसके माता पिता ने कहा ।

टीका—पुत्र के इस प्रकार के कथन को सुनकर उसके माता पिता ने कहा कि हे पुत्र ! श्रमणभाव—साधुवृत्ति का पालन करना बहुत ही कठिन काम है । क्योंकि संयमवृत्ति में सहायता देने वाले सहस्रों गुण साधु को धारण करने पड़ते हैं । तात्पर्य यह है कि शील आदि अनेक गुण हैं, जो कि संयम के संरक्षक और जिनका साधु में विद्यमान होना परम आवश्यक है । कहने का सारांश यह है कि जीव को एक गुण का धारण करना भी कठिन है तो संयमवृत्ति के निर्वाहार्थ क्षमा आदि हज़ारों गुणों को अपनी आत्मा में स्थान देना कितना कठिन होगा इसकी कल्पना तो सहज ही में हो सकती है । अतः संयमवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करना बहुत ही कठिन है । यहाँ पर 'भिक्खुणा' यह तृतीयान्तपद षष्ठी के स्थान में ग्रहण किया गया है । तथा 'ब्रूतः' के स्थान में 'बिंत' और 'अम्बा' के स्थान में 'अम्मा' यह आदेश अपभ्रंश भाषा के नियमानुसार किया गया है । एवं इतना और भी स्मरण रहे कि मृगापुत्र के माता पिता ने संयम के विषय में असद्भाव प्रकट नहीं किया किन्तु उसकी दुष्करता बतलाई है, जो कि सर्वथा समुचित है ।

अब संयम की दुश्चरता को प्रमाणित करने के लिए साधु के आचरण करने योग्य मुख्यतया जो पाँच महाव्रत हैं, उनका क्रमशः वर्णन करते हैं । यथा—

समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई , जावज्जीवाए दुक्करं ॥२६॥

समता सर्वभूतेषु, शत्रुमित्रेषु वा जगति।
प्राणातिपातविरतिः , यावज्जीवं दुष्करा ॥२६॥

पदार्थान्वयः—समया-समता सव्वभूएसु-सर्वभूतों में सत्तु-शत्रु और मित्तेसु-मित्रों में जगे-लोक में पाणाइवायविरई-प्राणातिपात की निवृत्ति जावज्जीवाए-जीवनपर्यन्त दुक्करं-दुष्कर है।

मूलार्थ—हे पुत्र! संसार के सभी प्राणियों—अर्थात् शत्रु, मित्र आदि सभी जीवों में समभाव रखना और जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना, यह दुष्कर है—अत्यन्त कठिन है।

टीका—संयमवृत्ति का पालन करना क्यों दुष्कर है? इस कथन के समर्थन में मृगापुत्र के माता पिता ने मुनिवृत्ति के मूलस्तम्भ रूप पाँच महाव्रतों का उसके समक्ष वर्णन करके अपने कथन को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इन पाँच महाव्रतों में से पहले महाव्रत का स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं कि हे पुत्र! संसार के सर्व प्राणियों पर—चाहे उनमें अपना कोई शत्रु होवे अथवा मित्र—सदा के लिए समभाव रखना बहुत कठिन है तथा मन, वचन और शरीर से जीवनपर्यन्त किसी भी प्राणी की हिंसा न करना अर्थात् हिंसा के लिए प्रवृत्त न होना और भी दुष्कर है। कारण कि जो कोई प्राणी अपना अपकार करे, उस पर क्रोध का हो जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं, एवं उपकार करने वाले पर राग का होना भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिए सामान्य कोटि के जीवों का इस संसार में शत्रु और मित्र पर समान भाव रखना अत्यन्त कठिन है। तथा मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, यह भी कोई साधारण सी बात नहीं। इसलिए हे पुत्र! संयम वृत्ति का आराधन करना बहुत दुष्कर है।

इस प्रकार प्रथम महाव्रत के पालन को दुष्कर बतलाने के अनन्तर अब द्वितीय महाव्रत की दुष्करता का वर्णन करते हैं—

निच्चकालप्पमत्तेणं , मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥२७॥
नित्यकालाप्रमत्तेन , मृषावादविवर्जनम् ।
भाषितव्यं हितं सत्यं, नित्यायुक्तेन दुष्करम् ॥२७॥

पदार्थान्वय—निच्चकाल–सदैव अप्पमत्तेणं–अप्रमाद से मुसावाय–मृषावाद का विवज्जणं–त्याग करना भासियव्वं–भाषण करना हियं–हितकारी और सच्चं–सत्य निच्च–सदा आउत्तेण–उपयोग के साथ दुक्करं–दुष्कर है ।

मूलार्थ—हे पुत्र ! सदैव अप्रमत्तभाव से रहना, मृषावाद का—झूठ का—त्याग करना, हितकारी और सत्य वचन कहना तथा सदैव उपयोग के साथ बोलना यह व्रत भी दुष्कर है । अर्थात् इस व्रत का जीवन पर्यन्त यथावत् रूप से पालन करना भी अत्यन्त कठिन है ।

टीका—पूर्वगाथा में प्रथम व्रत के पालन को दुष्कर बतलाया गया है । अब इस दूसरी गाथा में दूसरे व्रत के आचरण को दुष्कर बतलाते हैं । मृगापुत्र के माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! जीवनपर्यन्त अप्रमत्तभाव से झूठ को त्यागना, हितकारी और सत्यरूप भाषण करना और सदैव उपयोगपूर्वक बोलना, यह साधु का दूसरा व्रत है जो कि आचरण करने में अत्यन्त कठिन है । यहाँ पर अप्रमत्त शब्द निद्रा आदि प्रमादों के वशीभूत होकर झूठ बोलने के त्याग का सूचक है । तथा उपयोगपूर्वक बोलने की आज्ञा देने का तात्पर्य यह है कि उपयोगशून्य भाषण में विवेक नहीं रहता और विवेकविकल भाषण में सत्य का अंश बहुत कम होता है । कारण यह है कि विवेकशून्य भाषण में भाषण करने वाले को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि उसने प्रथम क्या कहा था और अब क्या कह रहा है । अतः प्रमाद से युक्त और उपयोग से शून्य जो भी भाषण है, वह सत्य का पोषक होने के बदले उसका सर्वप्रकार से विघातक है । अतएव उक्त गाथा में दो बार नित्य शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि द्वितीय व्रत का पालन करने वाले को सदैव अप्रमत्त और उपयोग सहित होकर भाषण करना चाहिए, जो कि सामान्य जीवों के लिए बहुत ही कठिन है ।

अब तृतीय व्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं—

दन्तसोहणमाइस्स , अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स , गिण्हणा अवि दुक्करं ॥२८॥

दन्तशोधनादेः , अदत्तस्य विवर्जनम् ।
अनवद्यैषणीयस्य , ग्रहणमपि दुष्करम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—दन्तसोहणम्–दन्तशोधनमात्र आइस्स–आदि पदार्थ भी अदत्तस्स–बिना दिये विवज्जणा–वर्जन करने, तथा अणवज्ज–निरवद्य और एसणिज्जस्स–निर्दोष पदार्थों का गिण्हणा अवि–ग्रहण करना भी दुक्करं–दुष्कर है।

मूलार्थ—दन्तशोधनमात्र पदार्थ का भी बिना दिये ग्रहण न करना, किन्तु सदैव निरवद्य और निर्दोष पदार्थों का ही ग्रहण करना यह भी दुष्कर है।

टीका—संयमशील साधु के तीसरे व्रत का नाम है अदत्तादानविरमण। इसका अर्थ है बिना दिये कुछ भी ग्रहण नहीं करना। तात्पर्य यह है कि यदि साधु को दन्तशोधन के लिए किसी तृण आदि पदार्थ की आवश्यकता पड़े तो उसको भी वह बिना उसके स्वामी की आज्ञा के ग्रहण नहीं कर सकता। यदि साधु बिना आज्ञा के एक तृणमात्र भी ग्रहण कर लेता है तो उसके उक्त व्रत में त्रुटि आ जाती है। इसलिए ऐसे नियम का जीवनपर्यन्त पालन करना कुछ सहज नहीं किन्तु बहुत कठिन है। तथा सदैव निरवद्य और निर्दोष भिक्षा मिले, तभी उसको ग्रहण करने का नियम भी अत्यन्त कठिन है। कारण कि सदैव आज्ञा लेना और सदैव निर्दोष आहार ग्रहण करना ये दो तत्त्व इस व्रत के मूल कारण हैं। पहले में तो हर एक छोटी बड़ी वस्तु को माँगकर लेने का विधान है, दूसरे में सचित्त भोजन के त्याग का निर्देश है, क्योंकि उसके प्रथम व्रत में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उन सब को हिंसा से निवृत्त होने का आदेश है। अतः साधु के लिए सचित्त आहार के ग्रहण का सर्वथा निषेध है। यहाँ पर मकार अलाक्षणिक है।

अब चतुर्थ व्रत की दुष्करता के विषय में कहते हैं—

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥२९॥

विरतिरब्रह्मचर्यस्य , कामभोगरसज्ञेन ।
उग्रं महाव्रतं ब्रह्मचर्यं, धारयितव्यं सुदुष्करम् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—विरई–विरति अबम्भचेरस्स–अब्रह्मचर्य की काममो रसन्नुणा–कामभोगों के रस को जानने वाले को उग्गं–उग्र—प्रधान महव्वयं महाव्रत बंभ–ब्रह्मचर्य धारेयव्वं–धारण करना सुदुक्करं–अतिदुष्कर है।

मूलार्थ—कामभोगों के रस को जानने वाले पुरुष के लिए मैथुन निवृत्त होना बहुत ही कठिन है तथा सर्वप्रधान ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत का धारण करना भी अतीव दुष्कर है।

टीका—मृगापुत्र के माता पिता चतुर्थ महाव्रत की दुष्करता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे पुत्र! कामभोगों में आसक्त और उनके क्षणस्थायी सुख का अनुभव करने वाले रसज्ञ पुरुष को मैथुन का त्याग करना बहुत कठिन है क्योंकि जो अज्ञानी जीव इनके आपातरमणीय स्वरूप पर मोहित होकर इनमें मूर्च्छित हो गया है, उससे मैथुन रूप अब्रह्मचर्य का परित्याग होना कठिन है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुमने इन कामभोगों के रसों का न्यूनाधिकरूप में अनुभव किया है अतः तेरे लिए इनका त्याग दुष्कर है। इसी कारण हे पुत्र! सर्वव्रतों में प्रधान को धारण करने वाले इस ब्रह्मचर्य रूप महाव्रत का पालन करना अतीव दुष्कर है अर्थात् एक कामरसज्ञ पुरुष के लिए मन, वचन और काया से आजन्म ब्रह्मचारी रहना नितान्त कठिन है।

अब पाँचवें महाव्रत की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं—

धणधन्नपेसवग्गेसु , परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारम्भपरिच्चागो , निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥३०॥

धनधान्यप्रेष्यवर्गेषु , परिग्रहविवर्जनम् ।
सर्वारंभपरित्यागः , निर्ममत्वं सुदुष्करम् ॥३०॥

पदार्थान्वयः—धण–धन धन्न–धान्य पेसवग्गेसु–प्रेष्य—दास वर्ग में

त्याग और सव्वारम्भ—सर्व प्रकार के आरम्भ का परिच्चागो—परित्याग करना सुदुक्कर—अतीव दुष्कर है ।

मूलार्थ—हे पुत्र ! धन, धान्य और दासवर्ग में ममत्व का त्याग करना बहुत कठिन है, तथा परिग्रह और सर्वप्रकार के आरम्भ का परित्याग करना अतीव दुष्कर है ।

टीका—यद्यपि परिग्रह के अनेक भेद हैं, परन्तु सब में घटित होने वाला परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा है—'मुच्छापरिग्गहोवत्तो' अर्थात् मूर्च्छा—ममत्व का नाम परिग्रह है । अतः सांसारिक पदार्थों में मूर्च्छा—ममत्व का जीवनपर्यन्त त्याग करना बहुत कठिन है । इसी लिए कहा गया है कि धन, धान्य, भृत्य आदि वर्ग में ममत्व का त्यागना बहुत कठिन है । क्योंकि ममत्व का मूल कारण राग है और राग का त्याग करने से ही सांसारिक पदार्थों पर से ममता दूर हो सकती है । परन्तु राग का त्याग करना कितना कठिन है, इसके लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है । अतएव परिग्रह का त्याग करना सामान्यकोटि के मनुष्यों के लिए नितान्त कठिन है तथा आरम्भ का त्याग भी अतिदुष्कर है । क्योंकि यावन्मात्र धन के उत्पन्न करने के व्यापार हैं, वे सब आरम्भपूर्ण कहे हैं, उनका सर्व प्रकार से और सदा के लिए त्याग कर देना कुछ साधारण बात नहीं है । इसी तरह सदा ममता रहित होना भी अत्यन्त कठिन है । क्योंकि संसार में जितने भी प्राणी हैं वे प्रायः सचित्त, अचित्त और मिश्रित पदार्थों के संसर्ग में आकर उनमें ममता बाँधे बैठे हैं अर्थात् उनमें लचित हो रहे हैं । ऐसी दशा में उनसे मोह का त्याग करना कितना कठिन है, यह बात सहज ही में समझी जा सकती है । तात्पर्य यह है कि इन पदार्थों पर से ममत्व का दूर करना बहुत ही कठिन काम है । प्रस्तुत गाथा में धन का प्रथम ग्रहण करना उसकी सर्वप्रधानता का सूचक है अर्थात् धन के ममत्व में प्राणिमात्र की वृत्ति लगी हुई है । इसी कारण अन्य पदार्थों में ममत्व की जागृति होती है ।

इस प्रकार पाँचों महाव्रतों की दुष्करता का वर्णन करने के अनन्तर अब छठे रात्रिभोजन की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं—

चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥३१॥
चतुर्विधेऽप्याहारे , रात्रिभोजनवर्जना ।
सन्निधिसञ्चयश्चैव , वर्जितव्यः सुदुष्करः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—चउव्विहेवि आहारे–चार प्रकार का आहार राईभोयणे–रात्रिभोजन वज्जणा–वर्जनीय है संनिही–रात्रि को सचयो–सचय घृतादि पदार्थों का व–पुनः एव–निश्चय वज्जेयव्वो–वर्जन करना सुदुक्करं–अति दुष्कर है।

मूलार्थ—रात्रि में चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना और किसी पदार्थ का सचय न करना, यह काम बड़ा दुष्कर है।

टीका—हे पुत्र ! साधु को रात्रि में अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग कर देना, इतना ही नहीं किन्तु रात्रि में घृत आदि पदार्थों तथा ओषधि आदि द्रव्यों का सचय—सग्रह भी नहीं करना चाहिए। अतः आयुपर्यन्त इस व्रत का पालन करना बहुत कठिन है। रात्रिभोजन के परित्याग में एक तो जीवों की रक्षा होती है, दूसरे तप का सचय होता है। तथा रात्रि में सन्निधि और पदार्थसंग्रह से ममत्व की जागृति और त्रस जीवों की अवहेलना का होना स्वाभाविक है। अतः इसका भी साधु के लिए निषेध है। यहाँ पर रात्रिभोजन के साथ २ कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त आहार का त्याग भी जान लेना तथा उत्तर गुणों में अभिग्रहादि को भी समझ लेना। इस कथन से राजा और राणी का साधुचर्या से सुपरिचित होना भी भली प्रकार से व्यक्त होता है।

इस प्रकार रात्रिभोजन के त्याग की दुष्करता का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब अन्य परिषहों के सहन की दुष्करता का वर्णन करते हैं। यथा—

छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥३२॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥३३॥

क्षुधा तृषा च शीतोष्णं, दंशमशकवेदना ।
आक्रोशा दुःखशय्या च, तृणस्पर्शा जल्लमेव च ॥३२॥
ताडना तर्जना चैव, वधबन्धौ परीषहौ ।
दुःखं भिक्षाचर्यायाः, याचना चालाभता ॥३३॥

पदार्थान्वयः—छुहा—क्षुधा य—और तण्हा—तृषा दंसमसग—दंश, मशक की वेयणा—वेदना य—समुच्चय अर्थ में है अक्कोसा—आक्रोश—गाली आदि य—और दुक्खसिज्जा—दुःखरूपशय्या तणफासा—तृणस्पर्श य—पुनः जल्लम्—शरीर का मल एव—निश्चयार्थक है।

तालणा—ताड़ना तज्जणा—तर्जना च—पुनः एव—निश्चय वह—वध बन्ध—बन्धन आदि परीसहा—परीषह दुक्खं—दुःखरूप भिक्खायरिया—भिक्षाचरी का करना जायणा—माँगना य—और अलाभया—माँगने पर न मिलना।

मूलार्थ—भूख, प्यास, दंशमशक की वेदना, आक्रोश, विषमशय्या, तृणस्पर्श और शरीर का मल तथा ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन और घर २ में भिक्षा माँगना तथा माँगने पर न मिलना इत्यादि परिषहों का सहन करना बहुत कठिन है।

टीका—इन दोनों गाथाओं में परिषहों के सहन करने की दुष्करता का वर्णन किया गया है। मृगापुत्र के प्रति उसके माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र! साधुवृत्ति का पालन करना इसलिए भी कठिन है कि इसमें अनेक प्रकार के परिषहों—कष्टों—का सामना करना पड़ता है। और इन परिषहरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना कोई सहज काम नहीं है। यथा—क्षुधा के लगने पर चाहे प्राण भले ही चले जायँ परन्तु साधुवृत्ति के विरुद्ध सचित्त और आधाकर्मी आहार कदापि ग्रहण नहीं करना। इसी प्रकार तृषा के व्याप्त होने पर प्राण जाने तक भी सचित्त जल का अंगीकार न करना, शीत के लगने पर भी प्रमाण से अधिक वस्त्र और अग्नि आदि का सेवन न करना, गर्मी की अधिक बाधा होने पर भी स्नान आदि न करना, डाँस और मच्छर आदि की वेदना को शांतिपूर्वक सहन करना, अन्य पुरुषों के भर्त्सनायुक्त वाक्यों को सुनकर उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करना किन्तु उनके आक्रोशयुक्त

चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥३१॥

चतुर्विधेऽप्याहारे, रात्रिभोजनवर्जना ।
सन्निधिसञ्चयश्चैव, वर्जितव्यः सुदुष्करः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—चउव्विहेवि आहारे–चार प्रकार का आहार राईभोयणे–रात्रिभोजन वज्जणा–वर्जनीय है संनिही–रात्रि को संचयो–संचय घृतादि पदार्थों का च–पुनः एव–निश्चय वज्जेयव्वो–वर्जन करना सुदुक्करं–अति दुष्कर है ।

मूलार्थ—रात्रि में चारों प्रकार के आहार का परित्याग करना और किसी पदार्थ का संचय न करना, यह काम बड़ा दुष्कर है ।

टीका—हे पुत्र ! साधु को रात्रि में अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा त्याग कर देना, इतना ही नहीं किन्तु रात्रि में घृत आदि पदार्थों तथा ओषधि आदि द्रव्यों का संचय—संग्रह भी नहीं करना चाहिए । अतः आयुपर्यन्त इस व्रत का पालन करना बहुत कठिन है । रात्रिभोजन के परित्याग में एक तो जीवों की रक्षा होती है, दूसरे तप का संचय होता है । तथा रात्रि में सन्निधि और पदार्थसंग्रह से ममत्व की जागृति और त्रस जीवों की अवहेलना का होना स्वाभाविक है । अतः इसका भी साधु के लिए निषेध है । यहाँ पर रात्रिभोजन के साथ २ कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त आहार का त्याग भी जान लेना तथा उत्तर गुणों में अभिग्रहादि को भी समझ लेना । इस कथन से राजा और राणी का साधुचर्या से सुपरिचित होना भी भली प्रकार से व्यक्त होता है ।

इस प्रकार रात्रिभोजन के त्याग की दुष्करता का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब अन्य परिषहों के सहन की दुष्करता का वर्णन करते हैं । यथा—

छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥३२॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥३३॥

छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥३२॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबन्धपरीसहा ।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया ॥३३॥

क्षुधा तृषा च शीतोष्णं, दंशमशकवेदना ।
आक्रोशा दुःखशय्या च, तृणस्पर्शा जल्लमेव च ॥३२॥
ताडना तर्जना चैव, वधबन्धौ परीषहौ ।
दुःखं भिक्षाचर्यायाः, याचना चालाभता ॥३३॥

पदार्थान्वयः—छुहा–क्षुधा य–और तण्हा–तृषा दंसमसग–दंश, मशक की वेयणा–वेदना य–समुच्चय अर्थ में है अक्कोसा–आक्रोश—गाली आदि य–और दुक्खसिज्जा–दुःखरूपशय्या तणफासा–तृणस्पर्श य–पुनः जल्लम्–शरीर का मल एव–निश्चयार्थक है।

तालणा–ताडना तज्जणा–तर्जना च–पुनः एव–निश्चय वह–वध बन्ध–बन्धन आदि परीसहा–परीषह दुक्खं–दुःखरूप भिक्खायरिया–भिक्षाचरी का करना जायणा–माँगना य–और अलाभया–माँगने पर न मिलना।

मूलार्थ—भूख, प्यास, दंशमशक की वेदना, आक्रोश, विषमशय्या, तृणस्पर्श और शरीर का मल तथा ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन और घर २ में भिक्षा माँगना तथा माँगने पर न मिलना इत्यादि परिषहों का सहन करना बहुत कठिन है।

टीका—इन दोनों गाथाओं में परिषहों के सहन करने की दुष्करता का वर्णन किया गया है। मृगापुत्र के प्रति उसके माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र! साधुवृत्ति का पालन करना इसलिए भी कठिन है कि इसमें अनेक प्रकार के परिषहों—कष्टों—का सामना करना पड़ता है। और इन परिषहरूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना कोई सहज काम नहीं है। यथा—क्षुधा के लगने पर चाहे प्राण भले ही चले जायँ परन्तु साधुवृत्ति के विरुद्ध सचित्त और आधाकर्मी आहार कदापि ग्रहण नहीं करना। इसी प्रकार तृषा के व्याप्त होने पर प्राण जाने तक भी सचित्त जल का अंगीकार न करना, शीत के लगने पर भी प्रमाण से अधिक वस्त्र और अग्नि आदि का सेवन न करना, गर्मी की अधिक बाधा होने पर भी स्नान आदि न करना, डाँस और मच्छर आदि की वेदना को शांतिपूर्वक सहन करना, अन्य पुरुषों के भर्त्सनायुक्त वाक्यों को सुनकर उन पर किसी प्रकार का क्रोध न करना किन्तु उनके आक्रोशयुक्त

वाक्यों को शान्तिपूर्वक सहन कर लेना। विषम—ऊँची नीची—शय्या के मिल पर भी चित्त में उद्वेग न लाना, तृणादि के स्पर्श से पीड़ित होने पर उसकी निवृ का वस्त्रादि के द्वारा कोई उपाय न करना, उष्णता के कारण शरीर पर जमे हुए म को उतारने के लिए स्नानादि क्रिया में प्रवृत्त न होना इत्यादि अनेक परिषहों साधुवृत्ति में सामना करना पड़ता है। तथा कोई पुरुष साधु को हस्तादि मारते कोई २ अंगुलि आदि से तर्जना करते हैं, कोई २ लकड़ी आदि से मार बैठते तथा कोई २ बाँध ही देते हैं। इसके अतिरिक्त जीवनपर्यन्त घर २ में भिक्षा माँग और माँगने पर भी न मिलना तथा रोगादि के उपस्थित होने पर किसी प्रकार उपचार अथवा आर्तध्यान न करना इत्यादि अनेक प्रकार के कष्टों को शांतिपूर्व सहन करने की साधुवृत्ति में आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इस वृत्ति का आचर करना अतीव दुष्कर है।

इस प्रकार संक्षेप से परिषहों का विवरण करने के अनन्तर अब साधु अन्य नियमों का उल्लेख करते हैं, जिससे कि उसकी—संयम की—दुष्करता औ भी अधिक रूप से प्रतीत हो सके। यथा—

कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणो ॥३४॥

कापोती येयं वृत्तिः, केशलोचश्च दारुणः।
दुःखं ब्रह्मव्रतं घोरं, धर्तुं च महात्मना ॥३४॥

पदार्थान्वय—कावोया—कपोत के समान जो—जो इमा—यह वित्ती—वृत्ति है अ—और केसलोओ—केशलुंचन भी दारुणो—दारुण है दुक्खं—दुःखरूप बंभव्वयं—ब्रह्मचर्य व्रत है और घोरं—घोर धारेउं—धारण करना य—पुनः महप्पणो—महात्मा को।

मूलार्थ—यह साधुवृत्ति कपोत पक्षी के समान है और केशों का लुंचन करना भी दारुण है तथा ब्रह्मचर्य रूप घोर व्रत का धारण करना भी महात्म पुरुष को बड़ा कठिन है।

टीका—मृगापुत्र के माता पिता फिर कहते हैं कि हे पुत्र! यह मुनिवृत्ति कपोत पक्षी के समान है अर्थात् जैसे कपोत—कबूतर पक्षी अपनी उदरपूर्ति के लिए

शङ्कित होकर ही दाना आदि भक्ष्य पदार्थों का ग्रहण करता है—क्योंकि यह जीव बड़ा भीरु होता है और अपने शत्रु—बिडाल आदि जीवों से सदैव भयभीत सा बना रहता है। ठीक उसी प्रकार की महात्मा जनों की भी आहारादि ग्रहण करने की वृत्ति है, वे भी दोषों से सदैव शङ्कित रहते हैं। इसके अतिरिक्त साधुवृत्ति में जो केशों का लुंचन करना है, यह और भी दारुण है। अल्पसत्त्व रखने वाले जीवों के वास्ते तो यह बहुत ही भयप्रद है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना तो इससे भी कठिन है। इस व्रत के सामने तो बड़े २ महात्मा पुरुष भी भाग जाते हैं। इसी लिए इस व्रत को घोर बतलाया गया है। तथा पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत की दुष्करता बतलाने के बाद फिर दूसरी बार इसका उल्लेख भी इसी आशय से किया गया है। इस गाथा में साधुचर्या की दुष्करता के लिए कापोती वृत्ति, केशलुंचन और शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन, ये तीन हेतु दिये गये हैं जो कि सर्वथा समुचित प्रतीत होते हैं।

अब संयमवृत्ति के पालन में पुत्र की असमर्थता का वर्णन करते हैं—

सुहोइओ तुमं पुत्ता ! सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हुसी पभू तुमं पुत्ता ! सामण्णमणुपालिया ॥३५॥

सुखोचितस्त्वं पुत्र ! सुकुमारश्च सुमज्जितः।
न खल्वसि प्रभुस्त्वं पुत्र ! श्रामण्यमनुपालयितुम् ॥३५॥

पदार्थान्वयः—पुत्ता—हे पुत्र ! तुम—तू सुहोइओ—सुखोचित है सुकुमालो—सुकुमार है सुमज्जिओ—सुमज्जित है तुम—तू पभू—समर्थ न हुसी—नहीं है पुत्ता—हे पुत्र ! सामण्णा—संयम के अणुपालिया—पालन करने को।

मूलार्थ—हे पुत्र ! तू सुखोचित है, सुकुमार है और सुमज्जित—भली प्रकार से स्नापित है। अतः हे पुत्र ! तू संयमवृत्ति का पालन करने को समर्थ नहीं है।

टीका—युवराज के माता पिता ने संयम की दुष्करता को बतलाने के अनन्तर मृगापुत्र को उसके अयोग्य बतलाते हुए कहा कि पुत्र ! तुमने आज तक संसार में कभी कष्टों का अनुभव नहीं किया तथा तेरा शरीर भी अतिकोमल है, अतः कष्टों को सहन करने के योग्य नहीं। इसके अतिरिक्त तू सदैव अलङ्कृत रहता

है अर्थात स्नान, विलेपन, वस्त्र और आभूषणादि से सदा उपस्कृत रहता है। इसलिए संयमवृत्ति का पालन करना तेरे लिए बहुत कठिन है अर्थात् तू संयमवृत्ति का पालन नहीं कर सकता। इस गाथा में मृगापुत्र की सुखशीलता, सुकुमारता और अलङ्कृति का दिग्दर्शन कराने का तात्पर्य यह है कि संयमवृत्ति में आरूढ होने वाले पुरुष को इन तीनों ही अवस्थाओं का परित्याग करना पड़ता है। अथवा यों कहिए कि ये तीनों ही बातें संयम की विरोधी हैं। या इस प्रकार समझिए कि सुखशील, सुकुमार और अलङ्कृतिप्रिय मनुष्य संयम के योग्य नहीं होता अर्थात् जब तक उसकी वृत्ति इनमें लगी हुई है, तब तक वह संयम के योग्य नहीं हो सकता।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो।
गुरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥३६॥

यावज्जीवमविश्रामः, गुणानां तु महाभरः।
गुरुको लोहभार इव, यः पुत्र ! भवति दुर्वहः ॥३६॥

पदार्थान्वयः—जावज्जीवम्—जीवनपर्यन्त अविस्सामो—विश्रामरहित होना गुणाण—गुणों का महब्भरो—बड़ा समूह है तु—पादपूरण में गुरुओ—भारी लोहभारु—लोहभार की व्व—तरह जो—जो पुत्ता—हे पुत्र ! दुव्वहो—उठाना दुष्कर होइ—होता है।

मूलार्थ—हे पुत्र ! जीवनपर्यन्त इस वृत्ति में कोई विश्राम नहीं है तथा लोहभार की तरह गुणों के महान् समूह को उठाना दुष्कर है।

टीका—हे पुत्र ! साधुवृत्ति को ग्रहण करके जीवनपर्यन्त इसमें कोई विश्राम नहीं तथा सहस्रों गुणों के समूह को लोहभार की भाँति उठाना अत्यन्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अल्पसत्त्व वाले जीव गुरुतर भार को उठाने में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार साधुवृत्ति में धारण करने वाले गुणसमूह के भार को तेरे जैसा सुकुमारप्रकृति का बालक उठा नहीं सकता। सारांश यह है कि साधुवृत्ति में जिन गुणों की आवश्यकता है, उनका सम्पादन तेरे जैसे सुखशील और कोमलप्रकृति बालक के लिए अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार आकाश में घूमने वाले सूर्य और

चन्द्रमा के लिए कोई विश्राम का स्थान नहीं, उसी प्रकार इस वृत्ति में आरूढ हुए साधु के लिए भी विश्राम का कोई स्थान नहीं । इसलिए इस वृत्ति के तू योग्य नहीं है ।

अब उक्त विषय की पुष्टि के लिए एक और उदाहरण देते हैं । यथा—

आगासे गंगसोउ व्व, पडिसोउ व्व दुत्तरो ।
बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ॥३७॥

आकाशे गंगास्रोत इव, प्रतिस्रोत इव दुस्तर ।
बाहुभ्यां सागरश्चैव, तरितव्यो गुणोदधि ॥३७॥

पदार्थान्वयः—आगासे—आकाश में गंगसोउ—गंगा नदी के स्रोत की व्व—तरह पडिसोउ—प्रतिस्रोत व्व—वत् दुत्तरो—दुस्तर है बाहाहिं—भुजाओं से सागरो—सागर च—पुन एव—निश्चय में तरियव्वो—तैरना कठिन है, इसी प्रकार गुणोदही—गुणों का समुद्र भी तैरना कठिन है ।

मूलार्थ—इस साधुवृत्ति का अनुष्ठान आकाश में गंगास्रोत और प्रतिस्रोत की भाँति दुस्तर है । तथा जैसे भुजाओं से समुद्र का तैरना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के समुद्र का पार करना भी अत्यन्त कठिन है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयमवृत्ति के पालन को गंगाप्रवाह के दृष्टान्त से अत्यन्त कठिन बतलाने का प्रयत्न किया गया है । मृगापुत्र के माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! गंगानदी का स्रोत हिमालय से निकलकर बहता है । उसकी सौ योजन प्रमाण धारा नीचे गिरती है । उस धारा को पकड़कर जैसे पर्वत पर चढ़ना दुस्तर है, उसी प्रकार संयमवृत्ति का सम्यग् अनुष्ठान करना भी दुस्तर है । तथा जैसे अन्य नदियों के प्रतिस्रोतों में तैरना कठिन है अर्थात् जहाँ पर पानी ऊँचे स्थान से नीचे गिरता है और जल का प्रवाह बड़े वेग से बहता है—जैसे उस प्रवाह में तैरना कठिन है, उसी प्रकार संयमवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त कठिन है । तथा जैसे भुजाओं से समुद्र का पार करना दुस्तर है, उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों के समूहरूप समुद्र का पार करना भी नितान्त कठिन है । तात्पर्य यह है कि भुजाओं से समुद्र पार करने की भाँति मन, वचन और शरीर से जीवनपर्यन्त ज्ञानादि गुणों का सम्यक् रूप से आराधन करना निस्सन्देह अधिक से अधिक कठिन है ।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे ।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥३८॥

वालुकाकवलश्चैव , निःस्वादस्तु संयमः ।
असिधारागमनं चैव, दुष्करं चरितुं तपः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—वालुया—वालू के कवले—कवल की एव—तरह संजमे—संयम निरस्साए—स्वादरहित है उ—वितर्क में असिधारा—खड्ग की धारा पर गमणं—गमन की एव—तरह दुक्करं—दुष्कर है तवो—तप का चरिउं—आचरण करना च—समुच्चय अर्थ में, वा पादपूर्ति में है ।

मूलार्थ—जैसे वालू के कवल में कोई रस नहीं, उसी प्रकार संयम भी नीरस अथच स्वादरहित है तथा जैसे तलवार की धार पर चलना दुष्कर है, उसी प्रकार तप का आचरण करना भी अत्यन्त कठिन है ।

टीका—इस गाथा में वालू और असिधारा के दृष्टान्त से संयमवृत्ति को अत्यन्त नीरस और दुश्चरणीय बतलाया है । जैसे वालू—रेत बिलकुल नीरस और स्वादरहित होता है, उसी प्रकार यह संयम भी नीरस अथच निःस्वाद है । यद्यपि संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि कोई न कोई रस अथवा स्वाद न रखता हो तथापि ग्रहण करने वाले पुरुष को जिस रस की इच्छा हो, उसके प्रतिकूल पदार्थ को वह नीरस ही मानता है । इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषों को यद्यपि संयम में सरसता प्रतीत होती है तथापि विषयासक्त संसारी पुरुषों की दृष्टि में वह सर्वथा नीरस है । इसी आशय से वालू के समान इसको स्वादरहित बतलाया है । जिस प्रकार असिधारा पर चलना कठिन है, उसी प्रकार संयमक्रिया का अनुष्ठान करना भी नितान्त कठिन है । तात्पर्य यह है कि जैसे खड्गधारा पर चलने वाला पुरुष जरा सी असावधानी से मारा जाता है अर्थात् उसके पाँव आदि शरीर के अंग-प्रत्यंग के कट जाने का भय रहता है, इसी प्रकार तप के अनुष्ठान में भी असावधानता करने वाले पुरुष को महान् से महान् अनिष्ट उपस्थित होने की संभावना रहती है । इसलिए हे पुत्र ! इस संयम का पालन करना तुम्हारे जैसे राजकुमार के लिए अत्यन्त कठिन है ।

अब फिर अन्य दृष्टान्त के द्वारा संयम की दुष्करता का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

अही वेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥३९॥

अहिरिवैकान्तदृष्ट्या , चारित्रं पुत्र ! दुश्चरम्।
यवा लोहमयाश्चैव , चर्वयितव्या सुदुष्करा ॥३९॥

पदार्थान्वय —अही–साँप इव–की तरह एगंत–एकान्त दिट्ठीए–दृष्टि से पुत्त–हे पुत्र ! चरित्ते–चारित्र दुच्चरे–दुश्चर है च–पुनः एव–जैसे लोहमया–लोहमय जवा–यव चावेयव्वा–चर्वण करने सुदुक्करं–अति दुष्कर हैं।

मूलार्थ—हे पुत्र ! जैसे साँप एकाग्र दृष्टि से चलता है, उसी प्रकार एकाग्र मन से संयमवृत्ति में चलना कठिन है। तथा जैसे लोहमय यवों का चर्वण करना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना भी दुष्कर है।

टीका—इस गाथा में चारित्र की दुष्करता बतलाने के लिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं—पहला सर्प का और दूसरा लोहे के यवों का। जैसे कंटकादियुक्त मार्ग में सर्प एकाग्र दृष्टि से चलता है अर्थात् मार्ग में चलता हुआ सर्प अपनी दृष्टि को इधर उधर नहीं करता, तात्पर्य यह है कि काँटा आदि लग जाने के भय से वह मार्ग में सर्वथा सावधान होकर चलता है। जिस प्रकार उसका यह गमन अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार संयममार्ग में चलना भी अत्यन्त कठिन है। क्योंकि काँटों की तरह संयममार्ग में भी अनेक प्रकार के अतिचार आदि दोषों के लग जाने की संभावना रहती है। तथा जिस प्रकार लोहे के यवों को दाँतों से चबाना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है। तात्पर्य यह है कि संयम का पालन करना और लोहे के चने चबाना ये दोनों बातें समान हैं। जो पुरुष लोहे के चने चबाने की सामर्थ्य रखता हो, उसी का संयम में प्रवृत्त होना ठीक है, और का नहीं। अतः तुम्हारे जैसे कोमलप्रकृति के बालक इस संयम का पालन नहीं कर सकते, यह इस गाथा का भाव है। यहाँ पर 'एव' शब्द उपमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अब संयम की दुष्करता के लिए अग्नि का दृष्टान्त देते हैं। यथा—

जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं ।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥४०॥
यथाग्निशिखा दीप्ता, पातुं भवति सुदुष्करा ।
तथा दुष्करं कर्तुं यत्, तारुण्ये श्रमणत्वम् ॥४०॥

पदार्थान्वय —जहा–जैसे अग्गिसिहा–अग्निशिखा—आग की ज्वाला दित्ता–दीप्त—प्रचण्ड पाउ–पीना सुदुक्कर–अति दुष्कर होइ–है तहा–उसी प्रकार दुक्कर–दुष्कर है जे–जो तारुण्णे–तरुण अवस्था में समणत्तणं–संयम का पालन करेउं–करना ।

मूलार्थ—जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निशिखा—अग्निज्वाला—का पीना दुष्कर है, उसी प्रकार युवावस्था में संयम का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तरुण अवस्था में संयम के पालन को अत्यन्त कठिन बतलाने के लिए अग्निशिखा का उदाहरण दिया है । जैसे प्रचण्ड अग्निज्वाला का मुख से पान करना असंभव है, उसी प्रकार तरुण अवस्था में संयमवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त दुष्कर है । कारण कि इस अवस्था में इन्द्रियों का दमन करना—मन, वचन और शरीर से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना कुछ खेल नहीं, प्रत्युत यह काम इतना ही दुष्कर है, जितना कि अग्नि की प्रदीप्त ज्वाला का मुख से पान करना । तात्पर्य यह है कि संयम का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का काम नहीं किन्तु कोई २ सत्त्वशाली महापुरुष ही इसके यथावत् पालन की शक्ति रखते हैं । इसलिए हे पुत्र ! तेरे जैसा सुकुमार बालक इसके योग्य नहीं हो सकता । क्योंकि तरुण अवस्था में संयमवृत्ति का पालन करना प्रचण्ड अग्निशिखा को मुख से पीने के समान है । सूत्र में 'दित्ता' यह द्वितीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति दी हुई है । तथा लिंगव्यत्यय होने से 'कृ' धातु का प्रयोग भी व्यत्यय किया गया है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥४१॥

यथा दुःखं भर्तुं यो, भवति वायोः कोस्थलः।
तथा दुष्करं कर्तुं यत्, क्लीवेन श्रामण्यम् ॥४१॥

पदार्थान्वय —जहा—जैसे दुक्ख—कठिन होइ—होता है भरेउ—भरना वायस्स—वायु से कोत्थलो—वस्त्र का कोथला—थैला तहा—वैसे दुक्ख—कठिन है करेउ—करना कीवेणं—क्लीव पुरुषों को समणत्तणं—संयम का पालन करना जे—पादपूर्ति में।

मूलार्थ—जैसे वायु से कोथला—थैला—भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीव [कम सत्त्व वाले] पुरुष को संयम का पालन करना कठिन है।

टीका—इस गाथा का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार वस्त्र की कोथली में भरा हुआ वायु ठहर नहीं सकता, उसी प्रकार निर्बल आत्मा में संयमपोषक शीलादि गुणों की स्थिति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सत्त्वहीन, कम सत्त्व वाले जीव संयमोपयोगी गुणों को धारण करने की शक्ति नहीं रखते। विपरीत इसके जैसे चर्म के कोथले में भरा हुआ वायु ठहर सकता है, उसी प्रकार सत्त्वशाली वीर पुरुष ही संयमवृत्ति को धारण कर सकते हैं। यहाँ पर कपड़े के कोथले के समान क्लीवात्मा है और शील आदि गुण वायु के तुल्य कहे गये हैं। तथा 'जे' शब्द पादपूर्ति में है, और 'वायस्स' वातेन—यह तृतीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग किया गया है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करो मंदरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं, दुक्करं समणत्तणं ॥४२॥

यथा तुलया तोलयितुं, दुष्करो मन्दरो गिरिः।
तथा निभृतं निःशङ्कं, दुष्करं श्रमणत्वम् ॥४२॥

पदार्थान्वय —जहा—जैसे तुलाए—तुला से तोलेउ—तोलना दुक्करो—दुष्कर है मंदरो—मन्दिर नामा गिरी—पर्वत तहा—उसी प्रकार निहुय—निश्चल और नीसंकं—शंका से रहित होकर दुक्करं—दुष्कर है समणत्तणं—साधुवृत्ति का पालन करना।

मूलार्थ—जैसे तुला से मेरु पर्वत का तोलना दुष्कर है, ठीक उसी प्रकार निश्चलचित्त और शंकारहित होकर साधुवृत्ति का पालन करना भी अत्यन्त कठिन है।

टीका—यहाँ पर श्रमणत्व को अत्यन्त दुष्कर बतलाने के लिए जो मे पर्वत का दृष्टान्त दिया है, वह सर्वथा समुचित है। अर्थात् जिस प्रकार मेरु पर्वत क लकड़ी से तोला नहीं जा सकता, उसी प्रकार एकाग्र मन से और सम्यक्त्वादि में सर्वथ शंकारहित होकर साधुवृत्ति का अनुष्ठान भी दुर्बल आत्मा से नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि द्रव्य और भाव से ममत्व का सर्वथा त्याग करके श्रमणवृत्ति के अनुसा तपश्चर्या में प्रवृत्त होना बहुत ही कठिन है। द्वितीय पक्ष में, जैसे मेरु पर्वत क माप करना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार श्रमणधर्मोचित गुणों का माप करना औ उनको धारण करना भी निर्बल आत्मा के लिए असमव नहीं तो कठिनतर अवश्य है। मृगापुत्र के माता पिता के कथन का अभिप्राय यह है कि तू जिस परिस्थिति मे इस समय पल रहा है और तेरे शरीर की जो अवस्था है, उससे तू श्रमणवृत्ति के योग्य प्रतीत नहीं होता। अब इसकी ओर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिए।

अब फिर उक्त विषय का ही समर्थन करते हुए कहते हैं—

जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥४३॥

यथा भुजाभ्यां तरितुं, दुष्करो रत्नाकरः।
तथाऽनुपशान्तेन, दुष्करो दमसागरः ॥४३॥

पदार्थान्वय—जहा—जैसे भुयाहिं—भुजाओं से तरिउं—तरना रयणायरो—रत्नाकर दुक्करं—दुष्कर है तहा—उसी प्रकार अणुवसंतेणं—अनुपशान्त से—उत्कट कषाय वाले से दमसायरो—इन्द्रियदमन रूप समुद्र अथवा उपशम रूप समुद्र का तरना दुक्करं—दुष्कर है।

मूलार्थ—जैसे भुजाओं से समुद्र का तैरना दुष्कर है, उसी प्रकार अनुपशान्त—उत्कट कषाय वाले—आत्मा से दम रूप समुद्र का तैरना दुष्कर है।

टीका—मृगापुत्र के माता पिता कहते हैं कि हे पुत्र! जिस प्रकार भुजाओं से समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जिस आत्मा के कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ—का उदय हो रहा है, इतना ही नहीं किन्तु वह उदय भी उत्कट

रूप से हो रहा है, यह आत्मा भी उपशमरूप—शान्तरूप जो समुद्र है उससे पार नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि संयमवृत्ति का पालन वही आत्मा कर सकता है, जिसके कषाय उपशमभाव में रहें। परन्तु तेरे कषाय अभी उत्कट भाव में विद्यमान हैं, इसलिए तू इस श्रमणवृत्तिरूप उपशान्त महासागर को पार करने के योग्य नहीं है। कारण कि अल्पसत्त्व वाले आत्मा में इष्टवस्तु के वियोग और अनिष्टवस्तु के संयोग से कषायों का उदय शीघ्र ही हो जाता है, परन्तु श्रमणवृत्ति में इनका अभाव ही अपेक्षित है। यहाँ पर इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वगाथा में गुणों के समुद्र का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत गाथा में दमरूप सागरविशेष का वर्णन किया गया है। इसलिए पुनरुक्तिदोष की आशंका नहीं। इसके अतिरिक्त संयमवृत्ति में परम शांति की नितान्त आवश्यकता है, यह भी उक्त गाथा से ध्वनित होता है।

अब मृगापुत्र के माता-पिता अपने आन्तरिक भावों को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

भुंज माणुस्सए भोए, पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया ! पच्छा धम्मं चरिस्ससि ॥४४॥

भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान्, पंचलक्षणकान् त्वम्।
भुक्तभोगी ततो जात ! पश्चाद् धर्मं चरिष्यसि ॥४४॥

पदार्थान्वय—भुंज—भोग माणुस्सए—मनुष्यसम्बन्धी भोए—भोगों को पंचलक्खणए—पाँच लक्षणों वाले तुमं—तू भुत्तभोगी—भुक्तभोगी होकर तओ—तदनन्तर जाया—हे पुत्र ! पच्छा—पीछे से धम्मं—धर्म को चरिस्ससि—ग्रहण करना।

मूलार्थ—हे पुत्र ! तू अभी पाँच लक्षणों वाले मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों का उपभोग कर। तदनु भुक्तभोगी होकर फिर तुमने धर्म का आचरण करना अर्थात् संयम ग्रहण करके मुनिवृत्ति का पालन करना।

टीका—मृगापुत्र के माता-पिता कहते हैं कि हे पुत्र ! हमने प्रथम कहा था कि तरुण अवस्था में इन्द्रियों का निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए हमारा

वक्तव्य इस समय केवल इतना ही है कि तुम इस समय तो मनुष्यसम्बन्धी काम भोगों का उपभोग करो जो कि शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच गुणों से युक्त हैं। तथा इन विषयों का उपभोग कर चुकने के बाद जब कि तू वृद्धावस्था को प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छा के अनुसार धर्म में दीक्षित हो जाना अर्थात् संयमवृत्ति को ग्रहण करके उसका यथाविधि पालन करना, परन्तु इस समय तू उसके योग्य नहीं। इसलिए अभी तो संयमवृत्ति की उपेक्षा करके विषयभोगों में प्रवृत्त होना ही तेरे लिए उचित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय जैन-वानप्रस्थाश्रम और भिक्षु-आश्रम में लोग प्रायः आयु के चतुर्थ भाग में ही प्रविष्ट होते होंगे तथा भुक्तभोगी होने के पश्चात् धर्म में भी अवश्य दीक्षित होते होंगे। इसी अभिप्राय से मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे युवावस्था में संयम ग्रहण करने का निषेध और वृद्धावस्था में उसके स्वीकार करने की अनुमति दी है, किन्तु संयम के ग्रहण का निषेध नहीं किया।

माता-पिता के इन संयमसम्बन्धी विचारों को सुनने के बाद युवराज मृगापुत्र ने उनके प्रति क्या कहा, अब इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

सो बिंतऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥४५॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ, एवमेतद् यथास्फुटम्।
इह लोके निष्पिपासस्य, नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥४५॥

पदार्थान्वयः—सो—वह—मृगापुत्र बिंत—कहने लगा अम्मापियरो—माता पिता को एवम्—इसी प्रकार एय—यह—प्रव्रज्या आदि का पालन करना जहा—यथा फुडं—स्फुट है—सत्य है—किन्तु इह—इस लोए—लोक में निप्पिवासस्स—निष्पिपास—पिपासारहित—को किंचिवि—किंचित् भी दुक्कर—दुष्कर नत्थि—नहीं है।

मूलार्थ—हे माता! और पिता! आपने दीक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है; परन्तु जो पुरुष इस लोक में पिपासा-रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

टीका—माता-पिता के पूर्वोक्त कथन को सुनकर युवराज मृगापुत्र बोले कि आपने संयमवृत्ति की दुष्करता के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादन किया है, यह सर्वथा यथार्थ है अर्थात् संयमवृत्ति का यथावत् पालन करना अत्यन्त कठिन है, यह बात निस्सन्देह सत्य है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जिन पुरुषों को इस लोक के विषयभोगों की सर्वथा इच्छा नहीं अर्थात् जो जीव ऐहिक विषयभोगों से सर्वथा विरक्त—उपराम हो चुके हैं, उनके लिए इस लोक में कोई भी काम दुष्कर नहीं अर्थात् उन धीर पुरुषों के लिए संयमवृत्ति का पालन करना कुछ भी कठिन नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ऐहिक विषय-भोगों में आसक्त हैं, उनके लिए ही संयमवृत्ति का अनुष्ठान दुष्कर है परन्तु जो पुरुष इस लोक के विषयभोगजन्य सुखों की अभिलाषा ही नहीं रखते, उनके लिए तो संयमवृत्ति का निर्वाह दुष्कर नहीं किन्तु अत्यन्त सुकर है। सारांश कि मुझे इस लोक के विषयभोगों के उपभोग की इच्छा नहीं है। अतः मेरे लिए यह संयमवृत्ति अत्यन्त सुकर है, यह इस गाथा का फलितार्थ है।

अब ऐहिक विषयों से उपरति होने का कारण बतलाते हैं—

सारीरमाणसा चेव, वेयणा उ अणंतसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥४६॥

शारीरमानस्यश्चैव, वेदनास्तु अनन्तशः।
मया सोढा भीमाः, असकृद् दुःखभयानि च ॥४६॥

पदार्थान्वयः—सारीर—शारीरिक च—और माणसा—मानसिक एव—निश्चय में वेयणा—वेदना उ—वितर्क में अणंतसो—अनन्त बार मए—मैंने सोढाओ—सहन की भीमाओ—अत्यन्त रौद्र असइं—अनेक बार दुक्ख—दुःख य—और भयाणि—भयों को—सहन किया।

मूलार्थ—हे पितरो! मैंने अनन्त बार अतिभयानक शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन किया तथा अनेक बार दुःख और भयों का अनुभव किया है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्मों में अनुभव की हुई दुःख-यातनाओं का अपने माता-पिता के समक्ष वर्णन किया है, जो कि उसकी

ऐहिक विषयभोगों से होने वाली उपरामता का कारण है। मृगापुत्र कहते हैं कि मैंने अपने पूर्वजन्मों में इन शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहन किया है। रोगादि के निमित्त से शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना शारीरिक और प्रिय पदार्थों के वियोग से जिसकी उत्पत्ति हो, उसे मानसिक वेदना कहते हैं। एव लोक और राजविरुद्ध कार्यों के आचरण से दण्डित होने पर नाना प्रकार के दुःख और मृत्युजन्य भयों को भी मैंने पिछले जन्मों में अनेक बार सहन किया है। मृगापुत्र के कथन का आशय यह है कि जब मैंने असह्नीय कष्टों को भी अनेक बार सहन किया है तो फिर सयमवृत्ति में उपस्थित होने वाले कष्ट मेरे लिए दुष्कर कैसे हो सकते हैं। तथा अनेक जन्मों के अनुभव से यही प्रतीत हुआ कि कामभोगादि विषयों के सेवन का फल सिवाय दुःख-यातना के और कुछ नहीं। इसलिए इनमें मेरी अब सर्वथा रुचि नहीं है। यहाँ पर 'असकृत्' शब्द भी अनन्त बार का ही सूचक है।

अब फिर कहते हैं—

जरामरणकंतारे , चाउरंते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाइं, जम्माइं मरणाणि य ॥४७॥

जरामरणकान्तारे , चातुरन्ते भयाकरे।
मया सोढानि भीमानि, जन्मानि मरणानि च ॥४७॥

पदार्थान्वय —जरा–जरा मरण–मृत्युरूप कतारे–कान्तार में चाउरते–चार गति रूप अवयव में भयागरे–भयों की खान में मए–मैंने सोढाणि–सहन किये भीमाइ–भयकर जम्माइ–जन्म य–और मरणाणि–मरण के दुःख।

मूलार्थ—मैंने जरा-मरण रूप कान्तार में और चार गति रूप भयों की खान में जन्म-मरण रूप भयकर दुःखों को सहन किया है।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से फिर कहते हैं कि जिस प्रकार नाना प्रकार के व्याघ्र और सर्पादि दुष्ट जन्तुओं से आकीर्ण एक बड़ी भयानक अटवी—जगल होता है, उसी प्रकार यह जरा और मरणरूप अटवी—कान्तार है, जिसकी देव, मनुष्य, तिर्यक् और नरक ये चार दिशाएँ हैं और जन्ममरणजन्य अनेक प्रकार

के दुःखों की खान है । तात्पर्य यह है कि इस संसार में जन्ममरणजन्य अनेकविध दुःखों को मैंने सहन किया है, जो कि अतीव भयानक हैं और जिनका इस समय पर भी मेरे को प्रत्यक्ष की भाँति अनुभव हो रहा है । अतः मुझे इन सांसारिक विषयभोगों से किसी प्रकार का भी अनुराग नहीं ।

उक्त गाथा में चारों गतियों को दुःखों की खान कहा है । अतः अब सब से पहले नरकगति के दुःखों का वर्णन करते हैं—

जहा इहं अगणी उण्हो, इत्तोऽणंतगुणो तहिं ।
नरएसु वेयणा उण्हा, अस्साया वेइया मए ॥४८॥

यथेहाग्निरुष्णः , इतोऽनन्तगुणस्तत्र ।
नरकेषु वेदना उष्णा , असाता वेदिता मया ॥४८॥

पदार्थान्वय —जहा—जैसे इह—इस मनुष्यलोक में अगणी—अग्नि उण्हो—उष्ण है इत्तो—इस आग से अणंतगुणो—अनन्तगुण उण्हा—उष्ण है तहिं—वहाँ पर नरएसु—नरकों में वेयणा—वेदना अस्साया—असातारूप वेइया—अनुभव की मए—मैंने ।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में अग्नि का उष्ण स्पर्श अनुभव किया जाता है, उससे अनन्तगुणा अधिक उष्णता के स्पर्श का अनुभव वहाँ (अर्थात् नरकों में) होता है । अतः नरकों में मैंने इस असातारूप वेदना का खूब अनुभव किया है ।

टीका—इस गाथा में पहले नरक की उष्ण वेदना का वर्णन किया गया है । जैसे इस लोक में प्रस्तर—पत्थर और लोहा आदि कठिन धातुओं को द्रवीभूत करने वाला तथा सन्ताप देने वाला अग्नि का उष्ण स्पर्श प्रत्यक्षरूप से अनुभव में आता है, ठीक इस अग्नि के उष्ण स्पर्श से अनन्तगुण अधिक उष्ण स्पर्श उन नरकादि स्थानों में है, जहाँ पर कि मैं उत्पन्न हो चुका हूँ । अतः नरकादि स्थानों की असातारूप उष्ण वेदना को मैंने अनन्त बार अनुभव किया है । इसी हेतु से मैं इस संसार से विरक्त हो रहा हूँ । यद्यपि वहाँ पर—नरक में—बादर—स्थूल अग्नि विद्यमान नहीं है तथापि वहाँ पृथिवी का स्पर्श ही उसके समान उष्ण है । ['बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तादृशः स्पर्श इति गम्यते'] अथवा वहाँ पर रहने वाले परमाधर्मी देवता

लोग, वैक्रिय अग्नि के द्वारा नारकियों को महान् कष्ट देते हैं । मनुष्य-लोक में बहुत से जीव, उष्ण स्पर्श से विशेष दुःख का अनुभव करते हैं । इसलिए नरकों में प्रथम उष्णता के ही दुःख का दिग्दर्शन कराया गया है ।

अब उष्णता के प्रतिपक्षी शीतस्पर्शजन्य दुःख का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जहा इहं इमं सीयं, इत्तोऽणन्तगुणो तहिं ।
नरएसु वेयणा सीया, अस्साया वेइया मए ॥४९॥

यथेदमिह शीतम्, इतोऽनन्तगुणं तत्र ।
नरकेषु वेदना शीता, असाता वेदिता मया ॥४९॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे इह—इस लोक में इम—यह प्रत्यक्ष सीय—शीत है इत्तो—इससे अणंतगुणो—अनन्तगुणा शीत तहिं—वहाँ पर है नरएसु—नरकों में सीया—शीत की वेयणा—वेदना अस्साया—असातारूप वेइया—भोगी मए—मैंने ।

मूलार्थ—जैसे इस लोक में यह प्रत्यक्ष शीत पड़ रहा है, इससे अनन्त गुणा अधिक शीत वहाँ पर है । सो नरकों में इस प्रकार के शीत की वेदना मैंने अनन्त बार भोगी है ।

टीका—इस गाथा में शीत की वेदना का दिग्दर्शन कराया गया है । मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि हे पितरो ! जैसे माघ आदि मासों में हिमालय आदि पर्वतों पर शीत पड़ता है अर्थात् बर्फ के पड़ने से शीत की अधिकता होती है, उस शीत से अनन्तगुणा शीत उन नरकों में है, जहाँ पर कि मैं कई बार उत्पन्न हुआ और उस शीत की वेदना को सहन किया । तथा नरक में शीत तो कल्पनातीत है परन्तु उसकी निवृत्ति का वहाँ पर कोई उपाय नहीं । इसलिए शीत की अत्यन्त असह्य वेदना को भोगना पड़ता है । यहाँ पर सूत्र में जो 'इदम्' शब्द का प्रयोग किया है, उससे प्रतीत होता है कि मृगापुत्र को शीतकाल में वैराग्य उत्पन्न हुआ होगा अथवा जिस समय इस विषय की वह अपने माता-पिता से चर्चा करते होंगे, उस समय शीत की अधिकता होगी, क्योंकि लिखा है कि—'इदमः प्रत्यक्षगत

समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥' अर्थात् 'इदम्' शब्द का प्रत्यक्षगत वस्तुविषय में ही प्रयोग किया जाता है। तथा यहाँ पर वेदना शब्द का केवल शीत के साथ सम्बन्ध है।

अब उक्त विषय के सम्बन्ध में नरक की अन्य यातनाओं का वर्णन करते हैं। यथा—

कंदन्तो कंदुकुंभीसु, उड्ढपाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलन्तंमि, पक्कपुव्वो अणंतसो ॥५०॥
क्रन्दन् कन्दुकुम्भीषु, ऊर्ध्वपादोऽधःशिराः ।
हुताशने ज्वलति, पक्वपूर्वोऽनन्तशः ॥५०॥

पदार्थान्वय—कंदन्तो—आक्रन्दन करते हुए कंदुकुंभीसु—कन्दुकुम्भी में उड्ढपाओ—ऊँचे पाँव और अहोसिरो—नीचे सिर जलन्तंमि—जलती हुई हुयासणे—अग्नि में पक्कपुव्वो—पूर्व मुझे पकाया अणंतसो—अनन्त बार।

मूलार्थ—हे पितरो! आक्रन्दन करते हुए, कन्दुकुम्भी में ऊँचे पैर और नीचे सिर करके प्रज्वलित हुई अग्नि में मुझे अनन्त बार पकाया गया।

टीका—मृगापुत्र पूर्वजन्मों में भोगी हुई नरक यातनाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आक्रन्दन करते हुए—उच्च स्वर से रुदन करते हुए—मुझको कन्दुकुम्भी नामक पकाने के भाजन में नीचे सिर और ऊपर पाँव डालकर प्रज्वलित की हुई अग्नि द्वारा अनन्त बार पकाया गया। अर्थात् दैवमाया से उत्पन्न की हुई प्रचण्ड अग्नि के द्वारा कुम्भी में डालकर उन यमदूतों ने मुझे अनन्त बार पकाया। कारण कि नरकगति के जीव को वे यमदूत अधिक से अधिक पीड़ा पहुँचाने से ही प्रसन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्राणी ने अपने पूर्वजन्म में जिस प्रकार के पापकर्मों का बन्ध किया है, उसी के अनुसार उसको फल देने के लिए उनके—यम पुरुषों के—भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी लिए मैं नरकों की प्रचण्ड अग्नि में अनेक बार पकाया और तपाया गया। 'कन्दुकुम्भी' नरक के एक अशुभ भाजन का नाम है, जो कि देवों द्वारा वैक्रियलब्धि से निर्मित होता है। तथा गाथा में पढ़े

गये 'पुव्व' शब्द से, यह उक्त वृत्तान्त पूर्वजन्म का ही समझना, वर्तमान समय का नहीं। वर्तमान में तो वह मनुष्यगति में वर्त रहा है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं। यथा—

महादवग्गिसंकासे , मरुंमि वइरवालुए ।
कलम्बवालुयाए उ, दड्ढपुव्वो अणन्तसो ॥५१॥

महादवाग्निसंकाशे , मरौ वज्रवालुकायाम् ।
कदम्बवालुकायां च, दग्धपूर्वोऽनन्तशः ॥५१॥

पदार्थान्वय —महादवग्गिसकासे—महादवाग्नि के सदृश मरुंमि—मरुभूमि के वालुका के समान वइरवालुए—वज्रवालुका में, अथवा कलम्बवालुयाए—कदम्ब-वालुका—नदी में उ—तु तो दड्ढपुव्वो—पूर्व मुझे दग्ध किया गया अणन्तसो—अनंत वार।

मूलार्थ—महादवाग्नि के समान आग में, और मरुदेश के समान वज्रमय वालुका में तथा कदम्बवालुका में अनन्त वार जलाया और तपाया गया।

टीका—नरकगति की भयंकर यातनाओं का दिग्दर्शन करते हुए मृगापुत्र ने सांसारिक कामभोगों के उपभोग से उत्पन्न होने वाले कटु परिणाम को बड़ी ही सुन्दरता से व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मैंने पूर्वजन्म में नरक की वज्रवालुका और कदम्बवालुका के सन्ताप को अनेक वार सहन किया है अर्थात् इनमें मुझे अनेक वार तपाया गया। तात्पर्य यह है कि प्रचण्ड दावानल के समान नरक में एक भयंकर नदी है। उसकी वालुका मरुदेश की अतितीक्ष्ण वालुका के समान अति उष्ण और तीक्ष्ण अतएव वज्रमय है। तथा कदम्ब नदी की तीक्ष्ण वालुका के समान अत्यन्त उष्ण वालुका में मुझे अनेक वार तपाया गया—जलाया गया। प्रस्तुत गाथा में महादवाग्नि, मरुवज्रवालुका और कदम्बवालुका, इन नदियों और देशों की वालुका की उपमा ग्रहण की गई है परन्तु 'मरुंमि—मरौ' इस सप्तम्यन्त पद से जैसे देशविशेष की वालुका—रेत सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार 'कदम्बवालुका' से भी देशविशेष का ही ग्रहण है। जैसे 'कलबु—कोलबु' देश की वालुका बहुत तीक्ष्ण होती है परन्तु इस देश का अस्तित्व आर्य देश से भिन्न विदेशभूमि में पाया जाता है, तथा साथ ही

मरुदेश या कोल्लु देश के नाम से यह भी भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि—आगे भी भूगोल की शिक्षा पूर्ण उन्नति पर थी और जिस २ देश में जो जो मुख्य वस्तु होती थी, उसका भी परिचय कराया जाता था।

अब फिर उक्त विषय का वर्णन करते हैं—

रसंतो कंदुकुंभीसु, उड्ढं बद्धो अबंधवो ।
करवत्तकरकयाईहिं , छिन्नपुव्वो अणन्तसो ॥५२॥

रसन् कन्दुकुम्भीषु, ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः ।
करपत्रक्रकचैः , छिन्नपूर्वोऽनन्तशः ॥५२॥

पदार्थान्वयः—रसंतो—आक्रन्दन करते हुए कंदुकुंभीसु—कन्दकुम्भी में उड्ढं—ऊँचा बद्धो—बाँधकर अबंधवो—स्वजन से रहित मुझे करवत्त—करपत्र—आरा करकयाईहिं—क्रकचों—लघुशस्त्रों—से छिन्नपुव्वो—छेदन किया पूर्व में अणन्तसो—अनन्त बार।

मूलार्थ—आक्रन्दन करते हुए, स्वजन से रहित मुझे कंदुकुंभी में ऊँचा बाँधकर करपत्र और क्रकचों से पूर्व में अनन्त बार छेदन किया गया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जब मैं नरकों में उत्पन्न हुआ था, तब यम-पुरुषों ने मुझे नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित किया। जैसे कि—विलाप करते हुए मुझको वृक्ष आदि से बाँधकर करपत्र—आरा—और अन्य शस्त्रों से छेदन किया गया, तथा नीचे कंदुकुंभी रक्खी गई ताकि वृक्षादि से गिरने पर भी उसमें ही पड़े, जिससे कि अग्नि के द्वारा भी मुझे तपाया जाय। और मेरी स्थिति उस समय पर यह थी कि मैं उस समय अपने बन्धुजनों से सर्वथा रहित था। अर्थात् मेरी सहायता के लिए अथवा मेरी इस दशा को देखने के लिए मेरा कोई भी बन्धु वहाँ पर उपस्थित नहीं था। यहाँ पर गाथा में दिये गये 'अबांधव' शब्द का भी यही तात्पर्य है कि लोक में कष्टप्राप्ति के समय पर इनको ही अर्थात् स्वजन और मित्रवर्ग को ही—सहायता करते देखा जाता है परन्तु नरकगति की यातना के समय में इनमें से किसी का भी वहाँ पर अस्तित्व नहीं था, और न हो सकता है।

अथ नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हुए उक्त विषय का ही समर्थन करते हैं। यथा—

अइतिक्खकंटगाइण्णे, तुंगे सिंबलिपायवे।
खेवियं पासबद्धेणं, कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं ॥५३॥

अतितीक्ष्णकण्टकाकीर्णे, तुंगे शाल्मलिपादपे।
क्षेपितं पाशबद्धेन, कर्षणापकर्षणैर्दुष्करम् ॥५३॥

पदार्थान्वयः—अइ—अति तिक्ख—तीक्ष्ण कंटगाइण्णे—काँटों से आकीर्ण—व्याप्त तुंगे—ऊँचे सिंबलि—शाल्मलि पायवे—वृक्ष में—पर खेविय—क्षपित करवाया पासबद्धेणं—पाशबंध से कड्ढोकड्ढाहिं—कर्षणापकर्षण करके मुझे दुःख दिया, जो कि अति दुक्करं—दुस्सह था।

मूलार्थ—अति तीक्ष्ण काँटों से व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर मुझे पाशबद्ध करके कर्मों का फल भुगताया तथा कर्षणापकर्षण से मुझे असह्य कष्ट दिया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो! अतितीक्ष्ण काँटों से व्याप्त और अति ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर उन यमदूतों ने मुझे रस्सी से बाँधकर मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भुगताया अर्थात् जिस प्रकार के पापकर्मों का मैंने पूर्वजन्म में संचय किया था, उसी के अनुसार मुझे फल दिया गया। अतएव उन तीक्ष्ण काँटों पर मुझे इधर-उधर घसीटा गया। तात्पर्य यह है कि उन काँटों पर से खींचकर मुझे अत्यन्त कष्ट पहुँचाया गया, जिसकी कि इस समय पर कल्पना करते हुए भी अत्यन्त भय लगता है। 'खेवियं—क्षेपितम्' के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं कि—'पूर्वोपार्जितं कर्म अनुभूत मया यानि कर्माणि उपार्जितानि तानि भुक्तानीति शेषः' अर्थात् जैसे कर्म पूर्वजन्म में किये थे, उन्हीं कर्मों के अनुसार मैंने उनके फल को भोग लिया। तथा—'कर्षणापकर्षण' का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार कृत्य करने से वेदना की उदीर्णा की जा सकती है। अतः उन्होंने वे ही काम किये, जिनसे मुझे विशेष दुःख प्राप्त हो।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

महाजंतेसु उच्छूवा, आरसंतो सुभेरवं।
पीलिओमि सकम्मेहिं, पावकम्मो अणन्तसो ॥५४॥

महायंत्रेष्विक्षुरिव , आरसन् सुभैरवम्।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः, पापकर्माऽनन्तशः ॥५४॥

पदार्थान्वयः—महाजंतेसु–महायन्त्रों में उच्छूवा–इक्षु की तरह आरसंतो–आक्रन्दन करते हुए सुभेरवं–अतिरौद्र शब्द करते हुए पीलिओमि–मैं पीला गया—पीडित किया गया सकम्मेहिं–अपने किये हुए कर्मों के प्रभाव से पावकम्मो–पाप कर्म वाला अणन्तसो–अनन्त बार।

मूलार्थ—पाप कर्म वाला मैं अति भयानक शब्द करता हुआ अपने किये हुए कर्मों के प्रभाव से इक्षु की तरह महायन्त्रों में अनन्त बार पीला गया।

टीका—इस गाथा में नारकी जीवों का कोल्हू आदि यन्त्रों में पीडित किये जाने का वर्णन है। मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि मैं स्वोपार्जित पापकर्मों के प्रभाव से नरकों में आकर इक्षु की तरह कोल्हू आदि यन्त्रों में पीडित किया गया। वहाँ पर मेरे अतिरौद्र आक्रन्दन को भी किसी ने नहीं सुना। तात्पर्य यह है कि मैंने नरकों की अनेकविध रोमांचकारी यन्त्रणाओं को स्वकृत पापकर्मों के फलस्वरूप अनन्त बार सहन किया। यहाँ पर पापकर्मों के आचरण से नरकगति में उत्पन्न होने का उल्लेख किया है, जो कि यथार्थ है। क्योंकि महारम्भ, महापरिग्रह, मांसभक्षण और पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध इत्यादि पापकर्मों के द्वारा जीव नरकगति में उत्पन्न होते हैं; यह शास्त्र का सिद्धान्त है। सो इन्हीं कर्मों के प्रभाव से मुझे नरकों की असह्य वेदनाएँ सहन करनी पड़ीं। इस कथन से शास्त्रकारों का यह आशय है कि विचारशील पुरुष को अशुभ कर्मों के आचरण से सदा निवृत्त रहना और शुभ कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त रहना चाहिए, जिससे कि उसे नरकों की उक्त भयंकर पीडाओं से दुःखी न होना पड़े। यहाँ पर 'वा' शब्द 'इव' अर्थ में गृहीत है।

अब फिर इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—

कूवंतो कोलसुणएहिं, सामेहिं सबलेहि य ।
पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरन्तो अणेगसो ॥५५॥

कूजन् कोलशुनकैः, श्यामैः शवलैश्च ।
पातितः स्फाटित. छिन्नः, विस्फुरन्ननेकशः ॥५५॥

पदार्थान्वय —कूवंतो–आक्रन्दन करता हुआ मैं कोलसुणएहिं–कोल—शूकर और श्वानों के द्वारा जो सामेहिं–श्याम य–और सबलेहि शबल हैं पाडिओ–भूमि पर गिराया गया फालिओ–फाड़ा गया छिन्नो–छेदा गया विप्फुरन्तो–इधर उधर भागता हुआ अणेगसो–अनेक बार ।

मूलार्थ—आक्रन्दन करते और इधर उधर भागते हुए मुझको श्याम, शबल शूकरों और कुत्तों से भूमि पर गिराया गया, फाड़ा गया और (वृक्ष की भाँति) छेदा गया ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो ! नरक में मुझे परमाधर्मी पुरुषों—यमदूतों—ने बहुत कष्ट दिया । काले और सफेद शूकरों तथा श्वानों—कुत्तों—का रूप धारण करके अपनी तीखी दाढ़ों से भूमि पर गिराया और जीर्णवस्त्र की तरह फाड़ दिया तथा वृक्ष की भाँति छेदन कर दिया । मैं अनेक प्रकार से इधर उधर भागता और रुदन करता था परन्तु मेरे इस भागने और रुदन करने का उनके ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा । सूत्रों में १५ प्रकार के परमाधर्मी यमपुरुषों का उल्लेख है, जिनके द्वारा नारकी जीवों को नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं ।

अब नरक की अन्य यातना का उल्लेख करते हैं—

असीहिं अयसिवण्णेहिं, भल्लीहिं पट्टिसेहि य ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य, उववन्नो पावकम्मुणा ॥५६॥

असिभिरतसीकुसुमवर्णैः, भल्लीभिः पट्टिशैश्च ।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च, उत्पन्नः पापकर्मणा ॥५६॥

पदार्थान्वय —असीहिं–खड्गों से अयसिवण्णेहिं–अतसीपुष्प के समान

वर्ण वालों से मल्लीहिं—भल्लियों से य—और पट्टिसेहिं—शस्त्रों से छिन्नो—छेदन किया भिन्नो—भेदन किया—विदारण किया विभिन्नो—सूक्ष्मखंड रूप किया उववन्नो—उत्पन्न हुआ—नरक में पावकम्मुणा—पापकर्म से ।

मूलार्थ—पापकर्म के प्रभाव से नरक में उत्पन्न होने पर मुझे अतसी पुष्प के समान वर्ण वाले खड्गों से, भल्लियों से और पट्टिशों (शस्त्रविशेष) से छेदन किया, विदारण किया और सूक्ष्मखंड रूप किया गया ।

टीका—मृगापुत्र ने कहा कि हे पितरो ! जब मैं पूर्वोक्त पापकर्मों के प्रभाव से नरक में उत्पन्न हुआ तो वहाँ पर यमदूतों द्वारा अतसीपुष्प के समान चमकते हुए खड्ग और त्रिशूल आदि शस्त्रों से मैं छेदा गया, और भेदा गया अर्थात् मेरे शरीर के दो टुकड़े किये गये, मेरे शरीर को विदारण किया गया, तथा मेरे शरीर के अनेकानेक टुकड़े किये गये । यदि कोई शंका करे कि शरीर का इस प्रकार से छेदन, भेदन और सूक्ष्मखंड रूप कर देने से वह नारकी जीव, जीवित कैसे रह सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि नारकी जीव का वैक्रिय शरीर होता है, जो कि सूक्ष्म खंड २ करने पर भी पारदकणों के समान फिर मिल जाता है ।

अब नरकसम्बन्धी अन्य यातनाओं का वर्णन करते हुए उक्त विषय का फिर समर्थन करते हैं—

अवसो लोहरहे जुत्तो, जलंते समिलाजुए ।
चोइओ तुत्तजुत्तेहिं, रोज्झो वा जह पाडिओ ॥५७॥

अवशो लोहरथे युक्त, ज्वलति समिलायुते ।
नोदितस्तोत्रयोक्त्रै , गवयो वा यथा पातित ॥५७॥

पदार्थान्वयः—अवसो—परवश हुआ लोहरहे—लोहे के रथ में जुत्तो—जोड़ा हुआ जलंते—जाज्वल्यमान समिला—लोहे की कीली वाले जुए में जुए—जोड़ दिया चोइओ—प्रेरित किया तुत्त—तोत्रों से जुत्तेहिं—चर्ममय योक्त्र गले में बाँधकर—प्राणियों से जह—जैसे रोज्झो—गवय पाडिओ—मारकर भूमि पर गिराया जाता है वा—सदृश ।

मूलार्थ—परवश हुए मुझको लोहमय रथ के आगे आग के समान जलते हुए जूए में जोड़ दिया, फिर चाबुकों से रोझ—गवय के समान मारकर भूमि पर गिरा दिया।

टीका—हे पितरो! मुझे नरकों में यमपुरुषों ने बहुत असह्य कष्ट दिये। जैसे—लोहे के विकट रथ में मेरे को जोड़ा गया, जिसका जूआ प्रचण्ड अग्नि के समान जल रहा था। उस जूए के नीचे मेरी गर्दन रखकर बैल की भाँति मुझे जोड़ा गया और पीछे से चाबुकों की मुझ पर खूब मार पड़ती थी। परवश हुए मुझको उन निर्दय यमदूतों ने इस तरह मार-मारकर पृथिवी पर गिरा दिया, जैसे कोई अनार्य पुरुष रोझ—नील गाय को मारकर भूमि पर गिरा देते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे नील गाय अत्यन्त सरल और भद्रप्रकृति का पशु होता है, उसी प्रकार मैं भी दीन और असहाय था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में लोहरथ में जोड़ने आदि की नारकी पुरुषों की जो भयंकर वेदना का वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है—जो पुरुष दयारहित होकर पशुओं को गाड़ी आदि में जोड़कर उन पर अत्याचार करते अर्थात् प्रमाण से अधिक बोझ लादकर उनको ऊपर से और भी मारते हैं, वे ही पुरुष परलोक में इस प्रकार की नरक-यातनाओं को भोगते हैं। अतः विचारशील पुरुषों को इस प्रकार के अन्याय से सदा अलग रहना चाहिए। 'तोत्रयोक्त्रैः' का अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—'प्राजनकबन्धनविशेषैर्मर्मोघट्टनाहननाभ्यामिति गम्यते' अर्थात् चाबुक आदि से मर्मस्थानों को अभिहनन करके नीचे गिरा दिया, यह भाव है।

अब नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं—

हुआसणे जलंतम्मि, चिआसु महिसो विव।
दड्ढो पक्को अ अवसो, पावकम्मेहिं पाविओ ॥५८॥

हुताशने ज्वलति, चितासु महिष इव।
दग्धः पक्वश्चावशः, पापकर्मभिः प्रावृतः ॥५८॥

पदार्थान्वयः—हुआसणे—हुताशन—अग्नि जलंतम्मि—प्रज्वलित में वा

चिआसु—चिता में महिसो—महिष की विव—तरह दड्ढो—दग्ध किया अ—और पक्को—पकाया गया अवसो—विवश हुआ पावकम्मेहिं—पापकर्मों से पाविओ—पाप करने वाला मैं ।

मूलार्थ—जलती हुई—प्रचण्ड—अग्नि में और चिता में महिष की तरह डालकर मुझे जलाया गया और पकाया गया । कारण कि मैंने पापकर्म किये और उन्हीं पापकर्मों के प्रभाव से परवश हुआ मैं इस दशा को प्राप्त हुआ ।

टीका—अब मृगापुत्र अपने उपभोग में आई हुई नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं । वे कहते हैं कि मुझे जाज्वल्यमान प्रचण्ड अग्नि वाली चिता में महिष की भाँति जलाया और पकाया गया । क्योंकि मैंने पूर्वजन्म में जो पापकर्म किये थे, उन्हीं के प्रभाव से मुझे इस असह्य कष्ट को भोगना पड़ा । तात्पर्य यह है कि यह जीव किसी भी योनि में चला जाय परन्तु कर्म का फल भोगे बिना उसका छुटकारा नहीं हो सकता । यहाँ पर प्रत्येक गाथा में 'पापकर्म' शब्द का प्रयोग करने का शास्त्रकारों का अभिप्राय यह है कि नरकगति के दुःखों का मूलकारण पापकर्म ही है अर्थात् इन्हीं के प्रभाव से नरकगति के भयंकर दुःखों को भोगना पड़ता है । तथा उक्त गाथा में जो उपमा के लिए महिष का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य यह है कि महिष नाम का पशु उष्ण स्थान में अत्यन्त दुःखी होता है । इसलिए नरक गति को प्राप्त होने वाले पापात्मा जीव को भी इस प्रचंड अग्नि में दग्ध होते समय असह्य वेदना का अनुभव करना पड़ता है ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

बला संडासतुंडेहिं, लोहतुंडेहिं पक्खिहिं ।
विलुत्तो विलवंतोऽहं, ढंकगिद्धेहिंऽणंतसो ॥५९॥

बलात् सदंशतुण्डै, लोहतुण्डैः पक्षिभिः ।
विलुप्तो विलपन्नहम्, ढङ्कगृध्रैरनन्तशः ॥५९॥

पदार्थान्वयः—बला—बलात्कार से अहं—मुझे संडासतुंडेहिं—संडासी के समान मुख वाले लोहतुंडेहिं—लोहे के तुल्य कठिन मुख वाले पक्खिहिं—पक्षियों ने

निलुत्तो–विलुप्त किया विलवंतो–विलाप करते हुए मुझे ढंक–ढक और गिद्धेहिं–गृद्धों ने अणंतसो–अनन्त वार ।

मूलार्थ—विलाप करते हुए मुझको बलात्कार से, संडासतुड वाले और लोहतुण्ड—मुख—वाले पक्षियों ने तथा ढक और गीध पक्षियों ने अनन्त वार विलुप्त किया ।

टीका—इस गाथा में भयकर पक्षियों द्वारा नरक मे दी जाने वाली घोर वेदना का वर्णन किया है । मृगापुत्र ने कहा कि मुझको ऐसे पक्षियों के द्वारा भी पीडित कराया गया कि जिनके मुख सडासी के समान जकड़ने वाले तथा लोहे के समान अत्यन्त कठिन थे । इस प्रकार के ढक और गृद्ध—गीध आदि पक्षियों ने अपनी तीक्ष्ण चोंचों से मेरे शरीर को बड़ी निर्दयता से विदारण किया । मेरे विलाप करने पर भी उनको दया नहीं आई । यद्यपि नरकों में ऐहिक पक्षियों का अभाव है परन्तु यहाँ पर जिन भयकर पक्षियों का उल्लेख किया है, वे सब वैक्रिय से उत्पन्न होने वाले हैं । तथा प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि जो पुरुष निर्दयतापूर्वक दीन, अनाथ पक्षियों का वध करते हैं, परलोक में वे पक्षिगण भी उनकी इसी प्रकार से खबर लेते हैं ।

अब नरकगति में उत्पन्न होने वाले तीव्र पिपासाजन्य कष्ट का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

तण्हाकिलंतो धावंतो, पत्तो वेयरणिं नइं ।
जलं पाहिंति चिंतंतो, खुरधाराहिं विवाइओ ॥६०॥

तृष्णाक्रान्तो धावन्, प्राप्तो वैतरणीं नदीम् ।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्, क्षुरधाराभिर्व्यापादितः ॥६०॥

पदार्थान्वयः—तण्हा–पिपासा से किलंतो–क्लान्त होकर धावंतो–भागता हुआ पत्तो–प्राप्त हुआ वेयरणिं–वैतरणी नइं–नदी को जलं–जल को पाहिंति–पीऊँगा, इस प्रकार चिंतंतो–चिन्तन करता हुआ खुरधाराहिं–क्षुरधाराओं से विवाइओ–व्यापादित हुआ—विनाश को प्राप्त हुआ ।

मूलार्थ—पिपासा से अत्यन्त पीड़ित होकर भागता हुआ मैं वैतरणी नदी को प्राप्त हुआ, और जल पीऊँगा, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वहाँ पहुँचा तो क्षुरधाराओं से उस नदी में मैं विनाश को प्राप्त हुआ। अर्थात् उस नदी की धारा उस्तरे की धार के समान अति तीक्ष्ण थी, जिससे कि मैं व्यापादित हुआ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो! जब मैं भयंकर पक्षियों के द्वारा कदर्थित किया गया, तब मुझको पिपासा ने भी बहुत व्याकुल किया। पिपासा से व्याकुल होकर मैं भागता हुआ जल की अभिलाषा से वैतरणी नाम की नदी के पास पहुँचा। मेरा विचार था कि मैं इस नदी के शीतल और निर्मल जल से अपनी असह्य तृषा को मिटा लूँगा परन्तु जब मैं वहाँ पहुँचा तो उस नदी का जल क्षुरधारा के समान प्रतीत होने लगा, तथा जब मैं पश्चात्ताप करता हुआ पीछे लौटने लगा, तब यमदूतों ने मुझे बलात्कार से उस नदी में धकेल दिया, जिससे कि उसकी क्षुर समान तीक्ष्ण धाराओं से मेरा शरीर विदीर्ण हो गया। मृगापुत्र के कथन का अभिप्राय यह भी है कि जब मैंने इस प्रकार के भयंकर कष्टों को भी सहन कर लिया है तो संयमसम्बन्धी कष्टों को सहन करना मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। एवं सांसारिक विषय-भोगों में आसक्ति रखने का ही यह भयंकर परिणाम है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। अतः इन कामभोगादि विषयों के उपभोग में मुझे तनिक भी रुचि नहीं है।

अब नरकगति में प्राप्त होने वाली उष्णता की भयंकरता तथा तज्जन्य असह्य वेदना का वर्णन करते हैं—

उण्हाभितत्तो संपत्तो, असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं, छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥६१॥

उष्णाभितप्तः सम्प्राप्तः, असिपत्रं महावनम्।
असिपत्रैः पतद्भिः, छिन्नपूर्वोऽनेकशः ॥६१॥

पदार्थान्वयः—उण्हाभितत्तो—उष्णता से अभितप्त होकर असिपत्त—असिपत्र रूप महावणं—महावन को संपत्तो—प्राप्त हुआ असिपत्तेहिं—असिपत्रों के पडन्तेहिं—पड़ने से अणेगसो—अनेक बार छिन्नपुव्वो—पूर्व में छेदन किया गया।

मूलार्थ—उष्णता से अति संतप्त होकर असिपत्र महावन को प्राप्त हुआ मैं वहाँ पर असिपत्रों के ऊपर पड़ने से अनेक वार छेदन को प्राप्त हुआ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि उष्णता के अभिताप से व्याकुल हुआ मैं जब शीत की अभिलाषा से सुन्दर वन की ओर भागा तो असिपत्र नामक महावन को प्राप्त हुआ। उस वन के पत्र खड्ग के समान प्रहार करने वाले थे। अतः उन पत्रों से मैं अनेक वार छेदा गया। अर्थात् उन पत्रों के गिरने से मेरा अंग २ छिद गया। उक्त वन में उत्पन्न होने वाले वृक्षों के पत्र असि-खड्ग के समान तीक्ष्णधार और काटने वाले होने से यह वन असिपत्र वन कहा जाता है। मृगापुत्र के कथन का भावार्थ यही है कि मैंने पूर्वजन्म में स्वोपार्जित कर्म के प्रभाव से इस प्रकार की कठोर नरकयातनाओं को भी अनेक वार भोगा है, जिनके आगे संयम वृत्ति का कष्ट बहुत तुच्छ है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

मुग्गरेहिं भुसुंढीहिं, सूलेहिं मुसलेहि य।
गयासंभग्गगत्तेहिं, पत्तं दुक्खं अणन्तसो ॥६२॥

मुद्गरैर्भुशुण्डीभिः, शूलैर्मुशलैश्च।
गदासंभग्नगात्रैः, प्राप्तं दुःखमनन्तशः ॥६२॥

पदार्थान्वयः—मुग्गरेहिं–मुद्गरों भुसुंढीहिं–भुशुण्डियों सूलेहिं–त्रिशूलों य–और मुसलेहि–मुसलों द्वारा, तथा गयासंभग्गगत्तेहिं–गदा से अंगों को तोड़ने पर पत्त–प्राप्त किया दुक्ख–दुःख को अणंतसो–अनन्त वार।

मूलार्थ—मुद्गरों, भुशुण्डियों, त्रिशूलों, मुसलों और गदाओं से मेरे शरीर के अंगों को तोड़ने से मैंने अनन्त वार दुःख प्राप्त किया।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि यमपुरुषों ने मुद्गरों से, भुशुण्डियों से, त्रिशूलों से तथा मुसलों और गदाओं से मेरा शरीर मार-मारकर नष्ट कर दिया। और इस प्रकार की यातनाओं से मुझे अनन्त वार दुःखी किया। तात्पर्य यह है कि नरकगति में प्राप्त होने वाले जीवों के साथ यमपुरुषों के द्वारा

इस प्रकार का कष्टप्रद व्यवहार किया जाता है। वहाँ पर उनका कोई रक्षक नहीं होता, उनको स्वकृत पापकर्म के अनुसार भयकर से भयकर यातना भोगनी पड़ती है। उक्त गाथा में आये हुए 'भुशुण्डी' शब्द का अर्थ आजकल के विद्वान् 'बन्दूक' करते हैं। तथा 'गयासंभमग्गतेहिं' वाक्य में यदि 'गयास' पृथक् कर लेवें तो उसका अर्थ 'गताश—निराश—आशा से रहित' करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो अ अणेगसो ॥६३॥

क्षुरैः तीक्ष्णधारैः, क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः, उत्कृतश्चानेकशः ॥६३॥

पदार्थान्वय—तिक्खधारेहिं—तीक्ष्ण धार वाले खुरेहिं—क्षुरों से छुरियाहिं—छुरियों से य—और कप्पणीहि—कैंचियों से कप्पिओ—काटा गया—कतरा गया फालिओ—फाड़ा गया छिन्नो—छेदन किया गया अ—और उक्कित्तो—उत्कर्तन किया गया—चमड़ी उतार दी गई अणेगसो—अनेक बार।

मूलार्थ—तीक्ष्ण धार वाले क्षुरों—उस्तरों, छुरियों और कतरनियों—कैंचियों से मुझे काटा गया, फाड़ा गया, छिन्न-भिन्न किया गया और चमड़ी को उधेड़ा गया; यह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार।

टीका—मृगापुत्र यमपुरुषों द्वारा दिये जाने वाले भयकर कष्टों का फिर वर्णन करते हुए कहते हैं कि यमपुरुषों ने मुझे तीक्ष्ण धार वाले उस्तरों से काटा, छुरियों से फाड़ा और कतरनियों से छिन्न-भिन्न किया। इसके अतिरिक्त मेरे शरीर की त्वचा—चमड़ी को भी उधेड़ दिया। और इस प्रकार का दुर्व्यवहार मेरे साथ अनेक बार किया गया। तथा 'उक्कित्तो' का 'उत्क्रान्तः' प्रतिरूप करने से उसका अर्थ 'आयु को क्षय किया' यह होता है।

अब फिर कहते हैं—

पासेहिं कूडजालेहिं, मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ वद्धरुद्धो अ, वहू चेव विवाइओ ॥६४॥

पाशैः कूटजालैः, मृग इवावशोऽहम् ।
वाहितो वद्धरुद्धो वा, वहुशश्चैव व्यापादितः ॥६४॥

पदार्थान्वय—पासेहिं–पाश और कूडजालेहिं–कूटजालों से मिओ वा–मृग की तरह अवसो–परवश हुआ अहं–मैं वाहिओ–छल से वद्ध–बाँधा गया अ–और रुद्धो–अवरोध किया गया—रोका गया च–पुनः एव–निश्चय ही वहू–वहुत वार विवाइओ–विनाश को प्राप्त किया गया ।

मूलार्थ—मृग की भाँति परवश हुआ मैं कूटपाशों से छलपूर्वक बाँधा गया और रोका गया, इस प्रकार निश्चय ही मुझे अनेक वार विनष्ट किया गया ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार छलपूर्वक कूटजाल पाशों से मृग को पकड़कर बाँध लिया जाता है, उसी प्रकार परवश हुए मुझको यमपुरुषों ने पकड़कर बाँध लिया, और इधर उधर भागने से रोक लिया । इतना ही नहीं किन्तु कूटपाशों से बाँधकर मुझे व्यापादित किया, अभिहनन किया, यह भी एक वार नहीं किन्तु अनेक वार । तात्पर्य यह है कि जैसे छलपूर्वक मृगादि जानवरों को पाश आदि के द्वारा बाँधकर व्यापादित किया जाता है, उसी प्रकार नरकगति में जाने वाले पापात्मा जीव को भी पाशादि के द्वारा बाँधकर यम के पुरुष व्यापादित करते हैं । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि जो लोग वन के निरपराध अनाथ जीवों का शिकार करते हैं तथा कुतूहल के लिए जाल बिछाकर उनको पकड़ते और जिह्वा के वशीभूत होकर उनका वध करके उनके मांस से अपने मांस को पुष्ट करने का जघन्य प्रयत्न करते हैं, उनके लिए नरकगति में उक्त प्रकार के ही कष्ट उपस्थित रहते हैं । अतः मनुष्य-भव में आये हुए प्राणी को कुछ विवेक से काम लेना चाहिए तथा इन निरपराध मूक प्राणियों पर दया करके अपनी आत्मा को सद्गति का पात्र बनाना चाहिए ।

अब फिर कहते हैं—

गलेहिं मगरजालेहिं, मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ फालिओ गहिओ, मारिओ य अणन्तसो ॥६५॥

गलैर्मकरजालै , मत्स्य इवावशोऽहम्।
उल्लिखित: पाटितो गृहीत, मारितश्चानन्तश: ॥६५॥

पदार्थान्वयः—गलेहिं—बडिशों से मगरजालेहिं—मकराकार जालों से मच्छो वा—मत्स्यवत् अवसो—विवश हुआ अहं—मैं उल्लिओ—उल्लिखित किया गया गले में बडिश के लगने से फालिओ—फाड़ दिया गहिओ—पकड़ लिया य—फिर पकड़कर मारिओ—मार दिया अणन्तसो—अनेक बार।

मूलार्थ—बडिशों और मकराकार जालों से विवश हुए मुझको अनंत बार उल्लिखित किया, फाड़ा, पकड़ा और पकड़कर मार दिया।

टीका—जो लोग बडिश और जाल से मच्छियों को पकड़कर उनको मारते और पकड़ते हैं, उन्हें परलोक में जाकर नरकगति की जो वेदना अनुभव करनी पड़ती है, मृगापुत्र ने अपने पूर्वजन्म में जिसका अनुभव किया है तथा जिसको वे अपने जातिस्मरण ज्ञान से देखकर माता-पिता के सामने वर्णन करते हैं, उस नरक यातना का दिग्दर्शन प्रस्तुत गाथा में किया गया है। मृगापुत्र कहते हैं कि जैसे मच्छियों को पकड़ने वाले जाल में कुण्डियाँ लगाकर उसको पानी में फेंक देते हैं तथा उस जाल का आकार भी प्राय मत्स्य के समान ही होता है। जब मत्स्य—मच्छी के गले में वह कुण्डी लग जाती है, तब वह मच्छी पकड़ी जाती है। उसके अनन्तर उस मत्स्य को फाड़ा और मारा जाता है। ठीक उसी प्रकार से उन यमदूतों ने मुझे भी बडिश—कुण्डी और जाल में फँसाकर पकड़ लिया और पकड़ने के बाद मत्स्य की तरह फाड़ा और मार दिया। यह बर्ताव मेरे साथ एक बार नहीं किन्तु अनेक बार किया गया।

अब फिर उक्त विषय का ही वर्णन करते हैं—

वीदंसएहिं जालेहिं, लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो बद्धो य, मारिओ य अणंतसो ॥६६॥

विदंशकैर्जालैः , लेप्याभिः शकुन इव ।
गृहीतो लग्नो बद्धश्च, मारितश्चाऽनन्तशः ॥६६॥

पदार्थान्वय —वीदंसएहिं–श्येनों के द्वारा जालेहिं–जालों के द्वारा लेप्पाहिं–श्लेपादि द्रव्यों के द्वारा सउणो–शकुन पक्षी विव–की तरह गहिओ–गृहीत किया य–और लग्गो–श्लेपादि के द्वारा पकड़ा गया—चिपटाया गया य–और बद्धो–जालादि में बाँधा गया य–तथा मारिओ–मारा गया अणंतसो–अनन्त बार ।

मूलार्थ—श्येनों द्वारा, जालों द्वारा और श्लेपादि द्रव्यों के द्वारा पक्षी की तरह मैं गृहीत हुआ, चिपटाया गया, बाँधा गया और अन्त में मारा गया; एक बार ही नहीं किन्तु अनेक बार ।

टीका—जो लोग स्वच्छन्द विचरने वाले निरपराध पक्षियों को पकड़ने के लिए अनेक प्रकार के उपायों का आयोजन करते हैं अर्थात् श्येन—बाज—आदि के द्वारा, जाल आदि के द्वारा और लेप आदि के द्वारा पक्षियों को पकड़ते हैं, फँसाते हैं, बाँधते और मारते हैं, उन पुरुषों को नरकस्थानों में जाकर स्वयं भी इसी प्रकार का दृश्य देखना पड़ता है अर्थात् उनको भी इन पक्षियों की तरह वध और बन्धन की कठोर यातनाओं का अनुभव करना पड़ता है। जिसका कि वर्णन मृगापुत्र अपने माता-पिता के समक्ष कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार कबूतर आदि भोले पक्षियों को पकड़ने के लिए श्येन—बाज—को पाला जाता है और जाल आदि बिछाये जाते हैं तथा बुलबुल आदि पक्षियों को पकड़ने के लिए श्लेपादि द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि इन उपायों से पक्षियों को पकड़कर उन्हें कष्ट पहुँचाया जाता है और उनका वध किया जाता है, ठीक उसी प्रकार नरकस्थान में यमपुरुषों ने मेरे साथ किया अर्थात् श्येन—बाज—का रूप धारण करके मुझे पकड़ा तथा जालादि में फँसाकर मुझे अत्यन्त दुःखी किया और अन्त में मार डाला। यह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार। यहाँ पर स्मरण रखने योग्य बात यह है कि जहाँ मृगापुत्र अपनी अनुभूत नरकयातनाओं का वर्णन करते हैं, वहाँ पर उन्होंने मनुष्यभव में आये हुए प्राणी के हेय और उपादेय का भी अर्थतः दिग्दर्शन करा दिया है, जिससे कि विचारशील पुरुष अपना सुमार्ग सरलता से निश्चित कर सकें। क्योंकि इस जीव ने सर्वत्र स्वकृत कर्मों के ही फल का उपभोग करना है।

अब फिर कहते हैं—

कुहाडफरसुमाईहिं , वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो, तच्छिओ य अणंतसो ॥६७॥

कुठारपरश्वादिभिः , वार्धिकैर्द्रुम इव ।
कुट्टितः पाटितश्छिन्नः, तक्षितश्चानन्तशः ॥६७॥

पदार्थान्वय—कुहाड–कुठार फरसुम्–परशु आईहिं–आदि से वड्ढईहिं–बढ़ई—तरखानों—के द्वारा विव–जैसे दुमो–वृक्ष काटा जाता है, तद्वत् कुट्टिओ–सूक्ष्म—खंड रूप किया फालिओ–फाड़ दिया छिन्नो–छेदन किया य–और तच्छिओ–तराशा गया अणंतसो–अनन्त वार।

मूलार्थ—जैसे बढ़ई—तरखाण—कुठार और परशु आदि शस्त्रों से वृक्ष को फाड़ते हैं—चीरते हैं, टुकड़े २ करते हैं और तराशते अर्थात् छीलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी काटा, चीरा और अनन्त वार तराशा गया।

टीका—इस गाथा में हरे भरे वृक्षों को काटना वा कटवाना तथा जंगल आदि के कटवाने का व्यापार करना इत्यादि काम भी अशुभ कर्मों के बन्ध का कारण होते हैं, यह भाव अर्थतः प्रकट किया गया है। क्योंकि वनस्पति भी सजीव पदार्थ है। उसके छेदन-भेदन में भी एकेन्द्रिय जीवों का वध होता है। अतएव इस प्रकार के व्यापार को शास्त्रकारों ने आर्य-व्यापार नहीं कहा। मृगापुत्र इसी पापजनक व्यापार से परलोक में उत्पन्न होने वाली कष्टपरम्परा का वर्णन करते हुए अपने माता-पिता से कहते हैं कि जिस प्रकार बढ़ई लोग कुठार आदि शस्त्रों से वृक्ष को काटकर उसके टुकड़े २ कर देते हैं, तथा चीरकर दो फाँक कर देते हैं, एवं ऊपर से उसके छिलके उतार देते हैं, उसी प्रकार यमपुरुषों ने मुझे अनेक वार काटा, चीरा, फाड़ा और तराशा अर्थात् मेरी चमड़ी उतार दी।

अब नरकसम्बन्धी अन्य यातना का वर्णन करते हैं—

चवेडमुट्ठिमाईहिं , कुमारेहिं अयं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो, चुण्णिओ य अणन्तसो ॥६८॥

चपेटामुष्ट्यादिभिः , कुमारैरय इव ।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः, चूर्णितश्चानन्तशः ॥६८॥

पदार्थान्वय —चवेड–चपेड़ और मुट्ठिमाईहिं–मुष्टि आदि से कुमारेहि लोहकारों से अय पिव–लोहे की तरह ताडिओ–ताड़ा गया कुट्टिओ–कूटा ग भिन्नो–भेदन किया गया य–और चुणिओ–चूर्ण किया गया अणतसो–अनेक बा

मूलार्थ—हे पितरो ! जैसे लोहकार लोहे को कूटते हैं, पीटते हैं अ चूर्णित करते हैं; उसी प्रकार चपेड़ और मुष्टि आदि से मुझे भी अनेक ब ताड़ा गया, पीटा गया, भिन्न २ किया गया और चूर्णित किया गया ।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार से लोहार लोहे को कूटते हैं उसी प्रकार नरकों में यम पुरुषों ने मुझे भी चपेड़ों और मुट्ठियों से खूब मारा अ पीटा। यहाँ तक कि मार-मारकर मेरे शरीर का चूर्ण बना दिया। तात्पर्य यह है कि जैसे लोहार लोग लोहे के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार करते हैं, ठीक उसी प्रक उन यम-दूतों ने मेरे साथ बर्ताव किया। इस गाथा में भी अर्थत स्फोटक आ कर्मादान के फल का वर्णन है, जो कि विचारशील को कर्मबन्ध का कारण होने त्याज्य है। तथा त्रस्त जीवों के साथ अन्याय और अत्याचार करने का भी या फल वर्णित है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को सदा अन्याय और अत्याचार से बचे रह का प्रयत्न करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

तत्ताइं तम्बलोहाइं, तउयाइं सीसगाणि य ।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥६९॥

तप्तानि ताम्रलोहादीनि, त्रपुकानि सीसकानि च ।
पायितः कलकलायमानानि, आरसन् सुभैरवम् ॥६९॥

पदार्थान्वयः—तत्ताइ–तप्त तम्ब–ताम्र लोहाइ–लोह को तउयाइं–त्रपु— लाख य–और सीसगाणि–सीसे को पाइओ–पिला दिया कलकलताइं–कलकल शब्द करते हुए तथा सुभेरव–अति भयानक आरसतो–शब्द करते हुए को ।

मूलार्थ—तपाया हुआ ताँबा, लोहा, रांग और सीसा—ये सब प
कलकलाते और अति भयानक शब्द करते हुए मुझको परमाधर्मियो
बलात्कार से पिला दिये।

टीका—अब नरकसम्बन्धी अन्य वेदनाओं की यातना का वर्णन
हुए मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि—तृषा की अत्यन्त बाधा हो
तब मैंने जल की प्रार्थना की तो जल के बदले उन परमाधर्मियों ने बड़ी निर्दय
साथ रोते और चिल्लाते हुए मुझको तपाया हुआ ताम्र लोहा त्रपु—रांग
सीसा पिघलाकर बलात्कार से पिला दिया। उसके पिलाने से मुझे जो
हुई उसकी कल्पना करते हुए भी शरीर रोमांचित हो उठता है। अतएव इन
से सर्वथा छूटने का मैं प्रतिक्षण उपाय सोच रहा हूँ।

जिन प्राणियों को इस लोक में मांस अधिक प्रिय होता है और जि
उदरपूर्ति के लिए प्रतिदिन लाखों अनाथ प्राणियों को मृत्यु के घाट उतार
उन प्राणियों की नरकों में क्या दशा होती है और वे किन २ नरकयातन
का अनुभव करते हैं; अब सूत्रकार इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तुहं पियाइं मंसाइं, खण्डाइं सोल्लगाणि य।
खाविओमि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥७

तव प्रियाणि मांसानि, खण्डानि सोल्यानि च।
खादितोऽस्मि स्वमांसानि, अग्निवर्णान्यनेकशः ॥७०

पदार्थान्वयः—तुहं—तुझे पियाइं—प्रिय थे मंसाइं—मांस के खण्डाइं—खं
और सोल्लगाणि—भुना हुआ मांस [भक्षण] मतः समंसाइं—स्वमांस—मेरे
का मांस खाविओमि—मुझे खिलाया अग्गिवण्णाइं—अग्नि के समान वर्ण
णेगसो—अनेक बार।

मूलार्थ—तुझे मांस अत्यन्त प्रिय था इस प्रकार कहकर उन यमदू
ने मेरे शरीर के मांस को काटकर भूनकर और अग्नि के समान लाल

चपेटामुष्टयादिभिः , कुमारैरय इव ।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः, चूर्णितश्चानन्तशः ॥६८

पदार्थान्वय —चवेड–चपेड़ और मुट्ठिमाईहिं–मुष्टि आदि से कुमारे
लोहकारों से अयं पिव–लोहे की तरह ताडिओ–ताड़ा गया कुट्टिओ–कूटा
भिन्नो–भेदन किया गया य–और चुण्णिओ–चूर्ण किया गया अणंतसो–अनेक व

मूलार्थ—हे पितरो ! जैसे लोहकार लोहे को कूटते हैं, पीटते हैं
चूर्णित करते हैं; उसी प्रकार चपेड़ और मुष्टि आदि से मुझे भी अनेक
ताड़ा गया, पीटा गया, भिन्न २ किया गया और चूर्णित किया गया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि जिस प्रकार से लोहार लोहे को कूटते
उसी प्रकार नरकों में यम पुरुषों ने मुझे भी चपेड़ों और मुट्ठियों से खूब मारा
पीटा। यहाँ तक कि मार-मारकर मेरे शरीर का चूर्ण बना दिया। तात्पर्य यह है
जैसे लोहार लोग लोहे के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार करते हैं, ठीक उसी प्र
उन यम-दूतों ने मेरे साथ बर्ताव किया। इस गाथा में भी अर्थत स्फोटक अ
कर्मादान के फल का वर्णन है, जो कि विचारशील को कर्मबन्ध का कारण होने
त्याज्य है। तथा त्रस जीवों के साथ अन्याय और अत्याचार करने का भी
फल वर्णित है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को सदा अन्याय और अत्याचार से बचे र
का प्रयत्न करना चाहिए।

अब फिर कहते हैं—

तत्ताइं तम्बलोहाइं, तउयाइं सीसगाणि य।
पाइओ कलकलंताइं, आरसंतो सुभेरवं ॥६९

तप्तानि ताम्रलोहादीनि, त्रपुकानि सीसकानि च।
पायित कलकलायमानानि, आरसन् ९

पदार्थान्वय —तत्ताइं–तप्त तम्ब–ताम्र लोहाइं–लोह
लाख य–और सीसगाणि–सीसे को पाइओ–पिला दिया

मूलार्थ—तपाया हुआ ताँबा, लोहा, लाख और सीसा—ये सब पदार्थ, कलकलाते और अति भयानक शब्द करते हुए मुझको परमाधर्मियों ने बलात्कार से पिला दिये।

टीका—अब नरकसम्बन्धी अन्य रोमांचकारी यातना का वर्णन करते हुए मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि—तृषा की अत्यन्त बाधा होने पर जब मैंने जल की प्रार्थना की तो जल के बदले उन परमाधर्मियों ने बड़ी निर्दयता के साथ रोते और चिल्लाते हुए मुझको तपाया हुआ ताम्र, लोहा, त्रपु—कली और सीसा पिघलाकर बलात्कार से पिला दिया। उसके पिलाने से मुझे जो वेदना हुई, उसकी कल्पना करते हुए भी शरीर रोमांचित हो उठता है। अतएव इन दुःखों से सर्वथा छूटने का मैं प्रतिक्षण उपाय सोच रहा हूँ।

जिन प्राणियों को इस लोक में मांस अधिक प्रिय होता है और जिनकी उदरपूर्ति के लिए प्रतिदिन लाखों अनाथ प्राणियों को मृत्यु के घाट उतारा जाता है, उन प्राणियों की नरकों में क्या दशा होती है और वे किन २ नरकयातनाओं का अनुभव करते हैं, अब अर्थतः इसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है—

तुहं पियाइं मंसाइं, खण्डाइं सोल्लगाणि य।
खाविओमि समंसाइं, अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥७०॥

तव प्रियाणि मांसानि, खण्डानि सोल्लकानि च।
खादितोऽस्मि स्वमांसानि, अग्निवर्णान्यनेकशः ॥७०॥

पदार्थान्वयः—तुहं—तुझे पियाइं—प्रिय थे मंसाइं—मांस के खण्डाइं—खंड य—और सोल्लगाणि—भुना हुआ मांस [कबाब] अतः समंसाइं—स्वमांस—मेरे शरीर का मांस खाविओमि—मुझे खिलाया अग्गिवण्णाइं—अग्नि के समान तपा करके अणेगसो—अनेक बार।

मूलार्थ—मुझे माँस अत्यन्त प्रिय था, इस प्रकार कहकर उन यमपुरुषों ने मेरे शरीर के माँस को काटकर, भूनकर और अग्नि के समान लाल करके मुझे अनेक बार खिलाया।

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि अन्य जीवों के मास से अपने शरीर को निरन्तर पुष्ट करने की प्रवृत्ति-रूप जघन्य कर्म के फल को भोगने के निमित्त जब मैं नरकगति को प्राप्त हुआ तो वहाँ पर यमपुरुषों ने मुझसे कहा कि दुष्ट ! तुझे अन्य जीवों के मास से अत्यन्त प्यार था । इसी लिए तू मांसखण्डों को भून-भूनकर खाता और आनन्द मनाता था । अच्छा, अब हम भी तुझको उसी प्रकार से मांस खिलाते हैं । ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मेरे शरीर में से मास को काटकर और उसको अग्नि के समान तपाकर मुझे बलात्कार से अनेक वार खिलाया । तात्पर्य यह है कि अन्य मास के बदले मेरा ही मास काटकर मेरे को खिलाया, जिससे कि इस लोक में जिह्वा की लोलुपता से अन्य जीवों के मास को भक्षण करने के फल का मुझे प्रत्यक्ष और पूर्णरूप से भान हो सके । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में जो प्रिय शब्द का उल्लेख किया है, वह सहेतुक है । उसका आशय यह है कि सुसमा-दारिकादि की भाँति यदि अज्ञानवश अथवा विपत्तिकाल में अर्थात् प्राणात्यय के समय कदाचित् मास का भक्षण हो जाय तो प्रायश्चित्तादि के द्वारा उसकी शुद्धि हो सकती है । परन्तु जान-बूझकर और स्वाद के लिए किया गया मांसभोजन का पाप प्रायश्चित्तादि से भी दूर नहीं किया जा सकता, वह तो फल देकर ही पीछा छोड़ेगा । इसलिए विचारशील पुरुषों को नरकगति के हेतुभूत इस मासभक्षण के विचार को कदाचित् भी अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है ।

जिस प्रकार मांसभक्षण करने वाले नरकों की यातनाओं को सहन करते हैं, उसी प्रकार मदिरा का पान करने वालों को भी नरकसम्बन्धी नाना प्रकार की भयंकर वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं । अब इसी विषय का अर्थत निरूपण करते हैं—

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य ।
पज्जिओमि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥७१॥

तव प्रिया सुरा सीधु, मेरका च मधूनि च ।
पायितोऽस्मि ज्वलन्ती:, वसा रुधिराणि च ॥७१॥

मेरक य—और महूणि—मधु य—पुनः पज्जिओमि—पिला दी, मुझे जलतीओ—जलती हुई वसाओ—चर्बी य—और रुहिराणि—रुधिर—लहू।

मूलार्थ—यमपुरुषों ने मुझसे कहा कि हे दुष्ट! तुझे सुरा, सीधु, मेरक और मधु नाम की मदिरा अत्यन्त प्रिय थी; ऐसा कहकर उन्होंने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्बी और रुधिर पिला दिया।

टीका—मदिरापान का परलोक में जो कटुफल भोगना पड़ता है, उसका अर्थतः दिग्दर्शन कराते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो! स्वोपार्जित अशुभ कर्म का फल भोगने के लिए जब मैं नरक में उत्पन्न हुआ, तब मुझसे यमपुरुषों ने कहा कि दुष्ट! तुझे मनुष्यलोक में सुरा—मदिरा से बहुत प्रेम था। इसी लिए तू नाना प्रकार की मदिराओं का बड़े अनुराग से सेवन करता था। अस्तु, अब हम तुझको यहाँ पर भी सुरा का पान कराते हैं। ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्बी—और रुधिर—लहू का जबरदस्ती पान कराया। यह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार। मदिरा के अनेक भेद हैं। यथा सुरा—चन्द्रहासादि, सीधु—तालवृक्ष के रस से उत्पन्न होने वाली, मेरक—दुग्ध आदि उत्तम रस पदार्थों से खींची हुई, मधु—मधूक—महुआ—आदि के पुष्पों से बनाई गई। इस प्रकार मदिरा के अनेक भेद हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में दिया गया प्रिय शब्द भी पूर्व की भाँति सहेतुक है। अर्थात् जान-बूझकर और प्रिय तथा हितकर समझकर पान की हुई मदिरा का जो परलोक में यही फल प्राप्त होता है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया गया है। परन्तु यदि अज्ञान वश में या आपत्तिकाल में, औषधि के रूप में, उसका अप्रिय रूप सेवन किया गया हो तो उसके कटुफल की प्रायश्चित्तादि के द्वारा निवृत्ति भी हो सकती है। अर्थात् उससे उक्त फल की निष्पत्ति की संभावना नहीं हो सकती। यह गाथा में आये हुए प्रिय शब्द का रहस्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंवद्धा, वेयणा वेदिता मए ॥७२॥

टीका—मृगापुत्र अपने माता-पिता से कहते हैं कि अन्य जीवों के मा से अपने शरीर को निरन्तर पुष्ट करने की प्रवृत्ति-रूप जघन्य कर्म के फल को भोग के निमित्त जब मैं नरकगति को प्राप्त हुआ तो वहाँ पर यमपुरुषों ने मुझसे क कि दुष्ट ! तुझे अन्य जीवों के मास से अत्यन्त प्यार था । इसी लिए तू मासखं को भून-भूनकर खाता और आनन्द मनाता था । अच्छा, अब हम भी तुझको उस प्रकार से मास खिलाते हैं । ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मेरे शरीर में से मास क काटकर और उसको अग्नि के समान तपाकर मुझे बलात्कार से अनेक बार खिलाया तात्पर्य यह है कि अन्य मास के बदले मेरा ही मांस काटकर मेरे को खिलाया, जिससे कि इस लोक में जिह्वा की लोलुपता से अन्य जीवों के मास को भक्षण करने के फल का मुझे प्रत्यक्ष और पूर्णरूप से भान हो सके । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में जो प्रिय शब्द का उल्लेख किया है, वह सहेतुक है । उसका आशय यह है कि सुसमा दारिकादि की भाँति यदि अज्ञानवश अथवा विपत्तिकाल में अर्थात् प्राणात्यय के समय कदाचित् मांस का भक्षण हो जाय तो प्रायश्चित्तादि के द्वारा उसकी शुद्धि हो सकती है । परन्तु जान-बूझकर और स्वाद के लिए किया गया मांसभोजन का पाप प्रायश्चित्तादि से भी दूर नहीं किया जा सकता, वह तो फल देकर ही पीछा छोड़ेगा । इसलिए विचारशील पुरुषों को नरकगति के हेतुभूत इस मासभक्षण के विचार को कदाचित् भी अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है ।

जिस प्रकार मासभक्षण करने वाले नरकों की यातनाओं को सहन करते हैं, उसी प्रकार मदिरा का पान करने वालों को भी नरकसम्बन्धी नाना प्रकार की भयंकर वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं । अब इसी विषय का अर्थतः निरूपण करते हैं—

तुहं पिया सुरा सीहू, मेरओ य महूणि य ।
पज्जिओमि जलंतीओ, वसाओ रुहिराणि य ॥७१॥

तव प्रिया सुरा सीधु, मेरका च मधूनि च ।
पायितोऽस्मि ज्वलन्ती, वसा रुधिराणि च ॥७१॥

मेरक य—और महूणि—मधु य—पुनः पज्जिओमि—पिला दी, मुझे जलतीओ—जलती हुई वसाओ—चर्बी य—और रुहिराणि—रुधिर—लहू।

मूलार्थ—यमपुरुषों ने मुझसे कहा कि हे दुष्ट! तुझे सुरा, सीधु, मेरक और मधु नाम की मदिरा अत्यन्त प्रिय थी; ऐसा कहकर उन्होंने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्बी और रुधिर पिला दिया।

टीका—मदिरापान का परलोक में जो कटुफल भोगना पड़ता है, उसका अर्थतः दिग्दर्शन कराते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो! स्वोपार्जित अशुभ कर्म का फल भोगने के लिए जब मैं नरक में उत्पन्न हुआ, तब मुझसे यमपुरुषों ने कहा कि दुष्ट! तुझे मनुष्यलोक में सुरा—मदिरा से बहुत प्रेम था। इसी लिए तू नाना प्रकार की मदिराओं का बड़े अनुराग से सेवन करता था। अस्तु, अब हम तुझको यहाँ पर भी सुरा का पान कराते हैं। ऐसा कहकर उन यमपुरुषों ने मुझको अग्नि के समान जलती हुई वसा—चर्बी—और रुधिर—लहू का जबरदस्ती पान कराया। वह भी एक बार नहीं किन्तु अनेक बार। मदिरा के अनेक भेद हैं। यथा सुरा—चन्द्रहासादि, सीधु—तालवृक्ष के रस से उत्पन्न होने वाली, मेरक—दुग्ध आदि उत्तम रस पदार्थों से खींची हुई, मधु—मधूक—महुआ—आदि के पुष्पों से बनाई गई। इस प्रकार मदिरा के अनेक भेद हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा में दिया गया प्रिय शब्द भी पूर्व की भाँति सहेतुक है। अर्थात् जान-बूझकर और प्रिय तथा हितकर समझकर पान की हुई मदिरा का तो परलोक में वही फल प्राप्त होता है, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया गया है। परन्तु यदि अज्ञान दशा में या आपत्तिकाल में, ओषधि के रूप में, उसका अप्रिय रूप सेवन किया गया हो तो उसके कटुफल की प्रायश्चित्तादि के द्वारा निवृत्ति भी हो सकती है। अर्थात् उससे उक्त फल की निष्पत्ति की संभावना नहीं हो सकती। यह गाथा में आये हुए प्रिय शब्द का रहस्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेदिता मए ॥७२॥

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥७२॥

नित्यं भीतेन त्रस्तेन, दुःखितेन व्यथितेन च।
परमा दुःखसंबद्धाः, वेदना वेदिता मया ॥७२॥

पदार्थान्वयः—निच्चं–नित्य—सदा भीएण–भय से तत्थेण–त्रास से दुहिएण–दुःख से य–और वहिएण–व्यथा—पीड़ा से परमा–उत्कृष्ट—अत्यन्त दुहसंबद्धा–दुःखसम्बन्धिनी वेयणा–वेदना मए–मैंने वेइया–भोगी।

मूलार्थ—मैंने निरन्तर भय से, त्रास से, दुःख से और पीड़ा से अत्यन्त दुःख रूप वेदना को भोगा।

टीका—प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए मृगापुत्र कहते हैं कि हे पितरो ! मैंने नरकों में निरन्तर दुःखमयी वेदना का ही अनुभव किया। कारण कि मैं सदैवकाल भयभीत बना रहा, सदैवकाल संत्रस्त—त्रासयुक्त रहा, तथा सदैवकाल मानसिक दुःख और शारीरिक व्यथा से पीड़ित रहा। इसलिए ऐसा कोई भी समय नहीं कि जिस समय मैंने किंचिन्मात्र भी सुख का श्वास लिया हो किन्तु प्रतिक्षण कल्पनातीत कष्ट और वेदना का ही मैंने अनुभव किया है। मृगापुत्र के कथन का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की नरकयातनाएँ स्वोपार्जित पापकर्मों का फलरूप हैं, और वे पापकर्म विषय-भोगों की आसक्ति से बाँधे जाते हैं। अतः इन काम-भोगों के उपभोग की मेरे मन में अणुमात्र भी अभिलाषा नहीं है। विपरीत इसके इन काम-भोगों का सर्वथा त्याग करके संयम ग्रहण करने की ही मेरी उत्कृष्ट जिज्ञासा है। अब रही संयमवृत्ति में उपस्थित होने वाले कष्टों की बात, सो जब मैंने नरकों के इतने असह्य कष्ट सह लिये तो संयम के कष्टों को सहन करना मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। तथा संयम ग्रहण करने का मेरा आशय यह है कि इन उपरोक्त दुःखों से छूटने का उपाय एकमात्र संयम ही है, इसी की आराधना करने से कर्मों की निर्जरा हो सकती है। क्योंकि आस्रवद्वारों को बन्द करके संवर की भावना करता हुआ यह जीव बाह्य और आभ्यन्तर तप के अनुष्ठान से कर्ममल को दूर करके आत्मशुद्धि को प्राप्त होता हुआ परम कल्याण स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परन्तु ये सब बातें संयम में ही निहित हैं। इसलिए संयम को ग्रहण करके उसका सम्यक्तया पालन करता हुआ मैं कर्ममल से सर्वथा रहित होकर मुक्त होने की ही तीव्र अभिलाषा रखता हूँ।

अब अपने अनुभूयमान नरकसम्बन्धी दुःखों का समुच्चय रूप से वर्णन करते हुए मृगापुत्र फिर कहते हैं—

तिव्वचण्डप्पगाढाओ, घोराओ अइदुस्सहा ।
महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु दुहवेयणा ॥७३॥
तीव्राश्चण्डप्रगाढाश्च , घोरा अतिदुःसहाः ।
महाभया भीमाः, नरकेषु वेदिता मया ॥७३॥

पदार्थान्वयः—तिव्व—तीव्र चण्ड—प्रचण्ड प्पगाढाओ—अत्यन्त गाढी घोराओ—अतिरौद्र अइदुस्सहा—अति दुस्सह महब्भयाओ—महाभय उत्पन्न करने वाली भीमाओ—भयंकर—श्रवणमात्र से भय उत्पन्न करने वाली नरएसु—नरकों में दुह-वेयणा—दुःखरूप वेदनाएँ मैंने अनुभव कीं।

मूलार्थ—नरकों में मैंने जिन दुःखरूप वेदनाओं का अनुभव किया, व दुःखरूप वेदनाएँ तीव्र, प्रचण्ड, अत्यन्त गाढी, रौद्र, अति दुस्सह और महाभय को उत्पन्न करने वाली तथा अति भयंकर रूप हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मृगापुत्र अपनी पूर्वानुभूत दुःख-वेदनाओं का वर्णन करते हुए अपने माता-पिता से फिर कहते हैं कि मैंने जिन दुःखरूप वेदनाओं का नरकों में अनुभव किया है, वे अत्यन्त तीव्र और उत्कट थीं तथा उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी अत्यन्त अधिक थी। क्योंकि शास्त्रों में सातवें नरक की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की कही है। इस नरक में गये हुए जीव को एक क्षणमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। विपरीत इसके महान् भय और भयंकर वेदना का ही प्रतिक्षण अनुभव करना पड़ता है। यद्यपि घोर—भीम और महाभय आदि शब्द प्रायः एकार्थी हैं तथापि शिष्यबोधार्थ इनका पृथक् २ ग्रहण किया गया है। तथा शब्दनय के अवान्तर भेदों के अनुसार इनका पृथक् रूप से ग्रहण किया जाना भी शिष्टसम्मत प्रतीत होता है।

अब नरकसम्बन्धी वेदनाओं की विशिष्टता का वर्णन करते हैं—

जारिसा माणुसे लोए, ताया ! दीसन्ति वेयणा ।
इत्तो अणंतगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा ॥७४॥

याद्दश्यो मानुष्ये लोके, तात ! दृश्यन्ते वेदनाः ।
इतोऽनन्तगुणिताः , नरकेषु दुःखवेदनाः ॥७४॥

पदार्थान्वयः—ताया–हे तात ! जारिसा–जैसी वेयणा–वेदनाएँ माणुसे लोए–मनुष्यलोक में दीसन्ति–देखी जाती हैं इत्तो–इससे अणंतगुणिया–अनन्त गुणा अधिक दुक्खवेयणा–दुःखरूप वेदनाएँ नरएसु–नरकों में देखी जाती हैं ।

मूलार्थ—हे पिता ! जिस प्रकार की वेदनाएँ मनुष्यलोक में देखी जाती हैं, नरकों में उनसे अनन्तगुणा अधिक दुःख वेदनाएँ अनुभव करने में आती हैं।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि इस मनुष्यलोक में जिस प्रकार की असातारूप वेदनाओं का अनुभव किया जाता है, ठीक इन वेदनाओं से अनन्तगुणा अधिक वेदनाएँ नरकों में विद्यमान हैं, जो कि अनेक बार मेरे अनुभव में आ चुकी हैं। मनुष्यलोक में जरा और शोकजन्य दो वेदनाएँ देखी जाती हैं । इनमें जराजन्य शारीरिक और शोकजन्य मानसिक वेदना है । इन दो में समस्त वेदनाओं का समावेश हो जाता है । कुष्ठादि भयंकर रोगों के निमित्त से उत्पन्न होने वाली असातारूप वेदना शारीरिक वेदना है और इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोगजन्य वेदना को मानसिक वेदना कहते हैं । परन्तु मनुष्यलोकसम्बन्धी इन शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से नरक की वेदनाएँ अनन्तगुणा अधिक हैं, जो कि नारकी जीवों को बलात् सहन करनी पड़ती हैं । इस विषय में अधिक देखने की इच्छा रखने वाले पाठक सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के पाँचवें अध्ययन को और प्रश्नव्याकरण के प्रथम अध्ययन को तथा 'जीवामि नम' आदि सूत्र देखें ।

अब सर्वगतियों में वेदना के अस्तित्व का वर्णन करते हैं—

सव्वभवेसु अस्साया, वेयणा वेदिता मए ।
निमिसंतरमित्तंपि , जे साया नत्थि वेयणा ॥७५॥

सर्वभवेष्वसाता , वेदना वेदिता मया ।
निमेषान्तरमात्रमपि , यत्साता नास्ति वेदना ॥७५॥

पदार्थान्वयः—सव्व–सर्व भवेसु–भवों में अस्साया–असातारूप वेयणा–वेदना मए–मैंने वेइया–अनुभव की निमिसंतरमित्तपि–निमेषोन्मेषमात्र भी जं–जो साया–सातारूप वेयणा–वेदना नत्थि–नहीं अनुभव की।

मूलार्थ—मैंने सब भवों—जन्मों—में असातारूप वेदना का ही अनुभव किया, किन्तु सातारूप—सुख रूप—वेदना का तो निमेषमात्र भी—आँख के झपकने जितना समय भी अनुभव नहीं किया।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि वास्तव में तो मैंने देव, मनुष्य, तिर्यंच, और नरकसम्बन्धी किसी भी जन्म में सुख का अनुभव नहीं किया किन्तु निरन्तर दुःखों का ही मुझे अनुभव होता रहा है। सुख का तो लेशमात्र अर्थात् आँख के झपकने जितना समय मात्र भी प्राप्त नहीं हुआ। इस कथन का तात्पर्य यह है कि कई एक जन्मों में सांसारिक सुखों के उपभोग की सामग्री भी उपलब्ध हुई परन्तु उसका अन्तिम परिणाम दुःख भोगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं निकला। अर्थात् वे सांसारिक सुख भी इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग के कारण दुःखमिश्रित ही रहे। अत यह सुख भी वास्तव में सुख नहीं किन्तु सुखाभास था। मृगापुत्र के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि नरकों में उपलब्ध होने वाले दुःखों का तो दिग्दर्शन करा ही दिया गया और पशुयोनि के दुःख लोगों के सामने ही हैं तथा मनुष्यजन्म में भी जिन दुःखों का सामना करना पड़ता है, वे भी ऐसे नहीं जो कि भूले गये हों। अब रही देवगति की बात, सो वह भी जन्म-मरण के बन्धन से ग्रस्त है, उसमें भी ईर्ष्यादिजन्य दुःखपरम्परा की कमी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि इन गतियों में सुख की लेशमात्र भी उपलब्धि नहीं होती। आप मुझे भले ही सुखी समझें परन्तु मैंने तो अपने सारे भवों में दुःख का ही अनुभव किया है। अतः इस दुःख-सन्तति से छूटने के लिए मैं तो एकमात्र संयम को ही सर्वोत्कृष्ट समझता हूँ।

मृगापुत्र के इस कथन को सुनकर उसके माता-पिता ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तं बिन्तम्मापियरो, छंदेणं पुत्त ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे, दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥७६॥

तं ब्रूतोऽम्बापितरौ, छन्दसा पुत्र ! प्रव्रज ।
न वरं पुनः श्रामण्ये, दुःखं निष्प्रतिकर्मता ॥७६॥

पदार्थान्वयः—तं–मृगापुत्र को अम्मापियरो–माता और पिता बिन्त–कहने लगे पुत्त–हे पुत्र ! छंदेणं–स्वेच्छापूर्वक—खुशी से पव्वया–दीक्षित हो जा न वरं–इतना विशेष है पुणा–फिर सामण्णे–संयम में दुक्खं–दुःख का हेतु है जो निप्पडिकम्मया–ओषधि का न करना ।

मूलार्थ—माता पिता ने कहा कि हे पुत्र ! तू अपनी इच्छा से भले ही दीक्षित हो जा । परन्तु श्रमणभाव में यह बड़ा कष्ट है, जो कि रोगादि के होने पर उसके प्रतीकारार्थ कोई ओषधि नहीं की जाती ।

टीका—मृगापुत्र के पूर्वोक्त वक्तव्य को सुनकर, उसके माता-पिता ने संयम ग्रहण करने की तो उसको सम्मति दे दी परन्तु संयमवृत्ति में ध्यान देने योग्य एक बात की ओर उन्होंने अपने पुत्र का ध्यान खींचते हुए कहा कि हे पुत्र ! तुम संयमवृत्ति को बड़े हर्ष से अंगीकार कर लो, हम इसमें अब किसी प्रकार का भी विघ्न उपस्थित करने को तैयार नहीं । परन्तु इस श्रमणवृत्ति में एक बात का विचार करते हुए हमारे मन में बहुत खेद होता है । वह यह कि श्रमणवृत्ति में रोग के प्रतिकार का कोई यत्न नहीं अर्थात् रोगादि के हो जाने पर उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की ओषधि नहीं की जाती । इस बात का विचार करने पर हमको बहुत दुःख होता है । क्योंकि संयमव्रत ग्रहण करने के अनन्तर दैवयोग से यदि किसी प्राणघातक रोग का आक्रमण हो जाय, और उसके प्रतिकार के निमित्त किसी ओषधि आदि का उपचार न किया जाय तो सद्यःशरीरपात की संभावना रहती है । अतः रोग के आक्रमण में किसी प्रकार के उपचार को स्थान न देना हमें अवश्य कष्टदायक प्रतीत होता है । मृगापुत्र के माता-पिता का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि सम्भवतः संयमवृत्ति में उपस्थित होने वाली इस कठिनाई को ही ध्यान में लेकर वह कुछ समय और अपने विचारों को स्थगित रखने में सहमत हो जाय । इसके अतिरिक्त इतना अवश्य स्मरण रहे कि इस गाथा में जो रोगादि के उपस्थित होने पर भी साधुवृत्ति में औषधोपचार का निषेध किया है, वह केवल उत्सर्ग मार्ग को अवलम्बन करके किया है । जैन-सिद्धान्त

में जिनकल्प और स्थविरकल्प इन दो में से जो जिनकल्पी मुनि हैं वे तो रोगादि के होने पर भी उसकी निवृत्ति के लिए किसी प्रकार की औषधि का उपयोग नहीं करते, परन्तु जो स्थविरकल्पी हैं वे अपनी इच्छा से किसी औषधि का भले ही उपयोग न करें परन्तु निरवद्य रूप औषधोपचार का उनके लिए प्रतिषेध नहीं है। यदि उक्त गाथा के भाव का आन्तरिक दृष्टि से और भी पर्यालोचन किया जाय तो मृगापुत्र के माता-पिता के कथन का यह भी आशय प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प का ही अनुसरण करना वर्तमान काल की दृष्टि से अधिक हितकर है।

माता-पिता के इस कथन को सुनकर मृगापुत्र ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

सो बिंतऽम्मापियरो! एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ॥७७॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ! एवमेतद्यथा स्फुटम्।
प्रतिकर्म कः करोति, अरण्ये मृगपक्षिणाम् ॥७७॥

पदार्थान्वयः—सो—वह मृगापुत्र बिंत—कहते हैं अम्मापियरो—हे माता पिता एव—इसी प्रकार है एयं—यह जहा—जैसे (आपने कहा है) फुड—प्रकट है, परन्तु अरण्णे—जंगल में मियपक्खिणं—मृगों और पक्षियों का पडिकम्मं—प्रतिकार को—कौन कुणई—करता है?

मूलार्थ—वह (मृगापुत्र) कहते हैं कि हे पितरो! आपने यह जो कहा है कि साधुवृत्ति में जो रोगादि के होने पर औषधोपचार नहीं किया जाता, यह बड़े कष्ट की बात है। यह सब कुछ सत्य है परन्तु जंगल में रहने वाले मृगों और पक्षियों का रोगादि के समय में कौन उपचार करता है?

टीका—मृगापुत्र कहने लगे कि यह सब कुछ सत्य है कि साधुवृत्ति में किसी रोगादि के होने पर उसका प्रतिकार नहीं किया जाता अर्थात् रोग की निवृत्ति के लिए हमारे मार्ग में साधु को किसी प्रकार की औषधि के सेवन करने का विधान नहीं, इसलिए यह बड़ा कठिन मार्ग है। परन्तु आप यह तो बतलाएं कि

जगल के मृगादि पशुओं और वृक्षों पर विश्राम करने वाले पक्षियों के रोग का कौन प्रतिकार करता है ? अर्थात् उनके रोग की निवृत्ति के लिए कौन सी ओषधि उपयोग में लाई जाती है ? क्या वे औषधोपचार के बिना जीते नहीं अथवा विचरते नहीं ? तात्पर्य यह है कि जैसे मृगों और पक्षियों को वन में जाकर कोई ओषधि नहीं करता, कोई उनकी चिकित्सा नहीं करता, परन्तु फिर भी वे अपनी शेष आयु के कारण समय पर नीरोग होकर स्वच्छन्द रूप से विचरते हैं, इसी प्रकार मुनिवृत्ति को धारण करने पर भी किसी प्रतिकार की आवश्यकता नहीं है। मुनिवृत्ति में भी उदय में आये हुए असातावेदनीय कर्म के फल को शांतिपूर्वक भोगकर शेष जीवन को आनन्दपूर्वक बिताया जा सकता है। अत मेरे लिए इस मुनिवृत्ति में उपस्थित होने वाले रोगों के बाह्य प्रतिकार का अभाव होने पर भी आपको किसी प्रकार का मानसिक खेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में समस्त शारीरिक रोगों की एक मात्र ओषधि तो धैर्य है, सहनशीलता है, जो कि मेरे में विद्यमान है। अतः मुझे इसकी चिन्ता नहीं, यह मृगापुत्र के कथन का भाव है।

एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥७८॥

एकभूतोऽरण्ये वा, यथा तु चरति मृगः।
एवं धर्मं चरिष्यामि, संयमेन तपसा च ॥७८॥

पदार्थान्वयः—एगब्भूओ—अकेला अरण्णे—जगल में वा—अथवा जहा—जैसे उ—निश्चयार्थक मिगो—मृग चरई—विचरता है एव—उसी प्रकार धम्म—धर्म का चरिस्सामि—मैं आचरण करूँगा संजमेण—सयम से य—और तवेण—तप से।

मूलार्थ—जैसे अरण्य में मृग अकेला ही—विना किसी की सहायता से—स्वच्छन्दरूप से विचरता है, उसी प्रकार सयम और तप के साथ मैं भी धर्म का आचरण करूँगा।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि इसलिए, जैसे जगल में विना किसी की सहायता से अकेला ही मृग अपनी इच्छा के अनुसार विचरता है, उसी तरह मैं

भी संयम और तप से अलङ्कृत होता हुआ अकेला ही विचरूँगा। तात्पर्य यह है कि संयम और तप ये दोनों ही धर्म के लक्षण—स्वरूप हैं। इनको धारण करता हुआ मैं मृग की भाँति स्वच्छन्दरूप से अकेला ही विचरण करूँगा। प्रस्तुत गाथा में एकत्व भावना और निस्पृह वृत्ति का वर्णन किया गया है। क्योंकि जब तक यह जीव अपने आत्मबल पर दृढ़ विश्वास रखकर उक्त वृत्ति का अवलम्बन नहीं करता, तब तक वह परमोत्तपद—मोक्षपद का अधिकारी नहीं बन सकता। इसलिए संयमशील व्यक्ति को अपने आत्मबल पर ही पूर्ण विश्वास रखना चाहिए, इसी से उसका उद्धार होगा।

अब इसी विषय में फिर कहते हैं—

जहा मिगस्स आयंको, महारण्णंमि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि, को णं ताहे चिगिच्छई ॥७९॥

यथा मृगस्याऽऽतंकः, महारण्ये जायते।
तिष्ठन्तं वृक्षमूले, कस्तं तदा चिकित्सति ॥७९॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे मिगस्स—मृग को आयंको—रोग महारण्णंमि—महा अटवी में जायई—उत्पन्न होता है, तब अच्छन्तं—बैठे हुए रुक्खमूलम्मि—वृक्ष के मूल में को—कौन णं—उसकी ताहे—उस समय चिगिच्छई—चिकित्सा करता है।

मूलार्थ—हे पितरो! महाभयानक जंगल में रहने वाले मृग को जब कोई रोग उत्पन्न हो जाता है, तब उस समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है?

टीका—पूर्व की गाथाओं में मृगापुत्र के माता-पिता ने साधुवृत्ति में किसी रोग के उत्पन्न होने पर, उसकी चिकित्सा का निषेध होने से जो मानसिक खेद इस पुत्र के लिए किया था, उसका संक्षेप से तो मृगापुत्र ने प्रथम ही समाधान कर दिया था। परन्तु अब उसको विशेषरूप से समाहित करने के लिए कहते हैं कि हे पिताजी! महारण्य—भयानक जंगल—में विचरने वाले मृग को यदि किसी आतंक—सद्यःप्राणघातक रोग—का आक्रमण हो जाय तो उस समय किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए उस रुग्ण मृग की कौन आकर चिकित्सा करता है? अर्थात्

कोई भी नहीं करता। किन्तु यह रोगी मृग उस रोगजन्य पीड़ा को सहन करता हुआ बैठा रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे यह मृग उस पीड़ा को शांतिपूर्वक सहन करके समय आने से उस रोग से मुक्त होने पर फिर पूर्व की भाँति स्वेच्छा-पूर्वक विचरता है, उसी प्रकार संयमशील पुरुष को भी धैर्यपूर्वक रोगादि के उपद्रव को सहन करके अपनी बलवती आत्मनिष्ठा का परिचय देना चाहिए। इस गाथा में सामान्य वन का उल्लेख न करके जो 'महारण्य' का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य यह है कि किसी छोटे से वन में तो उसकी सार-सँभार लेने का उधर विचरते हुए किसी दयालु पुरुष को समय भी मिल सकता है परन्तु महाभयानक जंगल में तो किसी के भी पहुँचने की सम्भावना नहीं हो सकती। 'ण' शब्द के विषय में बृहद्वृत्तिकार लिखते हैं कि—'अचां संधिलोपो बहुलम्' इस नियम से 'अच्' का लोप होने पर 'एन' के स्थान पर 'ण' पढ़ा गया है।

अब उक्त कथन को पल्लवित करते हुए फिर कहते हैं—

को वा से ओसहं देइ, को वा से पुच्छई सुहं।
को से भत्तं च पाणं वा, आहरित्तु पणामई ॥८०॥

को वा तस्मै औषधं दत्ते, को वा तस्य पृच्छति सुखम्।
कस्तस्मै भक्तं च पानं वा, आहृत्य प्रणामयेत् ॥८०॥

पदार्थान्वयः—वा—अथवा को—कौन से—उस मृग को ओसहं—औषध लाकर देइ—देता है वा—अथवा को—कौन से—उसको सुहं—सुखसाता पुच्छई—पूछता है को—कौन से—उसको भत्तं—भोजन वा—अथवा पाणं—पानी आहरित्तु—लाकर पणामई—देता है।

मूलार्थ—हे पितरो! कौन उस मृग को ओषधि देता है? कौन सुखसाता पूछता है? और कौन भोजन पानी लाकर उसको देता है?

टीका—मृगापुत्र अपने पूर्वोक्त कथन को पुष्ट करते हुए फिर कहते हैं कि पिताजी! उस भयानक अटवी में वृक्ष के नीचे पड़े हुए उस रोगी मृग को वहाँ आकर कौन पुरुष ओषधि देता है? कौन आकर [illegible]ता पूछता है? और कौन

पुरुष उसको अन्न-पानी लाकर देता है ? अर्थात् कोई ओषधि नहीं देता, कोई कुशल-क्षेम नहीं पूछता, तथा कोई भी अन्न-पानी से उसकी सार-सँभाल नहीं करता। जैसे किसी पुरुष के द्वारा औषधोपचार तथा सेवा-शुश्रूषा के न होने पर भी वह मृग कष्ट को शांतिपूर्वक सहन कर लेता है, उसी प्रकार संयमवृत्ति में आरूढ होने वाले मुमुक्षु पुरुष को भी शारीरिक कष्टों को शांतिपूर्वक सहन करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जाना चाहिए। कारण कि अशान्ति से रोगों की वृद्धि और शांति से उनकी निवृत्ति होती है।

यहाँ पर 'पणामई' इस प्रयोग में 'अर्प्' धातु को 'पणाम' आदेश किया हुआ है, अत 'पणाम' का अर्थ अर्पण करना है।

जया य से सुही होइ, तया गच्छइ गोयरं।
भत्तपाणस्स अट्ठाए, वल्लराणि सराणि य ॥८१॥

यदा च सः सुखी भवति, तदा गच्छति गोचरम्।
भक्तपानस्यार्थं , वल्लराणि सरांसि च ॥८१॥

पदार्थान्वयः—य-च—और जया-जिस समय से-वह सुही-सुखी होइ-हो जाता है तया-उस समय गोयरं-गोचरी को गच्छइ-जाता है भत्त-भोजन य-और पाणस्स-पानी के अट्ठाए-लिए वल्लराणि-वन य-और सराणि-सर—तालाब—को।

मूलार्थ—तदनन्तर जिस समय वह मृग स्वस्थ हो जाता है, उस समय गोचरी को चल पड़ता है और भोजन तथा जल के लिए हरे हरे घास में और जलाशय में पहुँच जाता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि समय आने पर जब वह मृग नीरोग हो जाता है तब उसी गहन वन में भोजन—भक्ष्य, वनस्पति आदि और जल की तलाश में चल पड़ता है। तथा वन में उपलब्ध होने वाले भोजन और जल से तृप्त होकर स्वेच्छापूर्वक फिर उसी वन में विचरने लगता है। उसी प्रकार संयमवृत्ति को धारण करने वाले मुनि लोग भी अपने जीवन को शांतिपूर्वक व्यतीत करते और कर सकते हैं। यहाँ पर इतना स्मरण अवश्य रहे कि वर्तमान समय में गच्छ में

रहने वाले मुनियों को इस प्रकार की वृत्ति का पालन करना सर्वथा असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। तो भी संयमशील साधु इस बात का विचार अवश्य करता रहे कि वह समय मुझे कब प्राप्त होगा, जब कि मैं गच्छ को छोड़कर एकल विहार—प्रतिमा को अंगीकार करूँ (यह कथन औपपातिक सूत्र के व्युत्सर्ग विवरण में है)। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का भाव प्रत्येक मुनि को रखना चाहिए। गोचरी शब्द से यहाँ पर मृगचर्या सूचित की गई है।

इसके अनन्तर—

खाइत्ता पाणियं पाउं, वल्लरेहिं सरेहि य।
मिगचारियं चरित्ता णं, गच्छई मिगचारियं ॥८२॥

खादित्वा पानीयं पीत्वा, वल्लरेषु सरस्सु च।
मृगचर्यां चरित्वा, गच्छति मृगचर्याम् ॥८२॥

पदार्थान्वयः—खाइत्ता—खाकर पाणियं—पानी पाउं—पीकर वल्लरेहिं—वनों में य—और सरेहि—सरों में मिगचारियं—मृगचर्या को चरित्ता—आचरण करके मिगचारियं—मृगचर्या में गच्छई—चला आता है।

मूलार्थ—वह मृग वनों में और जलाशयों में घास आदि खाकर और पानी पीकर मृगचर्या का आचरण करता हुआ अपने स्थान में विचरता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि नीरोग होने के बाद वह मृग तृण-घास खाकर और जल आदि पीकर फिर आनन्दपूर्वक विचरने लगता है। स्वेच्छापूर्वक चलना और स्वेच्छापूर्वक बैठना, अर्थात् अपनी क्रिया में किसी के पराधीन न होना मृगचर्या कहलाती है। मृग के रहने के स्थान को भी मृगचर्या कहते हैं। उक्त गाथा में आये हुए 'वल्लरेहिं—सरेहि' पदों में 'सुप्' का व्यत्यय है अर्थात् सप्तमी के स्थान में तृतीया का प्रयोग किया गया है।

अब उक्त मृगचर्या की साधुवृत्ति से तुलना करते हुए कहते हैं—

एवं समुट्ठिओ भिक्खू, एवमेव अणेगए।
मिगचारियं चरित्ता णं, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥८३॥

एव समुत्थितो भिक्षुः, एवमेवाऽनेकग ।
मृगचर्यां चरित्वा, ऊर्ध्वं प्रक्रामते दिशम् ॥८३॥

पदार्थान्वयः—एव-इसी प्रकार समुट्ठिओ-संयम में सावधान हुआ भिक्खू-साधु और एवमेव-इसी प्रकार अणेगए-अनेक स्थानों में फिरने वाला मिगचारियं-मृगचर्या को चरित्ता-आचरण करके उड्ढं-ऊँची दिसं-दिशा को पक्कमई-आक्रमण करता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार भिक्षु भी संयम में सावधान होकर मृग की भाँति अनेक स्थानों में फिरकर मृगचर्या का आचरण करता हुआ ऊँची दिशा को आक्रमण करता है।

टीका—मृगापुत्र कहते हैं कि संयम-क्रिया में सावधान हुआ साधु भी उस मृग की तरह—अर्थात् जैसे रोगादि के आने पर वह उसी जंगल में किसी वृक्ष के नीचे बैठा हुआ समय व्यतीत करता है और नीरोग होने पर स्वेच्छानुसार भ्रमण करने लग जाता है उसी प्रकार साधु भी रोगादि के आने पर चिकित्सादि से उपराम होकर एक स्थान में स्थित रहे और रोगादि के शान्त होने पर अपनी साधु-वृत्ति के अनुसार भिक्षादि में प्रवृत्त हो जाय। तात्पर्य यह है कि जैसे मृग नाना प्रकार के स्थानों में भ्रमण करके अपने उदर की पूर्ति कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी किसी गृहविशेष के नियम में न आकर, अनेक घरों से भिक्षा लाकर, अपनी क्षुधा को शान्त करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार आचरण करने वाला मुनि, ऊर्ध्वदिशा—मोक्ष—के लिए पराक्रम करने वाला होता है। तात्पर्य यह है कि—संयम-क्रिया के अनुष्ठान का फल मोक्ष और स्वर्ग ये दो हैं। इनमें संयमशील साधु को उचित है कि वह अपनी संयम-क्रिया को मोक्षप्राप्ति के निमित्त ही उपयोग में लाये, न कि स्वर्गप्राप्ति के लिए।

अब इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए फिर कहते हैं—

जहा मिए एग अणेगचारी,
अणेगवासे धुवगोअरे य।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे,
नो हीलए नोवि य खिंसएज्जा ॥८४॥

यथा मृग एकोऽनेकचारी,
अनेकवासो ध्रुवगोचरश्च।
एवं मुनिर्गोचर्यां प्रविष्टः,
नो हीलयेन्नोऽपि च खिंसयेत् ॥८४॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे मिए—मृग एग—अकेला अणेगचारी—अनेक स्थानों में विचरता है य—और अणेगवासे—अनेक स्थानों में वास करता है, तथा धुवगोअरे—सदा गोचरी किये हुए आहार का ही आहार करता है एव—इसी प्रकार मुणी—साधु गोयरिय—गोचरी में पविट्ठे—प्रविष्ट हुआ नो हीलए—कदन्न मिलने पर हीलना न करे य—और नावि—न खिंसएज्जा—आहार के न मिलने पर निन्दा करे।

मूलार्थ—जैसे अकेला मृग अनेक स्थानों में विचरने वाला होता है और अनेक स्थानों में निवास करने वाला होता है, तथा ध्रुवगोचर अर्थात् सदा गोचरी किये हुए आहार का ही भक्षण करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचरी वृत्ति में प्रविष्ट हुआ मुनि भी, कदशन—कुत्सित—आहार के मिलने पर उसकी अवहेलना न करे तथा न मिलने पर निन्दा न करे।

टीका—मृगापुत्र फिर कहते हैं कि जैसे सहायशून्य अकेला ही मृग अनेक स्थानों में विचरता रहता है और अनेक स्थानों में निवास करता है—क्योंकि उसका कोई भी नियत स्थान नहीं होता। तथा भ्रमण करते हुए उसको जहाँ पर जैसे भी तृण आदि भक्ष्य पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है, उसी से वह अपने उदर की पूर्ति कर लेता है। तात्पर्य यह है कि उसके पास अनेक दिनों के लिए न तो खाद्य पदार्थों का सञ्चय रहता है और न वह दूसरों के पास खाद्य पदार्थों को सञ्चित रखता है।

किन्तु क्षुधा के समय वन में विचरने से उसको जो कुछ प्राप्त होता है उसी से वह अपना निर्वाह कर लेता है। इसी प्रकार भिक्षावृत्ति में प्रवृत्त हुआ मुनि भी अपने पास किसी प्रकार के आहार द्रव्य का संचय न करता हुआ केवल शुद्ध भिक्षावृत्ति से उपलब्ध हुए खाद्य पदार्थों से अपनी क्षुधा की निवृत्ति करे परन्तु किसी घर से कदन्न—कुत्सित आहार मिलने पर अथवा न मिलने पर उस आहार की अवहेलना या न देने वाले दाता की निन्दा न करे। क्योंकि मुनि का धर्म तो याचना करने का है, आगे देना या न देना अथवा सुन्दर आहार न देना दाता की इच्छा पर निर्भर है। प्रस्तुत गाथा में साधु को मृग से उपमित किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि—जैसे मृग असहाय होता है, उसी प्रकार साधु भी किसी गृहस्थ की सहायता की अभिलाषा न करे, तथा जैसे मृग अनेक स्थानों में फिरता है, उसी भाँति साधु भी निरन्तर भ्रमण ही करता रहे, एवं जैसे मृग का कोई खास निवासस्थान नहीं होता, उसी तरह साधु का भी कोई स्थायी निवासस्थान नहीं होना चाहिए, और जैसे मृग केवल अपने ही पुरुषार्थ से तृणादि आहार का अन्वेषण करके उसके द्वारा शरीरयात्रा को चलाता है, उसी प्रकार साधु भी केवल गोचरीवृत्ति से ही अपनी उदरपूर्ति करने का संकल्प रक्खे। तात्पर्य यह है कि किसी गृहस्थ का उपाश्रय आदि में लाकर दिया हुआ आहार साधु कदापि ग्रहण न करे। इसी अभिप्राय से मुनि की वृत्ति को मृगचर्या के नाम से शास्त्रकारों ने अभिहित किया है। यद्यपि पूर्व की गाथाओं में साधुवृत्ति के लिए मृग के साथ पक्षी का भी उल्लेख किया है, परन्तु यह गौण है, मुख्यतया मृग की उपमा ही यथार्थ है, क्योंकि यह स्वभाव से ही सरल और उपशान्त होता है। इसलिए मुनिवृत्ति के यही उपयुक्त प्रतीत होता है। अर्थात् संयमवृत्ति को धारण करने वाला साधु भी उपशान्त, मोह और सरल स्वभाव वाला होना चाहिए।

इसके अनन्तर मृगापुत्र ने जो कुछ किया, अब उसका निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

मिगचारियं चरिस्सामि, एवं पुत्ता ! जहासुहं।
अम्मापिऊहिंऽणुण्णाओ, जहाइ उवहिं तओ ॥८५॥

मृगचर्यां चरिष्यामि, एवं पुत्र ! यथासुखम् ।
अम्बापितृभ्यामनुज्ञातः , जहात्युपधिं तथा ॥८५॥

पदार्थान्वयः—मिगचारियं-मृगचर्या का चरिस्सामि-आचरण करूँगा एवं-इस प्रकार पुत्ता-हे पुत्र ! जहासुहं-जैसे तुमको सुख हो अम्मापिऊहिं-माता पिता की अणुण्णाओ-आज्ञा होने पर उवहिं-उपधि को जहाइ-छोड़ दिया तओ-तदनन्तर दीक्षित हो गया ।

मूलार्थ—मैं मृगचर्या का आचरण करूँगा; हे पुत्र ! जैसे तुमको सुख हो, वैसे करो । इस प्रकार माता-पिता की आज्ञा होने पर मृगापुत्र ने उपधि को छोड़ दिया, तदनु वह दीक्षित हो गया ।

टीका—संयमग्रहण के विषय में माता-पिता से अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर होने के अनन्तर मृगापुत्र ने कहा कि मैं तो अब मृगचर्या का ही आचरण करूँगा । पुत्र के इन वचनों को सुनकर माता-पिता ने कहा कि पुत्र ! जैसे तुम्हारी रुचि हो, वैसे करो, हम उसमें किसी प्रकार की भी बाधा उपस्थित नहीं करते । इस प्रकार माता पिता की आज्ञा हो जाने पर मृगापुत्र ने द्रव्य और भावरूप उपधि का परित्याग करके दीक्षित होने का संकल्प कर लिया । द्रव्य उपधि—वस्त्र आभूषणादि, भाव उपधि—छद्मादि—मायादि, इन दोनों का परित्याग कर दिया । 'येन आत्मा नरके उपधीयते स उपधि' अर्थात् जिससे यह आत्मा नरक में जाय, उसको उपधि कहते हैं । अतः संयम ग्रहण के अभिलाषी को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की उपधि का परित्याग कर देना चाहिए । यद्यपि पूर्व की एक गाथा में मृगापुत्र को 'दमीश्वर' कहा गया है परन्तु वह कथन भावसंयम की अपेक्षा से है और यहाँ पर तो द्रव्यलिंग ग्रहण करने की दृष्टि से इस प्रकार कहा गया है । सारांश यह है कि माता-पिता की अनुमति होने पर मृगापुत्र संयमग्रहण करने में सावधान हो गये ।

अब फिर इसी कथन को पल्लवित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्ब ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहासुहं ॥८६॥

मृगचर्यां चरिष्यामि, सर्वदुःखविमोक्षिणीम् ।
युष्माभ्यामनुज्ञातः , गच्छ पुत्र ! यथासुखम् ॥८६॥

पदार्थान्वयः—मिगचारियं—मृगचर्या का चरिस्सामि—आचरण करूँगा, जो सव्वदुक्ख—सर्व दुःखों से विमोक्खणिं—मोक्ष करने वाली है अम्म !—हे माता ! तुब्भेहिं—आप दोनों की अणुण्णाओ—आज्ञा होने पर, गच्छ—जा पुत्त—हे पुत्र ! जहासुहं—जैसे सुख हो।

मूलार्थ—हे अम्ब ! आप दोनों की आज्ञा होने पर मैं मृगचर्या का आचरण करूँगा, जो कि सर्व दुःखों से मुक्त करने वाली है। [तब उसके माता पिता ने कहा कि] हे पुत्र ! जैसे तुमको सुख हो, वैसे करो।

टीका—संयम ग्रहण करने के लिए युवराज का अत्याग्रह देखकर माता-पिता ने उसको आज्ञा दे दी और वे संयम ग्रहण के लिए उद्यत हो गये। यह पूर्वगाथा में वर्णन आ चुका है। प्रस्तुत गाथा में भी इसी विषय को पुनः पल्लवित किया गया है। मृगापुत्र कहते हैं कि आप मुझे आज्ञा दें ताकि मैं मृगचर्या—संयमवृत्ति—का अनुसरण करूँ, क्योंकि यह सर्व प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाली है। तब माता पिता ने उत्साहपूर्वक आज्ञा देते हुए कहा कि पुत्र ! जाओ, भले ही संयम ग्रहण करो। अर्थात् यदि इसी में तुम्हारी आत्मा को सुख है और इसी के ग्रहण करने से तुम दुःखों से छूट सकते हो तो हम तुमको बड़ी खुशी से आज्ञा देते हैं। वर्तमान काल में दीक्षासम्बन्धी जो प्रथा प्रचलित हो रही है तथा आज्ञा लेने और देने में जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उनका परिचय कराना अनावश्यक है। परन्तु दीक्षा लेने और उसकी आज्ञा देने वाले दोनों ही व्यक्तियों को इस अध्ययन के अवलोकन से अवश्य ही उचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

तदनन्तर—

एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ता ण बहुविहं ।
ममत्तं छिन्दई ताहे, महानागो व्व कंचुयं ॥८७॥

एवं सोऽम्बापितरौ , अनुमान्य बहुविधम् ।
ममत्वं छिनत्ति तदा, महानाग इव कञ्चुकम् ॥८७॥

पदार्थान्वय —एव–इस प्रकार सो–वह—मृगापुत्र अम्मापियर–माता-पिता को अणुमाणित्ता–सम्मत करके बहुविहं–नानाविध—अनेक प्रकार के ममत्त–ममत्व को छिन्दई–छोड़ता है ताहे–उस समय व्व–जैसे महानागो–महानाग—सर्प कञ्चुय–कंचुक को।

मूलार्थ—इस प्रकार दीक्षा के लिए माता-पिता को सम्मत कर लेने के बाद वह मृगापुत्र संसार के अनेकविध ममत्व को इस प्रकार छोड़ता है, जैसे सर्प काँचली को छोड़ देता है।

टीका—संसार में बन्धन का एकमात्र कारण ममत्व है। जब तक इस जीव की सांसारिक पदार्थों पर मूर्च्छा बनी हुई है, तब तक वह साधु का वेष ग्रहण कर लेने पर भी कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए सारे अनर्थों का मूल कारण जो ममत्व—राग—है, उसी का परित्याग करने से कल्याण का मार्ग उपलब्ध होता है। मृगापुत्र ने दीक्षित होने से प्रथम अपने माता-पिता को अपने विचारों के अनुकूल बना लेने के बाद अर्थात् उनकी आज्ञा प्राप्त कर लेने के अनन्तर सब से प्रथम सांसारिक पदार्थों में विविध भाँति की जो आसक्ति है, उसको छोड़ दिया। और छोड़ा भी इस प्रकार से, जैसे साँप अपने ऊपर की केंचली को निकालकर परे फेंक देता है। इस दृष्टान्त से मृगापुत्र की सांसारिक विषयभोगसम्बन्धी उत्कृष्ट निस्पृहता का बोध कराया गया है। तात्पर्य यह है कि जैसे केंचली को फेंककर सर्प परे हो जाता है और उसको पीछे फिरकर देखता तक भी नहीं, उसी प्रकार मृगापुत्र ने भी सब प्रकार के ममत्व का परित्याग कर दिया। सारांश यह है कि वह मृगापुत्र द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ममतारहित हो गया।

अब उनके बाह्य उपधि के परित्याग का वर्णन करते हैं—

इड्ढी वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ।
रेणुअं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ता ण निग्गओ ॥८८॥

ऋद्धिं वित्तं च मित्राणि च, पुत्रदारांश्च ज्ञातीन्।
रेणुकमिव पटे लग्नं, निर्धूय निर्गतः ॥८८॥

पदार्थान्वय—इड्ढी—ऋद्धि च—और वित्तं—धन य—और मित्ते—मित्र पुत्त—पुत्र दार—स्त्री च—पुनः नायओ—ज्ञातिसम्बन्धी जन रेणुअं व—धूलि की तरह पडे—पट में लग—लगी हुई निद्धुणिचा—झाड़कर निग्गओ—घर से निकल गया।

मूलार्थ—जैसे कपड़े में लगी हुई धूलि को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार समृद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी जनों के मोह को त्याग कर मृगापुत्र घर से निकल पड़े।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाह्य उपधि के परित्याग का वर्णन किया गया है। माता-पिता की अनुमति मिलने के अनन्तर मृगापुत्र ने राजकीय समृद्धि—हस्ती, अश्वादि का परित्याग कर दिया। रत्नों से भरे हुए कोष को छोड़ दिया। मित्रों से भी वे पराङ्मुख हो गये। पुत्र और स्त्री तथा सम्बन्धी जनों के संग का भी उन्होंने परित्याग कर दिया। यह त्याग भी कैसा? जैसे कपड़े पर लगी हुई धूल को झाड़कर अलग कर दिया जाता है। यहाँ पर वस्त्र और धूलि के दृष्टान्त से यह भाव व्यक्त किया है कि वस्त्र के साथ लगी हुई रज अप्रिय होने से जैसे झाड़कर वस्त्र से अलग कर दी जाती है, उसी प्रकार इस सांसारिक पदार्थसमूह को भी अत्यन्त अप्रिय समझकर मृगापुत्र ने इनका परित्याग कर दिया और त्याग करने के अनन्तर वे भी वस्त्र की भाँति शुद्ध हो गये।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का परित्याग करके वे मृगापुत्र किस प्रकार के हो गये, अब इसका वर्णन करते हैं—

पंचमहव्वयजुत्तो, पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ ॥८९॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः, पञ्चभिः समितस्त्रिगुप्तिगुप्तश्च।
साभ्यन्तरबाह्ये, तपःकर्मणि उद्युक्तः ॥८९॥

पदार्थान्वयः—पंचमहव्वय—पाँच महाव्रतों से जुत्तो—युक्त पंचसमिओ—पाँच समितियों से समित य—और तिगुत्तिगुत्तो—तीन गुप्तियों से गुप्त सब्भिंतर—आभ्यन्तर और बाहिरिए—बाह्य तवोकम्मंमि—तपःकर्म में उज्जुओ—उद्यत हो गया।

मूलार्थ—पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त हुआ वह मृगापुत्र बाह्य और आभ्यन्तर तपःकर्म में सावधान हो गया।

टीका—सर्व प्रकार की उपधि का परित्याग करके घर से निकलकर मृगापुत्र ने मुनिवृत्ति—मुनिवेष को धारण कर लिया, जैसे कि पूर्वजन्म में धारण की थी। इसलिए उनके किसी गुरु का नाम निर्देश नहीं किया गया। मुनिवेष को धारण करते हुए मृगापुत्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों से युक्त हो गये। ईर्या—भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप तथा परिष्ठापना रूप पाँच प्रकार की समितियों से विभूषित और मन, वचन, कायारूप तीनों गुप्तियों से गुप्त होते हुए सर्व प्रकार के तप कर्म में उद्यत हो गये अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर सभी प्रकार के तप कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो गये। पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का सविस्तर वर्णन इसी सूत्र के २४वें अध्ययन में किया है। तप की सविस्तर व्याख्या ३०वें अध्ययन में की गई है।

अब फिर कहते हैं—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥९०॥

निर्ममो निरहंकारः, निःसंगस्त्यक्तगौरवः ।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥९०॥

पदार्थान्वयः—निम्ममो—ममत्वरहित निरहंकारो—अहंकार से रहित निस्संगो—संग से रहित चत्तगारवो—त्याग दिया है गर्व जिसने अ—और समो—समभाव रखने वाला सव्वभूएसु—सर्वजीवों में तसेसु—त्रसों में अ—और थावरेसु—स्थावरों में।

मूलार्थ—ममत्व और अहंकार से रहित तथा संगरहित एवं तीनों गर्वों से रहित वह मृगापुत्र त्रस और स्थावर आदि सर्व प्रकार के जीवों पर समभाव रखने वाला हुआ।

टीका—संयमव्रत ग्रहण करने के अनन्तर मृगापुत्र ने संसार के सभी पदार्थों

पर से ममत्व को त्याग दिया तथा उत्तमोत्तम गुणों के धारण करने का उनके मन में अहङ्कार भी नहीं रहा, एवं गृहस्थों के संग का भी उन्होंने त्याग कर दिया अर्थात्—'गिहिसंथवं न कुज्जा कुज्जा साहुसंथवं' इस आज्ञा के अनुसार वे चलने लगे। इसी प्रकार ऋद्धि, रस और साता—इन तीनों गर्वों को भी उन्होंने छोड़ दिया। अतएव त्रस और स्थावर आदि सभी प्रकार के जीवों पर उनका समभाव हो गया। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्राणी पर उनका राग या द्वेष नहीं रहा।

फिर कहते हैं—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥९१॥

लाभालाभे सुखे दु खे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशसयो', समो मानापमानयोः ॥९१॥

पदार्थान्वयः—लाभालाभे—लाभ और अलाभ में सुहे—सुख में दुक्खे—दुःख में तहा—तथा जीविए—जीवन में मरणे—मरण में समो—समभाव रखने वाला निन्दा-पसंसासु—निन्दा और प्रशंसा में तहा—तथा माणावमाणओ—मान और अपमान में।

मूलार्थ—वह मृगापुत्र लाभ, अलाभ; सुख, दुःख; जीवित और मरण तथा निन्दा और प्रशंसा; एवं मान और अपमान में समभाव रखने वाला हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयमशील साधु के आन्तरिक उत्कृष्ट गुणों का दिग्दर्शन किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति लाभ में और अलाभ में, सुख में और दुःख में, तथा जीवन में और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में, तथा मान और अपमान में समभाव रखने वाला होता है, वही वास्तव में मुनि अथवा साधु है। ये सम्पूर्ण गुण मृगापुत्र में विद्यमान थे। इसलिए वे उच्चकोटि के मुनियों की पंक्ति में गिने गये। सारांश यह है कि आहारादि के लाभ होने पर जिसके चित्त में प्रसन्नता नहीं, न मिलने पर खेद नहीं, जीवन की लालसा और मृत्यु का भय जिसको नहीं, तथा कोई निन्दा करे तो रोष नहीं और प्रशंसा करने वाले पर प्रसन्नता नहीं,

1 संयमशील को गृहस्थों का संग न करना चाहिए किन्तु साधुओं के संसर्ग में रहना चाहिए।

एव किसी के द्वारा सम्मानित होने की खुशी और अपमानित होने पर दुःख न वही सच्चा त्यागी, सयमी मुनि अथवा साधु है। वास्तव में मोक्षाभिलाषी आत्मा इन्हीं आन्तरिक गुणों के सम्पादन करने की आवश्यकता है।

अब फिर कहते हैं—

गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु अ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥९२॥

गौरवेभ्यः कषायेभ्यः, दण्डशल्यभयेभ्यश्च ।
निर्वृत्तो हास्यशोकात्, अनिदानोऽबान्धवः ॥९२॥

पदार्थान्वय —गारवेसु-तीनों गर्व से कसाएसु-कषायों से दंड-द सल्ल-शल्य अ-और भएसु-भयों से नियत्तो-निवृत्त हो गया हाससोगाओ-हास और शोक से तथा अनियाणो-निदान से रहित अबन्धणो-बन्धन से रहित।

मूलार्थ—गर्व, कषाय, दण्ड, शल्य और भय से तथा हास्य औ शोक से निवृत्त हो गया, तथा निदान और बन्धन से भी मुक्त हो गया।

टीका—सयमवृत्ति को धारण करने के अनन्तर मृगापुत्र ने तीनों गारव— गर्वों (ऋद्धिगर्व, रसगर्व और सातागर्व) का परित्याग कर दिया। क्रोध, मान, माय और लोभ—इन कषायों को भी छोड़ दिया। मन, वचन और काया के दण्ड को भी त्याग दिया। मायादि दान और मिथ्यादर्शन इन तीन प्रकार के शल्यों को भी छोड़ दिया। अतएव सात प्रकार के भयों से भी वह निवृत्त हो गया। इसके साथ ही उसका हास्य और शोक भी जाता रहा। इस प्रकार आचरण करने से उसकी प्रत्येक क्रिया निदान से रहित और बन्धन से मुक्त कराने वाली हुई। तात्पर्य यह है कि संसार में कर्मबन्ध का कारण जो राग-द्वेष हैं, उनसे वह निवृत्त हो गया। प्रस्तुत गाथा में साधु को सयम ग्रहण करने के अनन्तर किस प्रकार की धारणा रखनी चाहिए, इस बात का बड़ी सुन्दरता से दिग्दर्शन कराया गया है। सप्तमी विभक्ति के जो रूप दिये गये हैं, वे पञ्चमी के अर्थ में समझने चाहिएँ। इसी लिए यहाँ पर पञ्चमी का अर्थ किया गया है।

अब फिर इसी विषय का वर्णन करते हैं—

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥९३॥

अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः ।
वासीचन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥९३॥

पदार्थान्वयः—इहं—इस लोए—लोक में अणिस्सिओ—आश्रयरहित परलोए—परलोक में अणिस्सिओ—अनिश्रित वासी—परशु से कोई छेदन करता है य—और चंदण—चंदन का लेप करता है—किन्तु दोनों पर कप्पो—समकल्प है तहा—उसी प्रकार असणे—अन्न के मिलने पर अणसणे—अन्न के न मिलने पर—समभाव है ।

मूलार्थ—इस लोक के आश्रित नहीं और परलोक के आश्रित नहीं, तथा कोई परशु से छेदन करता है और कोई चन्दन से पूजता है, परन्तु दोनों पर समकल्प है । इसी तरह अन्न के मिलने अथवा न मिलने पर भी समभाव है ।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र की संयमानुकूल क्रिया और भावों का दिग्दर्शन कराया गया है । यथा—तपोऽनुष्ठान से इस लोक में प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा, परस्पर की सहायता और राज्यपदवी आदि की उनको इच्छा नहीं, और न स्वर्गादि सुखों की अभिलाषा है । किन्तु उनकी संयमानुकूल सभी क्रियाएँ कर्मक्षय के निमित्त ही हैं । ऐहिक और पारलौकिक सुखों की उनके मन में अणुमात्र भी इच्छा नहीं । अतएव यदि किसी ने उनके शरीर को परशु से काटा है तो उस पर वे रुष्ट नहीं होते और किसी ने यदि उनके शरीर पर चन्दन का लेप किया तो उस पर वे प्रसन्न नहीं होते किन्तु दोनों पर समान दृष्टि रखते हैं । इसी प्रकार अन्नादि भक्ष्य पदार्थों के प्राप्त होने पर उनको हर्ष नहीं होता और न मिलने पर उद्वेग नहीं होता । तात्पर्य यह है कि इष्टानिष्ट हर एक अवस्था में वे समभाव रहते हैं । संयमशील प्रत्येक मुनि को मृगापुत्र की उक्त वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए, यह इस गाथा का अभिप्राय है ।

अब फिर कहते हैं—

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो ॥९४॥

अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः, सर्वतः पिहितास्रवः ।
अध्यात्मध्यानयोगैः , प्रशस्तदमशासनः ॥९४॥

पदार्थान्वयः—अप्पसत्थेहिं-अप्रशस्त दारेहिं-द्वारों से—निवृत्त हुआ सव्वओ-सर्व प्रकार से पिहियासवो-पिहिताश्रव होकर अज्झप्प-अध्यात्म भाव-ध्यान जोगेहिं-योगों से युक्त हुआ पसत्थ-सुन्दर है दम-उपशम और सासणो-भगवान् का शिक्षारूप शासन जिसका ।

मूलार्थ—अप्रशस्त द्वारों से निवृत्त हुआ, सर्व प्रकार से पिहिताश्रव बनता हुआ, अध्यात्मयोग से युक्त होकर प्रशस्त, उपशम और भगवान् के शिक्षारूप आगम का वेत्ता बन गया ।

टीका—इस गाथा में भी मृगापुत्र के आन्तरिक विशुद्ध आचार का दिग्दर्शन कराया गया है । वे मृगापुत्र अप्रशस्त योगों—मन, वचन और काया के व्यापारों—द्वारा आने वाले कर्माणुओं को रोकने से पिहिताश्रव बन गये अर्थात् आश्रव के निरोध से संवरयुक्त हो गये । क्योंकि आश्रवों का निरोध करने से ही संवर तत्त्व की प्राप्ति होती है । परन्तु पिहिताश्रव अर्थात् संवरयुक्त यह जीव तभी हो सकता है, जब कि उसकी अध्यात्मयोग में रति हो । इसलिए मृगापुत्र प्रशस्त योगों के द्वारा अध्यात्म ध्यान में ही लवलीन रहने लगे । अतः उनका उपशम भाव भी बड़ा ही प्रशंसनीय था और जिनागम के भी वे परम वेत्ता थे । प्रस्तुत गाथा में मृगापुत्र की अन्तरात्मवृत्ति की विशुद्धता का वर्णन करने के साथ २ अध्यात्मयोग का भी अर्थतः दिग्दर्शन कराया गया है ।

अब इस अध्यात्मयोग के सेवन के फल का वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।
भावणाहिं य सुद्धाहिं, सम्मं भावेत्तु अप्पयं ॥९५॥

बहुयाणि उ वासाणि, सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण, सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥९६॥

एवं ज्ञानेन चरणेन, दर्शनेन तपसा च ।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः, सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ॥९५॥
बहुकानि तु वर्षाणि, श्रामण्यमनुपाल्य ।
मासिकेन तु भक्तेन, सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ॥९६॥

पदार्थान्वयः—एव—इस प्रकार नाणेण—ज्ञान से चरणेण—चारित्र से दसणेण—दर्शन से य—और तवेण—तप से, तथा सुद्धाहिं—विशुद्ध भावनाहिं—भावनाओं से सम्म—भली प्रकार अप्पय—आत्मा को भावेत्तु—भावित करके।

बहुयाणि—बहुत वासाणि—वर्षों तक सामण्णम्—श्रमण धर्म का अणुपालिया—परिपालन करके उ—वितर्क में मासिएण—मासिक भत्तेण—भक्त से अणुत्तर—प्रधान सिद्धिं—सिद्धगति को पत्तो—प्राप्त हुआ उ—पादपूर्ति में।

मूलार्थ—इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली प्रकार भावित करके—अतिरंजित करके, एवं अनेक वर्षों तक श्रमण धर्म का परिपालन करके, एक मास के उपवास से—[शरीर को छोड़कर] सिद्धगति—मोक्ष को—वह मृगापुत्र—प्राप्त हुआ।

टीका—अब शास्त्रकार उक्त दो गाथाओं के द्वारा मृगापुत्र के किये हुए क्रिया-कलाप के फल का वर्णन करते हैं। यथा—उन्होंने—मृगापुत्र ने—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से अपनी आत्मा को परिमार्जित करके तथा विशुद्ध भावनाओं के द्वारा अर्थात् पाँच महाव्रतों की २५ और अनित्यादि द्वादशविध भावनाओं के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित करके अनेक वर्षों तक संयम का पालन करके परम गति—सिद्धस्वरूप—को प्राप्त किया। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि आत्मा का पर्यालोचन विशुद्ध भावनाओं के द्वारा ही सम्भव हो सकता है परन्तु जब तक योग, मन, वाणी और शरीर के व्यापार विशुद्ध नहीं होंगे, तब तक भावनाओं की शुद्धि नहीं हो सकती। अतः विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भावित करने के लिए योगों

की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। तथा अनेक वर्षों तक उसने इसी प्रकार से संयम का पालन किया और अन्त में एक मास का उपवास करके शरीर को छोड़कर मोक्षगति को प्राप्त कर लिया। यहाँ पर 'सिद्धि' के साथ 'अणुत्तर' विशेषण इसलिए लगाया गया है कि 'सिद्धि' शब्द से 'अंजनसिद्धि' आदि लौकिक सिद्धियों का ग्रहण न हो। सारांश यह है कि मृगापुत्र ने संयमवृत्ति का भली भाँति परिपालन किया और उसके फलस्वरूप उनको सर्वोत्तम मोक्षगति की प्राप्ति हुई। यद्यपि सूत्रकार ने इनके—मृगापुत्र के—समय का कोई निर्देश नहीं किया तथापि पाँच महाव्रत और बहुत वर्षों तक श्रमण धर्म का पालन—इन दो बातों के उल्लेख से इनके समय का कुछ निश्चय किया जा सकता है। क्योंकि प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय में ही पाँच महाव्रतों का उल्लेख मिलता है, अन्य तीर्थंकरों के समय में नहीं। इससे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में ही इनका होना सुनिश्चित होता है। परन्तु प्रथम तीर्थंकर के समय में आयु का प्रमाण अधिक बतलाया गया है और सूत्रकार ने कुमार अवस्था में इनका संयम धारण करना बतलाया है तथा बहुत वर्ष तक संयम का आराधन करके मोक्ष जाना कहा है, इससे इनका समय चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के अति निकट ही प्रतीत होता है। वास्तविक तत्त्व तो केवलीगम्य है।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

एवं करन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणिअट्टंति भोगेसु, मियापुत्ते जहा मिसी ॥९७॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, मृगापुत्रो यथा ऋषिः ॥९७॥

पदार्थान्वयः—एवं—इसी प्रकार संबुद्धा—तत्त्ववेत्ता करन्ति—करते हैं पंडिया—पंडित पवियक्खणा—प्रविचक्षण भोगेसु—भोगों से विणियट्टंति—निवृत्त हो जाते हैं जहा—जैसे मियापुत्ते—मृगापुत्र मिसी—ऋषि हुआ।

मूलार्थ—इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता पुरुष करते हैं, जो पंडित और विचक्षण हैं। वे भोगों से इसी प्रकार निवृत्त हो जाते हैं, जैसे मृगापुत्र ऋषि निवृत्त हुआ।

टीका—इस गाथा में प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने विचारशील पुरुषों की शुद्ध मनोवृत्ति और तदनुकूल आचार का दिग्दर्शन कराया है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष हेयोपादेय के ज्ञाता, सदसद् का विचार करने वाले, पूर्ण बुद्धिमान् होते हैं, वे इन तुच्छ सांसारिक विषयों में आसक्त नहीं होते। किन्तु इनके मर्म को समझकर मृगापुत्र की तरह इनका सर्वथा परित्याग करके, संयमवृत्ति के अनुसरण द्वारा वीतरागता की प्राप्ति करके सर्वश्रेष्ठ और अविनाशी मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं।

अब भङ्ग्यन्तर से फिर इसी बात को कहते हैं—

महप्पभावस्स महाजसस्स,
मियाइपुत्तस्स निसम्म भासियं।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं,
गइप्पहाणं च तिलोअविस्सुतं ॥९८॥

महाप्रभावस्य महायशसः,
मृगाया पुत्रस्य निशम्य भाषितम्।
तपःप्रधानं चारित्रं चोत्तमं,
प्रधानगतिं च त्रिलोकविश्रुताम् ॥९८॥

पदार्थान्वयः—महप्पभावस्स—महाप्रभाव वाले महाजसस्स—महान् यश वाले मियाइ—मृगा पुत्तस्स—पुत्र के भासिय—भाषण को निसम्म—विचारपूर्वक सुनकर तवप्पहाणं—तपःप्रधान च—और उत्तम—उत्तम चरिय—चारित्र च—और गइप्पहाणं—गतिप्रधान तिलोअविस्सुत—तीन लोक में विश्रुत।

मूलार्थ—महान् प्रभाव और महान् यश वाले मृगापुत्र के तपःप्रधान, चारित्रप्रधान और गतिप्रधान, तथा तीनों लोकों में सुप्रसिद्ध ऐसे उत्तम पूर्वोक्त भाषण को विचारपूर्वक श्रवण करके धर्म में पुरुषार्थ करना चाहिए।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र के पूर्वोक्त सभाषण को प्रामाणिक और सर्व प्रकार से उपादेय बतलाया गया है। क्योंकि उनका कथन आप्तप्रणीत स्वत प्रमाण है। मृगापुत्र तप और चारित्र की उत्कृष्टता से ससार में विश्रुत हुए, महान् प्रभाव वाले हुए। अतएव उनका प्रत्येक वचन संमाननीय और आचरणीय है। उन्होंने अपने माता-पिता के समक्ष नरकादि चारों गतियों का जो वर्णन किया है, वह आगमविहित होने के अतिरिक्त उनका अनुभूत भी था। अत उनके उक्त सभाषण को मनन करके [प्रत्येक सयमशील साधु पुरुष को धर्म में प्रयत्नशील होना चाहिए] यह अध्याहारित क्रिया से अर्थ कर लेना। और वृत्तिकारों ने तो युग्म गाथाओं की एक ही व्याख्या की है। वस्तुत दोनों ही तरह अर्थ की सगति हो जाती है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए फिर सूत्रकार कहते हैं—

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं,
ममत्तबंधं च महाभयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥९९॥
त्ति बेमि।

इति मियापुत्तीयं अज्झयणं समत्तं ॥१९॥

विज्ञाय दुःखविवर्धनं धनं,
ममत्वबन्धं च महाभयावहम्।
सुखावहां धर्मधुरामनुत्तरां,
धारयध्व निर्वाणगुणावहां महतीम् ॥९९॥
इति ब्रवीमि।

इति मृगापुत्रीयमध्ययन समाप्तम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—वियाणिया—जानकर दुक्खविवड्ढणं—दुःखों के बढ़ाने वाले धणं—धन को, तथा ममत्तबंध—ममत्व और बन्धन को बढ़ाने वाले च—और महाभयावहं—महान् भय के देने वाले सुहावहं—सुख के देने वाली धम्मधुरं—धर्मधुरा जो अणुत्तरं—प्रधान है, उसको धारेह—धारण करो, जो कि निव्वाणगुणावहं—निर्वाण के गुणों को धारण करने वाली और महं—महान् है। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे पुरुषो! धन को दुःख, ममत्व और बन्धन का बढ़ाने वाला समझकर तुम धर्मधुरा को धारण करो, जो कि सुखों के बढ़ाने वाली और निर्वाणगुणों के देने वाली अतएव महान्—सब से बड़ी—है।

टीका—मृगापुत्र के इस आख्यान को सुनने के अनन्तर विचारशील पुरुषों का जो कर्तव्य है, उसकी ओर निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—यह धन दुःखों को बढ़ाने और ममता के बन्धन में डालने वाला है। इसलिए इसका परित्याग करके विज्ञ पुरुषों को धर्म में ही अनुरक्त होना चाहिए। क्योंकि धर्म ही सुख-सम्पत्ति का देने वाला है और मोक्ष की उपलब्धि के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनकी प्राप्ति भी धर्म के अनुष्ठान से ही होती है। अथवा निर्वाण में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि जो गुण हैं, उनकी उपलब्धि का कारण भी धर्म ही है। इसलिए यह महान् है। सारांश यह है कि दुःख, शोक और सन्ताप आदि अनेकविध अनर्थों के मूलभूत इस धन का परित्याग करके, परम सुख और असीम शान्ति को देने वाले धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि धर्म अनन्त सुख को प्राप्त कराने वाला है और धन इसके विपरीत महाभय का हेतु है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व की भाँति ही कर लेना।

एकोनविंशाध्ययन समाप्त।

टीका—इस गाथा में मृगापुत्र के पूर्वोक्त समापण को प्रामाणिक और र्व प्रकार से उपादेय बतलाया गया है। क्योंकि उनका कथन आप्तप्रणीत स्वतः माण है। मृगापुत्र तप और चारित्र की उत्कृष्टता से ससार में विश्रुत हुए, महान् भाव वाले हुए। अतएव उनका प्रत्येक वचन समाननीय और आचरणीय है। न्होंने अपने माता-पिता के समक्ष नरकादि चारों गतियों का जो वर्णन किया है, ह आगमविहित होने के अतिरिक्त उनका अनुभूत भी था। अतः उनके उक्त समापण ो मनन करके [प्रत्येक सयमशील साधु पुरुष को धर्म में प्रयत्नशील होना चाहिए] ह अभ्याहारित क्रिया से अर्थ कर लेना। और वृत्तिकारों ने तो युग्म गाथाओं की क ही व्याख्या की है। वस्तुतः दोनों ही तरह अर्थ की सगति हो जाती है।

अब अध्ययन की समाप्ति करते हुए फिर सूत्रकार कहते हैं—

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं,
ममत्तबंधं च महाभयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥९९॥
त्ति बेमि।
इति मियापुत्तीयं अज्झयणं समत्तं ॥१९॥

विज्ञाय दुःखविवर्धनं धनं,
ममत्वबन्धं च महाभयावहम्।
सुखावहां धर्मधुरामनुत्तरां,
धारयध्वं निर्वाणगुणावहां महतीम् ॥९९॥
इति ब्रवीमि।
इति मृगापुत्रीयमध्ययनं समाप्तम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—वियाणिया—जानकर दुक्खविवड्ढणं—दुःखों के बढ़ाने वाले धणं—धन को, तथा ममत्तबन्धं—ममत्व और बन्धन को बढ़ाने वाले च—और महा-भयावहं—महान् भय के देने वाले सुहावहं—सुख के देने वाली धम्मधुरं—धर्मधुरा जो अणुत्तरं—प्रधान है, उसको धारेह—धारण करो, जो कि निव्वाणगुणावहं—निर्वाण के गुणों को धारण करने वाली और महं—महान् है। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—हे पुरुषो! धन को दुःख, ममत्व और बन्धन का बढ़ाने वाला समझकर तुम धर्मधुरा को धारण करो, जो कि सुखों के बढ़ाने वाली और निर्वाणगुणों के देने वाली अतएव महान्—सब से बड़ी—है।

टीका—मृगापुत्र के इस आख्यान को सुनने के अनन्तर विचारशील पुरुषों का जो कर्तव्य है, उसकी ओर निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—यह धन दुःखों को बढ़ाने और ममता के बन्धन में डालने वाला है। इसलिए इसका परित्याग करके विज्ञ पुरुषों को धर्म में ही अनुरक्त होना चाहिए। क्योंकि धर्म ही सुख-सम्पत्ति का देने वाला है और मोक्ष की उपलब्धि के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, उनकी प्राप्ति भी धर्म के अनुष्ठान से ही होती है। अथवा निर्वाण में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि जो गुण हैं, उनकी उपलब्धि का कारण भी धर्म ही है। इसलिए यह महान् है। सारांश यह है कि दुःख, शोक और सन्ताप आदि अनेकविध अनर्थों के मूलभूत इस धन का परित्याग करके, परम सुख और असीम शान्ति को देने वाले धर्म का ही अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि धर्म अनन्त सुख को प्राप्त कराने वाला है और धन इसके विपरीत महाभय का हेतु है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व की भाँति ही कर लेना।

एकोनविंशाध्ययन समाप्त।

अह महानियण्ठिज्जं वीसइमं अज्झयणं

अथ महानिर्ग्रन्थीयं विंशतितममध्ययनम्

पूर्व के अध्ययन में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि रोगादि के होने पर उसके प्रतिकार के निमित्त, साधु औषधि आदि किसी प्रकार का उपचार न करे परन्तु इस प्रकार की वृत्ति का पालन वही पुरुष कर सकता है, जिसका अन्तःकरण अनाथपने की भावना से भावित हो। अतः इस बीसवें अध्ययन में महानिर्ग्रन्थ का वर्णन करते हुए प्रसंगानुसार कई एक अनाथों का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन दोनों अध्ययनों का परस्पर सम्बन्ध है। अब इस बीसवें अध्ययन का आरम्भ करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्ध और संयति को नमस्कार करके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥१॥

सिद्धान् नमस्कृत्य, संयतांश्च भावतः।
अर्थधर्मगतिं तथ्याम्, अनुशिष्टिं शृणुत मम ॥१॥

---

* सिद्धान् [illegible] नमस्कृत्येति सम्बन्ध।

पदार्थान्वयः—सिद्धाण-सिद्धों को नमो किञ्चा-नमस्कार करके च-और संजयाण-संयतों को भावओ-भाव से नमस्कार करके अत्थधम्मगई-अर्थ, धर्म की गति और तच्च-तथ्य है, उसकी अणुसिट्ठिं-अनुशिक्षा को मे-मुझसे सुणेह-सुनो।

मूलार्थ—सिद्धों और संयतों को भाव से नमस्कार करके अर्थ, धर्म की तथ्य गति को मुझसे सुनो।

टीका—स्थविर भगवान् अपने शिष्य-समुदाय से कहते हैं कि अर्थ, धर्म की जो यथार्थ गति है, उसकी शिक्षा को तुम मुझसे सुनो। यहाँ पर सिद्ध और संयत को जो नमस्कार किया गया है, वह पंचपरमेष्ठी को नमस्कार है। कारण कि सिद्ध शब्द से अरिहन्त का और संयत शब्द से आचार्य, उपाध्याय और साधु का ग्रहण है। क्योंकि जो अरिहन्त है, उसने निश्चय ही सिद्ध-गति को प्राप्त होना है। इसलिए भाविनैगमनय के अनुसार अरिहंत को भी सिद्ध कहा जाता है। तथा संयत शब्द से आचार्यादि का ग्रहण स्वतः ही सिद्ध है। इसलिए पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के अनन्तर सूत्रकार अभिधेय विषय के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं। यहाँ पर प्रतिपाद्य विषय अर्थ, धर्म की गति का यथार्थ रूप से निरूपण करना है। यथा—अर्थ्यते हितार्थिभिरभिलष्यते इत्यर्थः। वही धर्म है, जिसके द्वारा हित की प्राप्ति हो जाय, इसलिए उक्त दोनों की जो गति अर्थात् जिसके द्वारा हिताहित का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है, वह यथार्थ मार्ग है। इस तथ्यमार्ग का उपदेश करने के लिए स्थविर भगवान् अपने शिष्यवर्ग को संबोधित करते हैं। यहाँ पर सूत्र में आया हुआ 'मे' शब्द 'मम' और 'मया' दोनों के स्थान में विहित हुआ है। तथा संयतों को नमस्कार करने से यह गाथा भी स्थविरकृत मानी जाती है। यहाँ चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी के प्रयोग किये गये हैं।

इस प्रकार अभिधेय और प्रयोजन का तो वर्णन किया गया, परन्तु धर्मकथानुयोग होने से अब कथा के व्याज से प्रतिज्ञा के प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं—

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो।
विहारजत्तं निज्जाओ, मण्डिकुच्छिसि चेइए ॥२॥

प्रभूतरत्नो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः ।
विहारयात्रया निर्यातः, मण्डितकुक्षौ चैत्ये ॥२॥

पदार्थान्वयः—पभूय–प्रभूत रयणो–रत्नों वाला राया–राजा सेणिओ–श्रेणिक मगहाहिवो–मगध का अधिपति विहारजत्तं–विहारयात्रा के लिए निज्जाओ–निकला मण्डिकुच्छिसि–मण्डिक कुक्षि नाम वाले चेइए–चैत्य में ।

मूलार्थ—प्रभूत रत्नों का स्वामी और मगध देश का राजा श्रेणिक, मण्डिक कुक्षि नाम के चैत्य में विहारयात्रा के लिए गया ।

टीका—इस गाथा में मगध के अधिपति महाराजा श्रेणिक की प्रभूत रत्नसामग्री और उसकी विहारयात्रा का उल्लेख किया गया है । महाराजा श्रेणिक के पास अनेक बहुमूल्य रत्न विद्यमान थे । वह मगध देश का अधिपति था । विहारयात्रा के लिए वह मण्डिक कुक्षि नामक चैत्य—उद्यान में गया । यहाँ पर आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ आराम या उद्यान ही है, क्योंकि सूत्रों में प्रायः इसी अर्थ में चैत्य शब्द प्रयुक्त हुआ देखा जाता है । क्रीड़ा के लिए जो गमन है, उसको विहारयात्रा कहते हैं । इसी प्रकार गिरियात्रा, विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा आदि शब्दों की योजना कर लेनी चाहिए । 'विहारजत्तं' यह तृतीया के अर्थ में द्वितीया है ।

अब उस चैत्य—उद्यान का वर्णन करते हैं—

नाणादुमलयाइन्नं, नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसंछन्नं, उज्जाणं नन्दणोवमं ॥३॥

नानाद्रुमलताकीर्णं, नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानाकुसुमसंछन्नम्, उद्यानं नन्दनोपमम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—नाणा–नाना प्रकार के दुम–द्रुम और लया–लताओं से आइन्न–आकीर्ण नाणा–नाना प्रकार के पक्खि–पक्षियों से निसेविय–परिसेवित और नाणा–नाना प्रकार के कुसुम–कुसुमों—पुष्पों—से संछन्न–आच्छादित और नन्दणोवम–नन्दनवन के समान उज्जाण–वह उद्यान था ।

मूलार्थ—यह मण्डिकुक्षि नाम का उद्यान नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित और नाना प्रकार के पुष्पों से आच्छादित तथा नन्दनवन के समान था।

टीका—इस गाथा में मण्डिकुक्षि नाम के उद्यान की शोभा का वर्णन किया गया है। अर्थात् उस उद्यान में नाना प्रकार के वृक्ष और अनेक भाँति की लताएँ विद्यमान थीं। वह पक्षिगणों से निनादित और नाना प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से सुरभित हो रहा था। अधिक क्या कहें, वह उद्यान अपनी अद्वितीय शोभा से नन्दनवन—देववन—की समानता को धारण कर रहा था। तात्पर्य यह है कि जैसे नन्दनवन देवों के चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है, उसी प्रकार यह मण्डिकुक्षि नाम का उद्यान वहाँ के जनसमुदाय को आनन्दित करने वाला था। ग्राम के समीप नागरिकों की क्रीड़ा के लिए जो बाग तैयार किया जाता है, उसको उद्यान कहते हैं।

महाराजा श्रेणिक ने उस उद्यान में जाकर क्या देखा, अब इसी विषय में कहते हैं—

तत्थ सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥४॥

तत्र स पश्यति साधुं, संयत सुसमाहितम्।
निषण्णं वृक्षमूले, सुकुमारं सुखोचितम् ॥४॥

पदार्थान्वयः—तत्थ—उस वन में सो—वह साहुं—साधु को पासई—देखता है संजय—संयत और सुसमाहिय—समाधि वाला निसन्नं—बैठा हुआ रुक्खमूलम्मि—वृक्ष के नीचे सुकुमाल—सुकुमार—कोमल शरीर वाला और सुहोइय—सुखोचित—सुखशील।

मूलार्थ—वहाँ पर राजा श्रेणिक ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक साधु को देखा, जो कि संयमशील, समाधि वाला और सुकुमार तथा प्रसन्नचित्त था।

टीका—विहारयात्रा के लिए उक्त उद्यान में गये हुए महाराजा श्रेणिक ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक संयमशील साधु को देखा। संयम के वेष को तो निह्नवादि भी लोकरंजना के लिए धारण कर लेते हैं, परन्तु उनके अभ्यन्तर भावों में विशुद्धि

नहीं होती। इसलिए 'संयत' के साथ 'सुसमाहित' विशेषण लगाया गया। अर्थात् वे महात्मा समाहितचित्त मन की समाधि वाले थे। इसके अतिरिक्त उनके शरीर के लावण्य को देखने से प्रतीत होता था कि वे महात्मा किसी उत्तम और विशिष्ट कुल में उत्पन्न हुए हैं। अतएव संयमवृत्ति को धारण करके वे उद्यान में भी, क्रीडास्थल में भी, समाहित होकर—समाधि लगाकर बैठे हैं। यही उनकी कुलीनता और सच्चरित्रता का परिचायक था। एवं सुकुमार होने पर उनकी सुखशीलता भी प्राय व्यक्त ही थी।

अब उक्त मुनि—साधु के सम्बन्ध में कहते हैं। उस साधु को देखने के अनन्तर क्या हुआ, अब इसका निरूपण करते हैं—

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए।
अच्चन्तपरमो आसी, अउलो रूवविम्हओ ॥५॥

तस्य रूपं तु दृष्ट्वा, राज्ञः तस्मिन् संयते।
अत्यन्तपरम आसीत्, अतुलो रूपविस्मयः ॥५॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस मुनि के रूव—रूप को पासित्ता—देखकर राइणो—राजा को तम्मि—उस संजए—संयत में अच्चन्त—अत्यन्त अउलो—अतुल परमो—उत्कृष्ट रूव—रूप में विम्हओ—विस्मय आसी—हुआ तु—अलङ्कारार्थ में है।

मूलार्थ—उस मुनि के रूप को देखकर राजा उस संयत के अतुल और उत्कृष्ट रूप में अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुआ।

टीका—जिस समय महाराजा श्रेणिक की दृष्टि समाधि में बैठे हुए उस मुनि के सुकुमार शरीर के अवयवों पर पड़ी, तब उसको बड़ा ही विस्मय हुआ। क्योंकि उसने आज तक इस प्रकार का लावण्ययुक्त शरीर किसी मुनि का नहीं देखा था। पाठकगण यहाँ पर यह सन्देह न करें कि महाराजा श्रेणिक का शरीर सुन्दरता में कम होगा, इसी से उसको उक्त मुनि के रूप-सौन्दर्य में विस्मय हुआ, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। महाराजा श्रेणिक भी अपने रूप-लावण्य में अद्वितीय थे। श्रीदशाश्रुतस्कन्धसूत्र के दशवें अध्ययन में लिखा है कि जब महाराजा

श्रेणिक भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के दर्शन को गये, तब उनको देखकर बहुत से निर्ग्रन्थ साधुओं ने इस प्रकार के भावों को व्यक्त किया कि—'हमने स्वर्गीय देवों को तो प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखा परन्तु वास्तव में देखा जाय तो यही देवता है। अतः यदि हमारे इस धार्मिक क्रिया-कलाप का कुछ फल हो तो हम मरकर महाराज श्रेणिक जैसे ही रूप-लावण्य को प्राप्त करें।' इससे प्रतीत होता है कि महाराजा श्रेणिक भी अद्वितीय रूपवान् थे। परन्तु उक्त मुनि का रूप-सौन्दर्य कुछ विलक्षण ही था, जिससे कि महाराजा श्रेणिक को भी विस्मय हुआ।

इसके अनन्तर महाराजा श्रेणिक ने क्या कहा, अब इसका वर्णन करते हैं—

अहो वण्णो अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खन्ती अहो मुत्ती, अहो भोगे असंगया ॥६॥

अहो वर्णो अहो रूपम्, अहो आर्यस्य सौम्यता।
अहो क्षान्तिरहो मुक्तिः, अहो भोगेऽसंगता ॥६॥

पदार्थान्वयः—अहो—आश्चर्यमय वण्णो—वर्ण है, अहो—आश्चर्यकारी रूवं—रूप है अहो—आश्चर्यमयी अज्जस्स—आर्य की सोमया—सौम्यता है —आश्चर्यरूप खन्ती—क्षमा है अहो—आश्चर्यकारी मुत्ती—निर्लोभता है अहो—आश्चर्यमयी भोगे—भोगों में असंगया—निःस्पृहता है।

मूलार्थ—इस आर्य में आश्चर्यमय रूप, आश्चर्यमय वर्ण और आश्चर्यकारी सौम्यता तथा आश्चर्यमयी क्षमा और निर्लोभता है। एवं भोगों से निःस्पृहता भी इनकी आश्चर्यरूप है।

टीका—उक्त मुनि की आकृति को देखने से महाराजा श्रेणिक को उनके रूपादि के विषय में जो विस्मय उत्पन्न हुआ था, प्रस्तुत गाथा में उसी को विशेष-रूप से पल्लवित किया गया है। महाराजा श्रेणिक उस मुनि के स्वरूप को देखकर कहते हैं कि अहो! इस महात्मा का गौर-वर्ण कितना उज्ज्वल है, इनके मस्तक तथा अन्य अंग-प्रत्यंग भी अपनी सुन्दरता से विस्मय को उत्पन्न कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त इनकी शान्तरसमयी सौम्यता तो और भी आश्चर्य में डाल रही है। एवं

इनकी क्षमा और निर्लोभता तथा विषयों से विरक्ति तो और भी अधिक आश्चर्यमयी है। तात्पर्य यह है कि क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी ये क्रोध से रहित हैं। सांसारिक पदार्थों के प्रलोभन मिलने पर भी ये उनसे पृथक् हैं। अतएव विषयभोगों में इनको अणुमात्र भी रति नहीं। अधिक क्या कहें, इनका अन्तरंग और बाह्य सभी कुछ विलक्षण और परम आश्चर्यमय है। यद्यपि राजा ने अभी तक उनसे किसी प्रकार का वार्तालाप नहीं किया तथापि उनकी विशिष्ट आकृति और समाहित होकर बैठने से ही उसने उक्त मुनि के अन्तरंग गुणों की उज्ज्वलता का अनुमान कर लिया। इसी से वह उक्त मुनि के बाह्य और अन्तरंग स्वरूप को समझने में सफल हुआ तथा उनकी प्रशंसा करने लगा। वास्तव में जो सत् पुरुष होते हैं, वे अपने बाह्य स्वरूप से ही अपने अन्तर्गत गुणों का भली भाँति परिचय करा देते हैं और बुद्धिमान् प्रेक्षक तो उनसे बहुत ही शीघ्र परिचित हो जाते हैं। यही कारण है कि राजा ने उनका अधिक परिचय किये बिना ही उनको परख लिया।

इसके अनन्तर राजा ने क्या किया, अब इसी का वर्णन करते हैं—

तस्स पाए उ वन्दित्ता, काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने　　, पंजली　पडिपुच्छई ॥७॥

तस्य पादौ तु वन्दित्वा, कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।
नातिदूरमनासन्नः　　, प्राञ्जलिः　परिपृच्छति ॥७॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उसके पाए—चरणों को वंदित्ता—वन्दना करके य—और पयाहिणं—प्रदक्षिणा काऊण—करके नाइदूरम्—न अति दूर और अणासन्ने—न अति समीप ही उ—फिर पंजली—हाथ जोड़कर पडिपुच्छई—पूछता है।

मूलार्थ—राजा उनके चरणों की वन्दना करके और उनकी प्रदक्षिणा करके उनके न तो अति दूर और न अति निकट रहकर हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगा।

टीका—इसके अनन्तर महाराजा श्रेणिक उक्त मुनि के चरणकमलों को विधिपूर्वक वन्दना तथा प्रदक्षिणा करके, उनके पास बैठ गये। परन्तु वे न तो

उनसे अति दूरी पर बैठे और न अति समीप में किन्तु जितने प्रमाण में बैठना उचित था, उसने दूर और समीप प्रदेश में बैठे और विनयपूर्वक हाथ जोड़कर उनसे पूछने लगे। साधु महात्मा के पास जाकर उनसे किस प्रकार का शिष्टाचार करना तथा उनके पास किस प्रकार से बैठना एवं उनसे किस प्रकार वार्तालाप करना चाहिए इत्यादि बातों का प्रस्तुत गाथा में भली भाँति निदर्शन किया गया है।

इस प्रकार विनीत भाव से उक्त मुनि के समीप बैठने के अनन्तर महाराज श्रेणिक ने जो कुछ उनसे पूछा, अब उसी का निरूपण करते हैं—

तरुणोऽसि अज्जो! पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया।
उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमट्ठं सुणेमि ता ॥८॥

तरुणोऽस्यार्य ! प्रव्रजितः, भोगकाले संयतः।
उपस्थितोऽसि श्रामण्ये, एतमर्थं शृणोमि तावत् ॥८॥

पदार्थान्वयः—अज्जो–हे आर्य ! संजया–हे संयत ! तरुणोऽसि–तू तरुण है पव्वइओ–दीक्षित हो गया है भोगकालम्मि–तू भोगकाल में उवट्ठिओसि–उपस्थित हुआ है सामण्णे–श्रमणभाव में ता–पहले एयम्–इस अट्ठम्–अर्थ को मैं सुणेमि–सुनना चाहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्य ! आप तरुण अवस्था में ही प्रव्रजित हो गये हैं। हे संयत ! आपने भोगकाल में ही संयम को ग्रहण कर लिया है। अतः मैं सर्वप्रथम इस अर्थ को सुनना चाहता हूँ।

टीका—इस गाथा में महाराज श्रेणिक के प्रश्न को व्यक्त किया गया है। मुनि की युवावस्था को देखकर राजा उनसे प्रश्न करते हैं कि आर्य ! आपने युवावस्था में संयमवृत्ति क्यों ग्रहण की ? क्योंकि यह अवस्था तो संसार के विषय-भोगों में रमण करने की है। आपने इस तरुण अवस्था में सांसारिक विषय-भोगों का परित्याग करके जो श्रमण धर्म को स्वीकार किया है, इसका कारण क्या है, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ। महाराज श्रेणिक के कथन का तात्पर्य यह है कि संसार में जिसकी युवावस्था हो, शरीर भी सुन्दर और नीरोग हो तथा उपभोग की

सामग्री भी उपस्थित हो, ऐसी दशा में इन सब का त्यागकर कठिनतर संयमवृत्ति के पालन में प्रवृत्त होना कुछ साधारण सी बात नहीं है। अतः इसमें कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिए, जिसके लिए वे मुनि से प्रश्न कर रहे हैं।

महाराजा श्रेणिक के उक्त प्रश्न का उक्त मुनिराज ने जो कुछ उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

अणाहोमि महाराय ! नाहो मज्झ न विज्जई ।
अणुकम्पगं सुहिं वावि, कंची नाहि तुमे महं ॥९॥

अनाथोऽस्मि महाराज ! नाथो मम न विद्यते ।
अनुकम्पकः सुहृद् वापि, कश्चित् जानीहि त्वं मम ॥९॥

पदार्थान्वयः—महाराय !–हे महाराज ! अणाहोमि–मैं अनाथ हूँ मज्झ–मेरा नाहो–नाथ न विज्जई–कोई नहीं है वा–अथवा अणुकम्पगं–अनुकम्पा करने वाला सुहिं–सुहृद् वि–भी कंची–कोई महं–मेरा नहीं है तुमे–आप नाहि–जानो।

मूलार्थ—मुनि कहते हैं—हे महाराज ! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई भी नाथ नहीं है और न मेरा कोई मित्र है कि जो मेरे ऊपर अनुकम्पा करे, ऐसा आप जानो।

टीका—राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा कि हे राजन् ! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं। मेरे ऊपर अनुकम्पा—दया करने वाला मेरा कोई मित्र भी इस संसार में नहीं है। इसलिए मैं संसार को छोड़कर दीक्षित हो गया हूँ। तात्पर्य यह है कि यह मेरे दीक्षित होने का कारण है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए उक्त मुनिराज ने जो कुछ भी कहा है, वह वक्रोक्ति से कहा है अर्थात् मुनि का जो उत्तर है, वह व्यंग्यपूर्ण है। सम्भव है, उन्होंने इसी रूप में उत्तर देने से राजा का हित समझा हो। कई एक प्रतियों में उक्त गाथा के चतुर्थ पाद का पाठ इस प्रकार देखा जाता है। यथा—'कंचि नामि-समेमहं—कंचिन्नाभिसमेम्यहम्' [कंचित् सुहृदं वा नाभिसमेमि—न सम्प्राप्नोमि] अर्थात् मैं किसी भी योगक्षेम करने वाले मित्र को प्राप्त नहीं हुआ। तात्पर्य यह है

कि मेरा हित करने वाला इस प्रकार का कोई भी मित्र मुझे नहीं मिला, अतः मैं दीक्षित हो गया हूँ।

मुनि के उक्त कथन को सुनकर महाराजा श्रेणिक ने अपने मन में जो कुछ विचार किया और विचार करने के अनन्तर मुनिराज से जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स, कहं नाहो न विज्जई ॥१०॥

ततः स प्रहसितो राजा, श्रेणिको मगधाधिपः।
एवं ते ऋद्धिमतः, कथं नाथो न विद्यते ॥१०॥

पदार्थान्वयः—तओ–तदनन्तर सो–वह राया–राजा पहसिओ–हास्ययुक्त अथवा विस्मित हुआ सेणिओ–श्रेणिक मगहाहिवो–मगध का अधिपति एवं–इस प्रकार इड्ढिमन्तस्स–ऋद्धि वाले ते–आपका कहं–कैसे नाहो–नाथ न विज्जई–नहीं है।

मूलार्थ—तदनन्तर प्रहसित अथवा विस्मित हुआ वह मगधनरेश महाराजा श्रेणिक मन में विचारने लगा कि इस प्रकार की ऋद्धि वाले आपका कोई नाथ कैसे नहीं है ?

टीका—जिस समय व्यंग्यपूर्ण वचन से मुनि ने राजा के समक्ष अपने को अनाथ बतलाया, तब उसको और भी विस्मय हुआ और वह मन में विचार करने लगा कि यह मुनि कैसे अनाथ हो सकता है ? कारण कि अनाथता का यहाँ पर कोई भी चिह्न प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की इस मुनि को शारीरिक सम्पत्ति प्राप्त हो रही है तथा इसकी सौम्य मुद्रा, प्रसन्नवदन, विकसित नेत्र और उज्ज्वल वर्ण इत्यादि शुभ लक्षणों से प्रतीत होता है कि यह किसी उच्चकुल में उत्पन्न होने वाला भाग्यशाली जीव है, जो कि कदापि अनाथ नहीं हो सकता। 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' तथा—'गुणवति धनं ततः श्रीः, श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम्' इति हि लोकप्रवादः। राजा के इन मानसिक संकल्पों के लिए विस्मयसूचक 'प्रहसित' पद इसी उद्देश्य से उक्त गाथा में प्रयुक्त हुआ है। उक्त गाथा में तत्काल की अपेक्षा से ही वर्तमान क्रिया का प्रयोग किया गया है।

मुनि की उक्त वक्रोक्ति का व्यक्त रूप से उत्तर देते हुए महाराजा श्रेणि
जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया !
मित्तनाईपरिवुडो , माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥११

भवामि नाथो भदन्तानां, भोगान् भुंक्ष्व संयत !
मित्रज्ञातिपरिवृतः (सन्), मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ॥११॥

पदार्थान्वयः—संजया–हे संयत ! भयताण–आपका मैं नाहो–नाथ होमि होता हूँ भोगे–भोगों को भुंजाहि–भोगो मित्त–मित्र नाई–ज्ञाति से परिवुडो–परि होकर, क्योंकि माणुस्स–मनुष्यजन्म खु–निश्चय ही सुदुल्लह–अति दुर्लभ है ।

मूलार्थ—हे संयत ! आपका मैं नाथ होता हूँ । मित्रों और सम्बन्धिज से परिवृत होते हुए आप भोगों का उपभोग करो, क्योंकि इस मनुष्यजन्म मिलना अति दुर्लभ है ।

टीका—महाराजा श्रेणिक ने कहा कि बाह्य लक्षणों से तो आप अन प्रतीत नहीं होते । अस्तु, यदि आप अनाथ ही हैं तो हे भगवन् ! मैं आपका न बन जाता हूँ । मेरे नाथ बन जाने पर आपको मित्र, ज्ञाति तथा अन्य सम्बन्धिज सुखपूर्वक मिल सकेंगे । उनके सहवास में सुखपूर्वक रहते हुए आप पर्याप्त रूप सांसारिक विषय-भोगों का उपभोग करें । यह मनुष्यजन्म बार बार नहीं मिलता इसको प्राप्त करके सांसारिक सुखों से वञ्चित रहना उचित नहीं । अतः अनाथ हो के कारण आपने जो भिक्षुवृत्ति को अंगीकार किया है, उसका विचार अब अ छोड़ दें क्योंकि आज से मैं आपका नाथ बन गया हूँ । यहाँ पर इतना स्मरण र कि राजा ने जो कुछ भी कहा है, वह मुनि के आन्तरिक अभिप्राय को न जानक कहा है । यहाँ 'भयंताण' यह बहुवचन आदरसूचनार्थ दिया गया है ।

महाराजा श्रेणिक के कथन को सुनकर मुनिराज बोले कि—

अप्पणा वि अणाहोऽसि, सेणिया ! मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो सन्तो, कहं नाहो भविस्ससि ॥१२॥

आत्मनाप्यनाथोऽसि , श्रेणिक ! मगधाधिप !
आत्मनाऽनाथो सन्, कथ नाथो भविष्यसि ॥१२॥

पदार्थान्वयः—सेणिया–हे श्रेणिक ! मगहाहिवा–हे मगधाधिप ! तू अप्पणा वि–आत्मा से भी अणाहो–अनाथ असि–है, सो अप्पणा–आत्मा से अणाहो–अनाथ सन्तो–होने पर कह–कैसे नाहो–नाथ भविस्ससि–हो सकता है।

मूलार्थ—हे मगध देश के स्वामी श्रेणिक ! तुम आप ही अनाथ हो। अतः स्वय अनाथ होने पर तुम दूसरे के नाथ किस प्रकार से हो सकते हो !

टीका—महाराजा श्रेणिक ने उक्त मुनिराज से जब नाथ बनने को कहा, तब उसके उत्तर में वे कहने लगे कि हे श्रेणिक ! तुम जब कि स्वय ही अनाथ हो तो दूसरे के नाथ बनने का कैसे साहस करते हो ? क्योंकि जो पुरुष स्वय अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कभी नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि ईश्वर—ऐश्वर्यवान् पुरुष ही अनीश्वर—निर्धन को ईश्वर बना सकता है। किंवा पण्डित पुरुष, मूर्ख को पंडित बनाने का साहस कर सकता है। परन्तु जो स्वय निर्धन अथवा मूर्ख है, वह दूसरे को ऐश्वर्यवान् अथवा पण्डित कभी नहीं बना सकता। मुनिराज के कथन का स्पष्ट भाव यही है कि जब तुम स्वय ही अनाथ हो तो तुम मेरे नाथ कभी नहीं बन सकते। इसलिए तुम्हारा यह कथन केवल भ्रममूलक है।

तदनन्तर—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयन्निओ ॥१३॥

एवमुक्तो नरेन्द्र स, सुसभ्रान्त सुविस्मितः।
वचनमश्रुतपूर्वं , साधुना विस्मयान्वित. ॥१३॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार वुत्तो–कहा हुआ सो–वह नरिंदो–राजा सुसंभंतो–संभ्रान्त हुआ सुविम्हिओ–विस्मित हुआ वयणं–वचन अस्सुयपुव्वं–अश्रुतपूर्व—प्रथम नहीं सुने हुए साहुणा–साधु के द्वारा विम्हयन्निओ–विस्मय को प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—इस प्रकार कहा हुआ वह राजा साधु के वचन को सुनकर अतिव्याकुल और विस्मय को प्राप्त हुआ। कारण कि साधु के उक्त वचन अश्रुतपूर्व थे अर्थात् उसने प्रथम कभी नहीं सुने थे।

टीका—उक्त मुनिराज का उत्तर सुनकर महाराजा श्रेणिक को बहुत आश्चर्य हुआ। वह एकदम व्याकुल हो उठा और उक्त मुनिराज के विषय में उसके मन में अनेक प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उठने लगे। क्योंकि उसने आज तक किसी के मुख से यह नहीं सुना था कि हे राजन्! तू अनाथ है। इसलिए मुनिराज के इन वाक्यों ने उसे आश्चर्य में डाल दिया। राजा के परम विस्मित अथवा आश्चर्यान्वित होने का कारण यह था कि मुनिराज के मुख से जो वचन निकले, उनसे राजा के मन में दो संकल्प उत्पन्न हुए। प्रथम—या तो ये मुनिराज मुझे जानते नहीं, इसलिए मेरे को इन्होंने अनाथ कहा। दूसरे—या इन्होंने मेरी भावी दशा का अवलोकन करके मुझे अनाथ कहा है। सम्भव है, इन्होंने अपने ज्ञान में मेरा राज्य से च्युत होना अथवा और किसी भयंकर आपत्ति में ग्रस्त होना देख लिया हो, इत्यादि।

अस्तु, अब महाराजा श्रेणिक अपना परिचय कराते हुए उक्त मुनिराज से इस प्रकार बोले—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे।
भुंजामि माणुसे भोगे, आणा इस्सरियं च मे ॥१४॥
एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए।
कहं अणाहो भवई, मा हु भंते! मुसं वए ॥१५॥

अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे, पुरमन्तःपुरं च मे।
भुनज्मि मानुष्यान्भोगान्, आज्ञैश्वर्यं च मे ॥१४॥
ईदृशे सम्पदग्रे, समर्पितसर्वकामे।
कथमनाथो भवति, मा खलु भवन्त! मृषा वदतु ॥१५॥

पदार्थान्वयः—अस्सा—घोड़े हत्थी—हस्ती मणुस्सा—मनुष्य मे—मेरे हैं पुरं—

नगरं च—और अंतेउरं—अन्त:पुर मे—मेरे हैं माणुसे—मनुष्यसम्बन्धी भोगे—भोगों को मैं भुंजामि—भोगता हूँ आणा—आज्ञा च—और इस्सरियं—ऐश्वर्य मे—मेरे है।

एरिसे—इस प्रकार की सपयग्गम्मि—प्रधान सम्पदा में सव्वकामसमप्पिए—मेरे सम्पूर्ण काम समर्पित हैं, तो फिर कहं—कैसे मैं अणाहो—अनाथ भवई—हूँ हु—जिससे भंते—हे भगवन्! आप मा—मत मुसं वए—मृषा बोलें।

मूलार्थ—हे मुने! घोड़े, हस्ती और मनुष्य मेरे पास हैं; नगर और अन्तःपुर भी है तथा मनुष्यसम्बन्धी विषय-भोगों का भी मैं उपभोग करता हूँ; एवं आज्ञा, शासन और ऐश्वर्य भी मेरे पास विद्यमान हैं। हे भगवन्! इस प्रकार की प्रधान सम्पदा मेरे को प्राप्त है और सर्व प्रकार के कामभोग भी मुझे मिले हुए हैं, तो फिर मैं अनाथ किस प्रकार से हूँ? हे पूज्य! आप मृषा—झूठ न बोलें।

टीका—इन दोनों गाथाओं में महाराजा श्रेणिक ने उक्त मुनि के समक्ष राज्यसमृद्धि से अपने आपको सनाथ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। श्रेणिक ने मुनि से कहा कि मेरे पास नाना प्रकार की ऋद्धि मौजूद है। मेरा सारे राज्य में अखण्ड शासन है। मनुष्योचित सर्वोत्तम विषय-भोग मुझको अनायास से मिले हुए हैं। सर्व प्रकार का ऐश्वर्य, सर्व प्रकार की सम्पत्ति, एवं सर्व प्रकार के कामभोगों की पर्याप्त रूप से मेरे घर में उपस्थिति होने पर भी आप मुझे अनाथ कहते हैं, यह कैसे? कारण यह कि अनाथ तो वही है, जिसके पास कुछ न हो तथा जिसका कोई सहायक अथवा परिचारक न हो और जिसका किसी पर भी शासन न हो। परन्तु मेरे पास तो सब कुछ विद्यमान है! फिर मैं अनाथ कैसे? हे भगवन्! आप असत्य न बोलें। *यहाँ पर पहली गाथा में सर्वत्र 'संति' क्रिया का अध्याहार कर लेना। तथा दूसरी गाथा के प्रथम पाद का कहीं कहीं पर—'एरिसे संपयग्गम्मि' ऐसा पाठ भी देखने में* आता है, जिसका अर्थ है कि—सम्पत् का मुझे अत्यन्त लाभ हो रहा है। और 'सव्वकामसमप्पिए' इस वाक्य में प्राकृत के कारण से व्यत्यय किया हुआ है—प्रतिरूप तो उसका—'समर्पितसर्वकामे' होना चाहिए। एवं 'भवई' में पुरुषव्यत्यय है, जो कि 'भवामि' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। दूसरी गाथा के—'मा हु भंते! मुसं वए' इस चतुर्थपाद से यह सूचित किया गया है कि हे भगवन्! आप तो सत्यवादी हैं, कभी झूठ कहने वाले नहीं, अतः मुझे अनाथ न कहें।

इस प्रकार श्रेणिक राजा के कथन को सुनकर उक्त मुनिराज ने उसका जो उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा !
जहा अणाहो भवई, सणाहो वा नराहिव ! ॥१६॥

न त्वं जानीषेऽनाथस्य, अर्थं प्रोत्थां च पार्थिव !
यथाऽनाथो भवति, सनाथो वा नराधिप ! ॥१६॥

पदार्थान्वयः—पत्थिवा—हे राजन् ! तुम—तू न जाणे—नहीं जानता अणाहस्स—अनाथ का अत्थ—अर्थ और पोत्थं—उसकी पूर्ण उपपत्ति को—भावार्थ को च—पुनः नराहिव—हे नराधिप ! जहा—जैसे अणाहो—अनाथ भवई—होता है वा—अथवा सणाहो—सनाथ होता है ।

मूलार्थ—हे राजन् ! तू अनाथ शब्द के अर्थ और भावार्थ को नहीं जानता कि अनाथ अथवा सनाथ कैसा होता है ।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन् ! वास्तव में तू अनाथ शब्द के अर्थ और परमार्थ को नहीं समझता । मैंने जिस आशय को लेकर अथवा जिस अर्थ को लेकर तुमको या अपने को अनाथ कहा है, वह तुम्हारे ध्यान में नहीं आया । संसार में नाथ और अनाथ कौन जीव है अथवा सनाथ एवं अनाथ शब्द की प्रकृतोपयोगी स्पष्ट व्याख्या क्या है, इस बात से तुम अनभिज्ञ प्रतीत होते हो । इसी से तुम्हें अपनी अनाथता में सन्देह हुआ और तुम अपने को सनाथ मान रहे हो । इतना ही नहीं, किन्तु मेरे अनाथ कहने पर आपत्ति करते हुए तुमने मेरे को मृषावादी कहने का भी साहस किया । किसी २ प्रति में 'न तुम जाणे अनाहस्स' ऐसा पाठ भी देखने में आता है ।

सारांश यह कि मुनि के कहे हुए वचन के भाव को न समझकर ही राजा ने उनसे अपनी सनाथता प्रकट की थी । क्योंकि वक्रोक्ति के रूप में कहे हुए शब्द के अर्थ को तब तक मनुष्य नहीं जान सकता, जब तक कि उसके मूल उत्थान का उसको पूर्ण ज्ञान नहीं हो जाता ।

इसके अनन्तर वे मुनि अपने उक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए फिर कहते हैं—

सुणेह मे महाराय ! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवई, जहा मेयं पवत्तियं ॥१७॥

श्रृणु मे महाराज ! अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
यथाऽनाथो भवति, यथा मयैतत् प्रवर्तितम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—महाराय—हे महाराज ! मे—मुझसे सुणेह—सुनो अव्वक्खित्तेण—विक्षेपरहित चेयसा—चित्त से जहा—जैसे अणाहो—अनाथ भवई—होता है अ—और जहा—जैसे मे—मैंने पवत्तियं—कहा है।

मूलार्थ—हे महाराज ! आप विक्षेपरहित चित्त से सुनो जैसे कि अनाथ होता है और जिस अर्थ को लेकर मैंने उसका कथन किया है।

टीका—वक्ता शब्द का प्रयोग किस आशय को लेकर कर रहा है तथा उसने किस प्रसंग को मन में रखकर शब्द का प्रयोग किया है, जब तक इस बात का ज्ञान न हो जाय, तब तक प्रयोग किये हुए शब्द के भाव को यथार्थ रूप में समझना अत्यन्त कठिन है। इसी अभिप्राय से मुनि ने राजा से अनाथ शब्द के भाव को समझने के लिए सावधान होने को कहा अर्थात् जिस अर्थ को लेकर अनाथ शब्द का प्रयोग किया है, उसको समझने के लिए राजा को एकाग्रचित्त होने का आदेश किया। कारण यह कि चित्त की एकाग्रता के बिना सुना हुआ पदार्थ आत्मा में चिरस्थायी नहीं रहता।

प्रस्तुत गाथा में शाब्दबोध की यथार्थता के लिए अभिधेय और उत्थान की आवश्यकता का दिग्दर्शन कराया गया है—अभिधेय का सम्बन्ध पुरुष से है और उत्थानिका का शब्द से। पाठकों को स्मरण होगा कि राजा श्रेणिक के यह पूछने पर कि आप तरुण अवस्था में साधु क्यों हो गये, उक्त मुनि ने इसका कारण अपनी अनाथता बतलाई थी। इसके मध्य में जब अनाथ और सनाथ शब्द की चर्चा चल पड़ी, तब वह मुनि अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए उसकी उत्थानिका और उपपत्ति का वर्णन करने लगे, जो कि इस प्रकार से है—

कोसम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।
तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥१८॥

कौशाम्बी नाम्नी नगरी, पुराणपुरभेदिनी ।
तत्रासीत् पिता मम, प्रभूतधनसञ्चयः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—कोसम्बी–कौशाम्बी नाम–नाम वाली नयरी–नगरी जो पुराणपुरभेयणी–जीर्ण नगरियों को भेदन करने वाली तत्थ–उसमें मज्झ–मेरा पिया–पिता पभूयधणसचओ–प्रभूतधनसचय नाम वाला आसी–रहता था ।

मूलार्थ—कौशाम्बी नामा अति प्राचीन नगरी में प्रभूतधनसचय नाम वाले मेरे पिता निवास करते थे ।

टीका—अनाथ शब्द के अर्थ और परमार्थ को समझाने के लिए उक्त मुनिराज अपनी पूर्वचर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक कौशाम्बी नाम की अति प्राचीन नगरी है । उसमें मेरे प्रभूतधनसचय नाम के पिता निवास करते थे । यहाँ पर कौशांबी का जो 'पुराणपुरभेदिनी' विशेषण है, उससे उक्त नगरी की अत्यन्त प्राचीनता और प्रधानता का वर्णन करना अभिप्रेत है । अधिक धन का सचय करने से उसका नाम भी 'प्रभूतधनसचय' ही पड़ गया था । इसके अतिरिक्त कौशाम्बी की प्राचीनता और प्रधानता के वर्णन से यह भी ध्वनित होता है कि प्राचीन नगरियों के लोग प्रायः चतुर, धनाढ्य और विवेकशील होते हैं । क्योंकि उनकी सम्पत् कुलक्रम से आई हुई होती है । यदि साधारण पुरुषों को कभी सम्पदा की प्राप्ति भी हो जाय तो भी उनमें उक्त गुणों का उत्पन्न होना सन्देहयुक्त है अर्थात् उनमें ये गुण उत्पन्न हो भी सकते हैं और नहीं भी । परन्तु कुलीन पुरुषों के विषय में ऐसा नहीं । वहाँ तो उक्त गुणों का सहचार प्रायः रहता ही है ।

फिर कहते हैं—

पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो दाहो , सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ॥१९॥

पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ॥१९॥

प्रथमे वयसि महाराज ! अतुला मेऽक्षिवेदना।
अभूद् विपुलो दाह, सर्वगात्रेषु पार्थिव ! ॥१९॥

पदार्थान्वयः—महाराय–हे महाराज ! पढमे–प्रथम वए–वय में अउला–अतुल—उपमारहित मे–मेरे अच्छिवेयणा–अक्षिवेदना अहोत्था–उत्पन्न हुई, और विउलो–विपुल दाहो–दाह सव्वगत्तेसु–सर्व शरीर में पत्थिवा–हे पार्थिव !

मूलार्थ—हे महाराज ! प्रथम अवस्था में मेरी आँखों में अत्यन्त वेदना—पीड़ा हुई और सारे शरीर में हे पार्थिव ! विपुल दाह उत्पन्न हो गया।

टीका—मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! पहली अवस्था में मेरी आँखें दुखनी आ गईं और उनमें अत्यन्त असह्य पीड़ा होने लगी तथा आँखों की वेदना के साथ २ शरीर के प्रत्येक अवयव में असह्य दाह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह है कि अक्षिजन्य पीड़ा और शरीर में होने वाले दाह ने मुझे अत्यन्त दुःखी कर दिया। यहाँ पर 'विउल' यह आर्ष वाक्य होने से 'वेदक—व्यथक' शब्दों के स्थान पर आया हुआ है, जिनका अर्थ अत्यन्त व्यथा—पीड़ा है।

अब अक्षिगत वेदना का वर्णन करते हैं—

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरन्तरे।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥२०॥

शस्त्रं यथा परमतीक्ष्ण, शरीरविवरान्तरे।
प्रवेशयेदरि क्रुद्ध, एवं मेऽक्षिवेदना ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सत्थ–शस्त्र जहा–जैसे परमतिक्ख–अत्यन्त तीक्ष्ण सरीर–शरीर के विवरन्तरे–छिद्रों में कुद्धो–क्रुद्ध हुआ अरी–शत्रु पविसिज्ज–प्रवेश करे एव–उसी प्रकार मे–मेरी अच्छिवेयणा–आँखों में वेदना हो रही थी।

मूलार्थ—जैसे क्रुद्ध हुआ शत्रु अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र को शरीर के मर्मस्थानों में चुभाता है—उससे जिस प्रकार की वेदना होती है, उसी प्रकार की असह्य वेदना मेरी आँखों में हो रही थी।

टीका—इस गाथा में चक्षुगत पीड़ा का दिग्दर्शन कराया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जैसे कोई क्रोध में आया हुआ शत्रु अपने शत्रु को एकान्तस्थान में पाकर किसी तीक्ष्ण शस्त्र से उसके मर्मस्थानों को आहत करता है अर्थात् उसके शरीर में होने वाले कर्ण, नासादि विवरों में किसी तीक्ष्ण शस्त्र को सहसा घुमा देता है, उससे जिस प्रकार की भयंकर वेदना होती है, वैसी ही व्यथा मेरी आँखों में हो रही थी। तात्पर्य यह है कि शत्रु के मन में दया का सर्वथा अभाव होता है, इसलिए वह अपने शत्रु को कठोर से कठोर दण्ड देने का प्रयत्न करता है। अतः उसके द्वारा किये जाने वाला शस्त्र का प्रहार भी अत्यन्त असह्य होता है। वैसी ही असह्य पीड़ा मेरे नेत्रों में हो रही थी, यह मुनि के कथन का आशय है। किसी किसी प्रति में 'पविसिज्ज' के स्थान पर 'आवीलिज्ज—आपीडयेत्'—ऐसा पाठ भी देखने में आता है। उसका अर्थ यह है कि जैसे शरीर के विवरों में भली भाँति फिराया हुआ तीक्ष्ण शस्त्र अत्यन्त असह्य वेदना को उत्पन्न करता है, तद्वत् चक्षुगत पीड़ा थी।

अब दाहजन्य वेदना का वर्णन करते हैं—

तियं मे अन्तरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई।
इन्दासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥२१॥

त्रिकं मे अन्तरेच्छं च, उत्तमांगं च पीडयति।
इन्द्राशनिसमा घोरा, वेदना परमदारुणा ॥२१॥

पदार्थान्वयः—तियं—कटिभाग मे—मेरा च—और अन्तरिच्छं—हृदय की वेदना या भूख-प्यास का न लगना च—पुनः उत्तमंगं—मस्तक में पीडई—पीड़ा इन्दासणिसमा—इन्द्र के वज्र के समान घोरा—भयंकर वेयणा—वेदना परमदारुणा—अत्यन्त कठोर।

मूलार्थ—मेरे कटिभाग में, हृदय में और मस्तक में इस प्रकार की भयंकर वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्र के लगने से होती है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरे कटिभाग—हृदय में और मस्तक में आन्तरिक दाहज्वर से इतनी असह्य वेदना हो रही थी, जितनी कि देवेन्द्र के वज्र

के प्रहार से होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे वज्रप्रहारजन्य वेदना अत्यन्त घोर और चिरकाल तक रहने वाली होती है, उसी प्रकार दाहज्वर के प्रभाव से मेरे शरीर में उत्पन्न होने वाली वेदना भी अति तीव्र थी। इस भयंकर वेदना के कारण मुझे भूख और प्यास की भी इच्छा नहीं रही, किन्तु निरन्तर वेदना का ही अनुभव करता रहा। यहाँ पर वज्र का दृष्टान्त इसलिए दिया गया है कि मनुष्यों के प्रहार किये गये शस्त्र द्वारा जो वेदना उत्पन्न होती है, वह प्रायः मन्द और शीघ्र शान्त हो जाती है। परन्तु देवों के शस्त्रों का जो प्रहार है, उससे उत्पन्न होने वाली वेदना तीव्र होती है और उसका शमन भी चिरकाल में होता है। अतः उक्त वेदना की भयंकरता और चिरकाल के स्थायित्व का प्रतिपादन करना ही वज्र के दृष्टान्त का प्रयोजन है।

क्या उस नगरी में कोई योग्य वैद्य—चिकित्सक नहीं था? अथवा आपने उक्त वेदना के शमनार्थ कोई ओषधि ही नहीं खाई? राजा के इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मुनिराज ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामन्ततिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया ॥२२॥

उपस्थिता ममाचार्या, विद्यामन्त्रचिकित्सका।
अद्वितीया शास्त्रकुशला, मन्त्रमूलविशारदाः ॥२२॥

पदार्थान्वयः—उवट्ठिआ—उपस्थित हुए मे—मेरे लिए आयरिया—आचार्य विज्जा—विद्या मन्त—मन्त्र के द्वारा तिगिच्छगा—चिकित्सा करने वाले अबीया—अद्वितीय सत्थ—शास्त्रों—शस्त्रों में कुसला—कुशल मन्त—मन्त्र मूल—ओषधि आदि में विसारया—विशारद।

मूलार्थ—मेरी चिकित्सा करने के लिए वे आचार्य उपस्थित थे, जो विद्या और मंत्र के द्वारा चिकित्सा करने में अद्वितीय थे, शस्त्र और शास्त्रक्रिया में अति निपुण तथा मन्त्र और मूल ओषधि आदि के प्रयोग में अत्यन्त कुशल थे।

टीका—महाराजा श्रेणिक के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनिराज कहते हैं कि मेरी चिकित्सा के लिए सामान्य वैद्य तो क्या, वैद्यों के भी महान् आचार्य उपस्थित

थे, जो मन्त्रों तथा ओषधि आदि से चिकित्सा करने में अद्वितीय थे। एवं शल्य-चिकित्सा में भी सर्वथा निपुण और जड़ी बूटी आदि के भी पूर्ण ज्ञाता थे। कतिपय प्रतियों में 'अबीया' के स्थान पर 'अधीया' पाठ देखने में आता है। उसका अर्थ है 'अधीताः' अर्थात् पढ़े हुए। तात्पर्य यह है कि जितने भी वैद्य वहाँ पर चिकित्सा के लिए उपस्थित थे, वे सब चिकित्साशास्त्र में निष्णात थे।

अब उनके चिकित्साक्रम का वर्णन करते हैं—

ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२३॥

ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति, चतुष्पादां यथाख्याताम्।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२३॥

पदार्थान्वयः—ते—वे—वैद्याचार्य आदि मे—मेरी तिगिच्छं—चिकित्सा को कुव्वन्ति—करते रहे चाउप्पाय—चतुष्पाद—वैद्य, ओषधि, आतुरता और परिचारक जहा—जैसे हियं—हित होवे न—नहीं य—पुनः मे—मुझे दुक्खा—दुःख से विमोयन्ति—विमुक्त कर सके एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है।

मूलार्थ—वे वैद्याचार्यादि मेरी चतुष्पाद चिकित्सा करते रहे, परन्तु मुझे दुःख से विमुक्त न कर सके, यह मेरी अनाथता है।

टीका—पूर्वगाथा में आयुर्वेदनिपुण वैद्यों का उल्लेख किया गया है। अब इस गाथा में उनके द्वारा किये गये चिकित्साक्रम का वर्णन करते हैं। उक्त मुनिराज ने कहा कि राजन्! पूर्वोक्त प्राणाचार्यों ने बड़ी सावधानता से मेरी चतुष्पाद चिकित्सा की। मेरी वेदना की निवृत्ति के लिए बहुत यत्न किया गया परन्तु वे सफल न हो सके, अर्थात् मुझे उक्त वेदना से मुक्त न कर सके। इसी लिए मैंने अपने को अनाथ कहा है। चतुष्पाद चिकित्सा वह कहलाती है जिसमें वैद्य, ओषधि, रोगी की श्रद्धा और उपचारक—सेवा करने वाले—ये चार कारण विद्यमान हों। तात्पर्य यह है कि (१) योग्य वैद्य हो (२) उत्तम ओषधि पास में हो (३) रोगी की चिकित्सा कराने की उत्कट इच्छा हो, और (४) रोगी की सेवा करने वाले भी विद्यमान हों। इन चार प्रकारों

से की गई चिकित्सा प्रायः सफल होती है। परन्तु मुनि कहते हैं कि मुझे इस चतुष्पाद चिकित्सा से भी कोई लाभ न हुआ। इसके अतिरिक्त यह चिकित्सा भी यथाविधि और यथाहित की गई। अर्थात् शास्त्रविधि के अनुसार और मेरी प्रकृति के अनुकूल वमन, विरेचन, मर्दन, स्वेदन, अंजन, बन्धन और लेपनादि सब कुछ किया गया, परन्तु मुझे दुःख से छुटकारा न मिला। अतएव मैंने अपने आपको अनाथ माना व कहा। कारण यह है कि इतने साधनों के उपस्थित होते हुए भी यदि मैं दुःख से मुक्त नहीं हो सका, अथवा मुझे कोई दुःख से छुड़ा नहीं सका, तो मैं सनाथ कैसे? बस, यही मेरी अनाथता है और इसी लिए मैंने अपने आपको अनाथ कहा है। प्रस्तुत गाथा में 'चक्रुः' के स्थान में 'कुर्वन्ति' और 'विमोचयन्ति स्म' के स्थान पर 'विमोचयति' इन वर्तमान काल के क्रियापदों का प्रयोग करना प्राकृत के व्यापक नियम के अनुसार है।

यदि यह कहा जाय कि आपके पिता कृपण होंगे, वैद्यों को कुछ देते न होंगे, इसलिए वैद्यों ने आपका ठीक रीति से उपचार नहीं किया होगा, तो इसके उत्तर में भी उक्त मुनि ने जो कुछ कहा है, अब उसका उल्लेख करते हैं—

पिया मे सव्वसारंपि, दिज्जाहि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२४॥

पिता मे सर्वसारमपि, अदान्मम कारणात्।
न च दुःखाद्विमोचयति, एषा ममाऽनाथता ॥२४॥

पदार्थान्वयः—मम—मेरे कारणा—कारण से मे—मेरे पिया—पिता ने सव्व—सर्व सारंपि—सारवस्तु भी दिज्जाहि—दी न—नहीं य—फिर दुक्खा—दुःख से विमोयन्ति—विमुक्त कर सके एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है।

मूलार्थ—मेरे पिता ने मेरे कारण से सर्वसार पदार्थ वैद्यों को दिये, परन्तु फिर भी वे मुझे दुःख से विमुक्त न कर सके, यह मेरी अनाथता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरी चिकित्सा के निमित्त आये हुए वैद्यों की प्रसन्नता के लिए मेरे पूज्य पिता ने पारितोषिक रूप में जो बहुमूल्य पदार्थ

घर में विद्यमान थे, वे सब उन वैद्यों को दिये। तात्पर्य यह है कि घर में आये हुए वैद्यों का केवल वचन मात्र से ही आदर नहीं किया, किन्तु भूरि २ द्रव्य से भी उनको सन्तुष्ट करने में कोई कसर नहीं रक्खी। अर्थात् मेरे निमित्त से उनको प्रसन्न करने का हर प्रकार से यत्न किया तथा उन्होंने जो कुछ भी माँगा, वही दिया। परन्तु इतना अधिक द्रव्य व्यय करने पर भी वे प्राणाचार्य मुझे दुःख से मुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है। तात्पर्य यह है कि जैसे अनाथों का कोई संरक्षक नहीं होता तद्वत् उन वैद्यों की इच्छानुसार पुष्कल धन का व्यय करने पर भी मैं दुःखों से मुक्त न हो सका। प्रस्तुत गाथा में पिता का कर्तव्य और उसकी उदारता का परिचय कराया गया है। 'सार' शब्द का अर्थ 'प्रधान' है। तब सार पदार्थ—प्रधान पदार्थ उनको दिये गये, यह तात्पर्य निकला।

अब माता के विषय में कहते हैं—

माया वि मे महाराय ! पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२५॥

माताऽपि मे महाराज ! पुत्रशोकदुःखार्ता ।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२५॥

पदार्थान्वयः—माया—माता वि—भी मे—मेरी महाराय—हे महाराज ! पुत्तसोग—पुत्रशोक से दुहट्टिया—दुःख से पीड़ित हुई न—नहीं य—फिर दुक्खा—दुःख से वमोयन्ति—विमुक्त कर सकी एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज ! पुत्र के शोक से अत्यन्त पीड़ा को प्राप्त हुई मेरी माता भी मुझे दुःख से मुक्त न कर सकी, यही मेरी अनाथता है।

टीका—कदाचित् मेरी वेदना के समय पर मेरी माता ने अपने कर्तव्य का पालन न किया हो, अर्थात् मुझको दुःख से मुक्त कराने के लिए उसने कोई यत्न न किया हो, ऐसा भी नहीं। किन्तु वह भी मेरे दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर बड़े दीनता के वचन उच्चारण करती थी। यथा—'हा ! कथमित्थं दुःखी मत्सुतो जातः' हा ! मेरा पुत्र किस कारण से इतना दुःखी हो रहा है। इसके अतिरिक्त मेरे दुःख की

निवृत्ति के लिए उसने भी अनेक प्रकार के उपाय किये। अधिक क्या कहूँ, वह प्रतिक्षण इसी चिन्ता में निमग्न रहती थी, परन्तु फिर भी वह मुझको दुःख से विमुक्त न कर सकी। इससे अधिक मेरी और क्या अनाथता हो सकती है। कई एक प्रतियों में 'दुहट्टिया—दुःखार्त्ता' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। परन्तु दोनों के अर्थ में कोई विशेषता नहीं है।

अब भाइयों के विषय में कहते हैं—

भायरो मे महाराय! सगा जेट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२६॥
भ्रातरो मे महाराज! स्वका ज्येष्ठकनिष्ठकाः।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२६॥

पदार्थान्वयः—महाराय—हे महाराज! मे—मेरे सगा—सगे जेट्ठ—ज्येष्ठ और कणिट्ठगा—कनिष्ठ—छोटे भायरो—भाई य—पुन दुक्खा—दुःख से न—नहीं विमोयन्ति—विमुक्त कर सके एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज! मेरे बड़े और छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से विमुक्त न कर सके, यही मेरी अनाथता है।

टीका—मुनि कहते हैं कि पिता और माता के अतिरिक्त मुझको अपने सहोदर भाइयों की सहायता भी पर्याप्त रूप से मिली, परन्तु वे भी मुझे दुःख से न छुड़ा सके। तात्पर्य यह है कि जो कुछ मैंने उनको कहा या वैद्यों ने आज्ञा दी, उसके अनुसार कार्य करने में उन्होंने भी कोई त्रुटि नहीं रक्खी परन्तु मैं दुःख से मुक्त नहीं हुआ। बस, यही मेरा अनाथपन है।

अब भगिनी आदि के सम्बन्ध में कहते हैं—

भइणीओ मे महाराय! सगा जेट्ठकणिट्ठगा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥२७॥
भगिन्यो मे महाराज! स्वका ज्येष्ठकनिष्ठकाः।
न च दुःखाद्विमोचयन्ति, एषा ममाऽनाथता ॥२७॥

पदार्थान्वयः—महाराय !–हे महाराज ! मे–मेरी सगा–सगी जेट्ठ–ज्येष्ठ और कनिट्ठगा–कनिष्ठ भइणीओ–भगिनियाँ भी थीं न–नहीं य–पुनः दुक्खा–दुःख से विमोयन्ति–विमुक्त कर सकीं एसा–यह मज्झ–मेरी अणाहया–अनाथता है।

मूलार्थ—हे महाराज ! मेरी छोटी और बड़ी सगी बहनें भी विद्यमान थीं, परन्तु वे भी मुझको दुःख से विमुक्त न करा सकीं, यह मेरी अनाथता है।

टीका—फिर मुनि ने कहा कि हे राजन् ! भाइयों के अतिरिक्त मेरी सगी बहनें भी विद्यमान थीं। उन्होंने भी मेरे दुःख में समवेदना प्रकट करने में कोई कसर नहीं रक्खी, परन्तु वे भी मुझे दुःख से छुड़ाने में असमर्थ रहीं।

अब अपनी स्त्री के सम्बन्ध में कहते हैं—

भारिया मे महाराय ! अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचई ॥२८॥

भार्या मे महाराज ! अनुरक्ताऽनुव्रता ।
अश्रुपूर्णाभ्यां नयनाभ्याम्, उरो मे परिसिञ्चति ॥२८॥

पदार्थान्वयः—महाराय–हे महाराज ! मे–मेरी भारिया–भार्या, जो कि अणुरत्ता–मेरे में अनुरक्त और अणुव्वया–पतिव्रता अंसुपुण्णेहिं–अश्रुपूर्ण नयणेहिं–नेत्रों से मे–मेरे उरं–वक्षःस्थल को परिसिंचई–परिसेचन करती थी।

मूलार्थ—हे महाराज ! मुझमें अत्यन्त अनुराग रखने वाली, मेरी पतिव्रता भार्या भी अपने अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरे वक्षःस्थल को सिंचन करती थी परन्तु वह भी मुझे दुःख से विमुक्त न करा सकी।

टीका—मुनि ने फिर कहा कि हे राजन् ! माता, पिता आदि बन्धुजनों के अतिरिक्त, मुझमें अत्यन्त अनुराग रखने वाली और सब से अधिक सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली मेरी पतिव्रता स्त्री ने भी मुझको दुःख से विमुक्त कराने के लिए भरसक प्रयत्न किया, रात-दिन मेरी परिचर्या में लगी रही और स्नेहातिरेक से अपने आँसुओं द्वारा मेरी छाती को तर करती रही। तात्पर्य यह है कि मेरी सेवा-शुश्रूषा के साथ उनका सारा समय प्रायः रोने में ही व्यतीत होता था। परन्तु इतनी समवेदना प्रकट करने पर भी वह मुझको उस दुःख से छुड़ाने में सफल न हो सकी।

प्रस्तुत गाथा में ध्वनिरूप से कुलीन स्त्री के गुणों का भी वर्णन किया गया है अर्थात्—जो पति के दुःख से दुःखी, सुख से सुखी और सदा उसकी आज्ञा में रहने वाली सच्चरित्र स्त्री, पतिव्रता कहलाती है। अब इसी बात का अर्थात् अपनी स्त्री के विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए मुनि फिर कहते हैं कि—

अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गन्धमल्लविलेवणं ।
मए नायमनायं वा, सा बाला नेव भुंजई ॥२९॥

अन्नं पानं च स्नानं च, गन्धमाल्यविलेपनम् ।
मया ज्ञातमज्ञातं वा, सा बाला नैव भुङ्क्ते ॥२९॥

पदार्थान्वयः—अन्नं—अन्न च—और पाणं—पानी च—तथा ण्हाणं—स्नान गन्ध—सुगन्धित द्रव्य मल्ल—माला आदि विलेवणं विलेपन आदि का मए—मेरे नायम्—जानते हुए वा—अथवा अनाय—न जानते हुए सा—वह बाला—अभिनवयौवना नेव भुंजई—उपभोग नहीं करती थी।

मूलार्थ—अन्न, पानी, स्नान, गन्ध, माला और विलेपन आदि का, मेरे जानते हुए अथवा न जानते हुए वह बाला—अभिनवयौवना—सेवन नहीं करती थी।

टीका—अपनी स्त्री की पतिपरायणता और विशिष्ट सहानुभूति का वर्णन करते हुए मुनि कहते हैं कि हे राजन्! मेरी अभिनवयौवना स्त्री मेरे दुःख से अधिक व्याकुलित हुई अन्न, जल और स्नान का करना तथा चन्दनादि सुगन्धिद्रव्यों का शरीर पर विलेपन करना, एवं पुष्पमाला आदि का पहरना इन सब वस्तुओं का परित्याग कर चुकी थी। तात्पर्य यह है कि मेरे स्नेह के कारण उसने शृंगारपोषक द्रव्यों का परित्याग करने के अतिरिक्त शरीर को पुष्ट करने वाले आहार का भी परित्याग कर दिया। क्योंकि मेरी व्यथा के कारण उसको इन सब पदार्थों से उदासीनता हो गई थी तथा अन्न-जल में भी उसकी रुचि नहीं रही थी।

फिर कहते हैं—

खणं पि मे महाराय ! पासाओ वि न फिट्टई ।
न य दुक्खा विमोएइ , एसा मज्झ अणाहया ॥३०॥

क्षणमपि मे महाराज ! पार्श्वतोऽपि नापयाति ।
न च दुःखाद्विमोचयति , एषा ममाऽनाथता ॥३०॥

पदार्थान्वयः—महाराय !—हे महाराज ! खणं पि—क्षणमात्र भी मे—मेरे पासाओ—पास से वि—फिर वह स्त्री न फिट्टई—दूर नहीं होती थी न—नहीं य—फिर दुक्खा—दुःख से विमोएइ—विमुक्त कर सकी एसा—यह मज्झ—मेरी अणाहया—अनाथता है ।

मूलार्थ—हे महाराज ! क्षणमात्र भी वह स्त्री मेरे पास से पृथक् नहीं होती थी परन्तु वह भी मुझको दुःख से विमुक्त न करा सकी, यही मेरी अनाथता है ।

टीका—उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! अत्यन्त स्नेह के वशीभूत हुई मेरी वह स्त्री एक क्षण के लिए भी मुझसे अलग नहीं होती थी । तात्पर्य यह है कि वह निरन्तर मेरी परिचर्या में लगी रहती थी, जिससे कि किसी न किसी प्रकार मैं दुःख से मुक्त हो जाऊँ, परन्तु उसका भी यह प्रयास निष्फल गया अर्थात् मैं उस दुःख से मुक्त न हो सका । बस, यही मेरी अनाथता है । यहाँ पर पाठकों को इतना ध्यान रहे कि उक्त मुनि ने अपने पूर्वाश्रम की विशिष्ट सम्पत्ति तथा सम्बन्धी जनों की पूर्ण सहानुभूति का राजा को इसलिए परिचय दिया कि वह अनाथ और सनाथपन के रहस्य को भली भाँति समझ सके । तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से महाराजा श्रेणिक अपने आपको सनाथ समझता था और दूसरों का नाथ बनने का साहस करता था, वह सब कारण-सामग्री उक्त मुनि के पास भी पर्याप्तरूप से विद्यमान थी । इसलिए उक्त राज्य-वैभव या अन्य सम्बन्धी जनों के विद्यमान होने पर भी इस जीव को प्राप्त होने वाले दुःख से कोई भी मुक्त कराने में समर्थ नहीं हो सकता । बस, यही इसकी अनाथता है । सारांश यह है कि इन उक्त पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर भी यह जीव वास्तव में सनाथ नहीं हो सकता किन्तु सनाथपन

का हेतु कोई और ही वस्तु है, जिसके प्राप्त होने पर विशिष्टविभूति और अनुरागयुक्त कुटुम्बी जनों के होने अथवा न होने पर भी यह जीव सनाथ कहा व माना जा सकता है। बस, यही उक्त प्रकरण का अभिप्राय है।

मुनि के इस सम्पूर्ण कथन को सुनने के अनन्तर राजा ने कहा कि हे मुने! तो फिर आप उस दुःख से कैसे मुक्त हुए? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मुनिराज ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणन्तए ॥३१॥
सयं च जइ मुंचिज्जा, वेयणा विउला इओ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वइए अणगारियं ॥३२॥

ततोऽहमेवमब्रुवम्, दुःक्षमा खलु पुनः पुनः।
वेदनाऽनुभवितुं या, संसारेऽनन्तके ॥३१॥
सकृच्च यदि मुच्ये, वेदनाया विपुलाया इतः।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजाम्यनगारिताम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर अहं—मैं एवम्—इस प्रकार आहंसु—कहने लगा दुक्खमा—दुस्सह है हु—निश्चय ही वेयणा—वेदना अणुभविउ—अनुभव करनी पुणो पुणो—बार बार अणन्तए—अनन्त संसारम्मि—संसार में जे—पादपूर्ति के लिए है।

सयं च—एक बार भी जइ—यदि इओ—इस अनुभूयमान विउला—विपुल वेयणा—वेदना से मुंचिज्जा—छूट जाऊँ, तो खन्तो—क्षमावान् दन्तो—दान्तेन्द्रिय निरारम्भो—आरम्भ से रहित पव्वइए—दीक्षित हो जाऊँ अणगारियं—अनगारवृत्ति को धारण कर लूँ।

मूलार्थ—तदनन्तर मैं इस प्रकार कहने लगा कि इस अनन्त संसार में पुनः पुनः वेदना का अनुभव करना अत्यन्त दुःसह है। अतः यदि मैं इस असह्य वेदना से एक बार भी मुक्त हो जाऊँ तो क्षमावान्, दान्तेन्द्रिय और सर्वप्रकार के आरम्भ से रहित होकर प्रव्रजित होता हुआ अनगार वृत्ति को धारण कर लूँ।

टीका—राजा के प्रश्न करने पर मुनि कहते हैं कि इस प्रकार नानाविध उपचारों से भी जब मेरे को शांति नहीं मिली, तब मैंने कहा कि निश्चय ही इस अनन्त संसार में इस प्रकार की वेदना का बार बार सहन करना अत्यन्त कठिन है। अतः यदि मुझे इस घोर वेदना से किसी प्रकार भी छुटकारा मिल जाय तो मैं इसके कारण को ही विनष्ट करने का प्रयत्न करूँ अर्थात् क्षमायुक्त, इन्द्रियों के दमन में तत्पर और सर्व प्रकार के आरम्भ का त्यागी बनकर अनगारवृत्ति को धारण करूँ। मुनि के कथन का अभिप्राय यह है कि संसार में जितना भी सुख-दुःख उपलब्ध होता है, वह सब जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल है। शुभ कर्म करने से इस जीव को सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्म के उपार्जन से यह महान् दुःख का अनुभव करता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःख का मूल अशुभ कर्म है। वह जिस समय उदय होगा, उस समय इस जीव को कठिन से कठिन दुःखजन्य वेदना का अनुभव करना पड़ेगा और जब तक उस कर्म की स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक लाख प्रकार के उपाय और प्रयत्न करने से भी उसकी शांति नहीं हो सकती। अतः दुःख की निवृत्ति और सुख की इच्छा रखने वाले प्राणी को सब से प्रथम दुःख के कारणभूत अशुभ कर्मों का समूलघात करने के लिए उद्यम करना चाहिए। इसके लिए प्रथम कर्मपरमाणुओं के आगमन के जो द्वार हैं—जिनको आस्रव कहते हैं, उनका निरोध करना होगा। उनके निरोधार्थ संवर भावना को अपनाने की आवश्यकता है। तदर्थ शान्त और दान्त होकर अनगारवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए। इसलिए हे राजन्! मैंने यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं इस वेदना से इस बार मुक्त हो जाऊँ तो मैं इस वेदना के मूल कारण का विनाश करने के लिए—जिससे कि फिर इस प्रकार की वेदना को सहन करने का अवसर ही प्राप्त न हो सके—प्रव्रजित हो जाऊँ अर्थात् वीतराग के निर्दिष्ट किये हुए संयममार्ग का अनुसरण करूँ, इत्यादि। पूर्व की गाथा में आया हुआ 'जे' शब्द पादपूर्ति के लिए है और उत्तर की गाथा में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक कष्ट के उत्पन्न होने पर मूर्ख—अज्ञानी और विचारशील पुरुषों के विचारों में बहुत अन्तर होता है। विचारशील पुरुष तो कष्ट के समय अपनी आत्मा को धैर्य और शान्ति प्रदान करने का यत्न करते हैं। अर्थात् उदय में आये

हुए कष्ट को स्वकर्म का फल जानकर उसे शान्तिपूर्वक सहन करने का उद्योग करते हैं। यदि विचारहीन जीवों को किसी कष्ट का सामना करना पड़ता है तो वे अपने क्षुद्र विचारों से तथा आर्त—रौद्रध्यान से अपनी आत्मा को और भी संकट में डालने का प्रयत्न करते हैं। जैसे कि—मर जाने, विष भक्षण करने, जल में कूदने और पर्वत पर से गिरकर प्राण देने इत्यादि का वे जीव संकल्प करने लगते हैं, यही उनकी क्षुद्रता और विवेकशून्यता है। अतः विचारशील पुरुषों को चाहिए कि वे दुःख के समय घबरायें नहीं किन्तु प्राप्त हुए दुःख को शांतिपूर्वक सहन करते हुए आगे के लिए दुःख न हो, इसके लिए उद्योग करें।

मेरे अन्तःकरण में जब इस प्रकार के भाव उत्पन्न हुए तो फिर क्या हुआ? अब इसी विषय का वर्णन करते हैं—

एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा!
परीयत्तन्तीए राईए, वेयणा मे खयं गया ॥३३॥

एवं च चिन्तयित्वा, प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप!
परिवर्तमानायां रात्रौ, वेदना मे क्षयं गता ॥३३॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार च—पुनः चिन्तइत्ता—चिन्तन करके पसुत्तो मि—मैं सो गया नराहिवा—हे नराधिप! राईए—रात्रि के परियत्तन्तीए—व्यतीत होने पर मे—मेरी वेयणा—वेदना खयं—क्षय गया—हो गई।

मूलार्थ—हे नराधिप! इस प्रकार चिन्तन करके मैं सो गया और रात्रि के व्यतीत होने पर मेरी वेदना शान्त हो गई।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! इस प्रकार जब मैंने अनगारवृत्ति को धारण करने का निश्चय किया तो उसके अनन्तर ही मैं सो गया और रात्रि के व्यतीत होते ही मेरी यह सब व्यथा जाती रही अर्थात् आँखों की असह्य वेदना और शरीर का दाह, यह सब शान्त हो गया। तात्पर्य यह है कि निद्रा का न आना भी रोग में एक प्रकार का उपद्रव होता है। निद्रा के आ जाने से भी आधा रोग जाता रहता है। जैसे वेदनीय कर्म के उदय होने से क्षुधा लगती है और पर्याप्त

भोजन कर लेने पर क्षुधावेदनीय कर्म का उपशम हो जाता है इसी प्रकार छद्मस्थ आत्मा को जब दर्शनावरणीय कर्म का उदय होता है, तब पर्याप्त निद्रा लेने से वह भी उपशान्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि रोगादि कष्टों के आ जाने पर बुद्धिमान् पुरुष को शुभ भावनाओं के चिन्तन में ही समय व्यतीत करना चाहिए, जिससे रोग के मूल कारण का विनाश सम्भव हो सके।

वेदना शान्त होने के अनन्तर फिर क्या हुआ ? अब इसी विषय का उल्लेख किया जाता है—

तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वईओऽणगारियं ॥३४॥

ततः कल्यः प्रभाते, आपृच्छ्य बान्धवान्।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर कल्ले—नीरोग हो जाने पर पभायम्मि—प्रात काल में आपुच्छित्ता—पूछकर बन्धवे—बन्धुजनों को खन्तो—क्षमायुक्त दन्तो—इन्द्रियों का दमन करने वाला निरारम्भो—आरम्भ से रहित पव्वईओ—प्रव्रजित हो गया तथा अणगारियं—अनगार भाव को ग्रहण किया।

मूलार्थ—तदनन्तर नीरोग हो जाने पर प्रातःकाल में बन्धुजनों को पूछकर क्षमा, दान्त भाव और आरम्भ त्यागरूप अनगार भाव को ग्रहण करता हुआ मैं प्रव्रजित हो गया।

टीका—मुनिराज ने राजा के प्रति फिर कहा कि हे राजन् ! इस प्रकार जब मैं नीरोग हो गया तो मैंने अपनी मानसिक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रातःकाल होते ही अपने माता-पिता आदि बन्धुजनों को पूछकर उस अनगारवृत्ति को धारण कर लिया, जो कि शम-दमप्रधान, और जिसमें सर्व प्रकार के आरम्भ समारम्भ आदि का परित्याग कर दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रात काल होते ही मैंने सब कुछ छोड़कर इस संयमवृत्ति को ग्रहण कर लिया। प्रस्तुत गाथा में विषयविवेचन के साथ २ मुख्य तीन बातों का निर्देश किया गया है—(१) की हुई मानसिक

प्रतिज्ञा का पालन (२) साधुवृत्ति के लक्षण और (३) माता, पिता आदि से पूछकर दीक्षित होना। इसलिए प्रस्तुत गाथा में स्फुटतया प्रतीत होने वाली इन तीनों बातों पर वर्तमान समय के मुमुक्षु जनों को अवश्य विचार करना चाहिए। तथा गाथा में आये हुए 'कल्ल' शब्द के 'नीरोगता' और 'आगामी दिन' ये दो अर्थ होते हैं, और दोनों ही अर्थ यहाँ पर उपयुक्त हो सकते हैं।

तदनन्तर क्या हुआ ? क्या बना ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाण थावराण य ॥३५॥

ततोऽहं नाथो जात', आत्मनश्च परस्य च।
सर्वेषां चैव भूतानां, त्रसानां स्थावराणां च ॥३५॥

पदार्थान्वयः—तो—तदनन्तर अहं—मैं नाहो—नाथ जाओ—हो गया अप्पणो—अपना य—और परस्स—दूसरे का य—तथा सव्वेसिं—सर्व भूयाण—जीवों का च—फिर एव—निश्चय ही तसाण—त्रसों का य—और थावराण—स्थावरों का।

मूलार्थ—हे राजन्! तदनन्तर मैं अपना या दूसरे का तथा सब जीवों का—त्रसों का और स्थावरों का नाथ हो गया।

टीका—राजा के प्रति जिस तत्त्व को समझाने के लिए मुनि ने प्रस्तावना रूप से अपनी पूर्वदशा का सविस्तर वर्णन किया और राजा के जिस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह भूमिका बाँधी गई, प्रस्तुत गाथा में उसी का रहस्यपूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्! अपनी मानसिक प्रतिज्ञा के अनुसार प्रातःकाल होते ही अनगार वृत्ति को धारण करने के अनन्तर, अब मैं अपना तथा दूसरे का एवं त्रस और स्थावर, सभी जीवों का नाथ बन गया हूँ। तात्पर्य यह है कि 'नाथ' शब्द का अर्थ स्वामी या रक्षक होता है। इसलिए दीक्षाग्रहण करने के बाद अठारह प्रकार के पापों से निवृत्त हो जाने के कारण तो मैं अपना नाथ बना और पर जीवों की रक्षा करने से तथा उनको सम्यक्त्व का लाभ देने एवं योगक्षेम करने से परजीवों का भी स्वामी—रक्षक बन गया। इस प्रकार अपना

तथा अन्य सब जीवों का नाथ बनने का सौभाग्य मुझे इस अनगार वृत्ति से ही प्राप्त हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो सांसारिक विषय-भोगों का परित्याग करके संयमवृत्ति को धारण करने वाला आत्मा ही नाथ हो सकता है। उसके अतिरिक्त अन्य सब जीव अनाथ हैं। क्योंकि जो आत्मा आश्रवद्वारों—पाप के मार्गों—का निरोध करके संवर मार्ग में आता है, वह विश्व भर के जीवों का नाथ बन जाता है। अर्थात् वह सभी जीवों का रक्षक होने से—अपना तथा अन्य जीवों का स्वामी बनकर संसार के प्रत्येक जीव पर अपनी सनाथता प्रकट करता हुआ स्वतंत्रतापूर्वक विचरता है। इसी लिए तीर्थंकर भगवान् को सर्व जीवों का हितैषी—हित चाहने वाला—होने से लोकनाथ कहा जाता है—'लोगनाहाणं—लोकनाथेभ्यः' इत्यादि। इस कथन से उक्त मुनिराज ने राजा के प्रति अनाथ और सनाथपन का जो रहस्य था अर्थात् सनाथ कौन और अनाथ कौन है वा कौन हो सकता है? तथा अनाथ होने के कारण ही मैंने इस संयमवृत्ति को धारण किया है, इत्यादि सभी बातों का रहस्यपूर्ण वर्णन कर दिया, जिससे कि उसको यथार्थ उत्तर मिलने पर सन्तोष प्राप्त हो सके।

इस प्रकार अनाथता और सनाथता का वर्णन करने के अनन्तर अब आत्मा के विषय में कहते हैं। अर्थात् हर प्रकार की न्यूनाधिकता, उत्तमाधमता आदि गुण, अवगुण सब आत्मा में ही हैं, यह समझाते हैं—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥३६॥

आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुघा धेनुः, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—अप्पा—आत्मा नई—नदी वेयरणी—वैतरणी है अप्पा—आत्मा मे—मेरा कूडसामली—कूटशाल्मलि—वृक्ष है। अप्पा—आत्मा कामदुहा—कामदुघा धेणू—धेनु—गाय है अप्पा—आत्मा मे—मेरा नन्दणं वणं—नन्दन वन है।

मूलार्थ—मेरा यह आत्मा वैतरणी नदी और कूटशाल्मलीवृक्ष है तथा मेरा यह आत्मा ही कामदुघा धेनु और नन्दन वन है।

टीका—इस गाथा में वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष की उपमा से आत्मा की अधमता और कामधेनु तथा नन्दन वन की उपमा से उसकी उत्तमता का वर्णन किया गया है। मुनि कहते हैं कि हे राजन्! अनेक प्रकार के अनर्थ रूप दुःखों को उत्पन्न करने वाला यही आत्मा वैतरणी नदी है और यही आत्मा नरक का कूटशाल्मली वृक्ष है। जिस प्रकार नरक की वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष नानाविध दुःखों के उत्पादक हैं, उसी प्रकार उन्मार्गगामी आत्मा भी प्रतिक्षण दुःखों को उत्पन्न करता रहता है। इसी प्रकार सन्मार्ग में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा कामदुघा धेनु और नन्दन वन है अर्थात् इनकी भाँति मनोवाञ्छित फल देने वाला है। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वर्ग और अपवर्ग का सुख देने वाला है और यही नरक में ले जाकर भयानक से भयानक दुःखों का अनुभव कराता है। तब इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आत्मा सनाथ भी है और अनाथ भी।

अब फिर कहते हैं—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥३७॥
आत्मा कर्ता विकर्ता च, दुःखानां च सुखानां च।
आत्मा मित्रममित्रञ्च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥३७॥

पदार्थान्वयः—अप्पा—आत्मा कत्ता—कर्ता है य—और विकत्ता—विकर्ता है दुहाण—दुःखों का य—और सुहाण—सुखों का य—पुनः अप्पा—आत्मा मित्तम्—मित्र है च—और अमित्तम्—शत्रु है दुप्पट्ठिय—दुःप्रस्थित और सुपट्ठिओ—सुप्रस्थित है।

मूलार्थ—हे राजन्! यह आत्मा ही दुःखों और सुखों का कर्ता तथा विकर्ता है। एवं यह आत्मा ही शत्रु और मित्र है, सुप्रस्थित मित्र और दुःप्रस्थित शत्रु है।

टीका—मुनि ने फिर कहा कि राजन्! शुभाशुभ कर्मजन्य जो सुख और दुःख उपलब्ध होते हैं, उनका कर्ता और विकर्ता अर्थात् उन कर्मों को बाँधने वाला और उनका क्षय करने वाला यह आत्मा ही है तथा अत्यन्त उपकारी होने पर यह आत्मा सब का मित्र बन जाता है और अपकार करने से शत्रु हो जाता है। सारांश

यह है कि दुष्ट मार्ग में प्रवृत्त होने से यह आत्मा नरकगति के दुःखों का अनुभव करता है और शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ यही स्वर्ग और मोक्ष के आनन्द को भोगने वाला होता है। अत अनाथ होना या सनाथ बनना यह सब इसके अपने हाथ में है।

चारित्र ग्रहण करने पर भी जो कितने एक जीव अनाथ ही बने रहते हैं, अब उनके विषय में कहते हैं—

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !
तामेगचित्तो निहुओ सुणेहि मे ।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा ,
सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥३८॥

इयं खल्वन्याप्यनाथता नृप !
तामेकचित्तो निभृतः शृणु ।
निर्ग्रन्थधर्मं लब्ध्वाऽपि यथा ,
सीदन्त्येके बहुकातरा नराः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—निवा—हे नृप ! इमा—आगे कही जाने वाली हु—पादपूर्ति में अन्नावि—और भी अणाहया—अनाथता है तां—उसको एगचित्तो—एकचित्त होकर निहुओ—स्थिरता से मे—मुझसे सुणेहि—सुनो नियण्ठधम्मम्—निर्ग्रंथ धर्म को लहियाण वी—प्राप्त होकर भी जहा—जैसे एगे—कोई एक सीयन्ति—ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं बहुकायरा—जो कि बहुत कातर नरा—पुरुष हैं।

मूलार्थ—हे नृप ! अनाथता के अन्य स्वरूप को भी तुम मुझसे एकाग्र और स्थिरचित्त होकर सुनो। जैसे कि कई एक कायर पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म के मिलने पर भी उसमें शिथिल हो जाते हैं।

टीका—मुनि ने राजा से कहा कि हे राजन् ! मैंने तुमको ऊपर अनाथता का जो स्वरूप बतलाया है उसके अतिरिक्त अनाथता का एक और भी स्वरूप है, जिसको मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। तुम एकाग्र मन होकर सुनो। कई एक ऐसे

सत्त्वहीन कायर पुरुष भी इस संसार में विद्यमान हैं, जो कि निर्ग्रन्थ धर्म को प्राप्त करके उसमें शिथिल हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो सनाथ होकर भी अनाथ हो जाते हैं। कारण कि निर्ग्रन्थ वृत्ति का धारण करना सनाथता का हेतु है। उस वृत्ति के परित्याग से अनाथता की प्राप्ति अनिवार्य है। जिन पुरुषों ने संयम मार्ग में अपनी कायरता का परिचय दिया है, उन सत्त्वहीन पुरुषों की अनाथता के विषय में मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसको तुम स्थिरचित्त होकर श्रवण करो। यह प्रस्तुत *गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है।*

अब उसी प्रस्तावित अर्थात् अनाथता के विषय में कहते हैं—

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिंदइ बन्धणं से ॥३९॥

यः प्रव्रज्य महाव्रतानि,
सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात्।
अनिग्रहीतात्मा च रसेषु गृद्धः,
न मूलतः छिनत्ति बन्धनं सः ॥३९॥

पदार्थान्वयः—जो—जो पव्वइत्ताण—दीक्षित होकर महव्वयाइ—महाव्रतों को पमाया—प्रमाद से सम्मं—भली प्रकार नो फासयई—सेवन नहीं करता रसेसु—रसों में गिद्धे—मूर्च्छित य—और अनिग्गहप्पा—इन्द्रियनिग्रह से रहित से—वह न—नहीं मूलओ—मूल से बन्धणं—कर्मबन्धन को छिंदइ—छेदन कर सकता।

मूलार्थ—जो प्रव्रजित होकर प्रमादवश से महाव्रतों का भली प्रकार सेवन नहीं करता तथा इन्द्रियों के अधीन और रसों में मूर्च्छित है, वह रागद्वेष-जन्य कर्मबन्धन का मूल से उच्छेदन नहीं कर सकता।

टीका—इस गाथा में सनाथ होकर अनाथ होने वाले व्यक्तियों के कृत्यों का दिग्दर्शन कराते हुए उक्त मुनिराज कहते हैं कि राजन्! जो पुरुष प्रव्रजित

होकर भी प्रमाद के वशीभूत हुआ अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से सेवन नहीं करता और इन्द्रियनिग्रह भी जिसके नहीं तथा रसों में अति मूर्च्छित होता है, वह पुरुष रागद्वेषजन्य और जन्म-मरण के कारण रूप कर्मबन्धन का मूल से उच्छेद करने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि जिन कारणों से उसने ससार के बन्धनों का उच्छेद करना था, वे कारण उसमें नहीं हैं। अत बन्धन ज्यों के त्यों बने रहते हैं। तात्पर्य यह है कि आश्रवों का निरोध, सवर तत्त्व की भावना और तप, स्वाध्याय, एव धर्मध्यान आदि के द्वारा ही पूर्व के कर्मों का क्षय होना सम्भव हो सकता है। परन्तु जब आश्रव का ही निरोध नहीं तो बन्धन कैसे छूट सकते हैं? यहाँ पर उक्त गाथा में जो 'मूलतः' शब्द दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार का प्रमादी जीव प्रव्रजित होने पर कदाचित् थोड़े बहुत कर्मबन्धन का उच्छेद तो भले ही कर सके, किन्तु सम्पूर्ण का उच्छेद करना उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर है। अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

फिर कहते हैं—

आउत्तया जस्स न अत्थि कावि,
इरियाइ भासाइ तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगंछणाए ,
न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥४०॥

आयुक्तता यस्य नास्ति कापि,
ईर्यायां भाषायां तथैषणायाम्।
आदाननिक्षेपजुगुप्सनासु ,
न वीरयातमनुयाति मार्गम् ॥४०॥

पदार्थान्वय —आउत्तया—आयुक्तता—यतना जस्स—जिसकी कावि—थोड़ी भी न अत्थि—नहीं है इरियाइ—ईर्या में भासाइ—भाषा में तह—तथा एसणाए—एषणा में आयाण—आदान में निक्खेव—निक्षेप में, तथा दुगंछणाए—जुगुप्सा में, वह वीरजाय—वीरयात—वीरसेवित मग्ग—मार्ग का न अणुजाइ—अनुसरण नहीं करता।

मूलार्थ—हे राजन् ! जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उत्सर्ग समिति में किंचिन्मात्र भी आयुक्तता—यतना नहीं है, वह वीर सेवित मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता। अर्थात् वीर भगवान् अथवा शूरवीर पुरुषों ने जिस मार्ग में गमन किया है, उस मार्ग में नहीं चल सकता।

टीका—मुनि कहते हैं कि राजन्! दीक्षित होने के अनन्तर जो पुरुष ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उच्चार प्रस्रवणादि समितियों में किंचिन्मात्र भी उपयोग नहीं रखता अर्थात् उक्त पाँचों समितियों में अविवेक से काम लेता है, जैसे कि—चलने में, बोलने में और आहार आदि के करने में यतना नहीं, तथा वस्तु के उठाने और रखने में भी जिसको विवेक नहीं, एवं मलमूत्र के त्याग में भी जो विचार नहीं रखता, वह पुरुष वीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी नहीं हो सकता, अथवा शूरवीर पुरुषों के गन्तव्य मार्ग का अनुसरण करने वाला नहीं होता। क्योंकि उक्त पाँचों महाव्रत और ईर्यादि पाँचों समितियों का यथाविधि पालन करना सत्त्वशाली धीर-वीर पुरुषों का ही काम है, कायर पुरुषों का नहीं। अतएव जो पुरुष इनका यथाविधि पालन नहीं करता, वह वीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी नहीं हो सकता। यहाँ पर 'वीर' शब्द से श्रमण भगवान् महावीर और 'शूरवीर' ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता,
अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,
न पारए होइ हु संपराए ॥४१॥

चिरमपि स मुण्डरुचिर्भूत्वा,
अस्थिरव्रतस्तपोनियमेभ्यो भ्रष्टः।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा,
न पारगो भवति खलु संपरायस्य ॥४१॥

पदार्थान्वयः—चिरं पि–चिरकालपर्यन्त मुण्डरुई–मुण्डरुचि भवित्ता–होकर अथिर–अस्थिर व्वए–व्रत तव–तप नियमेहिं–नियमों से भट्ठ–भ्रष्ट है से–वह चिरं पि–चिरकाल तक अप्पाण–आत्मा को किलेसइत्ता–क्लेशित करके पारए–पारगामी न होइ–नहीं होता सपराए–संसार से हु–निश्चय ही।

मूलार्थ—जो जीव चिरकाल पर्यन्त मुंडरुचि होकर व्रतों में अस्थिर है और तप-नियमों से भ्रष्ट है, वह अपने आत्मा को चिरकाल तक क्लेशित करके भी इस ससार से पार नहीं हो सकता।

टीका—मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जो पुरुष पाँच महाव्रतों और पाँचों प्रकार की समितियों का सम्यक् रीति से पालन नहीं करते अर्थात् ग्रहण किये हुए व्रतों में अस्थिर और तप-नियमों के अनुष्ठान से पराङ्मुख हैं, वे मुण्डरुचि या द्रव्य-मुंडित हैं। तात्पर्य यह है कि उन्होंने सिर मुँडाकर वेष तो साधु का ग्रहण कर लिया है परन्तु भाव से वह मुंडित नहीं हुए। अर्थात् तदनुकूल भाव चारित्र उनमें नहीं है। ऐसे द्रव्यलिंगी चिरकाल तक अपने आत्मा को क्लेश देते हुए भी इस ससार से पार नहीं हो सकते। क्योंकि इस जन्म-मरण रूप ससार-चक्र से पार होने का उपाय एकमात्र सयम का यथाविधि पालन करना है। सयम के यथाविधि पालन से ही राग-द्वेष की विकट ग्रन्थि शिथिल होती है और राग-द्वेष के अभाव से आत्मा में वीतरागता उत्पन्न होती है, जो कि ससार-समुद्र को पार करने के लिए सुदृढतम नौका के समान है। अतः जो जीव केवल द्रव्य से मुंडित हैं और भाव से परिग्रही हैं, उनका इस ससार से पार होना कठिन ही नहीं किन्तु असभव भी है। 'सपराए' यहाँ पर 'सुप्' व्यत्यय किया हुआ है।

अब द्रव्यमुंडित के विशिष्ट स्वरूप के विषय में कहते हैं—

पुल्लेव मुट्ठी जह से असारे,
अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥४२॥

पुल्लेव मुष्टिर्यथा स असारः,
अयन्त्रित[1] कूटकार्षापण इव।
राढामणिर्वैडूर्यप्रकाश[1],
अमहार्घको भवति खलु ज्ञेषु ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पुल्ल—पोली मुट्ठी—मुट्ठी जह—जैसे एव—निश्चय ही असारे—असार है से—वह मुनि तथा अयन्तिए—अनियमित कूड—खोटे कहावणे—कार्षापण वा—की तरह राढामणी—काच की मणि जैसे वेरुलिय—वैडूर्यमणि की तरह पगासे—प्रकाशित होती है अमहग्घए—अल्प मूल्य वाला होइ—हो जाता है हु—निश्चय ही जाणएसु—विज्ञ पुरुषों में।

मूलार्थ—जैसे पोली मुट्ठी असार होती है और खोटी मोहर में भी कोई सार नहीं होता, इसी प्रकार वह द्रव्यलिंगी मुनि भी असार है। तथा जैसे काच की मणि वैडूर्यमणि की तरह प्रकाश तो करती है परन्तु विज्ञ पुरुषों के सम्मुख उसकी कुछ कीमत नहीं होती, इसी प्रकार बाह्यलिंग से मुनियों की भाँति प्रतीत होने पर भी वह द्रव्यलिंगी मुनि बुद्धिमान् पुरुषों के समक्ष तो कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

टीका—इस गाथा में केवल द्रव्यसाधु—जिसको साध्वाभास कहते हैं—के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। उक्त मुनिराज महाराजा श्रेणिक से कहते हैं कि जिस प्रकार खाली बाँधी हुई मुट्ठी असार होती है, उसी प्रकार जिस मुनि के द्रव्यवेष के सिवा और कुछ नहीं, अर्थात् आत्मशुद्धि नहीं या साधुजनोचित कोई गुण नहीं, वह भी उस मुट्ठी की तरह असार है अर्थात् संयमधन से खाली होने के कारण बिलकुल कंगाल है। तथा जैसे कूटकार्षापण—खोटी मोहर—व्यापारियों के व्यवहार में नहीं आ सकती अर्थात् उसको कोई नहीं लेता, तद्वत् द्रव्यलिंगी मुनि भी धर्मप्रचार के लिए उपयोग में नहीं आ सकता। इसके अतिरिक्त जैसे काच की मणि वैडूर्यमणि की तरह प्रकाश करती है, तद्वत् वह द्रव्यमुनि भी मुनियों की भाँति दिखाई देता है परन्तु जैसे वह काच की मणि मणियों का ज्ञान रखने

1 'शुषिरेव' इत्यपि छाया भवति।

वालों के सामने कोई कीमत नहीं पाती या उसका बहुत ही अल्प मूल्य पड़ता है, उसी प्रकार यह द्रव्यमुनि भी विज्ञ पुरुषों के सम्मुख निस्तेज होता हुआ किसी गणना में नहीं आता। सारांश यह है कि जैसे काच की मणि मूर्ख पुरुषों के सामने तो असली मणि की तरह प्रकाशित होती है और जानकार पुरुषों के समक्ष उसकी कुछ भी कीमत नहीं पड़ती, इसी प्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी भोले और मूर्ख जनों में तो साधुरूप से प्रकाशित होता है परन्तु बुद्धिमान् पुरुषों के सामने उसका असली रूप बहुत जल्दी खुल जाता है।

अब फिर कहते हैं—

कुसीललिंगं इह धारइत्ता,
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे,
विणिग्घायमागच्छइ से चिरंपि ॥४३॥

कुशीललिंगमिह धारयित्वा,
ऋषिध्वजं जीवितं बृंहयित्वा।
असंयतः संयतमिति लपन्,
विनिघातमागच्छति स चिरमपि ॥४३॥

पदार्थान्वयः—कुसीललिंग—कुशीललिंग को इह—इस जन्म में धारइत्ता—धारण करके इसिज्झय—ऋषिध्वज से जीविय—जीवन का वूहइत्ता—पोषण करके असंजए—असंयत होकर संजय—मैं संयत हूँ इस प्रकार लप्पमाणे—बोलता हुआ विणिग्घायम्—अभिघात रूप को आगच्छइ—प्राप्त होता है से—वह चिरंपि—चिरकाल पर्यन्त।

मूलार्थ—वह द्रव्यलिंगी मुनि कुशीललिंग—कुशीलवृत्ति को धारण करके और ऋषिध्वज से जीवन को बढ़ाकर तथा असंयत होने पर भी मैं संयत हूँ, इस प्रकार बोलता हुआ इस संसार में चिरकाल पर्यन्त दुःख पाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में संयम के त्याग और असंयम के अनुसरण का फल दिखलाते हुए उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन् ! यह द्रव्यलिंगी मुनि पार्श्वस्थादि के वेष को धारण करके, अर्थात् कर्म संयम से रहित जीवों की वृत्ति को धारण करके और ऋषिध्वज से अपने जीवन का पोषण करता हुआ तथा असंयत होने पर भी अपने आपको संयत मानता हुआ अर्थात् हम इसी वृत्ति में रहकर स्वर्ग और अपवर्ग को सुखपूर्वक प्राप्त कर लेंगे, ऐसा सभाषण करता हुआ, वास्तव में चिरकालपर्यन्त इस संसार में नरकादि अशुभ गतियों के दुःखों को भोगता है। उक्त गाथा में आये हुए 'इसिज्झय—ऋषिध्वजं' शब्द का अर्थ वृत्तिकारों ने यद्यपि 'रजोहरणादिमुनिचिह्नम्' ऐसा किया है, परन्तु रजोहरण की अपेक्षा मुख पर बाँधी हुई मुँहपत्ति अधिक स्पष्ट चिह्न है, और आदि शब्द से मुखपत्ति का ग्रहण वृत्तिकारों को भी अभीष्ट है। इसलिए यदि उक्त पाठ के स्थान में 'मुखवस्त्रिकादि मुनिचिह्नम्' होता और आदि शब्द से रजोहरण का ग्रहण किया जाता तो हमारे विचार में अधिक संगत और अधिक स्पष्ट था। उक्त पद में 'सुप्' का व्यत्यय किया हुआ है और 'जीविय' पद में अनुस्वार का लोप किया गया है।

अब प्रस्तुत विषय का सहेतुक वर्णन करते हैं—

विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥४४॥

विषं तु पीतं यथा कालकूटं,
हिनस्ति शस्त्रं यथा कुगृहीतम्।
एषोऽपि धर्मो विषयोपपन्नः,
हन्ति वेताल इवाविपन्नः ॥४४॥

पदार्थान्वयः—विसं—विष तु—जीवन के लिए पीयं—पिया हुआ जह—जैसे

कालकूड—कालकूट हणाइ—हनता है वा जह—जैसे सत्थं—शस्त्र कुग्गहीय—कुगृहीत हनता है एसो—यह धम्मो—धर्म वि—भी विसओववन्नो—शब्दादि विषयों से युक्त हुआ हणाइ—हनता है अविवन्नो—विना वश किये हुए वेयाल—वेताल इव—की तरह।

मूलार्थ—जैसे पीया हुआ कालकूट विष प्राणों का विनाश कर देता है और उलटा पकड़ा हुआ शस्त्र जैसे अपना घातक होता है, एवं जैसे वश में नहीं हुआ पिशाच साधक को मार डालता है, इसी प्रकार शब्दादि विषयों से युक्त हुआ धर्म भी द्रव्यलिंगी का विनाश कर देता है अर्थात् उसको नरक में ले जाता है।

टीका—इस गाथा के द्वारा असंयममय जीवन का कुफल बतलाते हुए उक्त मुनिराज फिर कहते हैं कि हे राजन्! जैसे कोई पुरुष अपने जीवन के लिए कालकूट नाम महाभयकर विष का पान करता है और अपने बचाव के निमित्त शस्त्र को उल्टा पकड़ता है, तथा जैसे कोई विधिपूर्वक मन्त्रजापादि के बिना ही किसी पिशाच का आकर्षण करता है परन्तु वे सब काम उसकी रक्षा के बदले उसके विनाश के हेतु बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार शब्दादि विषयों से मिश्रित हुआ धर्म भी इस आत्मा को दुर्गति में ले जाने का कारण बन जाता है। मन्त्र का पुरश्चरण किये बिना और विधिपूर्वक साधना के द्वारा वश किये बिना जो कोई साधक किसी भूत या पिशाच को किसी कार्य के निमित्त बुलाता है, परन्तु यदि वह उसके वशीभूत नहीं है तो वह उसी के प्राण ले लेता है। इसलिए साधक को इस प्रकार के कार्य में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि असंयममय जीवन इस आत्मा का उपकार करने के बदले अधिक से अधिक अनिष्ट करता है।

अब असंयममय जीवन के लक्षण बतलाते हैं। यथा—

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणो,

कुहेडविज्जासव[illegible]

न [illegible]

यो लक्षणं स्वप्न प्रयुञ्जानः,
निमित्तकौतूहलसंप्रगाढः ।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी ,
न गच्छति शरण तस्मिन् काले ॥४५॥

पदार्थान्वयः—जे–जो लक्खण–लक्षण और सुविण–स्वप्न का पउजमाणो–प्रयोग करता हुआ निमित्त–भूकंपादि या कोऊहल–कौतुक में संपगाढे–आसक्त है कुहेडविज्जा–असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली जो विद्याएँ हैं उनसे या आसवदारजीवी–आश्रव द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला न गच्छई–नहीं प्राप्त होता सरणं–शरणभूत तम्मि काले–कर्म भोगने के समय।

मूलार्थ—जो पुरुष, लक्षण या स्वप्न आदि का प्रयोग करता है, निमित्त और कौतुक कर्म में आसक्त है, एवं असत्य और आश्चर्य उत्पन्न करने वाली विद्याओं तथा आश्रव द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला है, वह कर्म भोगने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

टीका—इस गाथा में संयमरहित साधु के लक्षणों का वर्णन किया गया है। जो पुरुष साधु का वेष लेकर स्त्री-पुरुषों के शरीर में होने वाले चिह्नों से उनके शुभाशुभ फल का वर्णन करता है, अथवा स्वप्नशास्त्र के द्वारा स्त्री-पुरुषों को आये हुए स्वप्नों का फल बतलाता है, अथवा भूकम्पादि निमित्तों के द्वारा भविष्य फल का कथन करता है, तथा अपत्य—सन्तानादि के लिए अभिमन्त्रित जल से स्नानादि करवाता है, इन असत्य विद्याओं से या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले मंत्र, यंत्र आदि से और आश्रवद्वारों—हिंसा, झूठ आदि पाँचों पापमार्गों—से जो जीवन व्यतीत करता है, उसके कर्मजन्य दुःख भोगने के समय इन उपरोक्त वस्तुओं में से कोई भी मंत्र, यंत्र आदि पदार्थ सहायक नहीं होता, किन्तु ये उक्त लौकिक विद्याएँ केवल कर्मबन्ध का ही कारण होती हैं। इस सारे सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के जीव ही सनाथ बनकर अनाथ बन गये हैं। इस कथन से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय में भी संयम से भ्रष्ट होने वाली अनेक दुर्बल आत्माएँ विद्यमान थीं, जिनके सुधार के लिए यह प्रकरण लिखा गया।

अब इसी विषय को अधिक स्फुट करते हुए फिर कहते हैं—

तमंतमेणेव उ से असीले,
सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं,
मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥४६॥

तमस्तमसैव तु स अशीलः,
सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
संधावति नरकतिर्यग्योनीः,
मौनं विराध्याऽसाधुरूपः ॥४६॥

पदार्थान्वय—तमतमेणेव—अति अज्ञान से उ—पादपूर्ति में से—वह असीले—जो अशील है सया—सदा दुही—दुःखी हुआ विप्परियाम्—तत्त्वादि में विपरीतता को उवेइ—प्राप्त होता है संधावई—निरन्तर जाता है नरगतिरिक्खजोणिं—नरक और तिर्यक् योनि में मोणं—संयमवृत्ति को विराहित्तु—विराधन करके असाहुरूवे—असाधुरूप ।

मूलार्थ—असाधुरूप वह कुशील अत्यन्त अज्ञानता से संयमवृत्ति का विराधन करके सदा दुःखी और विपरीत भाव को प्राप्त होकर निरन्तर नरक और तिर्यग् योनि में आवागमन करता रहता है ।

टीका—इस गाथा में मौनवृत्ति—चारित्रव्रत—की विराधना का फल दिखलाया गया है । मुनि ने फिर कहा कि हे राजन् ! जो पुरुष मिथ्यात्व के वशीभूत हो रहा है, वह सदाचार से रहित और तत्त्वादि पदार्थों में विपरीतता को प्राप्त होकर सदा दुःखी होता है तथा दुराचार में प्रवृत्त होकर निरन्तर नरक और तिर्यग् योनियों में भ्रमण करता है । क्योंकि उसने मिथ्यात्व में प्रविष्ट होकर मौनवृत्ति—संयमवृत्ति की विराधना की है, अतएव वह साधु नहीं किन्तु असाधु पुरुष है । तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व का सेवन और संयम की विराधना का फल

नरकगति और तिर्यग्गति की प्राप्ति है, जो कि एकमात्र दुःखों का ही निलय है। यहाँ पर 'एव' शब्द निश्चयार्थक है, मौन शब्द से चारित्र का ग्रहण है और 'तमस्तम' शब्द से प्रकृष्ट अज्ञान अथच सातवें नरक का ग्रहण अभिप्रेत है, जो कि संयम-विराधना के फल रूप में प्राप्त होता है।

किस प्रकार से संयम की विराधना करके नरकादि गति को यह कुशील प्राप्त होता है, अब इस विषय में कहते हैं—

उद्देसियं कीयगडं नियागं,
न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता,
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥४७॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं नियागं,
न मुञ्चति किञ्चिदनेषणीयम्।
अग्निरिव सर्वभक्षी भूत्वा,
इतश्च्युतो (दुर्गतिं) गच्छति कृत्वा पापम् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—उद्देसियं—औद्देशिक कीयगडं—क्रीतकृत नियागं—नित्य पिंड न मुच्चई—नहीं छोड़ता किंचि—किंचिन्मात्र अणेसणिज्जं—अनेषणीय आहार अग्गी—अग्नि विवा—की तरह सव्वभक्खी—सर्वभक्षी भवित्ता—होकर इओ—यहाँ से चुओ—च्यवकर गच्छइ—जाता है—नरकगति में पावं—पापकर्म कट्टु—करके।

मूलार्थ—यह असाधु पुरुष औद्देशिक क्रीतकृत, नित्यपिण्ड और अनेषणीय किंचिन्मात्र भी पदार्थ नहीं छोड़ता, अग्निवत् सर्वभक्षी होकर पाप कर्म करता हुआ नरकादि गतियों में जाता है।

टीका—साधु के निमित्त से तैयार किया गया आहार औद्देशिक कहाता है, मूल्य से खरीदा हुआ आहार क्रीतकृत है, नित्यप्रति दिये जाने वाले—ईसकार के रूप में—आहार को नित्यपिंड कहते हैं तथा अप्रासु आहार को अनेषणीय कहा

है। मुनिराज कहते हैं कि हे राजन्! जो पुरुष औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्यपिंड और अनेषणीय आहार लेने या खाने में किसी प्रकार का भी संकोच नहीं करता, किन्तु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन रहा है, वह पुरुष पापकर्म का आचरण करता हुआ यहाँ से मरकर नरकादि अशुभ गतियों को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार चारित्रव्रत का भंग करके अशुभ प्रवृत्ति करने वाले को परलोक में नरकादि गति में जाने के अतिरिक्त और कोई स्थान नहीं। 'चिच्चा' यहाँ इव अव्यय के स्थान में 'चिव' आदेश करके अकार को प्राकृत के नियमानुसार दीर्घ हुआ है।

संयम का विराधक आत्मा किस कोटि तक अनर्थ करने वाला होता है, अब इस विषय में कहते हैं—

न तं अरी कंठछित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥४८॥

न तदरिः कंठछेत्ता करोति,
यत्तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः,
पश्चादनुतापेन दयाविहीनः ॥४८॥

पदार्थान्वयः—न—नहीं तं—उसको अरी—वैरी कंठछित्ता—कंठच्छेदन करने वाला करेइ—करता है जं—जो से—उसकी अप्पणिया—अपनी दुरप्पा—दुरात्मता करे—करती है से—वह नाहिई—जानेगा मच्चुमुहं—मृत्यु के मुख में पत्ते—प्राप्त हुआ तु—वितर्क में पच्छाणुतावेण—पश्चात्ताप से दग्ध हुआ और दया—दया से विहूणो—विहीन।

मूलार्थ—दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह अपना आत्मा जिस प्रकार का अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कंठ को छेदन करने वाला शत्रु भी नहीं करता। वह दयाविहीन पुरुष तब जानेगा जब मृत्यु के मुख में प्राप्त हुआ पश्चात्ताप से दग्ध होगा।

टीका—इस गाथा में कुमार्गगामी आत्मा को अकारण कण्ठ छेदन करने वाले शत्रु से भी अधिक अनर्थ करने वाला बतलाया गया है। महाराजा श्रेणिक से उक्त मुनिराज कहते हैं कि हे राजन्! दुराचार में प्रवृत्त हुआ यह आत्मा जितना अनर्थ उत्पन्न करता है, उतना तो बिना कारण किसी के मस्तक को छेदन कर देने वाला शत्रु भी नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सिर काटने वाले शत्रु ने तो एकमात्र उसी जन्म के दुःख वा मृत्यु को उत्पन्न किया, परन्तु उन्मार्गगामी आत्मा तो अनेक जन्मों के दुःखों को उपार्जन कर लेता है। यदि कोई कहे कि क्या यह यह नहीं जानता कि मैं अनर्थ कर रहा हूँ? तो इसका समाधान यह है कि वह दयाहीन होने से उस समय नहीं जानता, परन्तु जब मृत्यु के मुख में जावेगा, तब अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करता हुआ अपने किये हुए अशुभ कर्मों के कटुफल को जानेगा। सारांश यह है कि दुराचार सब अनर्थों का मूल है। अतः मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे अपने आत्मा को उन्मार्ग में जाने से हर समय रोके रखने का प्रयत्न करें, ताकि फिर दुःखों का मुँह देखना न पड़े।

अब इसी सम्बन्ध में फिर कहते हैं—

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठे विवियासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए,
दुहओ वि से भिज्झइ तत्थ लोए ॥४९॥

निरर्थिका नाग्न्यरुचिस्तु तस्य,
य उत्तमार्थे विपर्यासमेति।
अयमपि तस्य नास्ति परोऽपि लोकः,
द्विधापि स क्षीयते तत्र लोके ॥४९॥

पदार्थान्वयः—निरट्ठिया—निरर्थक ही नग्गरुई—नग्नरुचि उ—वितर्क में तस्स—उसकी जे—जो उत्तमट्ठे—उत्तम अर्थ को भी विवियासम्—विपरीत रूप में प्र—

प्राप्त करता है इमे वि लोए—यह लोक भी से—उसका नत्थि—नहीं है और परे वि—परलोक भी नहीं है दुहओ वि—दोनों ही प्रकार से से—वह झिज्जइ—क्षीण हुआ जाता है तत्थ—वहाँ पर लोए—उभयलोक में।

मूलार्थ—उसकी साधुवृत्ति में रुचि रखना व्यर्थ है कि जो उत्तम अर्थ में भी विपरीत भाव को प्राप्त होता है। उसका न तो यह लोक ही है और न परलोक। अतः वह दोनों लोकों से ही भ्रष्ट हो जाता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में द्रव्यलिंगी—द्रव्यवृत्ति की आलोचना की गई है। उक्त मुनि कहते हैं कि हे राजन्! जिस आत्मा ने केवल द्रव्यलिंग को ही धारण कर रक्खा है, उसकी साधुवृत्ति में रुचि रखना व्यर्थ ही है, क्योंकि उसको उत्तम अर्थ का भी विपरीत रूप से भान होता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रविहित साधुजनोचित आचार में उसकी आन्तरिक श्रद्धा नहीं होती। अतः उसका न तो यह लोक ही सिद्ध होता है और न परलोक ही, किन्तु उभय लोक से ही वह भ्रष्ट हो जाता है। इस लोक में तो यह केशलुंचन आदि क्रियाओं के द्वारा—क्लेशित होता है और परलोक में नरक-तिर्यंचादि गति के दुःखों को भोगता है। तथा अन्य समृद्धिशाली पुरुषों को देखकर अपने मंद भाग्य को धिक्कारता हुआ रात-दिन चिन्तारूप चिता में जलता रहता है। इसलिए वह अनाथ है। दुराचार को सदाचार समझना और सदाचार को दुराचार मानना इत्यादि विपरीत भाव, विपर्यास कहलाता है। इस प्रकार का विपरीत ज्ञान रखने वाला जीव, संयम के रहस्य को कदापि नहीं जान सकता। इसी लिए वह संयम से पतित होता हुआ उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, फिर उसकी चारित्र में होने वाली रुचि बिना सार की होने से निरर्थक ही है।

अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए फिर कहते हैं—

एमेव हाछन्द कुसीलरूवे,
मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा,
निरट्ठसोया परितावमेइ ॥५०॥

एवमेव यथाछन्दकुशीलरूपः,
मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम्।
कुररीव भोगरसानुगृद्धा,
निरर्थशोका परितापमेति ॥५०॥

पदार्थान्वयः—एमेव–इसी प्रकार अहाछन्द–स्वेच्छाचारी कुसीलरूवे–कुशील रूप जिणुत्तमाण–जिनेन्द्र भगवान् के उत्तम मग्ग–मार्ग को विराहित्तु–विराधन करके कुररी–पक्षिणी की विवा–तरह भोगरसाणुगिद्धा–भोगरसों में निरन्तर आसक्त होकर निरट्ठसोया–निरर्थक शोक करने वाली परितावम्–परिताप को एइ–प्राप्त होता है।

मूलार्थ—इसी प्रकार स्वेच्छाचारी कुशीलरूप साधु जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग की विराधना करके, भोगादि रसों में निरन्तर आसक्त होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी—पक्षिणी की तरह परिताप को प्राप्त होता है।

टीका—इस गाथा में द्रव्यलिंगी—कुशील साधु की स्वेच्छाचारिता के फल का प्रदर्शन कराया गया है। उक्त मुनिराज कहते हैं कि हे राजन्! इसी प्रकार जो पुरुष कुशील, महाव्रतों में शिथिल और स्वेच्छाचारी होकर कुत्सित आचार को धारण करता हुआ जिनेन्द्र भगवान् के सर्वोत्तम मार्ग की विराधना करता है, वह रसासक्त कुररी की तरह अत्यन्त परिताप को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पक्षिणी आमिष में आसक्ति रखती हुई, अन्य पक्षियों द्वारा अत्यन्त पीड़ा को प्राप्त होती है, अर्थात् किसी एक पक्षिणी ने मांस के टुकड़े को लाकर खाना आरम्भ किया, तब उस समय अन्य पक्षिगण भी वहाँ आकर एकत्रित हो गये और उसके पास से वह मांस का टुकड़ा छीनने लगे। जब उसने वह मांस का टुकड़ा न छोड़ा तो सब मिलकर उसको मारने लगे, और मारकर उसके पास से वह मांस का टुकड़ा छीन लिया। इस प्रकार मांस का टुकड़ा छिन जाने से जैसे वह कुररी व्यर्थ ही शोक करती है, इसी प्रकार विषय-भोगों में आसक्ति रखने वाला द्रव्यलिंगी साधु भी दोनों लोकों में व्यर्थ ही शोक को प्राप्त होता है। एवं जैसे उस पक्षिणी का कोई सहायक नहीं होता, उसी प्रकार चारित्र से भ्रष्ट हुए जीव का भी इस लोक तथा परलोक में

कोई रक्षक नहीं बनता। बस, यही उसकी अनाथता है और यही अनाथ होकर नाथ बनने वाले के लक्षण हैं। इस प्रकार उक्त मुनिराज ने अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार—हे राजन्! तू अन्य प्रकार से भी अनाथता के स्वरूप को सुन, इस प्रतिज्ञा के अनुसार—अनाथता के स्वरूप का भली भाँति दिग्दर्शन करा दिया, जिससे कि राजा को अन्य प्रकार की अनाथता का भी भली प्रकार से ज्ञान हो जाय।

इस पूर्वोक्त प्रकरण को सुनकर विचारशील पुरुष का जो कर्तव्य होना चाहिए, अब उसके विषय में कहते हैं—

सुच्चाण मेहावि सुभासियं इमं,
अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं,
महानियंठाण वए पहेणं ॥५१॥

श्रुत्वा मेधाविन् सुभाषितमिदं,
अनुशासन ज्ञानगुणोपपेतम्।
मार्गं कुशीलानां हित्वा सर्वं,
महानिर्ग्रन्थानां व्रजेः पथा ॥५१॥

पदार्थान्वयः—सुच्चा—सुनकर ण—वाक्यालंकार में मेहावि—हे मेधाविन्! इमं—इस सुभासियं—सुभाषित को अणुसासणं—अनुशासन को जो नाणगुणोववेयं—ज्ञानगुण से युक्त है सव्वं—सर्व प्रकार से कुसीलाण—कुशीलियों के मग्गं—मार्ग को जहाय—त्यागकर महानियंठाण—महानिर्ग्रन्थों के पहेणं—मार्ग से वए—गमन कर।

मूलार्थ—हे मेधाविन्! ज्ञानगुण से युक्त इस अनन्तरोक्त सुभाषित अनुशासन को सुनकर, कुशीलियों के कुत्सित मार्ग को सर्वथा छोड़कर तू महानिर्ग्रन्थों के प्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर अर्थात् उनके बतलाये हुए मार्ग पर चल।

टीका—अनाथी मुनि महाराज श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन्! मैंने तेरे समक्ष ज्ञानादि सद्गुणों से युक्त जिस सुन्दर अनुशासन का वर्णन किया है,

उसको श्रवण करने के अनन्तर तू उक्त प्रकार के कुशील पुरुषों के आचार को सर्वथा हेय समझकर त्याग दे और महानिर्ग्रन्थों—तीर्थंकरों—द्वारा निर्दिष्ट किये हुए मार्ग का अनुसरण कर ? दूसरे शब्दों में कहें तो अनाथों के मार्ग को छोड़कर सनाथों के मार्ग पर चल । कारण यह है कि अनाथों का मार्ग बन्धन का हेतु है और सनाथों का मार्ग मोक्ष का कारण है । अतएव पहला मार्ग अप्रशस्त और विकट है, दूसरा मार्ग प्रशस्त और अत्यन्त सरल है । तथा सनाथ मार्ग पर चलने का दूसरा हेतु यह भी है कि उस पर चलने से अनाथ भी सनाथ हो जाता है, और कुशीलों—अनाथों का मार्ग सनाथ को भी अनाथ बना देता है । तात्पर्य यह है कि जो आत्मा सनाथ है, वह अनाथ को भी सनाथ बनाने की शक्ति रखता है । परन्तु जो स्वय ही अनाथ है, वह दूसरे को सनाथ कैसे बना सकता है ? इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को मोक्षप्राप्ति के लिए महानिर्ग्रन्थों के प्रशस्त मार्ग का ही सर्व प्रकार से अवलम्बन करना चाहिए । इसके अतिरिक्त उक्त मुनि ने अपने अनुशासन को जो सुभाषित रूप और ज्ञान युक्त कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि उक्त अनुशासन के साक्षात् उपदेष्टा तो जिनेन्द्र भगवान् हैं, उक्त मुनि ने तो उसका केवल अनुवादमात्र किया है । अतः जिनेन्द्रभाषित होने से उक्त अनुशासन अधिक से अधिक विनय के योग्य है ।

अब महानिर्ग्रन्थ मार्ग के अनुसरण का जो फल है, उसका वर्णन करते हैं—

चरित्तमायारगुणन्निए तओ,
अणुत्तरं संजम पालिया णं ।
निरासवे संखवियाण कम्मं,
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥५२॥

चारित्राचारगुणान्वितस्ततः,
अनुत्तर सयम पालयित्वा ।
निरास्रवः सक्षपय्य कर्म,
उपैति स्थान विपुलोत्तम ध्रुवम् ॥५२॥

पदार्थान्वयः—चरित्तम्-चारित्र आयार-आचार और गुणन्निए-गुणों से युक्त तओ-तदनन्तर अणुत्तरं-प्रधान संजम-संयम का पालिया णं-पालन करके निरासवे-आश्रव से रहित कम्म-कर्म को संखवियाण-क्षय करके उवेइ-प्राप्त होता है धुवे-निश्चल विउलुत्तमं-विस्तारयुक्त उत्तम ठाणं-स्थान को—मोक्ष को ।

मूलार्थ—चारित्र और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर, तदनन्तर प्रधान संयम का पालन करके, आश्रव से रहित होता हुआ कर्मों का क्षय करके, विस्तीर्ण तथा सर्वोत्तम ध्रुवस्थान—मोक्षस्थान—को प्राप्त हो जाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में महानिर्ग्रन्थों के मार्ग पर चलने का फल बतलाया गया है । अनाथी मुनि महाराजा श्रेणिक से कहते हैं कि हे राजन् ! जो पुरुष चारित्र, आचार और ज्ञानादि गुणों से युक्त होकर सम्यक् प्रकार से संयम का आराधन करता है, वह आश्रवरहित होकर कर्मों का क्षय करता हुआ सर्वप्रधान और ध्रुव—मोक्षस्थान को प्राप्त होता है । मोक्षस्थान में प्राप्त हुआ जीव फिर इस संसार में आकर जन्म-मरण की परम्परा को प्राप्त नहीं होता, इसी भाव को व्यक्त करने के लिए ध्रुव पद पढ़ा गया है । अर्थात् मोक्षस्थान ध्रुव है, नित्य है । अतः जो लोग मुक्तात्मा का पुनरागमन मानते हैं, वे भ्रान्त हैं । ज्ञानयुक्त क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन करना, केवल ज्ञान अथवा केवल क्रिया को मोक्ष का हेतु मानना युक्तियुक्त नहीं, यह ध्वनित करना है । प्रस्तुत गाथा में 'ण' अलाक्षणिक है । मोक्ष का मुख्य हेतुभूत 'निराश्रव' पद है, क्योंकि जब तक यह आत्मा आश्रवों से रहित नहीं होता, तब तक मोक्षपद की प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं, किंतु असम्भव है ।

अब प्रस्तावित सन्दर्भ का उपसंहार करते हैं । यथा—

एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे,
महामुणी महापइण्णे महायसे ।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं,
से काहए महया वित्थरेणं ॥५३॥

एवमुग्रो दान्तोऽपि महातपोधनः,
महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशाः।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुतं,
स कथयति महता विस्तरेण ॥५३॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार से—यह—अर्थात् मुनि ने श्रेणिक राजा के पूछने पर इणं—यह महासुयं—महाश्रुत काहए—कथन किया है महया वित्थरेणं—महान् विस्तार से—वह मुनि कैसे हैं—उग्गे—प्रधान दन्ते—दान्त ऽवि—पूरणार्थक है महातवोधणे—महान् तपस्वी महामुणी—महामुनि महापइण्णे—महती प्रज्ञा वाले और महायसे—महान् यशस्वी महानियण्ठिज्जम्—महानिर्ग्रन्थीय इणं—यह महासुयं—महाश्रुत उन्होंने काहए—कथन किया महया वित्थरेणं—बड़े विस्तार से।

मूलार्थ—इस प्रकार उदग्र, दान्त, महातपस्वी, महामुनि, दृढप्रतिज्ञ और महान् यशस्वी उस अनाथी मुनि ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को महाराजा श्रेणिक के प्रति कहा।

टीका—श्रीसुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! इस प्रकार महाराजा श्रेणिक के पूछने पर उक्त मुनिराज ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत नाम के अध्ययन का विस्तारपूर्वक कथन किया। वे मुनिराज कर्मशत्रुओं को जीतने से उग्र, दान्त और महान् तपस्वी कहलाये इसी लिए वे दृढ प्रतिज्ञा वाले और महान् यश वाले हुए। तात्पर्य यह है कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर महामुनि अनाथी ने उनके उत्तर में इस महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन का वर्णन किया, जिससे कि राजा का संशय दूर हो गया। इसके अतिरिक्त उक्त मुनि के लिए जो उग्र, दान्त, महामुनि और महातपोधन आदि विशेषण दिये गये हैं, उनका अभिप्राय उक्त मुनि को आप्त बतलाना है। यह जिनेन्द्र भगवान् के कथन किये हुए का अक्षरशः अनुवादरूप होने से सब के लिए हितकर अवश्य उपादेय है, यह भी पूर्व में प्रतिपादन किया जा चुका है। 'काहए—कथयति' यह वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग तत्काल की अपेक्षा से समझना चाहिए।

इसके अनन्तर फिर क्या हुआ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥५४॥

तुष्टश्च खलु श्रेणिको राजा, इदमुदाह कृताञ्जलिः ।
अनाथत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥५४॥

पदार्थान्वयः—तुट्ठो—हर्षित हुआ सेणिओ—श्रेणिक राया—राजा य—पुनः इणम्—यह वचन उदाहु—कहने लगा कयंजली—हाथ जोड़कर अणाहत्तं—अनाथपन जहाभूय—यथाभूत सुट्ठु—भली प्रकार मे—मुझे उवदंसियं—उपदर्शित किया ।

मूलार्थ—राजा श्रेणिक हर्षित होकर और हाथ जोड़कर कहने लगा कि भगवन्! अनाथता का यथार्थ स्वरूप भली प्रकार से आपने मुझको दिखला दिया।

टीका—अनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर अति प्रसन्नता को प्राप्त हुए महाराजा श्रेणिक हाथ जोड़कर कहने लगे कि हे भगवन्! आपने मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया, जो कि अनाथभाव—अनाथता के रहस्य को मेरे प्रति सम्यक् प्रकार से वर्णन करके बतला दिया । तात्पर्य यह है कि आपने मेरे प्रति अन्वय-व्यतिरेक से अनाथता का जो स्वरूप कहा है, उसको समझकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है । वास्तव में जब किसी भद्र पुरुष को किसी से अपूर्व अर्थ की प्राप्ति होती है तो वह हृदय से उस व्यक्ति का अभिनन्दन करने को ललचाता है । इसी आशय से महाराजा श्रेणिक ने साञ्जलि होकर अनाथी मुनि से अपना हार्दिक भाव व्यक्त करने का साहस किया है ।

अब फिर कहते हैं—

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं,
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य,
जं भे ठिया मग्गि जिणुत्तमाणं ॥५५॥

त्वया सुलब्धं खलु मानुष्यं जन्म,
लाभाः सुलब्धाश्च त्वया महर्षे !
यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च,
यद्भवन्तः स्थिता मार्गे जिनोत्तमानाम् ॥५५॥

पदार्थान्वय —तुज्झ–आपको सुलद्धं–सुन्दर प्राप्त हुआ है खु–निश्चय ही मणुस्सजम्म–मनुष्यजन्म लाभा–रूपादि का लाभ भी आपको सुलद्धा–बहुत सुन्दर प्राप्त हुआ है महेसी–हे महर्षे ! तुमे–आपको अतः तुब्भे–आप सणाहा–सनाथ हैं य–और सबन्धवा–सबान्धव हैं य–पुनः ज–जिससे भे–आप जिणुत्तमाणं–जिनेन्द्र भगवान् के मग्गे–मार्ग में ठिया–स्थित हैं ।

मूलार्थ—हे महर्षे ! आपका ही मनुष्यजन्म सफल है, आपने ही वास्तविक लाभ को प्राप्त किया है, आप ही सनाथ और सबान्धव हैं, क्योंकि आप सर्वोत्तम जिनेन्द्र मार्ग में स्थित हुए हैं ।

टीका—महाराजा श्रेणिक अनाथी मुनि का हृदय से अभिनन्दन करते हुए कहते हैं कि भगवन् ! आपको ही मनुष्यजन्म का सुन्दर लाभ प्राप्त हुआ है । अतः आप ही सनाथ हैं, आप ही सबान्धव—बन्धुओं वाले हैं, क्योंकि आप श्रीजिनेन्द्रोक्त सर्वोत्तम मार्ग में प्रवृत्त हैं । तात्पर्य यह है कि शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त आप में वे गुण भी पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं कि जिनसे मनुष्यजन्म को साफल्य प्राप्त होता है और यह आत्मा यथार्थ रूप में सनाथ बनता है । प्रस्तुत गाथा में गुणों के अनुरूप स्तुति की गई है, जो कि स्तुति का वास्तविक स्वरूप है । बिना गुणों के जो स्तुति की जाती है, वह स्तुति नहीं होती किन्तु एक प्रकार का असम्बद्ध गीत सा होता है ।

इस प्रकार स्तुति करने के अनन्तर राजा फिर कहते हैं कि—

तंसि नाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥५६॥
त्वमसि नाथोऽनाथानां, सर्वभूतानां संयत !
क्षमे त्वां महाभाग ! इच्छाम्यनुशासयितुम् ॥५६॥

पदार्थान्वयः—तसि—तुम नाहो—नाथ हो अणाहाण—अनाथों के संजया—हे संयत ! सव्वभूयाण—सर्व जीवों के महाभाग !—हे महाभाग ! ते—तुझे खामेमि—क्षमापना करता हूँ इच्छामि—चाहता हूँ आपसे अणुसासिउं—आत्मा को शिक्षित करना।

मूलार्थ—हे भगवन् ! आप ही अनाथों के नाथ हैं। हे संयत ! आप सर्वजीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मैं आप से क्षमा की याचना करता हूँ और अपने आत्मा को आपके द्वारा शिक्षित बनाने की इच्छा करता हूँ।

टीका—महाराजा श्रेणिक कहते हैं कि हे महाराज ! आप अनाथों के नाथ हैं, अनाथों को सनाथ करने वाले हैं, अतएव सर्व जीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मुझसे यदि आपका कोई अपराध हो गया हो तो आप उसे क्षमा करें। हे संयत ! मैं अपने आत्मा को आपके द्वारा शासित—शिक्षित किये जाने की इच्छा रखता हूँ, अर्थात् आपके शासन में रहकर आत्मशुद्धि की अभिलाषा रखता हूँ। प्रस्तुत गाथा में अनाथी मुनि की स्तुति, अपराध के क्षमा करने की याचना और उनकी शिक्षाओं को धारण करने की अभिलाषा—इन तीन भावों का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे राजा की मोक्षविषयिणी इच्छा का उद्भावन किया गया है।

अब क्षमापना के विषय में कहते हैं—

पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो य जो कओ।
निमन्तिया य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥५७॥

पृष्ट्वा मया युष्माकं, ध्यानविघातस्तु यः कृतः।
निमन्त्रिताश्च भोगैः, तत् सर्वं मर्षयन्तु मे ॥५७॥

पदार्थान्वयः—मए—मैंने पुच्छिऊण—पूछकर तुब्भ—आपके झाण—ध्यान में विग्घो—विघ्न जो—जो कओ—किया है य—और भोगेहिं—भोगों के द्वारा निमन्तिया—निमंत्रित किया है तं—वह सव्वं—सब मे—मेरा अपराध मरिसेहि—आप क्षमा करें।

मूलार्थ—मैंने पूछकर आपके ध्यान में विघ्न उपस्थित किया और भोगों के लिए आपको निमन्त्रित किया, यह सब मेरा अपराध आप क्षमा करें। आप क्षमा करने योग्य हैं।

टीका—इस गाथा के द्वारा महाराज श्रेणिक ने उक्त मुनि से अपने अपराध की क्षमा माँगी है। अपने अपराध का वर्णन करते हुए राजा कहते हैं कि हे मुने! आप पवित्र ध्यान में निमग्न थे। मैंने प्रश्न पूछकर आपका उस ध्यान से व्युत्थान किया तथा वीतराग के निवृत्तिप्रधान मार्ग में चलते हुए आपको भोगों के लिए आमंत्रित किया, यह मैंने आपका बड़ा भारी अपराध किया है। कारण कि एक तो आपको आत्मध्यान से छुड़ाया और दूसरे परम त्यागी आपको विषय-भोगों के लिए प्रेरित किया। ये दोनों ही बातें आपके जीवन के प्रतिकूल होने से आपकी अवज्ञा की सूचक हैं। इसलिए मैं अपराधी हूँ। अतः आपसे स्वकृत अपराध की क्षमा माँगता हूँ। आप परम दयालु और सारे विश्व के नाथ हैं, इसलिए मुझे क्षमा करें। इस कथन से राजा की योग्यता का भली भाँति परिचय मिलता है। जो पुरुष योग्य होते हैं, वे अपने अपराध की क्षमा माँगने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं करते। जो हठी और दुराग्रही होते हैं, वे अपराध होने पर भी उसमें सदा लापरवाह रहते हैं। जिस व्यक्ति ने जिस वस्तु का त्याग किया हो, उसको उसी त्याज्य वस्तु के लिए आमंत्रित करना उसका अपराध करना है।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं थुणित्ताण स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए।
सओरोहो सपरियणो सबन्धवो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥५८॥

एवं स्तुत्वा स राजसिंह,
अनगारसिंह परमया भक्त्या।
सावरोध सपरिजन सबान्धव',
धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा ॥५८॥

पदार्थान्वयः—एव—इस प्रकार थुणित्ताण—स्तुति करके स—वह—श्रेणिक

राजा रायसीहो–राजाओं में सिंह के समान अणगारसीहं–अनगारों—साधुओं में सिंह के समान—मुनि को परमाइ–परम भत्तिए–भक्ति से सओरोहो–अन्तःपुर के साथ सपरियणो–परिजनों के साथ और सबन्धवो–बन्धुओं के साथ धम्माणुरत्तो–धर्म में अनुरक्त हो गया विमलेण–निर्मल चेयसा–चित्त से।

मूलार्थ—इस प्रकार राजाओं में सिंह के समान श्रेणिक राजा, अनगार सिंह—मुनियों में सिंह के समान—मुनि की स्तुति करके परम भक्ति से अपने अन्तःपुर के साथ, परिजनों और भाइयों के साथ, निर्मलचित्त से धर्म में अनुरक्त हो गया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में महाराजा श्रेणिक की धर्मघोष की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। पराक्रम और शूरवीरता की दृष्टि से राजाओं में सिंह के समान होने से महाराजा श्रेणिक को राजसिंह कहा गया और तप, संयम आदि उत्कृष्ट क्रिया के आचरण से तथा कर्मरूप मृगों का संहार करने से उक्त मुनि को अनगार सिंह माना गया है। महाराजा श्रेणिक उक्त मुनि की पूर्ण भक्ति से स्तुति करके, उनके उपदेश से निर्मलचित्त होता हुआ अपने अन्तःपुर, सम्बन्धी और भृत्य जनों के साथ धर्म में अनुरक्त हो गया। क्योंकि उस समय उस क्रीड़ा उद्यान में महाराजा श्रेणिक अपने सारे ही परिवार के साथ आया हुआ था। अतः सब ने साथ ही धर्म का ग्रहण किया। जो उपदेश सत्य एवं यथार्थ होता है, तथा जो धारणाशील पुरुषों के मुख से निकला हुआ होता है, उसका प्रभाव श्रोताओं पर अवश्य पड़ता है तथा वह उपदेश आत्मकल्याण के लिए सब से अधिक उपयोगी होता है। सपरिवार कहने का तात्पर्य यह है कि जिस घर अथवा कुटुम्ब में एक ही धर्म रखने वाले होते हैं, वहाँ पर शांति और लक्ष्मी सदा ही निवास करती है। कलह का उस स्थान में नाम तक भी श्रवण करने में नहीं आता।

अब फिर कहते हैं—

ऊससियरोमकूवो , काऊण य पयाहिणं।
अभिवन्दिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥५९॥

उच्छ्वसितरोमकूपः , कृत्वा च प्रदक्षिणाम् ।
अभिवन्द्य शिरसा, अतियातो नराधिपः ॥५९॥

पदार्थान्वयः—उससिय–विकसित हुए हैं रोमकूवो–रोमकूप जिसके य–फिर पयाहिणं–प्रदक्षिणा काऊण–करके और अभिवन्दिऊण–वन्दना करके सिरसा–सिर से अइयाओ–चला गया नराहिवो–नराधिप—स्वस्थान में ।

मूलार्थ—विकसित हुए हैं रोमकूप जिसके, ऐसा वह नराधिप—श्रेणिक राजा—उक्त मुनिराज की प्रदक्षिणा करता हुआ शिर से वन्दना करके अपने स्थान को चला गया ।

टीका—जब किसी भावुक आत्मा को किसी अपूर्व अर्थ की प्राप्ति होती है, तब उसका समस्त शरीर पुलकित हो उठता है । उसकी रोमराजी विकसित हो उठती है । इसी प्रकार उक्त मुनिराज से महाराजा श्रेणिक को जब धर्म की प्राप्ति हो गई अर्थात् अनाथता की व्याख्या करते हुए मुनिराज से जब उसने धर्म के मर्म को समझकर उसे ग्रहण किया, तब उसका शरीर प्रसन्नता के कारण रोमाञ्चित हो उठा और उक्त मुनि की प्रदक्षिणा करके शिर से अभिवादन करता हुआ वह अपने स्थान को—अपने राजभवन को प्रस्थित हुआ । इसके अतिरिक्त इतना और भी स्मरण रहे कि जो जीव विनयपूर्वक प्रश्न पूछते और अपने मन में पूर्ण रूप से जिज्ञासा रखते हैं, उनको अवश्यमेव अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है । जैसे कि महाराजा श्रेणिक को अभिमत धर्म की प्राप्ति हुई ।

महाराजा श्रेणिक के चले जाने के बाद अब उक्त मुनिराज की चर्या के विषय में कहते हैं—

इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥६०॥

त्ति बेमि ।

इति महानियण्ठिज्जं वीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२०॥

इतरोऽपि गुणसमृद्धः, त्रिगुप्तिगुप्तस्त्रिदण्डविरतश्च ।
विहंग इव विप्रमुक्तः, विहरति वसुधायां विगतमोहः ॥६०॥

इति ब्रवीमि ।

इति महानिर्ग्रंथीयं विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—इयरो वि–इतर—मुनि भी गुणसमिद्धो–गुणों से—समृद्ध तिगुत्तिगुत्तो–तीन गुप्तियों से गुप्त य–और तिदण्डविरओ–तीन दण्डों से विरत विहग–पक्षी की इव–तरह विप्पमुक्को–विप्रमुक्त—बन्धनों से रहित विहरइ–विचरता है वसुह–वसुधा में विगयमोहो–विगतमोह—मोहरहित होकर । इस प्रकार मैं कहता हूँ । यह महानिर्ग्रन्थीय बीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—इधर वह अनाथी मुनि भी, जो कि गुणों से समृद्ध, तीनों गुप्तियों से गुप्त और तीन दण्डों से विरत थे—बन्धन से रहित हुए पक्षी की तरह विगतमोह होकर इस वसुधातल में विचरने लगे ।

टीका—महाराज श्रेणिक के चले जाने के बाद वह अनाथी मुनि बन्धन-रहित पक्षी की भाँति विगतमोह होकर इस पृथिवी पर विचरने लगे । वह मुनि साधु-जनोचित गुणों से विभूषित अतएव मन, वचन और काया को वश में रखने वाले अर्थात् मन, वचन और शरीर की गुप्तियों से गुप्त एवं त्रिदंडों से विरत थे । कारण कि केवल ज्ञान की प्राप्ति इन्हीं पर अवलम्बित है । इसलिए उक्त मुनिराज—अनाथी मुनि ने केवल ज्ञान को प्राप्त करके अपने आत्मा को कृतकृत्य करने के अतिरिक्त पृथिवी पर विचरकर अन्य ससारी जीवों का भी बहुत उपकार किया और स्वय मोक्ष को प्राप्त हुए । प्रस्तुत गाथा में 'विहरइ' यह वर्तमान क्रिया की प्रयुक्ति, तत्काल की अपेक्षा से की गई है । और 'त्ति बेमि' का अर्थ पहले की तरह ही जान लेना ।

विंशतितमाध्ययन समाप्त ।

अह समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं

अथ समुद्रपालीयमेकविंशमध्ययनम्

बीसवें अध्ययन में अनेक प्रकार से अनाथता का स्वरूप बतलाया गया है परन्तु अनाथता का अभाव और सनाथता की प्राप्ति का हेतु विविक्तचर्या है। अर्थात् विविक्तचर्या से यह जीव सनाथ हो सकता है। सो इस समुद्रपालीय नाम के इक्कीसवें अध्ययन में उस विविक्तचर्या का वर्णन किया जाता है, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

चंपाए पालिए नाम, सावए आसि वाणिए।
महावीरस्स भगवओ, सीसे सो उ महप्पणो ॥१॥

चम्पायां पालितो नाम, श्रावक आसीद् वणिक्।
महावीरस्य भगवतः, शिष्यः स तु महात्मनः ॥१॥

पदार्थान्वयः—चंपाए—चम्पा नगरी में पालिए—पालित नाम—नाम का सावए—श्रावक वाणिए—वणिक्—वैश्य आसि—रहता था सो—वह श्रावक उ—वितर्क महावीरस्स—महावीर भगवओ—भगवान् का सीसे—शिष्य था महप्पणो—महात्मा का।

मूलार्थ—चम्पा नगरी में पालित नामक एक वैश्य श्रावक रहता था। वह महात्मा श्रीमहावीर भगवान् का शिष्य था।

टीका—प्रस्तुत गाथा में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि भगवान् महावीर स्वामी के सदुपदेश से अनेक भव्य जीवों को सद्बोध की प्राप्ति हुई। जैसे कि चम्पा नाम की नगरी में एक बड़ी विशाल वैश्य जाति निवास करती थी। उसी जाति में से पालित नाम का एक व्यापारी श्रावक था, जो कि भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य था। यहाँ पर भगवान् के विषय मे महात्मा शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि उनके बिना अन्य जितने भी छद्मस्थ आत्मा हैं वे सब शांति आदि गुणों के धारण में इतने बलवान् नहीं, जितने कि भगवान् महावीर स्वामी थे। यथा—'खंति सूरा अरिहन्ता' क्षमा में शूरवीर अरिहंत ही होते हैं, अतः भगवान् ही महान् आत्मा हैं।

अब उस श्रावक के विषय में कहते हैं—

निग्गंथे पावयणे, सावए से वि कोविए।
पोएण ववहरंते, पिहुंडं नगरमागए ॥२॥

नैर्ग्रन्थे प्रवचने, श्रावकः सोऽपि कोविदः।
पोतेन व्यवहरन्, पिहुण्डं नगरमागतः ॥२॥

पदार्थान्वय —निग्गथे-निर्ग्रन्थ के पावयणे—प्रवचन में से—वह सावए—श्रावक वि—अपि—भी कोवए—कोविद—विशेष पंडित था पोएण—पोत से ववहरंते—व्यवहार करता हुआ पिहुंड—पिहुंड नामा नयरम्—नगर में आगए—आ गया।

मूलार्थ—वह श्रावक निर्ग्रन्थप्रवचन के विषय में विशेष कोविद अर्थात् पंडित था और पोत से व्यापार करता हुआ पिहुंड नामा नगर में आ गया।

टीका—चम्पा नगरी का वह पालितनामा श्रावक, केवल नाममात्र का श्रावक नहीं था किन्तु व्यापारी होने के साथ २ वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का भी पंडित था। अर्थात् शास्त्रों के रहस्य का वेत्ता और जीवाजीवादि पदार्थों के मर्म को जानने वाला था। उसका व्यापार जहाजों के द्वारा चलता था। अतः जहाज से व्यापार करता हुआ वह पिहुंड नाम के किसी नगर में पहुँचा। प्रस्तुत गाथा के भाव से व्यक्त होता है कि देशविरति—श्रावक—को एकमात्र अनर्थदण्ड का ही त्याग है, सार्थदण्ड का

नहीं तथा किसी प्रयोजन को लेकर श्रावक समुद्र-यात्रा भी कर सकता है और प्रथम भी करते थे। जैसे कि पालित द्वादशव्रतधारी श्रावक होकर भी जलयानों द्वारा व्यापार करता था। 'कोविद' विशेषण देने से यह ज्ञात होता है कि पहले के श्रावक लोग निर्ग्रन्थ प्रवचन का भली भाँति स्वाध्याय करने वाले होते थे। एवं जैनधर्म के अनुयायी लोग विदेशयात्रा भी करते थे और आर्यावर्त्त का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध भी था, यह भी उक्त गाथा से भली भाँति विदित होता है।

पिहुंड नामक नगर में पहुँचने के अनन्तर क्या हुआ? अब इसी विषय में कहते हैं—

पिहुंडे ववहरंतस्स, वाणिओ देइ धूयरं।
तं ससत्तं पइगिज्झ, सदेसमह पत्थिओ ॥३॥

पिहुण्डे व्यवहरते (तस्मै), वणिग् ददाति दुहितरम्।
तां ससत्त्वां प्रतिगृह्य, स्वदेशमथ प्रस्थित ॥३॥

पदार्थान्वयः—पिहुंडे—पिहुण्ड नगर में ववहरंतस्स—व्यापार करते हुए उसको वाणिओ—किसी वैश्य ने धूयरं—अपनी पुत्री देइ—दे दी तं—वह पालितनामा सेठ तं—उस ससत्तं—अपनी गर्भवती स्त्री को पइगिज्झ—लेकर सदेसं—स्वदेश को पत्थिओ—चल पड़ा अह—अनन्तर अर्थ में है।

मूलार्थ—तदनन्तर पिहुंडनामा नगर में व्यापार करते हुए उस पालित सेठ को किसी वैश्य ने अपनी कन्या दे दी। कुछ समय बाद अपनी गर्भवती स्त्री को साथ लेकर वह अपने देश की ओर चल पड़ा।

टीका—पिहुंड में आने के अनन्तर वह पालितनामा सेठ वहाँ व्यापार करने लगा। उसके गुण और रूप-सौन्दर्य को देखकर किसी वैश्य ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। फिर वह सेठ उस कन्या के साथ सांसारिक सुख को भोगता हुआ कितने एक समय तक व्यापार के लिए उसी नगर में ठहरा रहा। जब उसका व्यापारसम्बन्धी काम समाप्त हो चुका, तब वह अपनी उस विवाहिता स्त्री को साथ लेकर अपने देश के प्रति चल पड़ा। परन्तु उस समय उसकी वह स्त्री गर्भवती

थी। यहाँ पर 'स्वदेश प्रस्थितः' स्वदेश के प्रति लौटा, इस कथन से श्रावकों की विदेशयात्रा और विदेशों में भी सजातीय लोगों का निवास, यह दो बातें भली भाँति प्रमाणित होती हैं।

जहाज के द्वारा स्वदेश को लौटते हुए रास्ते में क्या हुआ ? अब इसी का वर्णन करते हैं—

अह पालियस्स घरणी, समुद्दंमि पसवई।
अह दारए तहिं जाए, समुद्दपालित्ति नामए ॥४॥

अथ पालितस्य गृहिणी, समुद्रे प्रसूते (स्म)।
अथ दारकस्तस्मिञ्जाते, समुद्रपाल इति नामतः ॥४॥

पदार्थान्वय —अह—अथ पालियस्स—पालित श्रावक की घरणी—गृहिणी—घर वाली समुद्दमि—समुद्र में पसवई—प्रसूत हो गई अह—तदनन्तर तहिं—वहाँ पर दारए—बालक जाए—उत्पन्न हुआ समुद्दपालि—समुद्रपाल त्ति—इस प्रकार नामए—नाम से वह प्रसिद्ध हुआ।

मूलार्थ—तदनन्तर पालित के घर वाली को समुद्र में प्रसव हुआ और वहाँ उसका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि 'समुद्रपाल' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

टीका—पालित नामा श्रावक जब जहाज के द्वारा समुद्र के रास्ते से अपने देश को लौटा तो समुद्र में अर्थात् जहाज पर ही उसकी स्त्री ने एक बालक को जन्म दिया, जिसका नाम उन्होंने समुद्रपाल रक्खा। तात्पर्य यह है कि समुद्र में जन्म होने से माता-पिता के द्वारा उसका 'समुद्रपाल' यह गुणनिष्पन्न नाम हुआ। यद्यपि नामकरण में भावुकों की इच्छा प्रधान होती है तथापि गुणनिष्पन्न नामकरण में विशेष प्रतिष्ठा होती है। कई एक प्रतियों में 'दारए' पद के स्थान पर 'बालए' पद देखने में आता है और 'नामतः' के स्थान में 'नामकः' ऐसा प्रतिरूप है।

तदनन्तर क्या हुआ, अब इसी विषय में कहते हैं—

खेमेण आगए चंपं, सावए वाणिए घरं।
संवड्ढई घरे तस्स, दारए से सुहोइए ॥५॥

क्षेमेणागते चम्पायां, श्रावके वणिजि गृहम्।
संवर्धते गृहे तस्य, दारकः स सुखोचितः ॥५॥

पदार्थान्वयः—खेमेण–कुशलता से चंपं–चम्पा में घरं–घर को आगए–आ गया सावए–श्रावक वाणिए–वणिक्—वैश्य तस्स–उसके घरे–घर में संवड्ढई–वृद्धि को पाता है से–वह दारए–बालक सुहोइए–सुखोचित।

मूलार्थ—वह वैश्यश्रावक कुशलतापूर्वक अपने घर में आ गया और वह बालक उसके घर में सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

टीका—बालक का जन्म होने के पश्चात् वह श्रावक अपनी स्त्री और पुत्र को साथ लेकर समुद्रमार्ग से कुशलतापूर्वक अपने घर में आ गया। समुद्र में जन्मा हुआ वह बालक भी उसके घर में सुखपूर्वक पालन-पोषण के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने लगा अर्थात् बढ़ने लगा। विदेशयात्रा में अनेक प्रकार के कष्ट और विघ्न उपस्थित होते हैं। उस पर भी समुद्रयात्रा तो अधिक भयावह होती है। ऐसी विकट यात्रा से अपने परिवारसहित कुशलतापूर्वक घर में वापस आ जाना निस्सन्देह शुभ कर्मों के उदय का सूचक है। यह बात 'खेमेण' पद से ध्वनित होती है।

तदनन्तर वह बालक किस प्रकार का हुआ, अब इसके विषय में कहते हैं—

बावत्तरीकलाओ य, सिक्खिए नीइकोविए।
जोव्वणेण य अप्फुण्णे, सुरूवे पियदंसणे ॥६॥

द्वासप्ततिकलाश्च, शिक्षितो नीतिकोविदः।
यौवनेन च आपूर्णः, सुरूपः प्रियदर्शनः ॥६॥

पदार्थान्वयः—बावत्तरी–बहत्तर कलाओ–कलाएँ सिक्खिए–सीख गया य–और नीइकोविए–नीतिशास्त्र का पण्डित हो गया जोव्वणेण–यौवन से अप्फुण्णे–परिपूर्ण हो गया य–फिर सुरूवे–सुरूप और पियदंसणे–प्रियदर्शी बन गया।

मूलार्थ—तदनन्तर वह समुद्रपाल पुरुष की बहत्तर कलाओं को सीख गया और नीतिशास्त्र में भी निपुण हो गया तथा युवावस्था से सम्पन्न होकर वह सब को सुन्दर और प्यारा लगने लगा।

टीका—शिक्षाग्रहण के योग्य होने पर समुद्रपाल को शिक्षाप्राप्ति के लिए विद्यालय में प्रविष्ट किया गया। वहाँ पर उसने मनुष्य की ७२ कलाओं को सीखा और नीतिशास्त्र में भी अतिनैपुण्य को प्राप्त कर लिया। शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वह युवावस्था की पूर्णता को प्राप्त होता हुआ अपने स्वाभाविक रूप-लावण्य से सबको अत्यन्त प्रिय लगने लगा। तात्पर्य यह है कि जो कोई भी उसको देखता था, वह उस पर मुग्ध हो जाता था। किसी २ प्रति में 'आप्फुण्णे' के स्थान पर 'सपत्ते' पाठ देखने में आता है। परन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

तदनन्तर—

तस्स रूववइं भज्जं, पिया आणेइ रूविणीं।
पासाए कीलए रम्मे, देवो दोगुंदगो जहा ॥७॥

तस्य रूपवतीं भार्यां, पिताऽऽनयति रूपिणीम्।
प्रासादे क्रीडति रम्ये, देवो दोगुन्दको यथा ॥७॥

पदार्थान्वयः—तस्स–उसके पिया–पिता ने रूववइ–रूप वाली भज्ज–भार्या रूविणीं–रूपिणी नामा आणेइ–लाकर दी रम्मे–रमणीय पासाए–प्रासाद में कीलए–क्रीडा करता है जहा–जैसे दोगुदगो–दोगुन्दक देवो–देव स्वर्ग में सुख भोगते हैं।

मूलार्थ—उसके पिता ने रूपिणी नाम की अति रूपवती भार्या उसको लाकर दी अर्थात् एक परम सुन्दरी कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। वह उस रूपवती भार्या के साथ एक सुन्दर महल में क्रीड़ा करता हुआ दोगुन्दक देवों के समान विषयभोगजन्य स्वर्गीय सुख का उपभोग करने लगा।

टीका—जब वह समुद्रपाल विद्याध्ययन कर चुका और पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो गया, तब उसके पिता ने एक रूपवती कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण करा दिया। तब वह समुद्रपाल अपनी भार्या के साथ एक अतिरमणीय प्रासाद में रहकर क्रीड़ा करता हुआ दोगुन्दक देवों के समान स्वर्गीय सुख का उपभोग करने लगा। तात्पर्य यह है कि जैसे दोगुन्दक नामा देव निर्विघ्नतया स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं अर्थात् इन्द्र के गुरु होने से उनको इन्द्र का भी

भय नहीं होता, उसी प्रकार समुद्रपाल भी निर्भय होकर निरन्तर विषयभोगजन्य सुख का उपभोग करने लगा। स्वर्गस्थान में जितने भी देव हैं, वे सब इन्द्र के आधीन होने से निर्विघ्नतया स्वर्गीय सुखों का उपभोग नहीं कर सकते परन्तु दोगुन्दक जाति के देवों पर किसी का अंकुश न होने से उनके सुखोपभोग में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। कारण कि इन्द्र के गुरुस्थानीय होने से उन पर उसका भी कोई शासन नहीं चलता। अतएव उनके सुख का उदाहरण दिया गया है। समुद्रपाल की भार्या का वास्तविक नाम तो 'रुक्मिणी' परन्तु प्राकृत के कारण 'रूपिणी' कहा गया है।

समुद्रपाल के विवाह के अनन्तर और विवाहजन्य सुखोपभोग के समय क्या हुआ ? अब इसका वर्णन करते हैं—

अह अन्नया कयाई, पासायालोयणे ठिओ।
वज्झमंडणसोभागं, वज्झं पासइ वज्झगं ॥८॥

अथान्यदा कदाचित्, प्रासादालोकने स्थितः।
वध्यमण्डनशोभाक, वध्य पश्यति वध्यगम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ अन्नया—अन्यदा कयाई—कदाचित् पासायालोयणे—प्रासाद के गवाक्ष में ठिओ—स्थित हुआ—बैठा हुआ वज्झमंडणसोभाग—वधयोग्य मंडन है सौभाग्य जिसका वज्झं—वध के योग्य वज्झगं—वध्यस्थान पर ले जाते हुए चोर को पासइ—देखता है।

मूलार्थ—किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ समुद्रपाल वध योग्य चिह्न से विभूषित किये हुए वध्य—चोर को वध्यभूमि में ले जाते हुए देखता है।

टीका—अपनी रुचि के अनुसार स्वर्गतुल्य सुखों का अनुभव करते हुए समुद्रपाल ने किसी समय प्रासाद के गवाक्ष में बैठकर नगर की ओर देखा तो मार्ग में राजपुरुषों के द्वारा वध्यस्थान में वध के लिए ले जाते हुए एक अपराधी पुरुष पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसके गले में वध्यपुरुषोचित आभूषण पड़े हुए थे। पहले यह प्रथा थी कि जिस पुरुष को फाँसी आदि के कठोर दण्ड की आज्ञा होती थी,

उसको रासभ—गधे पर चढ़ाकर, गले में जूतियों का हार डालकर और सिर को मुँडवाकर उसके आगे फूटा ढोल बजाते हुए वह वध्यस्थान में लाया जाता था। अपने महल में बैठे हुए समुद्रपाल ने इस प्रकार के दृश्य को देखा अर्थात् एक अपराधी पुरुष को फाँसी देने के लिए फाँसी के स्थान पर ले जाया जा रहा था, वह वध्यपुरुषोचित भूषणों से आभूषित था, और सहस्रों नर-नारी उसके साथ २ जा रहे थे। इस प्रकार का आश्चर्यजनक दृश्य उसकी आँखों के सामने से गुजरा।

उक्त दृश्य को देखकर समुद्रपाल के मन में जो भाव उत्पन्न हुए, अब उसी के सम्बन्ध में कहते हैं—

तं पासिऊण संविग्गो, समुद्दपालो इणमब्बवी ।
अहो असुहाण कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥९॥

तं दृष्ट्वा संवेगं, समुद्रपाल इदमब्रवीत् ।
अहो अशुभानां कर्मणां, निर्याणं पापकमिदम् ॥९॥

पदार्थान्वयः—तं–उसको पासिऊण–देखकर संविग्गो–संवेग को प्राप्त होकर समुद्दपालो–समुद्रपाल इणम्–इस प्रकार अब्बवी–कहने लगा अहो–आश्चर्य है असुहाण–अशुभ कम्माण–कर्मों के निज्जाण–निर्याण पावगं–पापरूप है इम–यह प्रत्यक्ष।

मूलार्थ—उस चोर को देखकर संवेग को प्राप्त होता हुआ समुद्रपाल इस प्रकार कहने लगा—अहो! अशुभ कर्मों का अन्तिम फल पापरूप ही है, जैसे कि इस चोर को हो रहा है।

टीका—महल के झरोखे में बैठे हुए समुद्रपाल ने जब उस चोर की अत्यन्त शोचनीय दशा देखी तो उसको ससार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और मुक्ति की अभिलाषा अन्तःकरण में एकदम जाग उठी। तब वह कहने लगा कि वास्तव में अशुभ कर्मों के आचरण का ऐसा ही कटु परिणाम होता है। जैसे कि इस चोर ने चोरी आदि अशुभ कर्मों का उपार्जन किया और तदनुरूप ही यह उनका फल भोगने को जा रहा है। साराश यह है कि जो अशुभ कर्म हैं, उनका अन्तिम फल अशुभ अर्थात् दु खरूप ही होगा। इसी लिए सूत्रकर्ता ने—'निज्जाण पावग' 'निर्याण पापकम्'

यह पद दिया है, जिसका अर्थ यह है कि अन्तिम फल पापरूप ही होगा। इसी प्रकार शुभ कर्मों के विषय में जान लेना चाहिए अर्थात् उनका फल पुण्य रूप ही होगा।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं—

संबुद्धो सो तहिं भगवं, परमसंवेगमागओ ।
आपुच्छम्मापियरो , पव्वए अणगारियं ॥१०॥

संबुद्धः स तत्र भगवान्, परमसंवेगमागतः ।
आपृच्छय मातापितरौ, प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—भगव—भगवान् सो—वह समुद्रपाल तहिं—उस गवाक्ष में बैठा हुआ संबुद्धो—सबुद्ध हुआ परमसंवेग—उत्कृष्ट संवेग को आगओ—प्राप्त हो गया अम्मापियरो—माता और पिता को आपुच्छ—पूछकर पव्वए—दीक्षित हो गया अणगारियं—अनगारता को प्राप्त हो गया।

मूलार्थ—भगवान् समुद्रपाल तत्त्ववेत्ता होकर उत्कृष्ट संवेग को प्राप्त हो गये, फिर माता-पिता को पूछकर अनगारवृत्ति के लिए दीक्षित हो गये।

टीका—जिस समय समुद्रपाल ने चोर की दशा को देखकर कर्मों के स्वरूप का पर्यालोचन किया, उस समय उसको क्षयोपशमभाव से तत्त्वविषयक बोध उत्पन्न हुआ। उसके अनन्तर ही चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से वह वैराग्य की परम दशा को प्राप्त हो गया। तब उसने अपने माता-पिता को पूछकर अनगारवृत्ति—संयमवृत्ति को ग्रहण कर लिया अर्थात् अपने सारे सांसारिक ऐश्वर्य को तिलांजलि देकर वीतराग के धर्म में दीक्षित हो गया। माता-पिता के साथ दीक्षाग्रहण समय में समुद्रपाल के जो प्रश्नोत्तर हुए थे, उनका विवरण यहाँ पर इसलिए नहीं किया गया कि वे प्रश्नोत्तर १९वें अध्ययन में विस्तार से दिखलाये जा चुके हैं, जो कि इसी प्रकार के हैं। कुछ गुर्जरभाषाकारों के लिखने से अथवा गुरुपरम्परा से यह श्रवण करने में आता है कि समुद्रपाल को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया था परन्तु सूत्रकार ने अथवा वृत्तिकारों ने इस विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया। भगवान् शब्द यहाँ पर प्रशंसार्थ में ग्रहण किया गया है।

अथ दीक्षित हुए समुद्रपाल के विषय में कहते हैं—

जहित्तु संगं च महाकिलेसं,
　महन्तमोहं कसिणं भयाणगं ।
परियायधम्मं चभिरोयएज्जा,
　वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥११॥

हित्वा संगं च महाक्लेशं,
　महामोहं कृत्स्नं भयानकम् ।
पर्यायधर्मं चाभिरोचयति,
　व्रतानि शीलानि परीषहाँश्च ॥११॥

पदार्थान्वयः—जहित्तु-छोड़कर संगं-संग को जो महाकिलेसं-महाक्लेश रूप है और महन्तमोहं-महामोह तथा कसिणं-संपूर्ण भयाणगं-भयों को उत्पादन करने वाला च-और परियाय-प्रव्रज्या रूप धम्मं-धर्म में अभिरोयएज्जा-अभिरुचि करता हुआ वयाणि-व्रत सीलाणि-शील य-और परीसहे-परिषहों को सहन करने लगा। यहाँ 'च' और 'अथ' शब्द पादपूर्ति के लिए हैं।

मूलार्थ—महामोह और महाक्लेश तथा महाभय को उत्पन्न करने वाले स्वजनादि के संग को छोड़कर वह समुद्रपाल प्रव्रज्यारूप धर्म में अभिरुचि करने लगा, जो कि व्रतशील और परिषहों के सहन रूप है।

टीका—दीक्षित होने के अनन्तर समुद्रपाल ने अपने स्वजनादि के संग का परित्याग कर दिया। कारण यह है कि संग से महाक्लेश, महान् मोह और समस्त प्रकार के भयों की उत्पत्ति होती है। अतः संग का परित्याग करके उसने प्रव्रज्यारूप धर्म में प्रवृत्ति कर ली अर्थात् पाँच महाव्रत तथा पिंडविशुद्धि आदि शील और परिषह आदि के सहन रूप जो प्रव्रज्या धर्म है, उसका वह निरन्तर सेवन करने लगा। प्रत्येक संयमशील पुरुष को चाहिए कि वह अहर्निश अपने आत्मा को इस प्रकार से शासित करता रहे। यथा—हे आत्मन्! तू संग का परित्याग करके प्रव्रज्यारूप धर्म में

ही सर्व प्रकार से रुचि उत्पन्न कर। क्योंकि यह सग महाक्लेश और महाभय उत्पन्न करने वाला है। अतः इसका सर्वथा परित्याग कर। 'अभ्भरोचत' यह आर्ष प्रयोग है। किसी २ प्रति में 'भयाणग' के स्थान पर 'भयावह' ऐसा पाठ भी देखने में आता है।

अब सयमशील पुरुष के कर्तव्य का वर्णन करते हैं। यथा—

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥१२॥

अहिंसा सत्यं चास्तेनकं च,
ततश्चाब्रह्मापरिग्रह च।
प्रतिपद्य पञ्चमहाव्रतानि,
चरति धर्मं जिनदेशितं विद्वान् ॥१२॥

पदार्थान्वयः—अहिंस–अहिंसा सच्च–सत्य च–और अतेणग–अस्तेय—अचौर्य कर्म च–पुनः तत्तो–तदनन्तर बंभ–ब्रह्मचर्य य–और अपरिग्गह–अपरिग्रह च–पादपूर्ति में पडिवज्जिया–ग्रहण करके पंचमहव्वयाणि–पाँच महाव्रतों को चरिज्ज–आचरण करे धम्म–धर्म को जिणदेसिय–जिनेन्द्रदेव का उपदेश किया हुआ विऊ–विद्वान्।

मूलार्थ—विद्वान् पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को ग्रहण करके जिनेन्द्र देव के उपदेश किये हुए धर्म का आचरण करे।

टीका—प्रस्तुत काव्य में विद्वान् अर्थात् सयमशील पुरुष के कर्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। विचारशील पुरुष को योग्य है कि वह अहिंसादि पाँच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करे। इनके पालन से ही यह जीव ससारसमुद्र से पार हो सकता है तथा जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश किये हुए पिंडविशुद्धि

आदि धर्मों का भी सम्यक्तया आचरण करे। क्योंकि जीवन्मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति इन्हीं के आचरण पर निर्भर है। इसलिए विद्वान् को उक्त मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए।

अब फिर उक्त विषय में ही कहते हैं—

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी,
खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ॥१३॥

सर्वेषु भूतेषु दयानुकम्पी,
क्षान्तिक्षमः संयतब्रह्मचारी।
सावद्ययोगं परिवर्जयन्,
चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—सव्वेहिं—सर्व भूएहिं—भूतों में दयाणुकंपी—दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला खंतिक्खमे—क्षांतिक्षम संजय—संयत बंभयारी—ब्रह्मचारी सावज्जजोग—सावद्य व्यापार को परिवज्जयंतो—छोड़ता हुआ चरिज्ज—आचरण करे भिक्खू—साधु सुसमाहिइंदिए—सुन्दर समाधि वाला और इन्द्रियों को वश में रखने वाला।

मूलार्थ—सर्वभूतों पर दया के द्वारा अनुकम्पा करने वाला, क्षांतिक्षम, संयत, ब्रह्मचारी, समाधियुक्त और इन्द्रियों को वश में रखने वाला भिक्षु सर्वप्रकार के सावद्य व्यापार को छोड़ता हुआ धर्म का आचरण करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी भिक्षु के कर्त्तव्य का ही निर्देश किया गया है। जैसे कि भिक्षु दयायुक्त होकर सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाला होवे तथा यदि कोई प्रत्यनीक, दुर्वचनादि का प्रयोग भी करे तो उसको भी शांतिपूर्वक सहन कर लेवे अर्थात् बदला लेने की भावना न रक्खे। एवं सावद्य—पापमय—व्यापार का परित्याग करता हुआ श्रेष्ठ समाधियुक्त और इन्द्रियों को जीतने वाला होकर धर्म का

आचरण करे । समुद्रपाल मुनि इसी प्रकार से धर्म का आचरण करने लगे । जो जीव ब्रह्म—आत्मा और परमात्मा में आचरण-विचरण करने का स्वभाव रखता है, वही ब्रह्मचारी है । अथवा ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कष्टसाध्य है । इसलिए दूसरी बार प्रस्तुत गाथा में भी 'ब्रह्मचारी' पद का उल्लेख किया है । तथा सप्तमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति के प्रयोग 'सुप्' व्यत्यय से जानने ।

अब फिर कहते हैं—

कालेण कालं विहरेज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ।
सीहो व सद्देण न सन्तसेज्जा,
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥१४॥

कालेन काल विहरेत् राष्ट्रे,
बलाबलं ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च ।
सिंह इव शब्देन न सन्त्रस्येत्,
वा योगं श्रुत्वा नासभ्यं ब्रूयात् ॥१४॥

पदार्थान्वयः—कालेण काल—यथासमय—समय के अनुसार—क्रियानुष्ठान करता हुआ रट्ठ—राष्ट्र—देश में विहरेज—विचरे अप्पणो—अपने आत्मा के बलाबल—बलाबल को जाणिय—जानकर सीहो व—सिंह की तरह सद्देन—शब्द से न सन्तसेज्जा—त्रास को प्राप्त न होवे वयजोग—वचनयोग सुच्चा—सुनकर असब्भम्—असभ्य वचन न आहु—न बोले ।

मूलार्थ—मुनि यथासमय क्रियानुष्ठान करता हुआ देश में विचरे । अपने आत्मा के बलाबल को जानकर संयमानुष्ठान में प्रवृत्त होवे तथा शब्द को सुनकर सिंह की तरह किसी से त्रास को प्राप्त न होवे और असभ्य वचन न कहे ।

टीका—इस गाथा में मुनिधर्मोचित आचार का वर्णन करते हुए समुद्रपाल मुनि के सजीव क्रियानुष्ठान का दिग्दर्शन कराया गया है । तात्पर्य यह है कि इस

प्रकार से वह अपने धर्मसम्बन्धी कार्यों को यथाविधि व्यवहार में लाता हुआ देश में विचरण करता है। जैसे कि—पादोन पौरुषी आदि में प्रतिलेखना, ठीक समय पर प्रतिक्रमण तथा शास्त्रस्वाध्याय और भिक्षाचरी आदि क्रियाओं का सम्पादन करता हुआ अप्रतिबद्ध विहारी होकर देश में विचरने लगा। एवं अपने आत्मा की शक्ति के अनुसार उसके बलाबल का विचार करके जिस प्रकार संयम के योगों की हानि न हो, उसी प्रकार से धर्मसम्बन्धी क्रिया में वे प्रवृत्त हो गये। तथा किसी भयानक शब्द को सुनकर जैसे सिंह त्रास को प्राप्त नहीं होता, तद्वत् निर्भय होकर दृढतापूर्वक विचरने लगा। यदि किसी ने उसके प्रति दुःखप्रद शब्द का प्रयोग भी कर दिया हो तो उसके प्रति भी उसने कभी असभ्य शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह शास्त्रानुमोदित साधुचर्या है, जिसका ऊपर दिग्दर्शन किया गया है। इसी साधुवृत्ति को धारण करता हुआ वह समुद्रपाल मुनि देश में विचरता है, यह प्रस्तुत काव्य का भाव है। मुनिधर्म का विवेचन करते हुए शास्त्रकारों ने जिन नियमों का त्यागशील मुनि के लिए विधान किया है, उनका यथाविधि पालन करना ही मुनिवृत्ति की सार्थकता है। संयमवृत्ति को ग्रहण करने के अनन्तर संयमी पुरुष का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शास्त्रविहित क्रियाओं में कभी प्रमाद न करे अर्थात् अपनी प्रत्येक क्रिया को नियत समय में करे तथा अपने आत्मा की न्यूनाधिक शक्ति का विचार करके उत्कृष्ट अभिग्रहादि में प्रवेश करे, और सिंह की भाँति सदा निर्भय रहे। एवं किसी के द्वारा प्रयुक्त किये गये कटु अथवा असभ्य शब्दों के प्रयोग में भी उद्वेग को प्राप्त न हो तथा असभ्य भाषण न करे। इसी प्रकार की विशुद्ध प्रवृत्ति से संयमी पुरुष की आत्मसमाधि और धर्मभावना में विशेष प्रगति होती है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा,
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा,
न यावि पूयं गरहं च संजए ॥१५॥

उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्,
प्रियमप्रियं सर्वं तितिक्षेत्।
न सर्वं सर्वत्राभिरोचयेत्,
न चापि पूजां गर्हां च संयतः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—उवेहमाणो–उपेक्षा करता हुआ परिव्वएज्जा–संयममार्ग में विचरे पियमप्पियं–प्रिय और अप्रिय सव्व–सर्व तितिक्खएज्जा–सहन करे न–नहीं सव्व–सर्व सव्वत्थ–सब पदार्थों में अभिरोयएज्जा–अभिरुचि करे च–और न यावि–न पूय–पूजा च–और गरह–गर्हा की संजए–संयत—साधु रुचि करे।

मूलार्थ—संयत साधु उपेक्षा करता हुआ संयममार्ग में विचरे, प्रिय और अप्रिय सब को सहन करे तथा सर्वपदार्थ वा सर्वस्थानों में अभिरुचि न करे और पूजा एवं गर्हा को न चाहे।

टीका—इस गाथा में भी मुनिवृत्ति का ही उल्लेख किया गया है। संयम मार्ग में विचरता हुआ मुनि सर्वत्र उपेक्षा भाव से ही रहे, यही उसके संयम मार्ग की शुद्धि है। तात्पर्य यह है कि किसी स्थान पर यदि उसके साथ किसी ने असभ्य वर्ताव भी किया हो—किसी ने उसके प्रति कठोर वचन कहे हों तो संयमशील मुनि को उसकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। उसके वचन का उत्तर देना अथवा उसके प्रति क्रोध करना इत्यादि मुनिधर्म के विरुद्ध कोई भी आचरण न करे किन्तु मुझको किसी ने कुछ भी नहीं कहा, ऐसा विचार कर उस ओर ध्यान भी न करे। अतएव प्रिय और अप्रिय दोनों वस्तुओं के संयोग में भी सदा मध्यस्थ भाव से ही रहे किन्तु संसार के किसी पदार्थ में आसक्त न होवे। इसी प्रकार अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिषह के उपस्थित होने पर मन में किसी प्रकार की विकृति न आवे किन्तु धैर्य और शांतिपूर्वक सहन करने में ही अपने आत्मा की स्थिरता का परिचय देवे। अतएव अपने पूजा, सत्कार अथवा निन्दा की ओर भी ध्यान न देवे। ये सब जीवन्मुक्त अथवा मोक्षविषयक तीव्र अभिलाषा रखने वाले आत्माओं के लक्षण हैं, जिनका आचरण नवदीक्षित मुनि समुद्रपाल कर रहे थे। वास्तव में बढ़ी हुई इच्छा ही सर्व प्रकार के दुःखों की जननी है, उसका विरोध कर देने से दुःखों का भी

समूलघात हो जाता है। इसी लिए इच्छा के निरोध को शास्त्रकारों ने मुख्य तप कहा है, जो कि प्रदीप्त हुई अग्निज्वाला के समान कर्मेन्धन को जलाने की अपने में पूर्ण शक्ति रखता है। अतः इच्छा का निरोध करके संयमशील भिक्षु सदा उपेक्षाभाव से ही संसार में विचरण करे, यही प्रस्तुत गाथा का भाव है।

क्या भिक्षु को भी अन्यथाभाव संभव हो सकता है ? जिससे उक्त प्रकार से मुनिचर्या का वर्णन किया गया, अब इसी के विषय में कहते हैं—

अणेगछन्दामिह माणवेहिं,
जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा,
दिव्वा माणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥१६॥

अनेकछन्दांसीह मानवेषु,
यान् भावतः संप्रकरोति भिक्षुः।
भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः,
दिव्या मानुष्या अथवा तैरश्चाः ॥१६॥

पदार्थान्वयः—अणेगछन्दाम्—अनेक प्रकार के अभिप्राय इह—इस लोक में माणवेहिं—मनुष्यों के सम्भव हैं जे—जिनको भावओ—भाव से संपगरेइ—ग्रहण करता है भिक्खू—साधु भयभेरवा—भय के उत्पन्न करने वाले अति भयकर तत्थ—वहाँ पर उइन्ति—उदय होते हैं भीमा—अतिरौद्र दिव्वा—देवों सम्बन्धी माणुस्सा—मनुष्यों सम्बन्धी अदुवा—अथवा तिरिच्छा—तिर्यक्सम्बन्धी कष्ट।

मूलार्थ—इस लोक में मनुष्यों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हैं। साधु उन सब को भाव से जानकर—उन पर सम्यक् रीति से विचार करे। तथा उदय में आये हुए भय के उत्पन्न करने वाले अतिरौद्र, देव, मनुष्य और तिर्यंचसम्बन्धी कष्टों को शांतिपूर्वक सहन करे।

टीका—इस संसार में जीवों के अनेक प्रकार के अभिप्राय हैं, जो कि

शरीर को फुसन्ति—स्पर्श करते हैं अकुक्कुओ—वो भी कुत्सित शब्द न करता हुआ तत्थ—यहाँ पर अहियासएज्जा—सहन करता है रयाइ—कर्मरज पुराकडाइ—पूर्वकृत को खेवेज्जा—क्षय करके।

मूलार्थ—समुद्रपाल मुनि शीत, उष्ण, दंश, मशक, तृणादि स्पर्श तथा नाना प्रकार के भयकर रोग, जो देह को स्पर्श करते हैं, उनको सहन करता हुआ और पूर्वकृत कर्मरज को क्षय करता हुआ विचरता था।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी समुद्रपाल मुनि की दृढता का ही वर्णन है। उसके शरीर को डांस, मच्छर आदि ने काटा, शीत, उष्ण तथा तृणादि के कठोर स्पर्श से और नाना प्रकार के आतकों से उसके शरीर को कल्पनातीत आघात पहुँचे परन्तु उसने इन सब प्रकार के परिषहों—उपद्रवों को बड़ी दृढता से सहन किया अर्थात् इनके उपस्थित होने पर भी वह अपनी सयमनिष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। इसी कारण से वह पूर्वकृत—पूर्वजन्मार्जित कर्मरज का क्षय करता हुआ निराकुल होकर विचरने लगा। यद्यपि सूत्र में जो क्रिया दी है, वह विध्यर्थक लिङ् लकार की है तथापि प्रकरण समुद्रपाल मुनि का ही है। तथा 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम की यहाँ पर भी प्रधानता है, अत ये आर्षवाक्य हैं। अथवा अन्य मुनिगण भी इससे शिक्षा ग्रहण करें, एतदर्थ इनका प्रयोग किया गया है। एवम्—आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजः, न तथा इति अकुकूजः। यथा—'अककरेत्ति' एवमपि पाठो दृश्यते। कदाचिद्वेदनाऽऽकुलितो न कर्कराायितकारी—

। अर्थात् वेदना को शांतिपूर्वक सहन करना।

फिर कहते हैं—

पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे।
व्व वाएण अकम्पमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥१९॥

रागं च तथैव द्वेष,
च भिक्षु सततं विचक्षण।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समुद्रपाल मुनि की संयमदृढता का परिचय देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से कायर पुरुष विद्यमान हैं जो कि कष्टों के समय पर अपनी आत्मस्थिति को सर्वथा भूलकर प्राकृत जनों की तरह आर्त्तध्यान करने लग जाते हैं, परन्तु समुद्रपाल मुनि उन कायरों में से नहीं थे। वे तो रण-संग्राम में निर्भयता से भिड़ने वाले नागराज—गजेन्द्र की तरह, परिषहों के साथ शांतिमय युद्ध करते हुए उनसे अणुमात्र भी नहीं घबराये और उन्होंने अपने आत्मबल से उन पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त की। सारांश यह है कि जिन परिषहों के उपस्थित होने पर भय के मारे बहुत से कायर पुरुष अपने संयम को छोड़कर भाग जाते हैं—संयमक्रिया से पतित हो जाते हैं, उन्हीं परिषह रूप भयंकर शत्रुओं के समक्ष, संयम-संग्राम में वह समुद्रपाल मुनि बड़ी दृढता के साथ आगे बढ़ते और प्रसन्नता-पूर्वक उनसे युद्ध करते हुए उन पर विजय प्राप्त करते थे। तात्पर्य यह है कि उन्होंने विकट से विकट परिषह को अपनी सहनशीलता से विफल कर दिया। इसी प्रकार वर्तमान समय के प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है कि वह अपनी संयमविषयिणी दृढता को स्थिर रखने के लिए, समुद्रपाल मुनि की तरह अपने आत्मा को अधिक से अधिक बलवान् बनाने का प्रयत्न करे।

अब इसी विषय की व्याख्या करते हुए फिर कहते हैं—

सीओसिणा दंसमसगा य फासा,
आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा,
रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ॥१८॥

शीतोष्णा दंशमशकाश्च स्पर्शाः,
आतंका विविधाश्च स्पृशन्ति देहम्।
अकुक्कुचस्तत्राधिसहेत ,
रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ॥१८॥

पदार्थान्वयः—सीओसिणा—शीतोष्ण दंस—दंश मसगा—मशक य—और फासा—तृणादिक स्पर्श आयंका—आतंक—घातक रोग विविहा—नाना प्रकार के देह-

शरीर को फुसन्ति—स्पर्श करते हैं अकुक्कुओ—वो भी कुत्सित शब्द न करता हुआ तत्थ—वहाँ पर अहियासएज्जा—सहन करता है रयाइ—कर्मरज पुराकडाइं—पूर्वकृत को खेवेज्जा—क्षय करके।

मूलार्थ—समुद्रपाल मुनि शीत, उष्ण, दंश, मशक, तृणादि स्पर्श तथा नाना प्रकार के भयकर रोग, जो देह को स्पर्श करते हैं, उनको सहन करता हुआ और पूर्वकृत कर्मरज को क्षय करता हुआ विचरता था।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी समुद्रपाल मुनि की दृढता का ही वर्णन है। उसके शरीर को डांस, मच्छर आदि ने काटा, शीत, उष्ण तथा तृणादि के कठोर स्पर्श से और नाना प्रकार के आतकों से उसके शरीर को कल्पनातीत आघात पहुँचे परन्तु उसने इन सब प्रकार के परिषहों—उपद्रवों को बड़ी दृढता से सहन किया अर्थात् इनके उपस्थित होने पर भी वह अपनी संयमनिष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। इसी कारण से वह पूर्वकृत—पूर्वजन्मार्जित कर्मरज का क्षय करता हुआ निराकुल होकर विचरने लगा। यद्यपि सूत्र में जो क्रिया दी है, वह विध्यर्थक लिङ् लकार की है तथापि प्रकरण समुद्रपाल मुनि का ही है। तथा 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम की यहाँ पर भी प्रधानता है, अतः ये आर्षवाक्य हैं। अथवा अन्य मुनिगण भी इससे शिक्षा ग्रहण करें, एतदर्थ इनका प्रयोग किया गया है। एवम्—आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजः, न तथा इति अकुकूजः। तथा—'अकक्करेत्ति' एवमपि पाठो दृश्यते। कदाचिद्वेदनाऽऽकुलितो न कर्कशायितकारी—इति। अर्थात् वेदना को शांतिपूर्वक सहन करना।

फिर कहते हैं—

पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥१९॥

प्रहाय राग च तथैव द्वेष,
मोह च भिक्षु सततं विचक्षण।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समुद्रपाल मुनि की संयमदृढता का परिचय हुए शास्त्रकार कहते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से कायर पुरुष विद्यमान हैं कष्टों के समय पर अपनी आत्मस्थिति को सर्वथा भूलकर प्राकृत जनों की आर्तध्यान करने लग जाते हैं, परन्तु समुद्रपाल मुनि उन कायरों में से नहीं थे तो रण-संग्राम में निर्भयता से भिड़ने वाले नागराज—गजेन्द्र की तरह, परिषहों के शांतिमय युद्ध करते हुए उनसे अणुमात्र भी नहीं घबराये और उन्होंने अपने आत्म से उन पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त की। सारांश यह है कि जिन परिषहों के उप होने पर भय के मारे बहुत से कातर पुरुष अपने संयम को छोड़कर भाग जाते हैं संयमक्रिया से पतित हो जाते हैं, उन्हीं परिषह रूप भयंकर शत्रुओं के सम संयम-संग्राम में वह समुद्रपाल मुनि बड़ी दृढता के साथ आगे बढ़ते और प्रसन्न पूर्वक उनसे युद्ध करते हुए उन पर विजय प्राप्त करते थे। तात्पर्य यह है कि उन्ह विकट से विकट परिषह को अपनी सहनशीलता से विफल कर दिया। इसी प्र वर्तमान समय के प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है कि वह अपनी संयमविषयिणी दृ को स्थिर रखने के लिए, समुद्रपाल मुनि की तरह अपने आत्मा को अधिक से अधि बलवान् बनाने का प्रयत्न करे।

अब इसी विषय की व्याख्या करते हुए फिर कहते हैं—

सीओसिणा दंसमसगा य फासा,
आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा,
रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ॥१८॥

शीतोष्णा दंशमशकाश्च स्पर्शाः,
आतंका विविधाश्च स्पृशन्ति देहम्।
अकुत्कुचस्तत्राधिसहेत ,
रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ॥१८॥

पदार्थान्वयः—सीओसिणा—शीतोष्ण दंस—दंश मसगा—मशक य—और

शरीर को फुसन्ति—स्पर्श करते हैं अकुक्कुओ—वो भी कुत्सित शब्द न करता हुआ तत्थ—वहाँ पर अहियासएज्जा—सहन करता है रयाइं—कर्मरज पुराकडाइं—पूर्वकृत को खेवेज्जा—क्षय करके ।

भूलार्थ—समुद्रपाल मुनि शीत, उष्ण, दंश, मशक, तृणादि स्पर्श तथा नाना प्रकार के भयंकर रोग, जो देह को स्पर्श करते हैं, उनको सहन करता हुआ और पूर्वकृत कर्मरज को क्षय करता हुआ विचरता था ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भी समुद्रपाल मुनि की दृढ़ता का ही वर्णन है । उसके शरीर को डांस, मच्छर आदि ने काटा, शीत, उष्ण तथा तृणादि के कठोर स्पर्श से और नाना प्रकार के आतंकों से उसके शरीर को कल्पनातीत आघात पहुँचे परन्तु उसने इन सब प्रकार के परिषहों—उपद्रवों को बड़ी दृढ़ता से सहन किया अर्थात् इनके उपस्थित होने पर भी वह अपनी संयमनिष्ठा से तनिक भी विचलित नहीं हुआ । इसी कारण से वह पूर्वकृत—पूर्वजन्मार्जित कर्मरज का क्षय करता हुआ निराकुल होकर विचरने लगा । यद्यपि सूत्र में जो क्रिया दी है, वह विध्यर्थक लिङ् लकार की है तथापि प्रकरण समुद्रपाल मुनि का ही है । तथा 'व्यत्ययश्च' इस प्राकृत नियम की यहाँ पर भी प्रधानता है, अतः ये आर्षवाक्य हैं । अथवा अन्य मुनिगण भी इससे शिक्षा ग्रहण करें, एतदर्थ इनका प्रयोग किया गया है । एवम्—आर्षत्वात् कुत्सितं कूजति—पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजः, न तथा इति अकुकूजः । तथा—'अकक्करेत्ति' एवमपि पाठो दृश्यते । कदाचिद्वेदनाऽऽकुलितो न कर्कराधितकारी—इति । अर्थात् वेदना को शांतिपूर्वक सहन करना ।

फिर कहते हैं—

पहाय रागं च तहेव दोसं,
मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणे ।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥१९॥

प्रहाय रागं च तथैव द्वेषं,
मोहं च भिक्षुः सततं विचक्षणः ।

मेरुरिव वातेनाकम्पमानः,
परीषहान् गुप्तात्मा सहेत ॥१९॥

पदार्थान्वय —पहाय–छोड़कर रागं–राग को च–और तहेव–उसी प्रकार दोस–द्वेष को च–और मोहं–मोह को भिक्खू–साधु सययं–निरन्तर वियक्खणे–विचक्षण मेरु–मेरु व्व–की तरह वाएण–वायु से अकम्पमाणो–अकम्पायमान होता हुआ परीसहे–परिषहों को आयगुत्ते–आत्मगुप्त होकर सहिज्जा–सहन करे।

मूलार्थ—विचक्षण भिक्षु सदा ही राग, द्वेष और मोह का परित्याग करके, वायु के वेग से कम्पायमान न होने वाले मेरु पर्वत की तरह आत्मगुप्त होकर परिषहों को सहन करे।

टीका—प्रस्तुत काव्य में वर्तमान काल के मुनियों को समुद्रपाल मुनि का अनुकरण करने का उपदेश देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो विचक्षण अर्थात् विचारशील मुनि हैं वे राग, द्वेष और मोह को त्यागकर परिषहों को सहन करने में सदा सुमेरु पर्वत की भाँति निश्चल रहें। अर्थात् जिस प्रकार वायु के प्रचण्ड वेग से भी सुमेरु पर्वत कम्पायमान नहीं होता, तद्वत् परिषहों—कष्टों के उपस्थित होने पर भी सदा दृढचित्त रहें, अपनी संयमनिष्ठा से कभी विचलित न हों। तथा आत्मगुप्त विशेषण इसलिए दिया है कि जिस प्रकार कूर्म अपने अंगों को संकोच में लाकर बाहर के आघात से अपने आपको बचा लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् भिक्षु भी अपने अंगोपांग को वश में रखकर अपने संयम धन को बाहर के आघात से बचाने का प्रयत्न करे। यहाँ पर मेरु की उपमा अतिदृढतास्थापन के लिए दी गई है।

अथ फिर इसी विषय में कहते हैं—

अणुन्नए नावणए महेसी,
न यावि पूयं गरिहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए,
निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥२०॥

अनुन्नतो नावनतो महर्षिः,
न चापि पूजां गर्हां च संयत ।
स ऋजुभावं प्रतिपद्य संयतः,
निर्वाणमार्गं विरत उपैति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—अणुन्नए–अनुन्नत नावणए–न अवनत महेसी–महर्षि न यावि–नहीं पूय–पूजा च–और गरिह–गर्हा संजए–संग न करता हुआ से–वह उज्जुभावं–ऋजुभाव को पडिवज्ज–ग्रहण करके संजए–साधु निव्वाणमग्ग–निर्वाण मार्ग को विरए–विरत होकर उवेइ–प्राप्त करता है।

मूलार्थ—जिसका पूजा में उन्नत भाव नहीं, निन्दा में अवनत भाव नहीं, किन्तु केवल ऋजुभाव को ग्रहण करता है, वह साधु विरत होकर मोक्षमार्ग को ही प्राप्त करता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा भी फलपूर्वक साधु के कर्तव्य का ही निर्देश करती है। जो साधु किसी की पूजा से प्रसन्न नहीं होता और निन्दा से जिसके मन में द्वेष अथवा उदासीनता नहीं होती अर्थात् दोनों में समान भाव रखता है, ऐसा साधु विरति को धारण करता हुआ निर्वाण को ही प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो साधु किसी प्रकार के सत्कार की अभिलाषा नहीं रखता और किसी की निन्दा से जिसको उद्वेग नहीं होता तथा विषयभोगों से सर्वथा रहित होकर केवल ऋजु मार्ग—सरल मार्ग—शांतिमार्ग का अनुसरण कर रहा है, वह अन्त में सर्वश्रेष्ठ निर्वाणपद—मोक्षपद को ही प्राप्त करता है। सारांश यह है कि समुद्रपाल मुनि इसी वृत्ति का अनुसरण करने वाला था, जिसका अन्तिम फल मोक्ष की प्राप्ति है।

फिर कहते हैं—

अरइरइसहे पहीणसंथवे,
विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई,
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥२१॥

अरतिरतिसहः प्रहीणसंस्तवः,
विरत आत्महितः प्रधानवान् ।
परमार्थपदेषु तिष्ठति,
छिन्नशोकोऽममोऽकिञ्चनः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—अरइ–अरति रइ–रति सहे–सहन करता है पहीणसथवे–त्याग दिया है सस्तव को जिसने विरए–रागादि से रहित आयहिए–आत्महितैषी पहाणव–प्रधानवान् परमट्ठपएहिं–परमार्थ पदों में चिट्ठई–स्थित है छिन्नसोए–छेदन कर दिया है शोक को जिसने अममे–ममतारहित अकिंचणे–अकिंचन ।

मूलार्थ—समुद्रपालमुनि अरति—चिन्ता और रति को सहन करता है, उसने गृहस्थों का संस्तव छोड़ दिया है, रागादि से निवृत्त हो गया, आत्मा के हितकारी प्रधान पद या परमार्थ पदों में स्थित है, उसने शोक को या कर्म-स्रोत को छिन्न-भिन्न करके निर्ममत्व और अकिंचनता को धारण किया है ।

टीका—समुद्रपाल मुनि विषयों के मिलने से प्रसन्नता और न मिलने पर अरतिभाव अथवा असयमभाव में रति और सयमभाव में अरति, इस प्रकार के भावों को छोड़कर जिसने गृहस्थों का पूर्व संस्तव या पश्चात् सस्तव तथा गृहस्थों के साथ सहवास और प्रीति उत्पन्न करना, इस भाव को भी छोड़ दिया है । इतना ही नहीं किन्तु विरत होकर आत्मा के हितकारी प्रधान योगों वाला होकर, जो परमार्थ पद हैं अर्थात् जिन पदों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उन्हीं पदों में ठहरता है, साथ ही वस्तु के वियोग से शोक का कर्म आने के जो मिथ्यात्वादि स्रोत हैं, उनको भी छेदन कर दिया है । अतः निर्मम—ममतारहित और अकिंचन होकर विचरने लगा । कारण यह है कि ज्ञानपूर्वक की हुई उक्त क्रियाएँ ही मोक्ष की साधक हैं । तथा 'पएहिं—पदेषु' इसमें 'सुप्' व्यत्यय है । इसलिए वर्तमान समय के मुनियों को भी उक्त क्रियाओं का सदैव अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि परमार्थ पद की शीघ्र प्राप्ति हो । इस प्रकरण में पुनरुक्तिदोष की भी आशंका न करनी चाहिए क्योंकि यह उपदेश का अधिकार चल रहा है । उपदेश में एक वस्तु का वार २ वर्णन करना बोध की स्थिरता के लिए होता है । अतः यह भूषण है, दूषण नहीं ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

विवित्तलयणाइं भइज्ज ताई,
निरोवलेवाइं असंथडाइं।
इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं,
कायेण फासिज्ज परीसहाइं ॥२२॥

विविक्तलयनानि भजेत त्रायी,
निरुपलेपान्यसस्कृतानि ।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभि,
कायेन स्पृशति परिषहान् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—विवित्त–विविक्त—स्त्री आदि से रहित लयणाइं–वसती ताई–षट्काय का रक्षक भइज्ज–सेवन करता है निरोवलेवाइं–लेप से रहित असंथडाइं–बीजादि से रहित इसीहिं–ऋषियों द्वारा चिण्णाइं–आचरण की हुई महायसेहिं–महायश वाले कायेण–काया से फासिज्ज–स्पर्श करता हुआ परीसहाइं–परीषहों को।

मूलार्थ—षट्काय का रक्षक साधु महायशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत, लेपादि संस्कार और बीजादि से रहित ऐसी विविक्त वसती—उपाश्रय आदि का सेवन करता हुआ वहाँ पर उपस्थित होने वाले परिषहों को काया—शरीर द्वारा सहन करे।

टीका—इस गाथा में भी मुनिधर्मोचित विषय का ही वर्णन किया है। साधु किस प्रकार के स्थान में निवास करे? इस विषय में शास्त्रकार का कथन है कि साधु उस स्थान—उपाश्रय में रहे जहाँ पर स्त्री, पशु और पण्ड आदि का निवास न हो तथा जो स्थान लेपादि से रहित हो एवं बीजादि से युक्त न हो और ऋषियों ने जिसका विधान किया हो, ऐसे स्थान में परिषहों को द्वारा सहन करने का प्रयत्न करे। तात्पर्य यह है और परिषहों सहन करता हुआ साधु ऋषिभाषित मार्ग का ही उसके

अरतिरतिसहः प्रहीणसंस्तवः,
विरत आत्महितः प्रधानवान् ।
परमार्थपदेषु तिष्ठति,
छिन्नशोकोऽममोऽकिञ्चनः ॥२१॥

पदार्थान्वय —अरइ—अरति रइ—रति सहे—सहन करता है पहीणसंथवे—त्याग दिया है सस्तव को जिसने विरए—रागादि से रहित आयहिए—आत्महितैषी पहाणव—प्रधानवान् परमट्ठपएहिं—परमार्थ पदों में चिट्ठई—स्थित है छिन्नसोए—छेदन कर दिया है शोक को जिसने अममे—ममतारहित अकिंचणे—अकिंचन ।

मूलार्थ—समुद्रपालमुनि अरति—चिन्ता और रति को सहन करता है, उसने गृहस्थों का संस्तव छोड़ दिया है, रागादि से निवृत्त हो गया, आत्मा के हितकारी प्रधान पद वा परमार्थ पदों में स्थित है, उसने शोक को वा कर्म-स्रोत को छिन्न-भिन्न करके निर्ममत्व और अकिंचनता को धारण किया है ।

टीका—समुद्रपाल मुनि विषयों के मिलने से प्रसन्नता और न मिलने पर अरतिभाव अथवा असयमभाव में रति और सयमभाव में अरति, इस प्रकार के भावों को छोड़कर जिसने गृहस्थों का पूर्व सस्तव वा पश्चात् संस्तव तथा गृहस्थों के साथ सहवास और प्रीति उत्पन्न करना, इस बात को भी छोड़ दिया है । इतना ही नहीं किन्तु विरत होकर आत्मा के हितकारी प्रधान योगों वाला होकर, जो परमार्थ पद हैं अर्थात् जिन पदों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उन्हीं पदों में ठहरता है, साथ ही वस्तु के वियोग से शोक का कर्म आने के जो मिथ्यात्वादि स्रोत हैं, उनको भी छेदन कर दिया है । अतः निर्मम—ममतारहित और अकिंचन होकर विचरने लगा । कारण यह है कि ज्ञानपूर्वक की हुई उक्त क्रियाएँ ही मोक्ष की साधक हैं । तथा 'पएहिं—पदेषु' इसमें 'सुप्' व्यत्यय है । इसलिए वर्तमान समय के मुनियों को भी उक्त क्रियाओं का सदैव अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि परमार्थ पद की शीघ्र प्राप्ति हो । इस प्रकरण में पुनरुक्तिदोष की भी आशंका न करनी चाहिए क्योंकि यह उपदेश का अधिकार चल रहा है । उपदेश में एक वस्तु का बार २ वर्णन करना बोध की स्थिरता के लिए होता है । अत यह भूषण है, दूषण नहीं ।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

विवित्तलयणाइं भइज्ज ताई,
निरोवलेवाइं असंथडाइं।
इसीहिं चिण्णाइं महायसेहिं,
कायेण फासिज्ज परीसहाइं ॥२२॥

विविक्तलयनानि भजेत त्रायी,
निरुपलेपान्यसंस्कृतानि ।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभि,
कायेन स्पृशति परिषहान् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—विवित्त—विविक्त—स्त्री आदि से रहित लयणाइ—वसती ताई—षट्काय का रक्षक भइज्ज—सेवन करता है निरोवलेवाइ—लेप से रहित असंथडाइ—बीजादि से रहित इसीहिं—ऋषियों द्वारा चिण्णाइ—आचरण की हुई महायसेहिं—महायश वाले कायेण—काया से फासिज्ज—स्पर्श करता हुआ परीसहाइ—परीषहों को।

मूलार्थ—षट्काय का रक्षक साधु महायशस्वी ऋषियों द्वारा स्वीकृत, लेपादि संस्कार और बीजादि से रहित ऐसी विविक्त वसती—उपाश्रय आदि का सेवन करता हुआ वहाँ पर उपस्थित होने वाले परिषहों को काया—शरीर द्वारा सहन करे।

टीका—इस गाथा में भी मुनिधर्मोचित विषय का ही वर्णन किया है। साधु किस प्रकार के स्थान में निवास करे? इस विषय में शास्त्रकार का कथन है कि साधु उस स्थान—उपाश्रय में रहे जहाँ पर स्त्री, पशु और पंड आदि का निवास न हो तथा जो स्थान लेपादि से रहित हो एवं बीजादि से युक्त न हो और महायशस्वी ऋषियों ने जिसका विधान किया हो, ऐसे स्थान में रहकर साधु परिषहों को शरीर द्वारा सहन करने का प्रयत्न करे। तात्पर्य यह है कि शुद्ध वसती और परिषहों को सहन करता हुआ साधु ऋषिभाषित मार्ग का ही अनुसरण करे, इसी में उसके आत्मा

का कल्याण निहित है। समुद्रपाल ऋषि ने इसी मार्ग का अनुसरण किया, इसी प्रकार की निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण किया और इसी के प्रभाव से वह सर्वोत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

इस प्रकार संयमवृत्ति का आराधन करते हुए समुद्रपाल मुनि किस पद को प्राप्त हुए, अब इस विषय में कहते हैं—

स णाणनाणोवगए महेसी,
अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी,
ओभासई सूरि एवंऽतलिक्खे ॥२३॥

स ज्ञानज्ञानोपगतो महर्षिः,
अनुत्तरं चरित्वा धर्मसञ्चयम्।
अनुत्तरो ज्ञानधरो यशस्वी,
अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ॥२३॥

पदार्थान्वयः—स—वह समुद्रपाल महेसी—महर्षि णाणा—श्रुतज्ञान से नाणोवगए—पदार्थों के जानने से उपगत होकर अणुत्तरं—प्रधान धम्मसंचयं—क्षमादि धर्मों का संचय चरिउं—आचरण करके अणुत्तरे—प्रधान नाणधरे—केवल ज्ञान के धरने वाला जसंसी—यशस्वी—यश वाला सूरि एव—सूर्यवत् ओभासई—प्रकाशमान है अंतलिक्खे—अन्तरिक्ष—आकाश में।

मूलार्थ—समुद्रपाल ऋषि श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जानकर और प्रधान—क्षमादि—धर्मों का संचय करके, केवल ज्ञान से उपयुक्त होकर अन्तरिक्ष में—आकाशमण्डल में प्रकाशित होने वाले सूर्य की भाँति अपने केवलज्ञान द्वारा प्रकाश करने लगा।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समुद्रपाल ऋषि की ज्ञानसम्पत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। वह समुद्रपाल ऋषि, प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा संसार के हर एक

पदार्थ के स्वरूप को जानने लग गये। फिर उन्होंने क्षमादि लक्षणयुक्त प्रधान धर्म का सञ्चय कर लिया। तदनन्तर उनको सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। फिर वे सूर्य की भाँति विश्व के समस्त पदार्थों का प्रकाश करने लग गये अर्थात् जैसे आकाश में सूर्य प्रकाश करता है, तद्वत् केवलज्ञान के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को जानकर संसार के भव्य जीवों को वास्तविक धर्म का उपदेश करने लगे। तात्पर्य यह है कि उनके ज्ञान में विश्व के सारे पदार्थ करामलकवत् प्रतिभासमान होने लग गये। अतः वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनकर संसार का उपकार करने लगे। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानपूर्वक आचरण में लाई गई धार्मिक क्रियाओं का अन्तिम फल केवलज्ञान की उत्पत्ति है, जिसके द्वारा यह जीव—आत्मा—से परमात्मा बनकर विश्व-भर का कल्याण करने की शक्ति रखता है। इस काव्य में 'अनुत्तरे' यहाँ पर एकार अलाक्षणिक है।

अब प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए उक्त विषय की फलश्रुति के सम्बन्ध में कहते हैं—

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं,
निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोहं,
समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥२४॥

त्ति बेमि ।

इति समुद्दपालीयं एगवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२१॥

द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्यपापं,
निरजनः सर्वतो विप्रमुक्तः ।
तीर्त्वा समुद्रमिव महाभवौघं,
समुद्रपालोऽपुनरागमां गत ॥२४॥

इति ब्रवीमि ।

इति समुद्रपालीयमेकविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—दुविहं–दोनों प्रकार के खवेऊण–क्षय करके पुण्णपावं–पुण्य और पाप को निरंजणे–कर्मसंग से रहित सव्वओ–सर्व प्रकार से विप्पमुक्के–विप्रमुक्त होकर समुद्देव–समुद्र की तरह महाभवोह–महाभवों के समूह को तरित्ता–तैरकर समुद्दपाले–समुद्रपाल मुनि अपुणागम–अपुनरागमन को गए–प्राप्त हो गया ।

मूलार्थ—दोनों प्रकार के—घाती और अघाती—कर्मों तथा पुण्य और पाप को क्षय करके कर्ममल से रहित हुआ समुद्रपालमुनि सर्व प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर महाभव समूह रूप समुद्र से पार होता हुआ अपुनरावृत्तिपद—मोक्षपद को प्राप्त हो गया ।

टीका—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—इन चार कर्मों की घाती संज्ञा है तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन चारों को अघाती कर्म कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जो कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले हैं, वे घाती कहलाते हैं और जिनसे आत्मा के उक्त गुणों का घात नहीं होता, उनकी अघाती संज्ञा है । सो इन दोनों प्रकार के कर्मों को क्षय करके तथा पुण्य और पाप का भी क्षय करके, इतना ही नहीं किन्तु सर्व प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर अतिदुस्तर संसार-समुद्र को तैरकर वह समुद्रपाल मुनि जहाँ से पुनरागमन नहीं होता, ऐसे मुक्तिधाम को प्राप्त हो गये । यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि मोक्ष कर्मों का फल नहीं किन्तु कर्मों के आत्यन्तिक क्षय का नाम मोक्ष है । अतः जब संसार के हेतुभूत कर्मरूप बीज का विनाश हो गया, तब फिर उसका पुनरागमन न होना स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । पूर्वाचार्यों ने इसी आशय को स्फुट करते हुए कहा है—
'दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवांकुर ॥'
तात्पर्य यह है कि जैसे बीज के दग्ध होने पर उससे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्मों के नाश होने से फिर जन्म नहीं होता । वास्तव में जीव के विशुद्ध पर्याय का नाम ही मोक्ष है । जैसे—दुग्ध से दधि, दधि से नवनीत और नवनीत से घृत । इस प्रकार जब दुग्ध घृत के पर्याय को प्राप्त हो गया, तब फिर यह संभावना

करनी कि यह घृत अब फिर दुग्ध के पर्याय को प्राप्त हो जाय, एक प्रकार की प्रौढ अज्ञानता है। इसी प्रकार कर्ममल से सर्वथा रहित हो जाने वाले आत्मा की पुनरावृत्ति नहीं होती। किसी २ प्रति में 'निरजणे' के स्थान पर 'निरगणे' पाठ भी देखने में आता है। उसका अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार लिखते हैं—'अङ्गेर्गत्यर्थत्वात्, निरगन — प्रस्तावात् सयम प्रति निश्चल शैलेश्यवस्थाप्राप्त इति यावत्' अर्थात् सयम के प्रति निश्चल होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ।

'त्ति बेमि—इति ब्रवीमि'—ऐसा मैं कहता हूँ। इसकी व्याख्या पहले की तरह ही जान लेनी।

एकत्रिंशाध्ययन समाप्त

अह रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं

अथ रथनेमीयं द्वाविंशमध्ययनम्

पूर्वोक्त इक्कीसवें अध्ययन में विविक्तचर्या का वर्णन किया गया है। परन्तु विविक्तचर्या के लिए पूर्ण संयमी और धैर्यशील पुरुष ही उपयुक्त हो सकता है, अन्य नहीं। यदि किसी अशुभ कर्म के उदय से संयम में शिथिलता उत्पन्न होने लगे तो उसको रथनेमि की भाँति दृढतापूर्वक उस शिथिलता को दूर करके संयम को उज्ज्वल रखने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे निर्वाणपद की प्राप्ति सुलभ हो जाय। इसलिए अब बाईसवें अध्ययन में रथनेमि का वर्णन किया जाता है। परन्तु प्रसंगवशात् प्रथम बाईसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि—नेमिनाथ—का किंचित् वर्णन करते हैं—

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए।
वसुदेव त्ति नामेणं, रायलक्खणसंजुए ॥१॥
शौर्यपुरे नगरे, आसीद्राजा महर्द्धिकः।
वसुदेव इति नाम्ना, राजलक्षणसंयुतः ॥१॥

मूलार्थ—सोरिय-सौर्य पुरंमि-पुर नयरे-नगर में आसी-था राया-राजा महिड्ढिए-महती ऋद्धि वाला वसुदेव-वसुदेव त्ति-इस नामेणं-नाम से प्रसिद्ध था रायलक्खण-राजलक्षणों से संजुए-संयुक्त था।

मूलार्थ—सौर्यपुर नगर में वसुदेव नामा महती समृद्धि वाला राजा राज्य करता था, जो कि राजा के लक्षणों से युक्त था।

टीका—इस गाथा में राजा और उसके लक्षणों का निर्देश करने से सामुद्रिक शास्त्र की सिद्धि होती है। जैसे—चक्र, स्वस्तिक, अङ्कुश, छत्र, चमर, हस्ती, अश्व, सूर्य और चन्द्र इत्यादि लक्षणों से जिसका शरीर युक्त हो अर्थात् जिसके शरीर में सामुद्रिकशास्त्रविहित उक्त चिह्न विद्यमान हों, वह राजा होता है। निश्चय नय के अनुसार तो जिसके भाग्य में राज्य होता है, वही राजा बनता है परन्तु व्यवहार नय को लेकर तो जिसके शरीर में उक्त चिह्नों में से कितने एक चिह्न दिखाई देवें तो उसमें राज्यपद की योग्यता की कल्पना की जाती है। यदि वास्तव में विचार किया जाय तो उक्त लक्षण भी उसी में होते हैं, जिसके भाग्य में राज्य-सम्पत्ति का अधिकार हो, अन्य के नहीं। तथा वह नाम का राजा नहीं था किन्तु अत्यन्त ऋद्धि वाला था।

अब राजा की स्त्रियों के विषय में कहते हैं—

तस्स भज्जा दुवे आसी, रोहिणी देवई तहा।
तासिं दोण्हंपि दो पुत्ता, इट्ठा रामकेसवा ॥२॥

तस्य भार्ये द्वे आस्ताम्, रोहिणी देवकी तथा।
तयोर्द्वयोरपि द्वौ पुत्रौ, इष्टौ रामकेशवौ ॥२॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस—वसुदेव राजा के दुवे—दो भज्जा—भार्याएँ आसी—थीं रोहिणी—रोहिणी तहा—तथा देवई—देवकी तासिं—उन दोण्हंपि—दोनों के ही दो—दो पुत्ता—पुत्र हुए इट्ठा—वल्लभ राम—बलभद्र और केसवा—केशव।

मूलार्थ—वसुदेव राजा की दो भार्याएँ थीं—एक रोहिणी, दूसरी देवकी। उन दोनों के क्रम से राम और केशव ये दो पुत्र हुए, जो कि बड़े प्रिय थे।

टीका—वसुदेव की रोहिणी और देवकी ये दो स्त्रियाँ थीं। उनके क्रम से राम—बलभद्र और केशव—कृष्ण ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही जनता के अत्यन्त प्रिय थे और इनका आपस में भी अत्यन्त प्रेम था। यद्यपि महाराजा वसुदेव

के यहाँ और भी अनेक स्त्रियाँ विद्यमान थीं परन्तु यहाँ पर उनका कोई सम्बन्ध न होने से उल्लेख नहीं किया गया। इन दो का प्रयोजन होने से उल्लेख किया गया है। बलदेव और वासुदेव की माता होने से ये दोनों ही ससार में विख्यात हैं।

अब समुद्रविजय के प्रसग का वर्णन करते हैं—

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महिड्ढिए।
समुद्दविजये नामं, रायलक्खणसंजुए ॥३॥

सौर्यपुरे नगरे, आसीद् राजा महर्द्धिकः।
समुद्रविजयो नाम, राजलक्षणसंयुतः ॥३॥

पदार्थान्वयः—सोरिय—सौर्य पुरमि—पुर नयरे—नगर में आसि—था राया—राजा महिड्ढिए—महती समृद्धि वाला समुद्दविजये—समुद्रविजय नामं—नाम से प्रसिद्ध रायलक्खण—राजलक्षणों से संजुए—सयुक्त।

मूलार्थ—सौर्यपुर नगर में राजलक्षण सयुक्त और महती समृद्धि वाला समुद्रविजय नाम का राजा था।

टीका—एक तो वसुदेव और समुद्रविजय इन दोनों भाइयों में परस्पर बड़ा स्नेह था और दूसरे आगे की गाथाओं में इन दोनों का ही वर्णन आयगा, इसलिए इन दोनों का यहाँ पर उल्लेख किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन का नाम रहनेमीय अध्ययन है तथापि उसके वर्णन में इनका उल्लेख करना परम आवश्यक है।

अब इनकी पत्नी के विषय में कहते हैं—

तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति, लोगनाहे दमीसरे ॥४॥

तस्य भार्या शिवा नाम्नी, तस्याः पुत्रो महायशा।
भगवानरिष्टनेमिरिति, लोकनाथो दमीश्वर. ॥४॥

पदार्थान्वयः—तस्स—समुद्रविजय की भज्जा—भार्या सिवा नाम—शिवा नाम वाली थी तीसे—उसका पुत्तो—पुत्र महायसो—महायशस्वी भगवं—भगवान् अरिट्ठनेमि—

अरिट्ठनेमि त्ति–इस नाम से प्रसिद्ध लोगनाहे–लोक का नाथ और दमीसरे–इन्द्रियों का दमन करने वाला था।

मूलार्थ—समुद्रविजय की शिवा नाम्नी भार्या थी और उसका पुत्र महायशस्वी, परम जितेन्द्रिय और त्रिलोकी का नाथ भगवान् अरिष्टनेमि—नेमिनाथ हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाईसवें तीर्थंकर के जन्म और नाम का वर्णन है। उनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी एवं उनका नाम अरिष्टनेमि था। वे जन्म से लेकर पूर्ण ब्रह्मचारी रहे और इसी हेतु से वे दमीश्वर और लोकनाथ कहलाये तथा संसार में उनका महान् यश फैला। यद्यपि भावी नैगमनय से उनको लोकनाथ और दमीश्वर कहा गया है परन्तु जो तीर्थंकर होते हैं, वे तो बाल्यावस्था से ही विशिष्ट शक्तियों के धारण करने वाले तथा मन पर विजय प्राप्त करने वाले होते हैं। भगवान् शब्द यहाँ पर प्रशस्तार्थ में ग्रहण किया गया है। 'तीसे पुत्तो' शब्द से औरस पुत्र का ग्रहण है।

अब भगवान् नेमिनाथ के विषय में कहते हैं—

सोऽरिट्ठनेमिनामो अ, लक्खणस्सरसंजुओ।
अट्ठसहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी ॥५॥

सोऽरिष्टनेमिनामा च, स्वरलक्षणसंयुतः।
अष्टसहस्रलक्षणधरः, गौतमः कालकच्छविः ॥५॥

पदार्थान्वयः—सो–वह अरिट्ठनेमि–अरिष्टनेमि नामो–नाम वाला कुमार अ–पुनः लक्खणस्सर–लक्षण और स्वर से संजुओ–संयुक्त था और अट्ठसहस्स-लक्खणधरो–एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाला था गोयमो–गौतमगोत्रीय और कालगच्छवी–कृष्ण कांति वाला था।

मूलार्थ—वह अरिष्टनेमि नामा कुमार, स्वर लक्षणों से युक्त और एक हजार आठ लक्षणों का धारक था तथा गौतमगोत्र और कृष्ण कांति वाला था।

टीका—वह अरिष्टनेमिकुमार, स्वस्तिकादि लक्षणों से लक्षित और मधुर, गम्भीर आदि स्वरों से युक्त था। तात्पर्य यह है कि उसमें महापुरुषोचित स्वर और

चिह्न विद्यमान थे। एवं उनके शरीर में विमान, भवन, चन्द्र, सूर्य और मेदिनी आदि के शुभ चिह्न मौजूद थे। गौतम उनका गोत्र था और उनके शरीर की अतसी पुष्प के समान नीले वर्ण की परम सुन्दर कांति थी। यहाँ पर प्राकृत के कारण लक्षण शब्द का पूर्व निपात हुआ है। अथवा—'लक्षणोपलक्षितो वा स्वरो लक्षणस्वर' यह मध्यमपदलोपी समास जानना। एक हजार आठ लक्षणों के नाम, प्रश्नव्याकरणसूत्र के अशुभप्रश्न नामक अध्ययन से जान लेने। किसी २ प्रति में तो 'वंजणस्सर-संजुओ' ऐसा पाठ देखने में आता है। यहाँ पर 'वंजण' का अर्थ तिलक आदि करना।

अब उनके शरीर के संहनन का वर्णन करते हैं—

वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोयरो।
तस्स राईमई कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥६॥

वज्रर्षभसंहनन·, समचतुरस्रो झषोदरः।
तस्य राजीमतीं कन्यां, भार्यां याचते केशवः ॥६॥

पदार्थान्वयः—वज्जरिसह—वज्र ऋषभ नाराच संघयणो—संहनन समचउरंसो—समचतुरस्रसंस्थान और झसोयरो—मत्स्य के समान उदर तस्स—उसके लिए राईमई—राजीमती कन्नं—कन्या को भज्जं—भार्या रूप में केसवो—केशव जायइ—याचना करता है।

मूलार्थ—वज्र ऋषभ नाराच संहनन के धरने वाले, समचतुरस्रसंस्थान से युक्त उस अरिष्टनेमि कुमार के लिए राजीमती कन्या को भार्या रूप में केशव याचना करता है।

टीका—इस गाथा में अरिष्टनेमि कुमार के शरीर का संहनन और बाह्याकृति का वर्णन किया गया है। जैसे कि—उनका वज्र ऋषभ नाराचसंहनन था अर्थात्—शरीर में रहने वाली अस्थियों का बन्धन इस प्रकार था कि वज्र, कीलिका, ऋषभ, पट्ट और नाराच दोनों ओर मर्कटबन्धन, इस तरह पर शरीर के भीतर अस्थियों के बन्धन पड़े हुए थे। इसी को वज्र ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं। जिनके अंस और जानु बैठे हुए सम प्रतीत हों, उसी का नाम समचतुरस्रसंस्थान है।

अथवा शरीर की अतिप्रिय, अतिमनोहर आकृति को समचतुरस्र कहते हैं तथा उनका उदर—वक्षःस्थल मत्स्य के समान विशाल था। जब वे अरिष्टनेमि युवावस्था को प्राप्त हुए, तब श्रीकृष्ण वासुदेव ने महाराजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती को उनके लिए उग्रसेन से माँगा। तात्पर्य यह है कि अरिष्टनेमि के साथ कुमारी राजीमती का विवाह कर देने को महाराजा उग्रसेन से कहा।

अब राजीमती के विषय में कहते हैं—

अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी।
सव्वलक्खणसंपन्ना, विज्जुसोआमणिप्पभा ॥७॥

अथ सा राजवरकन्या, सुशीला चारुप्रेक्षिणी।
सर्वलक्षणसम्पन्ना, विद्युत्सौदामिनीप्रभा ॥७॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ सा—वह रायवरकन्ना—राजश्रेष्ठकन्या सुसीला—सुन्दर स्वभाव वाली चारुपेहिणी—सुन्दर देखने वाली सव्व—सर्व लक्खण—लक्षणों से संपन्ना—युक्त विज्जु—अति दीप्त सोआमणी—बिजली के समान प्पभा—प्रभा वाली।

मूलार्थ—वह राजवरकन्या सर्वलक्षणसम्पन्न, अच्छे स्वभाव वाली, सुन्दर देखने वाली, परम सुशील और प्रदीप्त बिजली के समान कान्ति वाली थी।

टीका—इस गाथा में राजीमती के गुण और सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। जैसे कि राजवरकन्या अथवा राजा की प्रधान कन्या राजीमती अति सुशील और सुन्दर देखने वाली थी, तात्पर्य यह है कि उसमें चपलता नहीं थी और गमन में वक्रता भी नहीं थी। इसी लिए वह स्त्रीजनोचित सर्वलक्षणों से युक्त थी। तात्पर्य यह है कि कुलीन और सुशील स्त्रियों में जो गुण और जो लक्षण होने चाहिएँ, वे सब राजीमती में विद्यमान थे। उसके शरीर की कान्ति अति दीप्त बिजली के समान थी अथवा अग्नि और विद्युत् के समान उसके शरीर की प्रभा थी। अथवा—विद्युत्—बिजली और सौदामिनी—प्रधान मणि—के समान जिसके शरीर की कान्ति—प्रभा है। इससे उसके प्रभामय शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

मत्तं च गंधहत्थिं च, वासुदेवस्स जिट्ठयं ।
आरूढो सोहई अहियं, सिरे चूडामणी जहा ॥१०॥

मत्तं च गन्धहस्तिन च, वासुदेवस्य ज्येष्ठकम् ।
आरूढः शोभतेऽधिकं, शिरसि चूडामणिर्यथा ॥१०॥

पदार्थान्वय —मत्त–मद से भरा हुआ च–और गंधहत्थिं–गन्धहस्ती नामा हस्ती च–पुनः वासुदेवस्स–वासुदेव का जिट्ठय–सब से बड़ा हस्ती आरूढो–उस पर चढ़े हुए अहियं–अधिक सोहई–शोभा पावे हैं सिरे–सिर पर चूडामणी–चूडामणि—आभूषण जहा–जैसे शोभा पाता है ।

मूलार्थ—वासुदेव के मदयुक्त और सब से बड़े गन्धहस्ती नामा हस्ती पर चढ़े हुए यह नेमिकुमार इस प्रकार शोभा पा रहे हैं, जिस प्रकार सिर पर रक्खा हुआ चूडामणि नामक आभूषण शोभा पाता है ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वर का बरात के रूप में घर से निकलना ध्वनित किया गया है । राजकुमार अरिष्टनेमि, वासुदेव के सर्वप्रधान हस्ती पर चढ़े हुए इस प्रकार से सुशोभित हो रहे थे, जैसे रत्नों से जड़े हुए स्वर्णमय चूडामणि का भूषण सिर पर रक्खा हुआ सुशोभित होता है । इस कथन से वर की सर्वोच्चता और सर्वप्रधानता का दिग्दर्शन किया गया है । गन्धहस्ती सर्वहस्तियों में प्रधान और सब का मानमर्दक होता है ।

गन्धहस्ती पर आरूढ होने के अनन्तर उन पर छत्र और चामर होने लगे । उनसे सुशोभित हुए राजकुमार का निम्नलिखित गाथा में वर्णन करते हैं—

अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिओ ।
दसारचक्केण तओ, सव्वओ परिवारिओ ॥११॥

अथोच्छ्रितेन छत्रेण, चामराभ्यां च शोभितः ।
दशार्हचक्रेण ततः, सर्वतः परिवारित ॥११॥

पदार्थान्वयः—अह–अनन्तर ऊसिएण–ऊँचे छत्तेण–छत्र से य–और

चामराहि–चामरों से सोहिओ–शोभित दसार–दशार्ह चक्केण–चक्र से सओ–सदनु सव्वओ–सर्व प्रकार से परिवारिओ–परिवृत हुआ ।

मूलार्थ—तदनन्तर ऊँचे छत्र, दोनों चामर और दशार्ह चक्र से सर्व प्रकार से आवृत हुए राजकुमार विशेष शोभा पा रहे थे ।

टीका—जिस समय वासुदेव के सर्वप्रधान हस्ती पर राजकुमार अरिष्टनेमि आरूढ हो गये, तब उन पर एक बड़ा ऊँचा छत्र किया गया और दोनों ओर चामर झुलाये जाने लगे । समुद्रविजय आदि दशों भाइयों तथा अन्य यादवों से परिवृत हुए राजकुमार अपूर्व शोभा पाने लगे । तात्पर्य यह है कि समुद्रविजय आदि दशों यादवों का समस्त परिवार उनके साथ था और छत्र चामरों के द्वारा उनका उपवीजन हो रहा था । यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि लोगों में जो यह जनश्रुति प्रचलित है कि ५६ कोटि यादव उस विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए थे सो सर्वथा निराधार प्रतीत होती है क्योंकि उक्त गाथा में इसका उल्लेख नहीं है । उक्त गाथा से तो केवल दश भाइयों के परिवार का सम्मिलित होना ही सूचित होता है । अतः श्रद्धालु पुरुषों को शास्त्रमूलक कथन पर ही अधिक विश्वास रखना चाहिए ।

उस समय राजकुमार के साथ जो चार प्रकार की सेना थी, अब उसका वर्णन करते हैं—

चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं ।
तुडियाणं सन्निनाएणं, दिव्वेणं गगणंफुसे ॥१२॥

चतुरङ्गिण्या सेनया, रचितया यथाक्रमम् ।
तूर्याणां सन्निनादेन, दिव्येन गगनस्पृशा ॥१२॥

पदार्थान्वयः—चउरंगिणीए–चतुरंगिणी—चार प्रकार की सेणाए–सेना से जहक्कम–यथाक्रम से जिसकी रइयाए–रचना की गई है तुडियाण–वादित्रों के सन्निनाएण–विशेष नाद से दिव्वेण–प्रधान—शब्दों से गगणफुसे–आकाश का स्पर्श हो रहा था ।

मूलार्थ—उस समय क्रमपूर्वक रचना की गई चतुरंगिणी सेना स तथा वादित्रों के प्रधान शब्द से आकाश व्याप्त हो रहा था ।

टीका—जब यादवों के समूह से परिवृत हुए राजकुमार चले, तब उनके साथ गज, रथ, अश्व और पैदल सवार—यह चार प्रकार की सेना—जिसकी क्रमपूर्वक रचना की गई थी—आगे २ चल रही थी और वादित्रों के गम्भीर शब्द से आकाश गूँज रहा था। यहाँ पर सर्वत्र लक्षण में तृतीया विभक्ति का प्रयोग है। और 'दिव्वेण गगणफुसे' यह आर्षप्रयोग है। एवं नाद शब्द के पूर्व जो 'सम्' उपसर्ग लगाया गया है, यह वादित्रों के शब्द की मनोहरता का सूचक है।

एयारिसीइ इड्ढीए, जुइए उत्तमाइ य।
नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥१३॥

एतादृश्या ऋद्ध्या, द्युत्या उत्तमया च।
निजकात् भवनात्, निर्यातो वृष्णिपुङ्गवः ॥१३॥

पदार्थान्वयः—एयारिसीइ—इस प्रकार की इड्ढीए—ऋद्धि से उत्तमाइ—उत्तम य—और जुइए—ज्योति वाली से नियगाओ—अपने भवणाओ—भवन से निज्जाओ—निकले वण्हिपुंगवो—वृष्णिपुंगव।

मूलार्थ—इस प्रकार की सर्वोत्तम द्युतियुक्त समृद्धि से परिवृत हुए वृष्णि-पुंगव अपने भवन से निकले।

टीका—जब अरिष्टनेमिकुमार विवाहयात्रा के लिए शृंगारित किये गये, तब पूर्वोक्त ऋद्धि के साथ वह अपने भवन से निकल पड़े। वह ऋद्धि सर्वप्रधान थी और विशेष प्रकाश वाली थी क्योंकि उसका सम्पादन वासुदेव ने बड़े ही समारोह और आडम्बर से किया था। यहाँ पर वृष्णिपुंगव यादवों में प्रधान इस कथन से अरिष्टनेमि-कुमार का ही ग्रहण अभिप्रेत है। अतएव वृत्तिकार लिखते हैं—'वृष्णिपुङ्गवः यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरिति यावत्।' तात्पर्य यह है कि वह तीर्थंकर नाम और गोत्र को बाँधकर ही यादवकुल में उत्पन्न हुए हैं। इसी लिए उनको 'वृष्णिपुंगव' कहा गया है।

भवन से निकलने के बाद क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

अह सो तत्थ निज्जन्तो, दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च, सन्निरुद्धे सुदुक्खिए ॥१४॥

जीवियन्तं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासित्ता से महापण्णे, सारहिं इणमब्बवी ॥१५॥

अथ स तत्र निर्यन्, दृष्ट्वा प्राणिनो भयद्रुतान्।
वाटकैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धान् सुदुःखितान् ॥१४॥
जीवितान्तं तु सम्प्राप्तान्, मांसार्थं भक्षयितव्यान्।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञ, सारथिमिदमब्रवीत् ॥१५॥

पदार्थान्वयः—अह–अनन्तर सो–वह तत्थ–वहाँ पर निक्खन्तो–निकलता हुआ पाणे–प्राणियों भयद्दुए–भयद्रुतों को वाडेहिं–वाड़ों से च–और पञ्जरेहिं–पंजरों से सन्निरुद्धे–रोके हुओं को सुदुक्खिए–अति दुःखितों को दिस्स–देखकर जीवियन्त–जीवन के अन्त को संपत्ते–प्राप्त हुओं को मंसट्ठा–मांस के लिए भक्खियव्वए–भक्षण किये जाने वालों को पासित्ता–देखकर से–वह महापण्णे–महाबुद्धिमान् सारहिं–सारथि को इणम्–इस प्रकार अब्बवी–कहने लगे। तु–सम्भावनार्थक है।

मूलार्थ—तदनन्तर जब नेमिकुमार आगे गये तो उन्होंने भय से संत्रस्त हुए, वाड़ों और पिंजरों में बन्द करने से अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुए प्राणियों को देखा, जो कि जीवन के अन्त को प्राप्त हो रहे हैं तथा जो मांस के निमित्त नियुक्त किये गये हैं। उन प्राणियों को देखकर नेमिकुमार अपने सारथि से इस प्रकार बोले—

टीका—समस्त सेना और परिवार के साथ हस्ती पर सवार हुए नेमिकुमार जब विवाहमण्डप के कुछ समीप पहुँचे तो उन्होंने वहाँ पर एक ओर वाड़े में बँधे हुए बहुत से पशुओं को देखा। उनमें से बहुत से तो वाड़े में बन्द किये हुए थे और बहुत से पिंजरों में डाले हुए थे। तात्पर्य यह है कि जो तो चतुष्पाद पशु थे, वे तो चारों ओर से दीवार किये गये मकान में ठहराये हुए थे और जो उड़ने वाले प्राणी थे, वे पिंजरों में बन्द किये हुए थे। परन्तु वे सब के सब भय से सन्त्रस्त थे तथा अपने जीवन के अन्त की प्रतीक्षा में थे। कारण यह है कि उनके मांस से आये हुए मांसभक्षी बरातियों को तृप्त करना था अर्थात् उनको वध करने के लिए ही वहाँ पर नियुक्त कर रक्खा था। तो जिस समय राजकुमार अरिष्टनेमि ने

उन बँधे हुए भयभीत प्राणियों को देखा तो वे अपने हस्तिपक महावत से इस प्रकार कहने लगे। मांसलोलुपी पुरुषों का कथन है कि 'मांसेनैव मांसमुपचीयते' अर्थात् मांसभक्षण से ही मांस की वृद्धि अथच पुष्टि होती है तथा उस बारात में ऐसे पुरुष भी अधिक संख्या में उपस्थित थे, उन पुरुषों के निमित्त ही उक्त जानवरों का संग्रह किया गया था। इसी लिए वे भयभीत हो रहे थे और प्राणों की रक्षा के लिए मूकभाव से किसी रक्षक का आह्वान कर रहे थे। उसी समय पर परम दयालु अरिष्टनेमि कुमार की उन पर दृष्टि पड़ी और वे अपने सारथि से इस प्रकार बोले। क्योंकि वह मति, श्रुति और अवधि ज्ञान के धारक होने से महान् बुद्धिमान् थे। यद्यपि सारथि शब्द रथ के चलाने वाले का वाचक है तथापि इस स्थान में उपचार से हस्तिपक—महावत का ही ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि हस्ती पर आरूढ होने का स्पष्ट उल्लेख होने से प्रस्तुत गाथा में आये हुए सारथि शब्द का 'महावत' अर्थ करना ही प्रकरणसंगत और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अथवा कदाचित् कुछ दूर जाने पर वे रथ में सवार हो गये हों तो सारथि शब्द का रथवान् अर्थ करने में भी कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

उन्होंने सारथि से जो कुछ कहा, अब उसी विषय में कहते हैं—

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च, संनिरुद्धा य अच्छहिं ॥१६॥

कस्यार्थमिमे प्राणिनः, एते सर्वे सुखैषिणः।
वाटकैः पञ्जरैश्च, सन्निरुद्धाश्च तिष्ठन्ति ॥१६॥

पदार्थान्वयः—कस्स अट्ठा—किसके लिए इमे—ये पाणा—प्राणी एए—ये सव्वे—सब सुहेसिणो—सुख के चाहने वाले वाडेहिं—बाड़ों च—और पंजरेहिं—पिंजरों में संनिरुद्धा—रोके हुए अच्छहिं—स्थित हैं य—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—ये सब सुख के चाहने वाले प्राणी किसलिए पिंजरों में डाले हुए और बाड़े में बँधे हुए हैं?

टीका—अरिष्टनेमि कुमार अपने सारथि से पूछते हैं कि ये मूक प्राणी किस प्रयोजन के लिए यहाँ पर एकत्रित किये हैं? तात्पर्य यह है कि इन स्वच्छन्द विचरने

वाले अनाथ जीवों को पिंजरों में डालकर और वाड़े में बन्द कर किसलिए दुःखी किया जा रहा है ? यद्यपि इन पशुओं को एकत्रित करने और वाड़े में बन्द करके रखने आदि का जो प्रयोजन है, उसको राजकुमार पहले से ही भली भाँति जानते थे परन्तु सव्यवहार के लिए अर्थात् लोक-मर्यादा के लिए उन्होंने अपने सारथि से पूछा ।

भगवान् नेमिनाथ के पूछने पर सारथि ने जो उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुं जणं ॥१७॥
अथ सारथिस्ततो भणति, एते भद्रास्तु प्राणिनः ।
युष्माकं विवाहकार्ये, भोजयितुं बहु जनम् ॥१७॥

पदार्थान्वयः—अह—तदनन्तर सारही—सारथि तओ—तदनु भणइ—कहता है एए—ये सब भद्दा—भद्रप्रकृति के पाणिणो—प्राणी तुज्झं—आपके विवाहकज्जंमि—विवाहकार्य में बहुं जणं—बहुत जनों को भोयावेउं—भोजन करवाने के लिए ।

मूलार्थ—तदनन्तर सारथि ने कहा कि ये सब भद्र—सरल—प्रकृति के जीव आपके विवाहकार्य में बहुत से पुरुषों को भोजन देने के लिए एकत्रित किये गये हैं !

टीका—श्रीनेमिकुमार के पूछने पर सारथि कहता है कि भगवन् ! आपके इस मंगलरूप विवाहकार्य में आये हुए बहुत से पुरुषों को इनके मांस का भोजन कराया जायगा । एतदर्थ ये सब प्राणी एकत्रित किये गये हैं । तात्पर्य यह है कि बारात में आये हुए बहुत से मेहमानों के निमित्त इनका वध किया जायगा । इस कथन से यह ज्ञात होता है कि भगवान् नेमिकुमार के साथ जो सेना आई थी, उसके लोग प्रायः अधिक संख्या में मांस का भोजन करने वाले थे । इसी लिए उक्त गाथा में प्रयुक्त किया 'बहुं जणं' यह वाक्य सार्थक होता है । परन्तु श्रेष्ठ जनों के लिए इसका विधान नहीं । यदि सब के लिए मांस का भोजन अभीष्ट होता तो 'बहु जणं' के स्थान में सर्वसाधारण का बोधक 'समस्त' या इसी प्रकार का कोई और शब्द प्रयुक्त किया

होता, अथवा दशार्ह शब्द का ही उल्लेख कर दिया होता। इसलिए सेना में, साथ आने वाले इतर पुरुषों को उद्देश्य में रखकर ही यह उक्त वर्णन किया हुआ प्रतीत होता है। 'तु' शब्द यहाँ पर निश्चयार्थक है, जिसका अर्थ यह होता है कि बहुजनभोजनार्थ यहाँ पर हरिण आदि भद्र जीव ही एकत्रित किये गये थे, न कि हिंस्र जीव भी। अपराधशून्य और अहिंसक तथा सरल होने के कारण इनको भद्र कहा गया है।

सारथि के उक्त वचन को सुनकर परम दयालु राजकुमार अरिष्टनेमि ने अपने मन में जो कुछ विचारा तथा तदनुकूल आचरण किया, अब इसी विषय में कहते हैं—

सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं ।
चिन्तेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि ऊ ॥१८॥

श्रुत्वा तस्य वचनं, बहुप्राणिविनाशनम् ।
चिन्तयति सः महाप्राज्ञः, सानुक्रोशो जीवेषु तु ॥१८॥

पदार्थान्वय—सोऊण—सुनकर तस्स—उस सारथि के वयणं—वचन बहुपाणिविणासणं—बहुत से प्राणियों का विनाशन रूप से—वह महापन्ने—महाबुद्धिशाली साणुक्कोसे—करुणामय हृदय जिएहि—जीवों में हित का विचार करने वाले चिन्तेइ—मन में चिन्तन—विचार—करते हैं।

मूलार्थ—उस सारथि के बहुत से प्राणियों के विनाशसम्बन्धी वचन को सुनकर दयार्द्रहृदय और महाबुद्धिमान् राजकुमार मन में विचारने लगे।

टीका—सारथि ने जिस समय यह कहा कि इन प्राणियों का वध किया जायगा, तब राजकुमार का हृदय एकदम करुणा से उमड़ आया और वे मन में इस प्रकार विचार करने लगे। तात्पर्य यह है कि जिनके हृदय में दया का भाव होता है, वे ही पुरुष अन्य जीवों के हिताहित का विचार किया करते हैं और अरिष्टनेमि कुमार तो साक्षात् दया के अवतार ही थे। अतः उन अनाथ जीवों के अकारण वध से उनके अन्तःकरण में चिन्ता का उत्पन्न होना सर्वथा उपयुक्त ही है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत गाथा में 'सानुक्रोश' पद दिया गया है। 'चिन्तयति'

का अर्थ है स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना अर्थात् वे अपने मध्य हृदय में उन जीवों की दशा का विचार करने लगे।

सारथि के कथन को सुनकर उन्होंने क्या विचार किया? अब इसी के विषय में कहते हैं—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहूजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥१९॥

यदि मम कारणादेते, हन्यन्ते सुबहुजीवाः।
न मे एतन्नि:श्रेयसं, परलोके भविष्यति ॥१९॥

पदार्थान्वय—जइ—यदि मज्झ—मेरे कारणा—कारण से एए—ये सब बहूजिया—बहुत से जीव हम्मंति—मारे जाते हैं न—नहीं मे—मेरे लिए एयं—यह निस्सेसं—कल्याणकारी परलोगे—परलोक में भविस्सई—होगा। तु—पादपूर्ति में।

मूलार्थ—यदि ये बहुत से जीव मेरे कारण से मारे जाते हैं तो मेरे लिए यह परलोक में कल्याणप्रद नहीं होगा।

टीका—भगवान् अरिष्टनेमि के मानसिक चिन्तन का ही प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। सारथि के कथन को सुनने के अनन्तर उन्होंने विचार किया कि इन अनाथ जीवों के वध में निमित्त तो मैं ही ठहरता हूँ। कारण यह है कि मैं विवाह के लिए उद्यत हुआ, तब ही मेरे साथ में आने वाले सैनिकों के लिए इनको एकत्रित किया गया अर्थात् इनको वध करने के लिए यहाँ पर लाया गया। अतः इनकी हिंसा का निमित्त मैं या मेरा यह विवाहमहोत्सव ही है। यदि ये अनाथ मारे जायेंगे तो यह कार्य मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार की हिंसा महान् अनर्थ और भयंकर दुःख को उत्पन्न करने वाली होती है। यद्यपि चरमशरीरी होने से परलोक—अन्य जन्म—की सम्भावना उनमें नहीं हो सकती तथापि हिंसा का कटुफल दिखलाने के लिए ही यह उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि हिंसा रूप कार्य परलोक में किसी के लिए भी सुखावह नहीं होता। 'हम्मति' यह 'वर्तमानसामीप्ये लट्' इस नियम के अनुसार भविष्यत् अर्थ का बोधन करने वाली क्रिया है, जिसका वास्तविक प्रतिरूप 'हनिष्यन्ते' होता है।

इस प्रकार विचार करने के अनन्तर भगवान् ने अपने सारथि को कहा कि जाओ, इन तमाम जीवों को बन्धन से मुक्त कर दो। यह आज्ञा मिलते ही सारथि ने सभी जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया।

इसके अनन्तर परम दयालु भगवान् ने क्या किया, अब इसी के विषय में कहते हैं—

सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामई ॥२०॥

स कुण्डलयोर्युगलं, सूत्रकं च महायशाः।
आभरणानि च सर्वाणि, सारथये प्रणामयति ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सो—वे नेमि भगवान् महायसो—महान् यश वाले कुण्डलाण—कुण्डलों का जुयल—युगल च—और सुत्तगं—कटिसूत्र को य—पुनः सव्वाणि—सर्व आभरणाणि—भूषणों को सारहिस्स—सारथि के प्रति पणामई—देते हैं।

मूलार्थ—महान् यश वाले श्रीनेमिभगवान् दोनों कुण्डल, कटिसूत्र तथा अन्य सब भूषण सारथि को अर्पण कर देते हैं।

टीका—भगवान् की आज्ञा के अनुसार जब सारथि ने उन सभी जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया, तब भगवान् ने उसको पारितोषिक (इनाम) के रूप में अपने दोनों कुण्डल, कटिसूत्र तथा अन्य सब भूषण उतारकर दे दिये। जो आत्मा संसार से विरक्त हो जाते हैं अथवा सांसारिक विषयभोगों की अनर्थकारिता से भली भाँति परिचित होते हैं, उनका फिर किसी भी सांसारिक वस्तु पर मोह नहीं रहता। भगवान् नेमिनाथ तो पहले ही संसार से विरक्त थे। इस अनर्थकारी भावी हिंसाकांड से तो उन्हें और भी उपरति हो गई। अतः उन अनाथ प्राणियों को बन्धन से मुक्त कराकर वे स्वयं भी बन्धन से मुक्त होने के लिए उद्यत हो गये। इसी के उपलक्ष्य में उन्होंने अपने समस्त भूषण सारथि को दे डाले। उक्त कथन से प्रतीत होता है कि उस समय कुण्डल और कटिसूत्र (तड़ागी) के पहरने का अधिक प्रचार था। इसी का अनुकरण वानप्रस्थों ने किया प्रतीत होता है, जो कि मेखलासूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

सारथि को कुण्डलादि अर्पण करने के अनन्तर उन्होंने क्या किया, अब इसी के सम्बन्ध में कहते हैं—

मणपरिणामो य कओ, देवा य जहोइयं समोइण्णा ।
सव्विड्ढि सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे ॥२१॥

मनःपरिणामे च कृते, देवाश्च यथोचित समवतीर्णाः ।
सर्वर्द्धयो सपरिषदः, निष्क्रमणं तस्य कर्तुं ये ॥२१॥

पदार्थान्वयः—मणपरिणामो—मन के परिणाम कओ—दीक्षा के लिए किये य—और देवा—देवता भी जहोइय—यथोचित रूप में समोइण्णा—आ गये सव्विड्ढि—सर्व ऋद्धि य—और सपरिसा—सर्व परिषद् के साथ तस्स—उस भगवान् के निक्खमण—निष्क्रमण को काउ—सम्पादन करने के लिए। जे—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—जिस समय भगवान् ने दीक्षा के लिए मन के परिणाम किये, उस समय देवता भी अपनी सर्व ऋद्धि और परिषद् के साथ उनका दीक्षामहोत्सव करने के लिए आ गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में विवाह की इच्छा का सर्वथा परित्याग करके श्रमण धर्म में दीक्षित होते हुए भगवान् अरिष्टनेमि के देवों द्वारा किये जाने वाले दीक्षामहोत्सव की सूचना दी गई है। तात्पर्य यह है कि वध के लिए उपस्थित किये गये जीवों को बन्धन से मुक्त कराकर और पारितोषिक रूप में अपने सभी भूषण सारथि को देकर नेमिकुमार विवाह से पराङ्मुख होकर जब वापस द्वारकापुरी में आ गये तथा कुछ समय वहाँ पर ठहरकर और वार्षिक दान देकर जब वे दीक्षा के लिए उद्यत हुए, तब उनका दीक्षामहोत्सव करने के लिए भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक जाति के देवता लोग, अपनी २ ऋद्धि और अभ्यन्तर, मध्यम तथा बाहर की परिषद् को साथ लेकर वहाँ पर आये। तीर्थंकर होने वाले महापुरुषों की दीक्षा में इन्द्रादि देवों का पधारना अवश्य होता है, यह उनका यथोचित व्यवहार और वे बड़े समारोह के साथ आया करते हैं। यद्यपि प्रथम सौर्यपुर का उल्लेख किया गया है तथापि दीक्षा उनकी द्वारका में हुई थी। कंस की मृत्यु के पश्चात्

जरासंघ के भय से व्याकुल हुए यादव द्वारका में जा बसे थे, यह सब वृत्तान्त हरिवंश पुराण आदि अन्य ग्रन्थों से जान लेना। जरासन्ध के मारे जाने के पश्चात् भारत की राजधानी भी द्वारका ही बनी थी। इसलिए द्वारका का वर्णन किया गया है।

फिर क्या हुआ, अब इसका वर्णन करते हैं—

देवमणुस्सपरिवुडो , सिवियारयणं तओ समारूढो।
निक्खमिय बारगाओ, रेवययंमि ठिओ भयवं ॥२२॥

देवमनुष्यपरिवृतः , शिविकारत्नं ततः समारूढः।
निष्क्रम्य द्वारकातः, रैवतके स्थितो भगवान् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—देवमणुस्स–देवता और मनुष्यों से परिवुडो–परिवृत हुए तओ–तदनन्तर सिवियारयणं–शिविकारत्न में समारूढो–आरूढ हुए निक्खमिय–निकलकर बारगाओ–द्वारका से रेवययंमि–रैवतगिरि पर भयवं–भगवान् ठिओ–स्थित हुए।

मूलार्थ—तब भगवान् देवता और मनुष्यों से घिरकर उत्तम शिविका में विराजमान होकर द्वारका से निकलकर रैवतक पर्वत पर जा पहुँचे।

टीका—जब देवों का समुदाय एकत्रित हो गया, तब उत्तरकुरु नामक शिविकारत्न पर भगवान् आरूढ हो गये और द्वारका से निकलकर बड़े समारोह के साथ रैवतगिरि पर पहुँचे। इस कथन का तात्पर्य यह है कि वार्षिक दान दे चुकने के अनन्तर और देवताओं के आगमन के पश्चात् भगवान् देवनिर्मित शिविकारत्न पर आरूढ हो गये और बड़े समारोह से, द्वारका के समीप में आने वाले रैवत—उज्जयन्त पर्वत पर पहुँच गये। उनके शिविकारत्न को देवों और मनुष्यों—अर्थात् दोनों ने उठाया हुआ था। यहाँ पर इस बात का अनुमान तो पाठकगण अनायास ही कर सकते हैं कि एक तो तीर्थंकर देव की दीक्षा, दूसरे दीक्षामहोत्सव कराने वाले स्वयं वासुदेव, तो उस समय का दीक्षामहोत्सव कितना दर्शनीय और अभूतपूर्व रहा होगा।

रैवतगिरि पर पधारने के बाद क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

उज्जाणं संपत्तो, ओइण्णो उत्तमाउ सीयाओ।
साहस्सीए परिवुडो, अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥२३॥
उद्यानं सम्प्राप्तः, अवतीर्ण उत्तमायाः शिविकायाः।
सहस्रेण परिवृतः, अथ निष्क्रामति तु चित्रानक्षत्रे ॥२३॥

पदार्थान्वयः—उज्जाणं—उद्यान में संपत्तो—प्राप्त हुए उत्तमाउ—उत्तम सीयाओ—शिविका से ओइण्णो—उतरे साहस्सीए—सहस्रों पुरुषों से परिवुडो—घिरे हुए अह—तब चित्ताहिं—चित्रा नक्षत्र में निक्खमई—श्रमणवृत्ति ग्रहण कर ली उ—वितर्क में है।

मूलार्थ—उद्यान में पहुँचकर और सर्वोत्तम शिविका से उतरकर सहस्रों पुरुषों से घिरे हुए भगवान् अरिष्टनेमि ने चित्रानक्षत्र के योग में श्रमणवृत्ति को ग्रहण किया अर्थात् दीक्षित हो गये।

टीका—सहस्रों स्त्री-पुरुषों से घिरे हुए, बड़े समारोह के साथ उज्जयन्त पर्वत पर पहुँचने के अनन्तर भगवान् उक्त पालकी पर से उतरे और चित्रानक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर उन्होंने श्रमणवृत्ति को धारण कर लिया अर्थात् प्रधान कुल में उत्पन्न हुए एक सहस्र पुरुषों को साथ लेकर सिद्धों को नमस्कार करके श्रमण धर्म में प्रविष्ट हो गये। तात्पर्य यह है कि उनके साथ एक हजार अन्य पुरुष भी दीक्षित हुए। भगवान् की यह दीक्षा उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती सहस्राम्रवन में हुई। वहाँ पर ही उन्होंने सहस्र पुरुषों के साथ सर्वसावद्यवृत्ति के त्याग की प्रतिज्ञा करते हुए सामयिक चारित्र को ग्रहण किया।

अब उनके केशलुंचन के विषय में कहते हैं—

अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउअकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४॥
अथ स सुगन्धगन्धिकान्, त्वरितं मृदुककुञ्चितान्।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, पञ्चमुष्टिभि समाहित ॥२४॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ से—वह अरिष्टनेमि भगवान् सयमेव—स्वय ही

सुगन्धगन्धिए—सुगन्ध से सुगन्धित मउअ—मृदु कोमल कुंचिए—कुटिल केसे—केशों को पंचमुट्ठीहिं—पंचमुष्टि से तुरियं—शीघ्र लुंचई—लुंचन करते हैं समाहिओ—समाहितचित्त।

मूलार्थ—तदनन्तर भगवान् अरिष्टनेमि ने, स्वभाव से सुगन्धित और कोमल तथा कुटिल केशों को अपने आप ही पाँच मुट्ठी से बहुत ही शीघ्र लुंचित कर दिया अर्थात् अपने हाथ से केशों को सिर पर से अलग कर दिया, जिनका कि आत्मा समाधियुक्त था।

टीका—जिस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने सामायिक चारित्र को ग्रहण किया, उसी समय सिर पर के केशों को पाँच मुट्ठी में लोच करके अलग कर दिया। उनके केश सुगन्धयुक्त और स्वभाव से ही कोमल तथा कुटिल अर्थात् लच्छेदार, घुँघराले एवं भ्रमर के समान अत्यन्त कृष्ण थे। इस कथन से उनके केशों की मनोहरता व्यक्त होती है। उनके आत्मा को समाहित कहने से उनमें प्रमाद के अभाव का सूचन किया गया है। इसी प्रकार उनके साथ दीक्षित होने वाले अन्य सहस्र पुरुषों ने भी लोच किया। साथ ही सब ने यह प्रतिज्ञा भी की कि—'सर्वं सावद्य ममाकर्तव्यमिति। प्रतिज्ञारोहणोपलक्षणमेवत्'। अर्थात् सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार का मैं आज से परित्याग करता हूँ। बृहद्वृत्ति में लिखा है कि—'इह तु वन्दिकाचार्यैः सत्त्वमोचनसमये सारस्वतादिप्रबोधनभवनगमनमहायानानन्तर निष्क्रमणाय पुरीनिर्गम-मुपवर्णयावमूवेति'। अर्थात् जिस प्रकार तीर्थंकर दीक्षित होते हैं, सर्व काम उसी प्रकार से किये गये। यह सर्व वृत्तान्त नेमिचरित्र आदि ग्रन्थों से जान लेना।

भगवान् नेमिनाथ के चारित्र ग्रहण के समय पर वासुदेव ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइंदियं।
इच्छियमणोरहं तुरियं, पावसू तं दमीसरा॥२५॥

वासुदेवश्च तं भणति, लुप्तकेशं जितेन्द्रियम्।
ईप्सितमनोरथं त्वरितं, प्राप्नुहि त्वं दमीश्वर!॥२५॥

पदार्थान्वयः—वासुदेवो—वासुदेव य—और—णं—वाक्यालंकारे भणइ—कहते हैं

लुचकेस—लुप्तकेश जिइंदिय—जितेन्द्रिय के प्रति इच्छियमणोरहं—इच्छित मनोरथ को त—तू दमीसरा—हे दमीश्वर ! तुरियं—शीघ्र पावसु—प्राप्त हो। य—प्राग्वत्।

मूलार्थ—वासुदेव ने लुप्तकेश और जितेन्द्रिय—भगवान् से कहा कि हे दमीश्वर! तू इच्छित मनोरथ को शीघ्र ही प्राप्त कर।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भगवान् नेमिनाथ के प्रति वासुदेवादि के द्वारा दिये जाने वाले आशीर्वाद का उल्लेख किया गया है। जब भगवान् दीक्षित हो गये तो उन्होंने केशलुंचन भी कर दिया। तब वासुदेव, बलदेव और समुद्रविजय आदि ने सम्मिलित होकर आशीर्वाद के रूप में उनसे कहा कि—हे दमीश्वर! आप अपने मनोरथ में शीघ्र से शीघ्र सफल होवें। तात्पर्य यह है कि मोक्षरूप लक्ष्मी को आप शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करें। सत्पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वह शुभ कार्य में प्रवृत्त होने वाले पुरुष को प्रोत्साहन देने के साथ २ आशीर्वाद भी देते हैं, जिससे कि वह उत्साहपूर्वक लगा हुआ अपने अभीष्ट को बहुत जल्दी प्राप्त कर लेता है। 'अ'—'च' शब्द समुच्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

फिर कहते हैं—

नाणेण दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२६॥

ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्रेण तपसा च।
क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च ॥२६॥

पदार्थान्वय—नाणेण—ज्ञान से च—और दंसणेण—दर्शन से चरित्तेण—चारित्र से य—और तवेण—तप से खन्तीए—क्षमा से य—और मुत्तीए—निर्लोभता से वड्ढमाणो—वृद्धि पाने वाला भवाहि—हो।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप ज्ञान, दर्शन और चारित्र से तथा तप, क्षमा और निर्लोभता से सदा वृद्धि को पाते रहें।

टीका—इस गाथा में भी आशीर्वादयुक्त वचनों का ही प्रयोग हुआ है। वासुदेवादि फिर कहते हैं कि हे भगवन्! आपका ज्ञान, आपका दर्शन, आपका

चारित्र और तप तथा क्षमा एवं मुक्ति निर्लोभता आदि सद्गुण सदा वृद्धि को ही पाते रहें। यहाँ पर जो ज्ञान शब्द प्रथम ग्रहण किया है, उसका कारण यह है कि विशेष धर्म में सामान्य धर्म का बोध भी हो ही जाता है। ज्ञान विशेष-ग्राही और दर्शन सामान्यग्राही माना गया है। अपरञ्च, सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान का ही होना दुर्घट है। अतः ज्ञान की सफलता सम्यग्दर्शनपूर्वक ही मानी गई है। सो जब ज्ञान हुआ, तब चारित्र, तप, क्षमा और निर्ममत्वादि का होना अनिवार्य है अर्थात् ये सब सहज ही में धारण किये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष जिस समय प्रत्येक पदार्थ के गुणों और पर्यायों को समझ लेता है, तब उसका हेयोपादेय विषयक जो विचार होता है, वह पूर्ण रूप से तथ्य होता है।

इस प्रकार आशीर्वाद देने के अनन्तर वे वासुदेवादि समस्त पुरुष भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करके अपनी द्वारकापुरी की ओर प्रस्थित हुए, अब इस बात का वर्णन करते हैं—

एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहूजणा।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं ॥२७॥
एवं तौ रामकेशवौ, दशार्हाश्च बहुजनाः।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा, अतिगता द्वारकापुरीम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार ते—वह दोनों रामकेसवा—राम और केशव दसारा—यादवों का समूह य—और बहूजणा—अन्य बहुत से पुरुष अरिट्ठनेमिं—अरिष्टनेमि भगवान् को वंदित्ता—वन्दना करके बारगाउरिं—द्वारकापुरी को अइगया—वापस चले आये।

मूलार्थ—इस प्रकार वे दोनों राम और केशव, यादववंशी तथा अन्य बहुत से पुरुष भगवान् अरिष्टनेमि की वन्दना करके द्वारकापुरी को वापस आ गये।

टीका—इस प्रकार आशीर्वाद वचन कहने के अनन्तर बलराम और वासुदेव, अन्य यादवकुल के लोग तथा उग्रसेन आदि बहुत से प्रधान पुरुष, भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके वापस द्वारकापुरी में आ गये। इस कथन से भगवान् नेमिनाथ

के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति की विशिष्टता का सूचन होता है। वन्दना शब्द यद्यपि केवल स्तुतिमात्र का बोधक है तथापि इस स्थान में उसके वन्दना और नमस्कार ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किये गये हैं यथा 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस नियम के अनुसार दोनों ही अर्थ प्रामाणिक एवं युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। इसके पश्चात् भगवान् नेमिनाथ ने उग्र तपश्चर्या के द्वारा कर्मबन्धनों की विकट शृंखलाओं को तोड़कर क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और ५४ दिन के बाद उनको लोकालोक के प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिससे वह संसार के समस्त पदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से यथावत् जानने लगे अर्थात् संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो उनके ज्ञान से तिरोहित हो [यह वर्णन प्रसंगवशात् किया गया है]।

जिस समय भगवान् नेमिनाथ पशुओं की दीन दशा को देखकर विवाह का संकल्प छोड़कर वापस लौट आये, उस समय कुमारी राजीमती [जिसका कि उन्होंने पाणिग्रहण करना था] की क्या दशा हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा उ निराणन्दा, सोगेण उ समुच्छिया ॥२८॥

श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हास्या च निरानन्दा, शोकेन तु समवस्तृता ॥२८॥

पदार्थान्वयः—सोऊण—सुनकर सा—वह राजीमती रायकन्ना—राजकन्या पव्वज्जं—प्रव्रज्या दीक्षा जिणस्स—जिन भगवान् की उ—पादपूर्ति में णीहासा—हास्यरहित हो गई निराणन्दा—आनन्दरहित हो गई सोगेण—शोक से समुच्छिया—व्याप्त हो गई उ—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—वह राजकन्या राजीमती जिन भगवान् की दीक्षा को सुनकर हास्यरहित, आनन्दरहित और शोक से व्याप्त हो गई।

टीका—जिस समय राजीमती को नेमिनाथ भगवान् के वापस लौटने और दीक्षाग्रहण करने का समाचार मिला, उस समय उसका सारा ही विनोद जाता रहा, सारा ही हर्ष विलीन हो गया और शोक के मारे व्याकुल हो गई। तात्पर्य यह है कि

चारित्र और तप तथा क्षमा एवं मुक्ति निर्लोभता आदि सद्गुण सदा वृद्धि को ही पाते रहें। यहाँ पर जो ज्ञान शब्द प्रथम ग्रहण किया है, उसका कारण यह है कि विशेष धर्म में सामान्य धर्म का बोध भी हो ही जाता है। ज्ञान विशेष-ग्राही और दर्शन सामान्यग्राही माना गया है। अपरञ्च, सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान का ही होना दुर्घट है। अतः ज्ञान की सफलता सम्यग्दर्शनपूर्वक ही मानी गई है। सो जब ज्ञान हुआ, तब चारित्र, तप, क्षमा और निर्ममत्वादि का होना अनिवार्य है अर्थात् ये सब सहज ही में धारण किये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष जिस समय प्रत्येक पदार्थ के गुणों और पर्यायों को समझ लेता है, तब उसका हेयोपादेय विषयक जो विचार होता है, वह पूर्ण रूप से सभ्य होता है।

इस प्रकार आशीर्वाद देने के अनन्तर वे वासुदेवादि समस्त पुरुष भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करके अपनी द्वारकापुरी की ओर प्रस्थित हुए, अब इस बात का वर्णन करते हैं—

एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहूजणा।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं ॥२७॥

एवं तौ रामकेशवौ, दशार्हाश्च बहुजनाः।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा, अतिगता द्वारकापुरीम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—एवं-इस प्रकार ते-वह दोनों रामकेसवा-राम और केशव दसारा-यादवों का समूह य-और बहूजणा-अन्य बहुत से पुरुष अरिट्ठनेमिं-अरिष्टनेमि भगवान् को वंदित्ता-वन्दना करके बारगाउरिं-द्वारकापुरी को अइगया-वापस चले आये।

मूलार्थ—इस प्रकार वे दोनों राम और केशव, यादववंशी तथा अन्य बहुत से पुरुष भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारकापुरी को वापस आ गये।

टीका—इस प्रकार आशीर्वाद वचन कहने के अनन्तर बलराम और वासुदेव, अन्य यादवकुल के लोग तथा उग्रसेन आदि बहुत से प्रधान पुरुष, भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके वापस द्वारकापुरी में आ गये। इस कथन से भगवान् नेमिनाथ

के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति की विशिष्टता का सूचन होता है। वन्दना शब्द यद्यपि केवल स्तुतिमात्र का बोधक है तथापि इस स्थान में उसके वन्दना और नमस्कार ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किये गये हैं तथा 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस नियम के अनुसार दोनों ही अर्थ प्रामाणिक एवं युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। इसके पश्चात् भगवान् नेमिनाथ ने उग्र तपश्चर्या के द्वारा कर्मबन्धनों की विकट शृंखलाओं को तोड़कर क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और ५४ दिन के बाद उनको लोकालोक के प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिससे वह संसार के समस्त पदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से यथावत् जानने लगे अर्थात् संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो उनके ज्ञान से तिरोहित हो [यह वर्णन प्रसंगवशात् किया गया है]।

जिस समय भगवान् नेमिनाथ पशुओं की दीन दशा को देखकर विवाह का संकल्प छोड़कर वापस लौट आये, उस समय कुमारी राजीमती [जिसका कि उन्होंने पाणिग्रहण करना था] की क्या दशा हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा उ निराणन्दा, सोगेण उ समुच्छिया ॥२८॥

श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हास्या च निरानन्दा, शोकेन तु समवस्तृता ॥२८॥

पदार्थान्वयः—सोऊण—सुनकर सा—वह राजीमती रायकन्ना—राजकन्या पव्वज्जं—प्रव्रज्या दीक्षा जिणस्स—जिन भगवान् की उ—पादपूर्ति में णीहासा—हास्य-रहित हो गई निराणन्दा—आनन्दरहित हो गई सोगेण—शोक से समुच्छिया—व्याप्त हो गई उ—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—वह राजकन्या राजीमती जिन भगवान् की दीक्षा को सुनकर हास्यरहित, आनन्दरहित और शोक से व्याप्त हो गई।

टीका—जिस समय राजीमती को नेमिनाथ भगवान् के वापस लौटने और दीक्षाग्रहण करने का समाचार मिला, उस समय उसका सारा ही विनोद जाता रहा, सारा ही हर्ष विलीन हो गया और शोक के मारे व्याकुल हो गई। तात्पर्य यह है कि

चारित्र और तप तथा क्षमा एवं मुक्ति निर्लोभता आदि सद्गुण सदा वृद्धि को ही पाते रहें। यहाँ पर जो ज्ञान शब्द प्रथम ग्रहण किया है, उसका कारण यह है कि विशेष धर्म में सामान्य धर्म का बोध भी हो ही जाता है। ज्ञान विशेष-ग्राही और दर्शन सामान्यग्राही माना गया है। अपरञ्च, सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान का ही होना दुर्घट है। अतः ज्ञान की सफलता सम्यग्दर्शनपूर्वक ही मानी गई है। सो जब ज्ञान हुआ, तब चारित्र, तप, क्षमा और निर्ममत्वादि का होना अनिवार्य है अर्थात् ये सब सहज ही में धारण किये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष जिस समय प्रत्येक पदार्थ के गुणों और पर्यायों को समझ लेता है, तब उसका हेयोपादेय विषयक जो विचार होता है, वह पूर्ण रूप से तथ्य होता है।

इस प्रकार आशीर्वाद देने के अनन्तर वे वासुदेवादि समस्त पुरुष भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करके अपनी द्वारकापुरी की ओर प्रस्थित हुए, अब इस बात का वर्णन करते हैं—

एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहूजणा।
अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं ॥२७॥

एवं तौ रामकेशवौ, दशार्हाश्च बहुजनाः।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा, अतिगता द्वारकापुरीम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार ते—वह दोनों रामकेसवा—राम और केशव दसारा—यादवों का समूह य—और बहूजणा—अन्य बहुत से पुरुष अरिट्ठनेमिं—अरिष्टनेमि भगवान् को वंदित्ता—वन्दना करके बारगाउरिं—द्वारकापुरी को अइगया—वापस चले आये।

मूलार्थ—इस प्रकार वे दोनों राम और केशव, यादववंशी तथा अन्य बहुत से पुरुष भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके द्वारकापुरी को वापस आ गये।

टीका—इस प्रकार आशीर्वाद वचन कहने के अनन्तर बलराम और वासुदेव, अन्य यादवकुल के लोग तथा उग्रसेन आदि बहुत से प्रधान पुरुष, भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके वापस द्वारकापुरी में आ गये। इस कथन से भगवान् नेमिनाथ

के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति की विशिष्टता का सूचन होता है। वन्दना शब्द यद्यपि केवल स्तुतिमात्र का बोधक है तथापि इस स्थान में उसके वन्दना और नमस्कार ये दोनों ही अर्थ ग्रहण किये गये हैं तथा 'धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं' इस नियम के अनुसार दोनों ही अर्थ प्रामाणिक एवं युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। इसके पश्चात् भगवान् नेमिनाथ ने उग्र तपश्चर्या के द्वारा कर्मबन्धनों की विकट शृंखलाओं को तोड़कर क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और ५४ दिन के बाद उनको लोकालोक के प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई, जिससे वह संसार के समस्त पदार्थों को सामान्य-विशेषरूप से यथावत् जानने लगे अर्थात् संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं कि जो उनके ज्ञान से तिरोहित हो [यह वर्णन प्रसंगवशात् किया गया है]।

जिस समय भगवान् नेमिनाथ पशुओं की दीन दशा को देखकर विवाह का संकल्प छोड़कर वापस लौट आये, उस समय कुमारी राजीमती [जिसका कि उन्होंने पाणिग्रहण करना था] की क्या दशा हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा उ निराणन्दा, सोगेण उ समुच्छिया ॥२८॥

श्रुत्वा राजकन्या, प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हास्या च निरानन्दा, शोकेन तु समवस्तृता ॥२८॥

पदार्थान्वयः—सोऊण—सुनकर सा—वह राजीमती रायकन्ना—राजकन्या पव्वज्ज—प्रव्रज्या दीक्षा जिणस्स—जिन भगवान् की उ—पादपूर्ति में णीहासा—हास्य-रहित हो गई निराणन्दा—आनन्दरहित हो गई सोगेण—शोक से समुच्छिया—व्याप्त हो गई उ—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—वह राजकन्या राजीमती जिन भगवान् की दीक्षा को सुनकर हास्यरहित, आनन्दरहित और शोक से व्याप्त हो गई।

टीका—जिस समय राजीमती को नेमिनाथ भगवान् के वापस लौटने और दीक्षाग्रहण करने का समाचार मिला, उस समय उसका सारा ही विनोद जाता रहा, सारा ही हर्ष विलीन हो गया और शोक के मारे व्याकुल हो गई। तात्पर्य यह है कि

पूर्वभव का जागा हुआ स्नेह उसे विशेष रूप से सन्ताप देने लगा। किसी २ प्रति में 'सोऊण रायवरकन्ना' ऐसा पाठ भी देखने में आता है। किन्तु अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

भगवान् नेमिनाथ के पीछे लौट जाने और श्रमणधर्म में प्रविष्ट हो जाने पर शोकसन्तप्त राजीमती के हृदय में अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगे। वह मन में चिन्ता करती हुई जो कुछ कहती है, अब उसी का वर्णन करते हैं—

राईमई विचिंतेई, धिरत्थु मम जीवियं।
जाऽहं तेणं परिच्चत्ता, सेयं पव्वइउं मम ॥२९॥
राजीमती विचिन्तयति, धिगस्तु मम जीवितम्।
याऽहं तेन परित्यक्ता, श्रेयः प्रव्रजितुं मम ॥२९॥

पदार्थान्वयः—राईमई—राजीमती विचिंतेई—चिंतन करती है धिरत्थु—धिक् हो मम—मेरे जीवियं—जीवन को जा—जो अहं—मैं तेण—तिसके द्वारा परिच्चत्ता—सर्व प्रकार से त्यागी गई, अत सेय—श्रेष्ठ है मम—मेरे को अब पव्वइउ—प्रव्रजित—दीक्षित हो जाना।

मूलार्थ—राजीमती विचार करती हुई कहती है कि धिक्कार हो मेरे इस जीवन को, जो मुझे उसने—भगवान् नेमिनाथ ने—सर्वथा त्याग दिया। अतः अब तो मेरे लिए भी दीक्षित होना ही श्रेयस्कर है।

टीका—राजीमती विचार करती हुई अपने जीवन को धिक्कार दे रही है अर्थात् अपने जीवन को विशेष रूप से निन्दनीय ठहरा रही है। कारण यह है कि भगवान् नेमिकुमार उसको त्यागकर चले गये। इससे खिन्न होकर उसने अपने जीवन को नितान्त अयोग्य समझा। आगामी काल में इस प्रकार के असह्य दुःख का अनुभव करना न पड़े, एतदर्थ वह दीक्षा लेकर अपने जीवन को सुयोग्य बनाने में ही अपना हित समझती हुई कहती है कि मेरा कल्याण अब इसी में है कि मैं दीक्षा ग्रहण कर लूँ।

जब तक नेमिनाथ भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक राजीमती वैराग्यगर्भित अन्तःकरण से घर में ही रही। जिस समय उनको केवल ज्ञान हो गया और वे वहाँ से विहार कर गये तथा कुछ समय के बाद विचरते हुए

जब वे फिर उज्जयन्त पर्वत के समीपवर्ती उसी सहस्राम्रवन में पधारे, तब उनके मुखारविन्द से धर्म के पवित्र उपदेश को सुनकर राजीमती की वैराग्य भावना में एकदम जागृति हो उठी। उसके कारण प्रबुद्ध हुई राजीमती क्या करती है, अब इसी का दिग्दर्शन कराते हैं—

अह सा भमरसंनिभे, कुच्चफणगप्पसाहिए ।
सयमेव लुंचई केसे, धिइमंती ववस्सिया ॥३०॥

अथ सा भ्रमरसन्निभान्, कूर्चफनकप्रसाधितान् ।
स्वयमेव लुञ्चति केशान्, धृतिमती व्यवसिता ॥३०॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ अनन्तर सा—वह राजीमती भमरसंनिभे—भ्रमर के सदृश कृष्ण वर्ण वाले कुच्च—कूर्च फणग—कंघी से प्पसाहिए—सँवारे हुए केसे—केशों को सयमेव—अपने आप लुंचई—लुंचन करती है धिइमंती—धैर्य वाली ववस्सिया—शुभ अध्यवसाय युक्त।

मूलार्थ—तदनन्तर धैर्ययुक्त और धार्मिक अध्यवसाय वाली उस राजीमती ने कूर्च और फनक (बुश और कंघी) से संस्कार किये हुए अपने भ्रमरसदृश केशों को अपने हाथ से ही लुंचन कर दिया अर्थात् अपने ही हाथ से उखाड़कर सिर से अलग कर दिया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में राजीमती की धीरता और वैराग्य की उत्कट भावना का दिग्दर्शन कराया गया है। भगवान् नेमिनाथ के प्रेम और वैराग्य से गर्भित उपदेशामृत के पान से ज्ञानगर्भित वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त हुई राजीमती ने आध्यात्मिक प्रेम के दिव्य आदर्श को संसार के सामने जिस रूप में रक्खा है, वह अन्यत्र मिलना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर तो अवश्य है। उसका सांसारिक पदार्थों पर से रहा सहा का मोह भी जाता रहा। शरीर पर के ममत्व को भी उसने इस तरह पर परे फेंक दिया, जैसे सर्प काँचली को फेंक देता है। अपने शृंगारित अति सुन्दर केशों को अपने हाथ से ही उखाड़कर परे फेंक दिया और श्रमणवृत्ति को धारण करके अपनी वैराग्यभावना और संयमनिष्ठा का परिचय देते हुए विशुद्ध प्रेम का भी सजीव आदर्श

संसार के सम्मुख उपस्थित किया। अतः भारत का मुख उज्ज्वल करने वाली रमणियों में राजीमती का स्थान विशेष प्रतिष्ठा को लिये हुए है। कूर्च और फनक शब्द के विषय में वृत्तिकार लिखते हैं—'कूर्चो गूढकेशोन्मोचको वंशमय', फणक, कङ्कतकाख्याभ्या प्रसाधिताः संस्कृता ये तान्' अर्थात् उलझे हुए केशों को सुलझाने वाला बाँस का बना हुआ मोटे दाँतों वाला ब्रुश अथवा कंघे की सी आकृति का यन्त्र विशेष कूर्च है और बारीक दाँतों वाली कंघी को फणक कहते हैं। उनके द्वारा संस्कारित वे केश थे। इस कथन से केशों का सौंदर्य और विशिष्ट संस्कार का बोध कराना अभिप्रेत है।

इस प्रकार वैराग्य के रंग में रँगी हुई राजीमती के दीक्षित हो जाने के बाद वासुदेवादि ने उसको जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

वासुदेवो य णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं।
संसारसागरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं ॥३१॥

वासुदेवश्च तां भणति, लुप्तकेशां जितेन्द्रियाम्।
संसारसागरं घोरं, तर कन्ये लघु लघु ॥३१॥

पदार्थान्वयः—वासुदेवो—वासुदेव य—पुनः णं—उसको भणई—कहता है लुत्तकेसं—लुप्तकेश जिइंदियं—जितेन्द्रिय को संसारसागरं—संसारसमुद्र को घोरं—जो अति भयंकर है कन्ने—हे कन्ये! लहुं लहुं—शीघ्र २ तर—तर जा।

मूलार्थ—वासुदेवादि राजीमती के प्रति जो लुंचित केश और इन्द्रियों को जीतने वाली है—कहते हैं कि हे कन्ये! तू इस संसाररूप दुस्तर समुद्र से शीघ्र शीघ्र पार होजा!

टीका—जिस समय राजकुमारी राजीमती श्रमणधर्म में प्रविष्ट हो गई अर्थात् उसने दीक्षा को अंगीकार कर लिया, उस समय वासुदेव और समुद्रविजय आदि आशीर्वाद देते हुए राजीमती से कहते हैं कि हे कन्ये! तू इस घोर संसार-समुद्र से अतिशीघ्र पार हो। तात्पर्य यह है कि जिस पवित्र उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर तुमने इस संयमवृत्ति को ग्रहण किया है, वह तुमको जल्दी से जल्दी प्राप्त होवे अर्थात् उसकी सिद्धि में तुमको पूर्ण सफलता मिले। उक्त कथन आशीर्वाद रूप होने से ही प्रस्तुत

गाथा में दो बार लघु शब्द का प्रयोग किया है। तथा 'च' शब्द यहाँ पर समुच्चय का बोधक है, जिससे समुद्रविजयादि का भी उक्त आशीर्वाद वचन में ग्रहण किया गया है। एवं घोर शब्द को संसार-समुद्र का विशेषण बनाने का तात्पर्य यह है कि यह संसार जन्म-मरण और संयोग-वियोगादि दुःखों से भरा पड़ा है। अतः यह घोर—महाभयंकर है।

दीक्षा धारण करने के बाद अब राजीमती के अन्य प्रशंसनीय कार्य का वर्णन करते हैं—

सा पव्वईया सन्ती, पव्वावेसी तहिं बहुं।
संयणं परियणं चेव, सीलवन्ता बहुस्सुआ ॥३२॥

सा प्रव्रजिता सती, प्रव्राजयामास तस्यां बहून्।
स्वजनान् परिजनांश्चैव, शीलवती बहुश्रुता ॥३२॥

पदार्थान्वयः—सा—वह राजीमती पव्वईया संती—प्रव्रजित हुई तहिं—वहाँ द्वारकापुरी में पव्वावेसी—दीक्षित करने लगी बहु—बहुत से सयणं—स्वजनों च—और परियणं—परिजनों को एव—निश्चय ही सीलवन्ता—शील वाली और बहुस्सुआ—बहुश्रुता।

मूलार्थ—वह शीलवती और बहुश्रुता राजीमती दीक्षित होकर उस द्वारकापुरी में बहुत से स्वजन तथा परिजनों को दीक्षित करने लगी।

टीका—परम सुशीला और पंडिता राजीमती ने संसार से विरक्त होकर संयम ग्रहण करते हुए अपने आत्मा का ही उद्धार नहीं किया किन्तु अपनी सखी-सहेलियों तथा बहुत सी अन्य स्त्रियों का भी उद्धार किया अर्थात् उसने स्वयं दीक्षाव्रत अंगीकार करके वहाँ द्वारकापुरी में रहने वाली बहुत सी स्त्रियों को भी जिनधर्म में दीक्षित किया, जिससे चारित्रव्रत का आराधन करती हुई वे भी सद्गति को प्राप्त हुई। प्रस्तुत गाथा में राजीमती के लिए 'बहुस्सुआ—बहुश्रुता' विशेषण दिया है। इससे प्रतीत होता है कि उसने गृहवास में रहते समय भी श्रुत का बहुत अभ्यास किया था और गृहस्थ भी श्रुत का पर्याप्त रूप से अभ्यास कर सकते हैं। अतः राजीमती का बहुत संख्या में अन्य स्त्री-जन को दीक्षित करना उनके विशिष्ट श्रुतज्ञान को ही प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार बहुत-सी सहचरियों को दीक्षा देकर और उनको साथ लेकर, रैवतगिरि पर विराजे हुए भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने के लिए जब राजीमती ने प्रस्थान किया तो मार्ग में उनके साथ जो घटना हुई, अब उसका वर्णन करते हैं—

गिरिं रेवतयं जन्ती, वासेणोल्ला उ अन्तरा।
वासंते अंधयारम्मि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥३३॥
गिरिं रैवतकं यान्ती, वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा।
वर्षत्यन्धकारे , अन्तरा लयनस्य सा स्थिता ॥३३॥

पदार्थान्वयः—रेवतयं-रैवत गिरिं-पर्वत को जन्ती-जाती हुई अन्तरा-बीच में आधे मार्ग में वासेणोल्ला-वर्षा से भीग गई उ-फिर वासंते-वर्षा के होते हुए अंधयारम्मि-अन्धकार में लयणस्स-लयन, गुफा के अंतो-भीतर सा-राजीमती ठिया-ठहर गई।

मूलार्थ—रैवतगिरि पर जाती हुई वह वर्षा से भीग गई और वर्षा के होते हुए ही वह एक अन्धकारमयी गुफा में जाकर ठहर गई।

टीका—जिस समय अपने सारे आर्यापरिवार को साथ लेकर राजीमती रैवतगिरि को प्रस्थित हुई, अनुमान आधे मार्ग पर पहुँचते ही घनघोर वर्षा होने लगी। उससे राजीमती के सारे वस्त्र भीग गये। तब वह वर्षा के होते ही समीपवर्ती पर्वत की एक गुफा में जाकर ठहर गई, जहाँ पर पूर्ण अन्धकार था। साधु और साध्वी के लिए शास्त्र का ऐसा आदेश है कि जिस समय वर्षा पड़ रही हो, उस समय वे विहार न करें किन्तु किसी आश्रय में—जहाँ पर वर्षा से बचाव हो सके—ठहर जायँ। इसलिए राजीमती ने समीपवर्तिनी एक गुफा में आश्रय लिया। प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त हुए 'लयण' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ पर्वत की गुफा या कन्दरा है, जो कि एकान्तप्रिय आत्मार्थी जीवों को धर्मध्यानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए उपयोग में आती हैं और आती थीं। यह भी कृत्रिम अर्थात् बनाई हुई अथवा स्वभावतः बनी हुई होती हैं। जिस गुफा में राजीमती जाकर ठहरी, वह बड़ी विशाल गुफा थी और उसका निर्माण भी विविक्तस्थानसेवी साधु-महात्माओं के लिए था। यह सब अनुमानत सिद्ध होता है।

तदनन्तर क्या घटना हुई, अब इसका वर्णन करते हैं—

चीवराणि विसारंती, जहाजायत्ति पासिया ।
रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो अ तीइवि ॥३४॥
चीवराणि विस्तारयन्ती, यथाजातेति दृष्ट्वा ।
रथनेमिर्भग्नचित्तः, पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि ॥३४॥

पदार्थान्वयः—चीवराणि–वस्त्रों को विसारंती–फैलाती हुई जहाजायत्ति–जैसे जन्मसमय में शरीर अनावृत रहता है तद्वत् नग्न हुई को पासिया–देखकर रहनेमी–रथनेमि नामक मुनि भग्गचित्तो–भग्नचित्त हो गया अ–और तीइवि–उसने भी पच्छा दिट्ठो–उस मुनि को पीछे ही देखा ।

मूलार्थ—भीगे हुए वस्त्रों को फैलाती हुई यथाजात—नग्न—राजीमती को देखकर रथनेमि मुनि का चित्त भग्न हो गया । उसने—राजीमती ने भी उस मुनि को पीछे ही देखा ।

टीका—उक्त गुफा में प्रवेश करने के अनन्तर राजीमती जब अपने भीगे हुए वस्त्रों को उतारकर फैलाने लगी, तब वह जैसे जन्मसमय की वस्त्ररहित अवस्था होती है, तद्वत् हो गई अर्थात् नग्न हो गई । उसकी इस अवस्था को देखकर वहाँ गुफा में रहे हुए रथनेमि नाम के एक साधु के मन में विकार उत्पन्न हो गया अर्थात् संयमवृत्ति से उसका मन भग्न हो गया । इधर सती राजीमती ने भी दृष्टि के फैलने से उसको देखा । कारण यह है कि अन्धकार में पहले प्रवेश करते समय कुछ दिखाई नहीं देता और जब दृष्टि स्थिर हो जाती है, तब कुछ कुछ दिखाई देने लगता है । अतः गुफा में प्रवेश करते समय तो उसने रथनेमि को नहीं देखा परन्तु कुछ समय के बाद उसको वह दिखाई पड़ा ।

राजीमती के रूप-लावण्य को देखकर संयम से विचलित हुए रथनेमि को देखने से राजीमती एकदम भयभीत हो उठी । अब इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं ।
बाहाहिं काउं संगुप्फं, वेवमाणी निसीयई ॥३५॥

भीता च सा तत्र दृष्ट्वा, एकान्ते संयतं तकम् ।
बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं, वेपमाना निषीदति ॥३५॥

पदार्थान्वयः—य—और भीया—भयभीत होती हुई सा—राजीमती तहिं—वहाँ पर एगते—एकान्त में तय—उस संजय—संयत को दट्ठु—देखकर बाहाहिं—अपनी दोनों भुजाओं से संगुप्फं—स्तनादि को गुप्त काऊ—करके वेवमाणी—काँपती हुई निसीयई—बैठ गई ।

मूलार्थ—वहाँ पर एकान्त स्थान में उस संयत को देखकर भयभीत होती हुई राजीमती अपनी दोनों भुजाओं से अपने शरीर को गुप्त करके काँपती हुई बैठ गई ।

टीका—उस गुफा में जिस समय राजीमती ने रथनेमि नाम के एक साधु को बैठे देखा तो वह भय के मारे काँप उठी और अपनी दोनों भुजाओं से अपने स्तनमण्डल आदि को वेष्टित करके मर्कटबन्ध से बैठ गई । अन्धकारमयी गुफा में जहाँ कि दूसरा कोई व्यक्ति नहीं, ऐसे एकान्त स्थान में नग्न अवस्था में खड़ी हुई स्त्री का किसी पुरुष को देखकर भयभीत होना बिलकुल स्वाभाविक है । इसलिए सती राजीमती का भययुक्त होकर कम्पायमान होना भी सम्भव ही था । कारण कि ऐसे एकान्तस्थान में कामासक्त पुरुष द्वारा बलात्कार होने की पूर्ण सम्भावना रहती है । अतः अपने शीलव्रत के खंडित होने के भय से और यथाशक्ति रक्षा करने के उद्देश्य से काँपती हुई राजीमती यथाकथंचित् अपने गुप्त अंगों को अपनी भुजाओं द्वारा छिपाती हुई बैठ गई ।

अब रथनेमि के विषय में कहते हैं—

अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ ।
भीयं पवेविरं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥३६॥

अथ सोऽपि राजपुत्रः, समुद्रविजयाङ्गजः ।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा, इदं वाक्यमुदाहृतवान् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ सो—वह रायपुत्तो—राजपुत्र रथनेमि वि—भी समुद्दविजयंगओ—समुद्रविजय के अंग से उत्पन्न होने वाला भीय—डरी हुई पवेविरं—काँपती हुई को दट्ठु—देखकर इम—यह वक्कम्—वाक्य उदाहरे—कहने लगा ।

मूलार्थ—तदनन्तर समुद्रविजय के अंग से उत्पन्न होने वाला वह राजपुत्र—रथनेमि डरती और काँपती हुई राजीमती को देखकर इस प्रकार कहने लगा।

टीका—रथनेमि समुद्रविजय का पुत्र और भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई था। वह भी भगवान् के साथ ही दीक्षित हो गया था और धर्मध्यान के लिए उस गुफा में विराजमान था। राजपुत्र कहने से उसकी कुलीनता ध्वनित की गई है।

रथनेमि साधु ने सती राजीमती से क्या कहा, अब इसका उल्लेख करते हैं—

रहनेमी अहं भद्दे ! सुरूवे ! चारुभासिणी !
ममं भयाहि सुअणु ! न ते पीला भविस्सई ॥३७॥
रथनेमिरहं भद्रे ! सुरूपे ! चारुभाषिणि !
मां भजस्व सुतनो ! न ते पीडा भविष्यति ॥३७॥

पदार्थान्वयः—रहनेमी-रथनेमि अहं-मैं हूँ भद्दे-हे भद्रे ! सुरूवे-हे सुन्दर रूप वाली ! चारुभासिणी-मनोहर भाषण करने वाली ! ममं-मुझे भयाहि-सेवन कर सुअणु-हे सुन्दर शरीर वाली ! न-नहीं ते-तेरे को पीला-पीडा भविस्सई-होगी अर्थात् विषय के सेवन करने से।

मूलार्थ—हे भद्रे ! मैं रथनेमि हूँ। अतः हे सुन्दरि ! हे मनोहरभाषिणि ! हे सुन्दर शरीर वाली ! तुम मुझको सेवन करो। तुम्हें किसी प्रकार की भी पीडा नहीं होगी।

टीका—इस गाथा में रथनेमि ने राजीमती को अपना परिचय देते हुए उसे निर्भय करने का प्रयत्न किया है। इसमें उसका जो अभिप्राय है, वह स्पष्ट है। वह कहता है कि मैं राजपुत्र हूँ और रथनेमि मेरा नाम है और तू भी परम सुन्दरी है। इसलिए निर्भय होकर तू मेरे समागम में आ जा। तुम्हें किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं होगा। राजकुमार रथनेमि ने अपना परिचय देते हुए अपने अभिप्राय को भी स्पष्ट शब्दों में सती राजीमती के सामने रख दिया ताकि उसको विश्वास हो जाय कि मैं निर्भय हूँ और रतिजन्य सुख परम आनन्द का जनक है।

इस प्रकार सामान्य रूप से अपने भावों को प्रकट करने के अनन्तर अब रथनेमि विशेष रूप से उनको प्रकट करता है—

एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।
भुत्तभोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो ॥३८॥

एहि तावद् भुञ्जीवहि भोगान्, मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ।
भुक्तभोगौ ततः पश्चात्, जिनमार्गं चरिष्यावः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—एहि—इधर आ ता—पहले हम दोनों भोए—भोगों को भुंजिमो—भोगें माणुस्सं—मनुष्यजन्म खु—निश्चय ही सुदुल्लह—अति दुर्लभ है भुत्तभोगा—भोगों को भोगकर तओ—फिर पच्छा—पीछे हम दोनों जिणमग्ग—जिनमार्ग का चरिस्समो—आचरण करेंगे ।

मूलार्थ—तुम इधर आओ । प्रथम हम दोनों भोगों को भोगें क्योंकि यह मनुष्यजन्म निश्चय ही मिलना अति कठिन है । अतः भुक्तभोगी होकर—भोगों को भोगकर फिर पीछे से हम दोनों जिनमार्ग को ग्रहण कर लेंगे ।

टीका—रथनेमि, सती राजीमती से कहता है कि सुन्दरि ! आओ । हम दोनों सांसारिक विषय-भोगों का आनन्दपूर्वक सेवन करें क्योंकि यह मनुष्यजन्म अत्यन्त दुर्लभ है । इसमें कामभोगों का यथारुचि सेवन करना ही सार है और यथारुचि विषय-भोगों का उपभोग करके फिर दीक्षा भी ग्रहण कर लेंगे इत्यादि । प्रस्तुत गाथा में रथनेमि के विकृत चित्त का चित्रण बहुत ही सुन्दरता से किया गया है । शास्त्रकारों ने स्थान स्थान में स्त्रीसंसर्ग से बचने का साधु को जो उपदेश किया है, उसका भी यही उद्देश्य है । कारण कि यह इन्द्रियसमूह बड़ा बलवान् है । इसका निग्रह करना कोई साधारण बात नहीं है । इसलिए साधु को स्त्रीसंसर्ग से सदैव दूर रहना चाहिए अन्यथा राजीमती को देखते ध्यानमग्न रथनेमि की जो दशा हुई थी, वही दशा सब की होगी, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं ।

अब राजीमती के विषय में कहते हैं—

दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोयपराजियं ।
राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥३९॥

दृष्ट्वा रथनेमिं तं, भग्नोद्योगपराजितम् ।
राजीमत्यसम्भ्रान्ता , आत्मानं समवारीत् तत्र ॥३९॥

पदार्थान्वयः—दट्ठूण—देखकर तं—उस रहनेमिं रथनेमि को जो भग्गुज्जोय—भग्नोद्योग अर्थात् संयम से भग्नचित्त हो रहा था पराजियं—स्त्रीपरिषह से पराजित था राईमई—राजीमती असंभंता—असम्भ्रान्त हुई तहिं—वहाँ पर अप्पाणं—अपने आत्मा को—शरीर को संवरे—ढाँपने लगी।

मूलार्थ—भग्नचित्त और स्त्रीपरिषह से पराजित हुए उस रथनेमि को देखकर असम्भ्रान्त—निर्भय हुई राजीमती ने वहाँ अपने आत्मा—शरीर को वस्त्रों से ढाँप लिया।

टीका—जिस समय राजीमती ने संयमविषयक भग्नचित्त और स्त्रीपरिषह से पराजित हुए रथनेमि को देखा तो उसने वस्त्रों से अपने शरीर को ढाँप लिया और वह निर्भय हो गई। सती राजीमती के निर्भय होने के दो कारण हैं। एक तो सती को अपने आत्मा पर पूर्ण विश्वास था। दूसरे वह यह समझती थी कि रथनेमि राजपुत्र है, उच्चकुल में उत्पन्न हुआ है, अतः कुलीन होने के कारण वह मेरे ऊपर बलात्कार कभी नहीं करेगा किन्तु विपरीत इसके यदि उसको उचित शब्दों में समझाया जायगा तो वह अपने इस आत्मपतन से सम्हल जायगा। जो कुल सम्पन्न होते हैं, वे यदि अपने कर्तव्य से च्युत भी हो जायँ तो भी वे सहसा ऐसे कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, जो कि सर्वथा अधम्य और साधुजनविगर्हित हो प्रत्युत समझाने पर वे उससे निवृत्त भी हो जाते हैं। इसी विचार से राजीमती असम्भ्रान्त हो गई।

अब इसी विषय को स्फुट करते हुए राजीमती के सम्बन्ध में फिर कहते हैं—

अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए ।
जाई कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वए ॥४०॥

अथ सा राजवरकन्या, सुस्थिता नियमव्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च, रक्षन्ती तकमवदत् ॥४०॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ अनन्तर सा—वह रायवरकन्ना—राजकन्या सुट्ठिया—भली भाँति स्थिर हुई नियमव्वए—नियम और व्रत में जाई—जाति च—और कुल—कुल च—और सील—शील की रक्खमाणी—रक्षा करती हुई तयं—उस रथनेमि को वए—कहने लगी।

मूलार्थ—तदनन्तर नियम और व्रत में भली भाँति स्थित हुई वह राजकन्या—राजीमती—अपने जाति, कुल और शील की रक्षा करती हुई उसके—रथनेमि के—प्रति इस प्रकार कहने लगी।

टीका—कुलीन स्त्री हो चाहे पुरुष, वह ग्रहण किये हुए नियमों को बड़ी दृढ़तापूर्वक पालन करता है तथा अपने जाति और कुल का उसे पूरा ध्यान रहता है। इसलिए शील व्रत की रक्षा में पूरी सावधानी रखती हुई राजीमती ने रथनेमि से समुचित शब्दों में इस प्रकार कहा। यह कथन समुचित प्रतीत होता है क्योंकि सती साध्वी स्त्रियें अपने शील व्रत में अणुमात्र भी लांछन नहीं आने देतीं।

अब राजीमती के वक्तव्य का वर्णन करते हैं—

जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो ।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो ॥४१॥
यद्यसि रूपेण वैश्रवणः, ललितेन नलकूबरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि, यद्यसि साक्षात् पुरन्दरः ॥४१॥

पदार्थान्वयः—जइसि—यदि तू रूवेण—रूप से वेसमणो—वैश्रवण के समान ललिएण—लालित्य में नलकूबरो—नलकूबर के तुल्य असि—है तहावि—तथापि ते—तुझे न—नहीं इच्छामि—चाहती जइ—यदि तू सक्ख—साक्षात् पुरंदरो—इन्द्र के समान भी होवे।

मूलार्थ—यदि तू रूप में वैश्रवण और लीला-विलास में नलकूबर के समान भी होवे, अधिक क्या कहूँ, यदि तू साक्षात् इन्द्र भी होवे तो भी मैं तुझे नहीं चाहती।

टीका—सती साध्वी स्त्री का मन कितना दृढ और पवित्र होता है, इस भाव का चित्र इस गाथा में बड़ी ही उत्तमता से खींचा गया है। सती राजीमती, साधु बने हुए रथनेमि नाम के राजकुमार को उत्तर देती हुई कहती है कि रूप का साक्षात् स्वरूप वैश्रवण, तथा लीला और विलास की सजीव मूर्ति नलकूबर भी यदि तू होवे, अधिक तो क्या यदि तू साक्षात् इन्द्र भी होवे तो भी मैं तुझे ठुकराती हूँ अर्थात् तेरी इच्छा नहीं रखती। तात्पर्य यह है कि सती साध्वी स्त्री किसी पुरुष या देव विशेष के रूप और ऐश्वर्य को अपने सतीत्व धर्म के आगे तुच्छ से भी तुच्छ समझती है। तभी सती राजीमती ने इस प्रकार का समुचित उत्तर दिया, जिससे कि रथनेमि साधु को उसकी पूर्ण दृढता और आन्तरिक विशुद्धि का पता लग जाये।

अब अपने सतीधर्म का परिचय देती हुई राजीमती फिर कहती है—

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥४२॥

प्रस्कन्दन्ते ज्वलितं ज्योतिषम्, धूमकेतुं दुरासदम्।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पक्खंदे—पड़ते हैं जलियं—आज्वल्यमान जोइं—ज्योति—अग्नि में धूमकेउं—धूम जिसका केतु है दुरासयं—दुःख से आश्रित करने योग्य वंतयं—वमन किये हुए को भोत्तुं—भोगना—खाना नेच्छन्ति—नहीं चाहते अगंधणे—अगन्धन कुले—कुल में जाया—उत्पन्न होने वाले सर्प।

मूलार्थ—अगन्धन कुल में उत्पन्न होने वाले सर्प, धूम जिसका केतु—ध्वजा है ऐसी आज्वल्यमान अग्नि में गिरना तो स्वीकार कर लेते हैं परन्तु वमन की हुई वस्तु को फिर स्वीकार नहीं करते।

टीका—रथनेमि को अगन्धन कुलोत्पन्न सर्प के दृष्टान्त से अपनी प्रतिज्ञा में दृढ रहने की शिक्षा देती हुई राजीमती कहती है कि जैसे अगन्धन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प, अग्नि में गिरकर भस्म हो जाना तो स्वीकार कर लेता है परन्तु अपने वमन किये हुए विष को फिर से स्वीकार नहीं करता, इसी प्रकार जो उत्तम कुल में

उत्पन्न होने वाले पुरुष हैं वे वमन के तुल्य अर्थात् त्याग किये हुए इन कामभोगादि विषयों को मरणान्त कष्ट आने पर भी स्वीकार नहीं करते। सर्पों की मुख्यतया दो जातियाँ हैं—१ गन्धन, २ अगन्धन। राजीमती के कहने का तात्पर्य यह है कि जब एक तिर्यग्योनि का जीव भी अपनी प्रतिज्ञा से पीछे नहीं हटता, तो तेरे जैसे मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुए तथा सर्व प्रकार के हित अहित का ज्ञान रखने वाले जीव को अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का भंग करते हुए देखकर मुझे अत्यन्त खेद होता है। बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा का उल्लेख नहीं किया परन्तु इस गाथा से आरम्भ करके उक्त विषय की आगे लिखी गई कतिपय अन्य गाथाओं का उल्लेख, दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में किया हुआ देखने में आता है।

अब इसी आशय को स्फुट करती हुई वह फिर कहती है—

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥४३॥

धिगस्तु त्वामयशःकामिन्! यत् त्वं जीवितकारणात्।
वान्तमिच्छस्यापातुं , श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥४३॥

पदार्थान्वयः—धिरत्थु–धिक् हो ते–तुझे अजसोकामी–हे अयश की कामना करने वाले! जो–जो तं–तू जीवियकारणा–जीवन के कारण से वंतं–वमन के आवेउं–पीने की इच्छसि–इच्छा करता है सेयं–श्रेय है यदि ते–तेरी मरणं–मृत्यु भवे–हो जावे।

मूलार्थ—हे अयश की कामना करने वाले! तुझे धिक्कार हो, जो कि तू असंयत जीवन के कारण से वमन किये हुए को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है।

टीका—रथनेमि से राजीमती कहती है कि ऐसे उत्तम कुल में उत्पन्न होकर इन तुच्छ विषय-विकारों की इच्छा रखना और वह भी संयम ग्रहण करने के पश्चात्! इससे बढ़कर तुम्हारे लिए अयश की और कौन सी बात हो सकती है। मनुष्य होकर वमन किये हुए को फिर से ग्रहण करने की अभिलाषा करता है। अतः तेरे

इस जीवन को धिक्कार है। इससे तो तेरे लिए मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है अर्थात् इस प्रकार के असंयममय जीवन को व्यतीत करने की अपेक्षा मरना अधिक श्रेष्ठ है। इसी लिए कहा है—'धिक्षाय वस्तु निन्द्यं, त्यक्त्वा गृह्णन्ति किं कश्चित् पुरुषाः। वान्तं पुनरपि भुंक्ते न च सर्वे सारमेयोऽपि ॥'

अब इसका उपनय करती हुई कहती है कि—

अहं च भोगरायस्स, तं चासि अन्धगवण्हिणो।
मा कुले गन्धणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥४४॥

अहं च भोगराजस्य, त्वं चास्यन्धकवृष्णेः।
मा कुले गन्धनानां भूव, संयमं निभृतश्चर ॥४४॥

पदार्थान्वयः—अहं—मैं भोगरायस्स—उग्रसेन की पुत्री हूँ च—और तं—तू अन्धगवण्हिणो—समुद्रविजय का पुत्र असि—है कुले गन्धणा—गन्धन कुल में उत्पन्न हुए के समान मा होमो—हम दोनों न होवें अतः निहुओ—निश्चलचित्त होकर संजमं—संयम में चर—विचर।

मूलार्थ—मैं उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम समुद्रविजय के पुत्र हो। हम दोनों को गन्धन कुल के सर्पों के समान न होना चाहिए। अतः तुम निश्चल होकर संयम का आराधन करो।

टीका—राजीमती कहती है कि हे रथनेमि! मैं भोगराज—उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम अन्धकवृष्णि—समुद्रविजय के पुत्र हो अतः हम दोनों को गन्धन कुलोत्पन्न सर्प के समान नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैसे गन्धन सर्प, वमन किये हुए को भी पी लेता है उसी प्रकार हमको इन त्यागे हुए विषय भोगों को फिर से ग्रहण करना नहीं चाहिए इसलिए तुम दृढ़तापूर्वक संयम में विचरण करो अर्थात् निश्चल चित्त से संयम का आराधन करते हुए अपनी कुलीनता का ही परिचय दो जिससे कि तुम्हारे आत्मा का उद्धार हो सके।

अब फिर कहती है—

1 धिक्कृत समझकर त्यागी हुई वस्तु को सत्पुरुष क्या कभी फिर भी ग्रहण करते हैं? अर्थात् कदापि नहीं। वमन किये हुए को फिर से तो श्वान ही खाता है परन्तु वह भी सम्पूर्ण नहीं खाता।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥४५॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हठः, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥४५॥

पदार्थान्वय:—जइ—यदि त—तू काहिसि—करेगा भाव—भाव जा जा—जो जो नारिओ—नारियाँ दिच्छसि—देखेगा वायाविद्धो व्व हडो—वायु से प्रेरित किये हुए वनस्पति विशेष की तरह अट्ठिअप्पा—अस्थिर आत्मा भविस्ससि—हो जायगा अर्थात् तेरे आत्मा में स्थिरता नहीं रहेगी ।

मूलार्थ—यदि तू उक्त प्रकार के भाव करेगा, तो जहाँ २ पर स्त्रियों को देखेगा वहाँ वहाँ वायु से हिलाये गये वृक्ष विशेष की तरह तू अस्थितात्मा हो जावेगा अर्थात् तेरा आत्मा सदा के लिए अस्थिर हो जावेगा ।

टीका—सती राजीमती, रथनेमि को फिर कहती है कि यदि तुम अपने आत्मा में विषय सेवन के इस प्रकार के जघन्य भावों को उत्पन्न करोगे तो वायु से हिलाये हुए वृक्ष की भाँति तुम्हारा आत्मा सदा के लिए अस्थिर हो जायगा । अतः जहाँ कहीं भी तुम रूप-लावण्ययुक्त स्त्रियों को देखोगे, वहाँ पर ही तुम्हारा मन अधीर अथ च चपल हो जायगा । आत्मा के अधीर होने से अनेक प्रकार के अनर्थों की सभावना रहती है । सारांश यह है कि उक्त प्रकार के विषयोन्मुख भाव, नाना प्रकार के अनर्थों को उत्पन्न करने वाले होने से मुमुक्षु पुरुष को सदा के लिए त्याग देने चाहिएँ । 'यथा—वातेन विद्धः समन्तात् ताडितो वाताविद्धो भ्रमित इति यावत् हठो वनस्पतिविशेषस्तद्वदिवास्थितात्माऽस्थिरस्वभाव इति । [वृत्तिकारः] । हठ कोई वनस्पति—वृक्ष विशेष है, जो कि वायु से ताडित किया गया सदा घूमता वा हिलता रहता है ।

अब फिर इसी सम्बन्ध में कहते हैं—

गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो ।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि ॥४६॥

गोपालो भाण्डपालो वा, यथा तद्द्रव्यानीश्वरः।
एवमनीश्वरस्त्वमपि, श्रामण्यस्य भविष्यसि ॥४६॥

पदार्थान्वयः—गोवालो–गोपाल वा–अथवा भंडवालो–भाण्डपाल जहा–जैसे तद्दव्व–उस द्रव्य का अणिस्सरो–अनीश्वर होता है एव–उसी प्रकार तु पि–तू भी सामण्णस्स–श्रमण भाव का अणिस्सरो–अनीश्वर भविस्ससि–हो जायगा।

मूलार्थ—जैसे गोपाल अथवा भंडपाल उस द्रव्य का ईश्वर—स्वामी—नहीं होता, उसी प्रकार तू भी संयम का अनीश्वर हो जायगा।

टीका—राजीमती कहती है कि हे रथनेमि! जैसे गौओं को चराने वाला ग्वाला उन गौओं का स्वामी नहीं होता, और जैसे किसी के भाँडों की रक्षा करने वाला, या किसी के धन की सार-सँभाल करने वाला उस धन का स्वामी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे ग्वाले को, गौओं के दुग्ध आदि के ग्रहण का कोई अधिकार नहीं और कोशाध्यक्ष को उस धन के व्यय करने की कोई सत्ता नहीं, उसी प्रकार तू भी इस संयम का ईश्वर—स्वामी—मालिक—नहीं होगा अर्थात् इसका जो मोक्ष अथवा स्वर्ग रूप फल है, उसका तू अधिकारी नहीं बन सकता। सारांश यह है कि द्रव्यसंयम से आत्मा का कभी कल्याण नहीं होगा। आत्मा के कल्याण का हेतु तो भावसंयम है। एवं जिस आत्मा में भावसंयम विद्यमान है, वह आत्मा विषयोन्मुख अधर्म्य प्रवृत्ति से सदा ही पृथक् रहता है। अतएव संयम के फल का उपभोग करने से स्वामी के समान है और द्रव्यसंयमी पुरुष की प्रवृत्ति विषय-प्रवण होने से गोपाल और भाण्डपाल की तरह संयम के फल से उसको सदा के लिए वंचित रखती है। विपरीत इसके इष्ट फल होने के स्थान में अनिष्टफलप्राप्ति की अधिक संभावना रहती है।

राजीमती के इस प्रकार शिक्षित करने पर क्या हुआ? अब इसी विषय में कहते हैं—

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजईए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥४७॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम् ।
अङ्कुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥४७॥

पदार्थान्वयः—सो-वह रथनेमि तीसे-उस राजीमती के वयणं-वचन को सुच्चा-सुनकर संजइए-संयमशीला के सुभासिय-सुभाषित को अङ्कुसेण-अंकुश से जहा-जैसे नागो-हस्ती सीधा हो जाता है तद्वत् धम्मे-धर्म में संपडिवाइओ-स्थिर कर दिया ।

मूलार्थ—रथनेमि ने संयमशीला राजीमती के पूर्वोक्त सुभाषित वचनों को सुनकर अंकुश द्वारा मदोन्मत्त हस्ती की तरह अपने आत्मा को वश में करके फिर से धर्म में स्थित कर लिया ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में, रथनेमि के आत्मा पर सती राजीमती के सुभाषित वचनों का जो विलक्षण प्रभाव पड़ा तथा पतन की ओर बढ़ती उसकी आत्मा किस प्रकार रुक गई, इस भाव का वर्णन बड़े मनोरंजक शब्दों में किया गया है । संयमशीला राजीमती के पूर्वोक्त समुचित समाषण को सुनकर रथनेमि ने पतन की ओर जाते हुए अपने आत्मा को उधर से हटाकर धर्म—संयमवृत्ति—में इस प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे बेकाबू हुए मदोन्मत्त हस्ती को उसका महावत अंकुश के द्वारा वश में लाकर एक कीले से बाँध देता है । तात्पर्य यह है कि रथनेमि के प्रमादी आत्मा को अप्रमत्त बनाने के लिए सती राजीमती के उपदेश ने हस्ती को वश में करने वाले अंकुश का काम किया । सत्य है । आदर्श जीवन वाले व्यक्तियों के उपदेश का ऐसा ही विलक्षण प्रभाव होता है । उनके उपदेश से अनेकानेक पतित आत्माओं का उद्धार होता है । तब रथनेमि के आत्मा पर सती राजीमती के उपदेश का जो विचित्र प्रभाव पड़ा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ।

अब राजीमती के उक्त उपदेश से पुनः धर्म में आरूढ़ हुए रथनेमि के विषय में कहते हैं—

कोहं माणं निगिण्हित्ता, माया लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उपसंहरे ॥४८॥

कोहं माणं निगिण्हित्ता, मायं लोभं च सव्वसो ।
इन्दियाइं वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे ॥४८॥

क्रोधं मानं निगृह्य, मायां लोभं च सर्वशः ।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य, आत्मानमुपसमाहरत् ॥४८॥

पदार्थान्वयः—कोहं–क्रोध और माणं–मान का निगिण्हित्ता–निग्रह करके माया–माया च–और लोभं–लोभ को सव्वसो–सर्व प्रकार से इन्दियाइं–इन्द्रियों को वसे–वश में काउं–करके अप्पाणं–आत्मा को उवसंहरे–वश में किया।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर तथा पाँचों इन्द्रियों को वश में करके, उसने—रथनेमि ने—अपने आत्मा का उपसंहार किया अर्थात् प्रमाद की ओर बढ़े हुए आत्मा को पीछे हटाकर धर्म में स्थित किया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में आत्मा के उपसंहार अर्थात् पीछे हटाकर धर्म में स्थापित करने का क्रम बतलाया गया है। क्रोधादि कषायों के वशीभूत और इन्द्रियों के पराधीन हुआ यह आत्मा धर्म से पराङ्मुख रहता है। उसको धर्म में स्थित करने के लिए प्रथम क्रोधादि चारों कषायों को जीतने की और पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने की आवश्यकता है। जिस समय कषायों का त्याग और इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है, उस समय यह आत्मा स्वयमेव परभाव को त्यागकर स्वभाव में रमने लगता है। यही उसका उपसंहार अर्थात् धर्म में आरूढ़ करने का प्रकार है। रथनेमि ने भी सतीधुरीणा राजीमती के उपदेश से सावधान होकर अपने पतनोन्मुख आत्मा का इसी प्रकार से उपसंहार किया अर्थात् इन्द्रियों और कषायों को जीतकर परभाव से स्वभाव में स्थापन किया। सारांश यह है कि कामादि के वशीभूत होकर पतन की ओर जाते हुए अपने आत्मा को—अन्तःकरण के प्रवाह को—रोककर पुनः संयम की ओर लगा लिया।

तदनन्तर—

मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ ।
सामण्णं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ ॥४९॥

मनोगुप्तो वचोगुप्तः, कायगुप्तो जितेन्द्रियः ।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्, यावज्जीवं दृढव्रतः ॥४९॥

पदार्थान्वयः—मणगुत्तो–मनोगुप्त वयगुत्तो–वचनगुप्त कायगुत्तो–कायगुप्त जिइंदिओ–जितेन्द्रिय सामण्णं–श्रमणभाव को निच्चलं–निश्चलता से फासे–स्पर्श करने लगा जावज्जीवं–जीवनपर्यन्त दढव्वओ–दृढ व्रत वाला।

मूलार्थ—मन, वचन और काया से गुप्त होकर इन्द्रियों को जीतकर और पूर्ण दृढता से स्थिरतापूर्वक उसने जीवनपर्यन्त श्रमणधर्म का पालन किया।

टीका—श्रमणधर्म का वास्तविक स्पर्श इस आत्मा को उस समय होता है जब कि इसके मन, वचन और शरीर ये तीनों गुप्त हों अर्थात् इनके व्यापार में पूर्ण रूप से स्वच्छता—निर्मलता आ जाय तथा इन्द्रियों पर पूरी स्वाधीनता हो। इस प्रक्रिया के अनुसार फिर से प्रबुद्ध हुए रथनेमि ने भी जीवनपर्यन्त दृढप्रतिज्ञ होकर श्रमणधर्म का स्पर्श अर्थात् आराधन किया। वह मन, वचन और शरीर से गुप्त हो गया। उसके मन, वचन और शरीर संयमप्रधान हो गये। इन्द्रियों पर उसका पूर्ण अधिकार हो गया। अतएव निश्चलतापूर्वक वह श्रमणधर्म का पालन करने लगा। वस्तुतः कुलीन पुरुषों का प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे सदुपदेश के मिलते ही किसी कारणवश से उन्मार्ग में गये हुए अपने आत्मा को शीघ्र ही सन्मार्ग पर ले आते हैं।

अब दोनों के विषय में कहते हैं—

उग्गं तवं चरित्ताणं, जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥५०॥

उग्रं तपश्चरित्वा, जातौ द्वावपि केवलिनौ।
सर्वं कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥५०॥

पदार्थान्वयः—उग्गं–प्रधान तवं–तप को चरित्ताणं–आचरण करके जाया–हो गये दोण्णि वि–दोनों ही केवली–केवलज्ञानयुक्त पुनः सव्वं–सर्व कम्मं–कर्म को खवित्ता–क्षय करके सिद्धिं–मुक्ति को पत्ता–प्राप्त हो गये अणुत्तरं–जो प्रधान है।

मूलार्थ—उग्र तप का आचरण करके राजीमती और रथनेमि ये दोनों ही केवली हो गये। फिर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सर्वप्रधान सिद्धि—मोक्षगति को प्राप्त हो गये।

टीका—फिर ये दोनों—राजीमती और रथनेमि, कर्मशत्रुओं का विनाश करने वाले अनशनादि उग्र तप का अनुष्ठान करके केवली हो गये अर्थात् उनको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। तदनन्तर अपने आयु कर्म को समाप्त कर सर्व प्रकार से सर्व कर्मों का क्षय करते हुए सिद्धगति—मोक्ष को प्राप्त हो गये। इस कथन से निरतिचार चारित्र के पालन का फल प्रदर्शित किया गया है। यहाँ पर निर्युक्तिकार लिखते हैं कि—'समुद्रविजय की शिवादेवी के चार पुत्र हुए—१ अरिष्टनेमि, २ रथनेमि ३ सत्यनेमि और ४ दृढनेमि। इनमें अरिष्टनेमि तो बाईसवें तीर्थंकर हुए। रथनेमि और सत्यनेमि ये दोनों प्रत्येकबुद्ध थे। इनमें रथनेमि चार सौ वर्ष प्रमाण गृहस्थाश्रम में रहे, एक वर्ष छद्मस्थभाव में विचरे तथा पाँच सौ वर्ष प्रमाण इन्होंने केवली की पर्याय को धारण किया। सो कुल नौ सौ एक वर्ष से कुछ अधिक आयु को भोगकर वे मोक्ष को प्राप्त हुए।

अब अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा सो पुरुसोत्तमो ॥५१॥
त्ति बेमि।

इति रहनेमिज्जं बावीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२२॥

एवं कुर्वन्ति संबुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तमः ॥५१॥
इति ब्रवीमि।

इति रथनेमीयं द्वाविंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार करेंति—करते हैं संबुद्धा—तत्त्ववेत्ता पंडिया—पंडित और पवियक्खणा—प्रविचक्षण लोग विणियट्टंति—विनिवृत्त हो जाते हैं भोगेसु—भोगों से जहा—जैसे सो—वह रथनेमि पुरुसोत्तमो—पुरुषोत्तम त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—इस प्रकार तत्त्ववेत्ता पंडित और विचक्षण लोग करते हैं तथा भोगों से निवृत्त हो जाते हैं, जिस प्रकार पुरुषोत्तम वह रथनेमि निवृत्त हुआ।

टीका—प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि जो तत्त्ववेत्ता और विशेष बुद्धि रखने वाले पण्डित लोग हैं, वे इस प्रकार से आचरण करते हैं जैसे कि राजकुमार रथनेमि ने पतन की ओर जाते हुए अपने आत्मा को फिर से संयम में स्थापित कर लिया और भोगों से निवृत्त होकर तप के अनुष्ठान से केवल ज्ञान द्वारा परम दुर्लभ मोक्षपद को प्राप्त कर लिया। वास्तव में जो पुरुष भोगों से निवृत्त होकर दृढतापूर्वक संयममार्ग में प्रविष्ट होता हुआ अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है वही संबुद्ध, पण्डित और विचक्षण अथ च पुरुषोत्तम है, यह इस गाथा का भावार्थ है। इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ प्रथम कई बार आ चुका है, उसी के अनुसार यहाँ पर भी कर लेना।

द्वाविंशाध्ययन समाप्त।

अह केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं

अथ केशिगौतमीयं त्रयोविंशमध्ययनम्

इस अनन्तरोक्त अध्ययन में यह वर्णन किया गया है कि यदि किसी कारणवश संयम में शंका आदि दोषों की उत्पत्ति हो जाय अर्थात् संयम में शिथिलता आ जाय तो रथनेमि की तरह फिर से संयम में दृढ हो जाना चाहिए। अपि च यदि औरों के भी उक्त शंकादि दोष उत्पन्न हो जायँ तो उनकी निवृत्ति के लिए भी शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए, जैसेकि केशी और गौतम के शिष्यों की शंकाओं को निवृत्त करने का प्रयत्न किया गया है। बस, बाईसवें और तेईसवें अध्ययन का यही परस्पर सम्बन्ध है।

अब प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपाद्य विषय की संगति के लिए प्रथम तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्णन करते हैं, जिसकी आदिम गाथा इस प्रकार है—

जिणे पासित्ति नामेणं, अरहा लोगपूइओ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥१॥

जिनः पार्श्व इति नाम्ना, अर्हन् लोकपूजितः।
सबुद्धात्मा च सर्वज्ञ, धर्मतीर्थकरो जिनः ॥१॥

पदार्थान्वयः—जिणे—परिषहों के जीतने वाला पासित्ति—पार्श्व इस नामेणं—नाम से प्रसिद्ध हुआ अरहा—अर्हन् लोगपूइओ—लोकपूजित संबुद्धप्पा—सम्बुद्ध आत्मा य—और सव्वन्नू—सर्वज्ञ धम्मतित्थयरे—धर्मतीर्थ को करने वाला जिणे—समस्त कर्मों को क्षय करने वाला।

मूलार्थ—पार्श्व नाम से प्रसिद्ध, परीषहों को जीतने वाला, अर्हन् लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ तथा धर्मरूप तीर्थ को चलाने और समस्त कर्मों को क्षय करने वाला हुआ।

टीका—श्रीपार्श्वनाथ इस नाम से प्रसिद्ध तेईसवें तीर्थंकर का प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले इस भारतभूमि को पार्श्वनाथ नाम के एक सुप्रसिद्ध महापुरुष ने अलंकृत किया था। वे जिन—सर्व प्रकार के परिषहों को जीतने वाले थे और देवेन्द्रादि से पूजित होने के अतिरिक्त वे सर्वलोकपूजित थे तथा उनका आत्मा ज्ञानज्योति से सर्व प्रकार से अवभासित था। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, एवं भव्य जीवों को संसार-समुद्र से पार करने के लिए उन्होंने धर्मरूप तीर्थ की स्थापना की और इसी लिए वे तीर्थंकर हुए। अन्त में समस्त कर्मों का क्षय करके वे सिद्ध गति को प्राप्त हो गये। एतदर्थ ही उनको अरिहंत, सिद्ध और जिन के नाम से पुकारा जाता है।

अब उनके शिष्य केशीकुमार के विषय में कहते हैं—

तस्स लोगपदीवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ॥२॥

तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशः।
केशीकुमारश्रमणः, विद्याचरणपारगः ॥२॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस लोगपदीवस्स—लोकप्रदीप का सीसे—शिष्य महायसे—महान् यशस्वी आसी—हुआ केसीकुमार—केशीकुमार समणे—श्रमण जो विज्जाचरणपारगे—विद्या और चारित्र का पारगामी था।

मूलार्थ—उस लोकप्रदीप भगवान् पार्श्वनाथ का महान् यशस्वी केशीकुमार श्रमण नाम से प्रसिद्ध एक शिष्य हुआ, जो कि विद्या और चारित्र में परिपूर्ण था।

टीका—लोकप्रदीप—संसार में सूर्य के समान प्रकाश करने वाले भगवान् पार्श्वनाथ का केशीकुमार नामक एक शिष्य था, जो कि बाल्यावस्था से ही वैराग्ययुक्त होता हुआ अविवाहित ही दीक्षित हो गया था। उसके केश बहुत ही कोमल और सुन्दर थे। इसी कारण वह श्रमण होने पर भी केशीकुमार के नाम से ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। जैसा वह सुन्दर था, वैसा ही विद्या और चारित्र में भी परिपूर्ण था। तात्पर्य यह है कि आबालब्रह्मचारी होने से वह विद्या और चारित्र का भी पारगामी हुआ अर्थात् उसका चारित्र अतीव निर्मल था। यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि सूत्रकर्ता ने केशीकुमार को जो भगवान् पार्श्वनाथ का शिष्य लिखा है, वह सामान्य निर्देश है। उसका तात्पर्य भगवान् पार्श्वनाथ के परम्परागत शिष्य से है, साक्षात् शिष्य से नहीं। कारण यह है कि केशीकुमार, श्रमण भगवान् महावीर के समय में विद्यमान था, जब कि भगवान् पार्श्वनाथ को मोक्ष गये अनुमानतः अढ़ाई सौ वर्ष हो चुके थे एवं उस समय इतनी आयु भी नहीं थी। इससे तो यही मानना पड़ता है कि केशीकुमार भगवान् पार्श्वनाथ के हस्तदीक्षित शिष्य नहीं थे किन्तु उनकी शिष्य-संतति में से थे। वर्तमान समय की ऐतिहासिक गवेषणा से भगवान् महावीर स्वामी से २५० वर्ष पहले श्रीपार्श्वनाथ का होना प्रमाणित होता है और श्रमण भगवान् महावीर के समय पर श्रीपार्श्वनाथ सन्तानीय शिष्य विद्यमान थे, यह भी ऐतिहासिक तथ्य है और उनमें केशीकुमार का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि भगवान् महावीर स्वामी के मुख्य शिष्य गौतम के साथ उनका साधुओं के आचार के विषय में बहुत ही लम्बा चौड़ा संवाद हुआ है। इससे भी उनका पार्श्वनाथ का सन्तानीय शिष्य होना ही प्रमाणित होता है। अन्य जैनागमों में भी इसका उल्लेख मिलता है। अतः उक्त गाथा में उनको—केशीकुमार को जो श्रीपार्श्वनाथ का शिष्य लिखा है, उसका अभिप्राय हस्तदीक्षित शिष्य से नहीं किन्तु सन्तानीय शिष्य से है। अन्यथा श्रीमहावीर स्वामी के समय में उनका विद्यमान होना संगत नहीं हो सकता।

अब फिर उसी के विषय में कहते हैं—

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं नगरिमागए ॥३॥

अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, श्रावस्तीं नगरीमागतः ॥३॥

पदार्थान्वयः—ओहिनाण–अवधिज्ञान सुए–श्रुतज्ञान से बुद्धे–बुद्ध सीससंघ–शिष्यसमुदाय में समाउले–व्याप्त—आकीर्ण गामाणुगाम–ग्रामानु रीयते–विचरते हुए सावत्थि–श्रावस्ती नामा नगरिम्–नगरी में आगए–पधारे

मूलार्थ—अवधि और श्रुतज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को जानने व अपने शिष्यपरिवार को साथ लेकर ग्रामानुग्राम विचरते हुए वह केशीकु किसी समय श्रावस्ती नामा नगरी में पधारे ।

टीका—वह श्रीकेशीकुमार श्रमण जो कि मति, श्रुत और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थों के स्वरूप को यथावत् जानते हैं—अपने शिष्यों के साथ ग्रामानु विचरते हुए अर्थात् धर्मोपदेश के द्वारा परोपकार करते हुए श्रावस्तीनामा नगरी पधारे । यद्यपि मूलपाठ में केवल, अवधि और श्रुतज्ञान का ही उल्लेख किया मतिज्ञान का उसमें निर्देश नहीं किया, परन्तु नन्दी सिद्धान्त का कथन है कि ज पर श्रुतज्ञान होता है, वहाँ पर मतिज्ञान अवश्यमेव होता है और जहाँ पर मतिज्ञ है, वहाँ पर श्रुतज्ञान भी है । इसलिए एक का निर्देश किया है । जैसे पुत्र का न निर्देश करने से पिता का ज्ञान भी साथ ही हो जाता है, इसी प्रकार एक के ग्र से दोनों का ग्रहण कर लेना शास्त्रकार को सम्मत है । श्रावस्ती नगरी में वे जिस स्थ पर ठहरे, अब उसी का वर्णन करते हैं—

तिन्दुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥४॥

तिन्दुकं नामोद्यानं, तस्मिन् नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥४॥

पदार्थान्वयः—तिन्दुय–तिंदुक नाम–नाम वाले उज्जाण–उद्यान तम्मी–उ नगरमण्डले–नगर के समीप में फासुए–निर्दोष सिज्ज–शय्या संथारे–संस्तारक प

मूलार्थ—उस नगर के समीपवर्त्ति तिन्दुक नामा उद्यान में वे निर्दोष शय्या संस्तारक पर विराजमान हुए।

टीका—श्रीकेशीकुमार श्रमण ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रावस्ती में पधारे। उसके समीपवर्त्ति एक तिन्दुक नाम का जो उद्यान था उसमें उन्होंने निर्दोष जीव जन्तु से रहित भूमि को देखकर किसी शिला फलक आदि पर अपना आसन लगा दिया अर्थात् शांतिपूर्वक समाहित चित्त से वे उस उद्यान में निवास करने लगे। प्रस्तुत गाथा में 'तमी नयरमण्डले' इस वाक्य में 'नयरी' के स्थान में जो लिंग का व्यत्यय है वह आर्ष वाक्य होने से किया गया है। अन्यथा स्त्रीलिंग का निर्देश होना चाहिए था। तथा 'मण्डल' शब्द यहाँ पर सीमा का वाचक है जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि वह उद्यान श्रावस्ती के अति दूर व अति निकट नहीं किन्तु नगरी के समीपवर्त्ति था।

तदनन्तर जो कुछ हुआ अब उसका वर्णन करते हैं—

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे।
भगवं वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥५॥

अथ तस्मिन्नेव काले, धर्मतीर्थकरो जिनः।
भगवान् वर्धमान इति, सर्वलोके विश्रुतः ॥५॥

पदार्थान्वयः—अह—अनन्तर तेणेव—उसी कालेणं—काल में धम्मतित्थयरे—धर्मरूप तीर्थ के करने वाले जिणे—रागद्वेष को जीतनेवाले भगवं—भगवान् वद्धमाणित्ति—वर्द्धमान इस नाम से सव्वलोगम्मि—सर्व लोक में विस्सुए—विशेष रूप से प्रसिद्ध।

मूलार्थ—उस समय पर, सर्वलोक में विख्यात, रागद्वेष के जीतनेवाले भगवान् वर्द्धमान धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक थे।

टीका—जिस समय तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय शिष्य केशीकुमार श्रावस्ती में आये उस समय धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक भगवान् वर्द्धमान स्वामी, जिन अर्थात् तीर्थंकर के नाम से लोक में विख्यात हो रहे थे। तात्पर्य यह है कि वह समय भगवान् वर्द्धमान स्वामी के शासन का था।

यहाँ पर 'अथ' शब्द उपन्यास अर्थ में आया हुआ है, और सप्तमी के स्था में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई हुई है। अब उनके प्रधान शिष्य गौतममुनि विषय में कहते हैं—

तस्स लोगपदीवस्स, आसि सीसे महायसे।
भगवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ॥६॥

तस्य लोकप्रदीपस्य, आसीच्छिष्यो महायशाः।
भगवान् गौतमो नाम, विद्याचरणपारगः ॥६॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस लोगपदीवस्स—लोक-प्रदीप का महायसे—महान् यश वाला सीसे—शिष्य आसि—हुआ भगवं—भगवान् गोयमे—गौतम नाम—नाम से प्रसिद्ध और विज्जा—विद्या चरण—चारित्र का पारगे—पारगामी।

मूलार्थ—उस लोक-प्रदीप का, महान् यशवाला एक शिष्य था जो भगवान् 'गौतम' नाम से प्रसिद्ध और विद्या तथा चारित्र का पारगामी था।

टीका—जब भगवान् श्री वर्द्धमान स्वामी धर्मरूप तीर्थ की स्थापना कर चुके अर्थात् धर्मोपदेश करने में प्रवृत्त हो चुके थे, तब विद्या और चारित्र के पारगामी 'गौतम' इस नाम से विख्यात एक महान् यशस्वी पुरुष उनके शिष्य हुए जोकि भगवान् के दस गणधरों—मुख्य शिष्यों—में से प्रथम थे। उन्हीं का प्रस्तुत गाथा में उल्लेख किया गया है। यद्यपि इनका असली नाम इन्द्रभूति था और गौतम इनका गोत्र था, परन्तु प्रसिद्धि इनकी गोत्र के नाम से ही हुई। इसलिए न्याय-दर्शन के कर्त्ता गौतम, और बौद्धमत के प्रवर्तक गौतम बुद्ध से ये पृथक् तीसरे गौतम हैं[1]। ये जाति के ब्राह्मण और वेदादि शास्त्रों के पूर्णवेत्ता थे। इन्होंने भगवान् महावीर स्वामी के पास आकर उनसे शास्त्रार्थ किया और बहुत से प्रश्न पूछे। उनका यथार्थ उत्तर मिलने और अपने सम्पूर्ण संशयों की निवृत्ति हो जाने पर इन्होंने अपने आपको भगवान् के अर्पण कर दिया अर्थात् उनके शिष्य हो गये। उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। ये भगवान् के प्रथम गणधर हुए।

१ बहुत से इतिहास लेखकों ने इस विषय में बड़ी भूल खाई है।

अब इनके विद्या और चारित्र के सम्बन्ध में तथा शिष्य-समुदाय और देश-यात्रा के विषय में उल्लेख करते हैं यथा—

बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते, सेवि सावत्थिमागए ॥७॥
द्वादशाङ्गविद् बुद्धः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, सोऽपि श्रावस्तीमागतः ॥७॥

पदार्थान्वयः—बारसंग-द्वादशांग के विऊ-वेत्ता बुद्धे-तत्त्व के ज्ञाता सीससंघ-शिष्य समुदाय से समाउले-व्याप्त गामाणुगाम—ग्रामानुग्राम—एक से दूसरे ग्राम में रीयन्ते-विचरते हुए सेवि-वह भी सावत्थिम्-श्रावस्ती नगरी में आगए-पधार गये।

मूलार्थ—द्वादशांग वाणी के जाननेवाले और तत्त्व के ज्ञाता शिष्य समुदाय से आकीर्ण, ग्रामानुग्राम विचरते हुए वह भी श्रावस्ती नगरी में पधारे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में गौतम स्वामी के विद्या और चारित्र का उल्लेख करने के साथ २ उनकी प्राभाविकता का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। गौतम स्वामी द्वादशांग वाणी के पारगामी तथा तत्त्व के यथार्थ वेत्ता थे और उनका शिष्य-समुदाय भी पर्याप्त था। वे ग्रामानुग्राम अपने धर्मोपदेश के द्वारा अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए उसी श्रावस्ती नगरी में पधारे, जहाँ पर कि श्रीकेशी-कुमार श्रमण विराजमान थे। यह इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है। 'बुद्ध' शब्द का अर्थ है—ज्ञेय, हेय और उपादेय के जाननेवाले और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इस त्रिपदी के द्वारा पदार्थों के स्वरूप को यथावत् समझने और समझानेवाले।

श्रावस्ती में आने के बाद वे जिस स्थान पर विराजमान हुए अब उसका उल्लेख करते हैं यथा—

कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

कोष्ठकं नामोद्यानं, तस्मिन्नगरमण्डले ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥८॥

पदार्थान्वयः—कोट्ठग—कोष्टक नाम—नाम वाला उज्जाणं—उद्यान तम्मी—उस नयर—नगर के मडले—समीप था फासुए—प्रासुक सिज्ज—शय्या और सथारे—सस्तारक पर तत्थ—उस उद्यान में वास—निवास को उवागए—प्राप्त किया ।

मूलार्थ—उस नगर के समीपवर्त्ति कोष्टक नाम के उद्यान में शुद्ध—निर्दोष वस्ती और संस्तारक—फलकादि पर वे विराजमान हो गए ।

टीका—श्रावस्ती नगरी में पधारने के अनन्तर श्रीगौतमस्वामी उसके समीपवर्त्ति एक कोष्टक नाम के उद्यान में पहुँचे। वहाँ पर निवास के लिए निर्दोष—जीवादि रहित वस्ती और फलकादि की वहाँ के स्वामी से आज्ञा लेकर उस उद्यान में वे विराजमान हो गये । प्रासुक—निर्दोष, शय्या—वस्ती—निवास योग्य भूमी, सस्तारक—शिला पट्टक अथवा तृण आदि लेने योग्य वस्तु । तात्पर्य यह है कि इन सब उपयोगी वस्तुओं को वहाँ के स्वामी की आज्ञा से ग्रहण किया। साधु को बिना आज्ञा से किसी भी वस्तु के ग्रहण करने का अधिकार नहीं है । यदि वह बिना आज्ञा के ग्रहण कर लेवे तो उसके तृतीय व्रत में—अचौर्य व्रत में—दोष आता है ।

श्रावस्ती नगरी के समीपवर्त्ति भिन्न २ दो उद्यानों में श्रीकेशीकुमार और गौतम स्वामी ये दोनों ही ऋषि अपने २ शिष्य परिवार के साथ विराजमान हो गये और दोनों ही वहाँ पर विचरने लगे । निम्नलिखित गाथा में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे ।
उभओवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

केशीकुमार श्रमणः, गौतमश्च महायशाः ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्, आलीनौ सुसमाहितौ ॥९॥

पदार्थान्वयः—केसीकुमार—केशीकुमार समणे—श्रमण य—और गोयमे—गौतम महायसे—महान् यशवाले उभओवि—दोनों ही तत्थ—उस श्रावस्ती नगरी में विहरिंसु—विचरने लगे अल्लीणा—इन्द्रियों को वश में रखनेवाले सुसमाहिया—समाधि से युक्त ।

मूलार्थ—महान् यशवाले, केशीकुमार श्रमण और श्रीगौतमस्वामी दोनों ही उस नगरी में विचरने लगे। ये दोनों ही इन्द्रियों को वश में रखनेवाले और ज्ञानादि समाधि से युक्त थे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में उक्त दोनों महर्षियों के श्रावस्ती में विचरने और उनके शान्त और समाहित चित्त होने का वर्णन किया गया है। ये दोनों ही महान् यशस्वी थे। तात्पर्य यह है कि विद्या और तप के प्रभाव से उनका सर्वत्र यश फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त वे शान्त और दान्त अर्थात् मन वचन और शरीर पर उनका पूर्ण अधिकार था। समस्त इन्द्रियें उनके वश में थीं, और उनका मन निर्विकार अतएव शान्त और समाधियुक्त था। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वे दोनों महात्मा, परस्पर की निन्दा और पैशुन्यादि दोषों से सर्वथा रहित और स्वाध्याय तथा स्वात्मध्यान में सदा निमग्न रहते थे, इसलिए श्रावस्ती में उनके विचरने अर्थात् निवास करने से धर्म की अधिकाधिक प्रभावना हो रही थी। 'विहरिंसु' यह बहुवचन की क्रिया प्राकृत में द्विवचन के अभाव होने से प्रयुक्त की गई है।

फिर कहते हैं—

उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना, गुणवन्ताण ताइणं ॥१०॥

उभयोः शिष्यसंघानां, संयतानां तपस्विनाम्।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना, गुणवतां त्रायिणाम् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—उभओ—दोनों के सीससंघाण—शिष्य वर्ग को संजयाण—संयतों को तवस्सिण—तपस्वियों को तत्थ—वहाँ पर चिन्ता—शंका समुप्पन्ना—उत्पन्न हुई गुणवन्ताण—गुणवानों और ताइण—षट्काय के रक्षकों को।

मूलार्थ—वहाँ पर दोनों के शिष्य-समूह के अन्तःकरण में शंका उत्पन्न हुई। वह शिष्य-समूह संयत, गुणवान् तपस्वी और षट्काय का रक्षक था।

टीका—केशीकुमार श्रमण और गौतममुनि, जबकि श्रावस्ती के भिन्न २ उद्यानों में ठहरे हुए थे तब किसी समय दोनों के शिष्य-समुदाय को—नगरी में

ाहारादि लाने के निमित्त आगमन होने से—आपस में भेंट हो गई । दोनों ने
क दूसरे की ओर देखा और परस्पर के अवलोकन से दोनों के मन में एक दूसरे
 लिए कई प्रकार के विकल्प उत्पन्न होने लगे । यद्यपि वे सब ज्ञानादि गुणों से
क्त, संयमशील और परम तपस्वी थे, तथा षट्काय की विराधना से मुक्त और
सकी रक्षा में सदा सावधान रहनेवाले थे, तथापि पृथक् २ स्थानों में ठहरने
ौर कतिपय नियमों में एकता न होने तथा वेष में भी विभिन्नता देखने से परस्पर
ं एक दूसरे के लिए शंका अथ च विकल्प का मन में उत्पन्न होना एक स्वाभाविक
ी बात है इसलिए दोनों महर्षियों के शिष्य-समुदाय के अन्तःकरण में एक दूसरे
 लिए सन्देह उत्पन्न हुआ ।

अब उसी सन्देह अथवा शंका के सम्बन्ध में कहते हैं—

केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो व केरिसो ।
आयारधम्मप्पणिही , इमा वा सा व केरिसी ॥११॥

कीदृशो वायं धर्मः, अयं धर्मो वा कीदृशः ।
आचारधर्मप्रणिधिः , अयं वा स वा कीदृशः ॥११॥

पदार्थान्वयः—केरिसो—कैसा है वा—अथवा इमो—यह धम्मो—धर्म व—
ाथवा केरिसो—कैसा है आयार—आचार धम्म—धर्म प्पणिही—प्रणिधि इमा—यह
ारी वा—अथवा सा—इनकी केरिसी—कैसी है व—परस्पर अर्थ में है ।

मूलार्थ—हमारा धर्म कैसा है, इनका धर्म कैसा है । तथा आचार, धर्म
णिधि हमारी और इनकी कैसी है ।

टीका—जब दोनों का शिष्य-समुदाय एक दूसरे की ओर देखने लगा तब
केशीकुमार के शिष्यों ने विचार किया कि हमारा धर्म कैसा है और इन गौतम के
शिष्यों का धर्म कैसा है । तथा जो बाह्य वेष है यही धर्म हो रहा है, जिसके
प्रभाव से जीव स्वर्ग में देवलोक तक जा सकते हैं । यही आचार की प्रणिधि [व्यव-
स्थापन] है वह हमारी और इनकी कैसी है । तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ के कहे
हुए धर्म में भेद नहीं होना चाहिए परन्तु यहाँ पर भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कारण

कि इनका वेष और प्रकार का है तथा हमारा और प्रकार का। यदि हम दोनों के समुदाय एक ही धर्म के अनुयायी हैं तो फिर हमारे आचार विचार में भेद क्यों ? इसी प्रकार का सन्देह-मूलक विचार गौतम स्वामी के शिष्यों के मन में भी उत्पन्न हुआ। 'आचार' शब्द से यहाँ पर बाह्य आचार का ग्रहण अभिप्रेत है—'आचरणमाचारो वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलाप इत्यर्थः' अर्थात् वेष-धारणादि जो बाह्य क्रिया कलाप है सो आचार है। तथा 'वा' शब्द यहाँ पर विकल्प और पुनः अर्थ में आया हुआ है और 'इमा' शब्द 'अय' शब्द के अर्थ में ग्रहण किया गया है। प्रणिधि शब्द से मर्यादा विधि की सूचना दी गई है।

अब उक्त चिन्ता को प्रकट करते हुए कहते हैं—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥१२॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥१२॥

पदार्थान्वयः—चाउज्जामो—चतुर्यामरूप जो—जो धम्मो—धर्म य—और जो—जो इमो—यह पचसिक्खिओ—पाँच शिक्षारूप धर्म देसिओ—उपदेश किया वद्धमाणेण—वर्द्धमान स्वामी ने य—और पासेण—पार्श्वनाथ महामुणी—महामुनि ने।

मूलार्थ—महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्यामरूप धर्म का और वर्द्धमान स्वामी ने पाँच शिक्षारूप धर्म का उपदेश किया है।

टीका—केशीकुमार और गौतमस्वामी के शिष्यों को जिन कारणों से सन्देह उत्पन्न हुआ उनका आंशिक स्पष्टीकरण इस गाथा में किया गया है। भगवान् पार्श्वनाथ ने तो चतुर्यामरूप धर्म अर्थात् अहिंसा आदि चार धर्मों—महाव्रतों की प्ररूपणा की है और श्रीवर्द्धमानस्वामी ने पाँच शिक्षारूप धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय—अचौर्य कर्म—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि इन दोनों महापुरुषों का सिद्धान्त एक ही है तो फिर धर्म के इन नियमों में संख्या-भेद क्यों है ? महामुनि

पार्श्वनाथ ने साधु के महाव्रतों की संख्या चार ही मानी है अर्थात् उनके सिद्धान्त में साधु के चार ही महाव्रत हैं। वे अहिंसा सत्य और अस्तेय इन तीन महाव्रतों के अतिरिक्त चौथा अपरिग्रहरूप महाव्रत मानते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत को स्वतन्त्र न मान कर उसका अपरिग्रह में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है, अथवा यूं कहिए कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को उन्होंने चतुर्थ नियम में ही समाविष्ट कर लिया है। परन्तु वर्द्धमान स्वामी ने इस सिद्धान्त को अंगीकार नहीं किया। उन्होंने तो ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दोनों को स्वतन्त्र व्रत मान कर महाव्रतों की संख्या पाँच मानी है। इस संख्यागत न्यूनाधिकता को लेकर सिद्धान्त विषयक मत-भेद की आशंका का होना कोई अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए श्रीकेशीकुमार और गौतम के शिष्यों के अन्तःकरण में संशय उत्पन्न हुआ कि इसमें सत्यता कहाँ पर है, अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम सिद्धान्त ठीक है अथवा वर्द्धमान स्वामी का पाँच शिक्षारूप सिद्धान्त सत्य है। क्योंकि धर्म की फल-श्रुति में इनका एक ही सिद्धान्त है अर्थात् धर्म के फल में किसी को विसंवाद नहीं है।

यहाँ पर 'महामुनि' यह तृतीया के स्थान पर प्रथमान्त पद का प्रयोग करना प्राकृत के नियम को आभारी है। इस प्रकार संख्यागत भेद के कारण धर्म के अन्तरंग नियमों में सन्देह उत्पन्न होने के साथ २ उसके बाह्य आचार—वेषादि के विषय में उनको जो भ्रम उत्पन्न हुआ अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ॥१३॥

अचेलकश्च यो धर्मः, योऽयं सान्तरोत्तरः।
एककार्यप्रपन्नयोः, विशेषे किंनु कारणम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—अचेलगो—अचेलक जो—जो धम्मो—धर्म है य—और जो—जो इमो—यह सतरुत्तरो—प्रधान वस्त्ररूप अथवा बहुमूल्य वस्त्ररूप जो धर्म है एगकज्ज—एक कार्य को पवन्नाणं—प्राप्त हुए विसेसे—विशेष में किं—क्या नु—वितर्क अर्थ में है कारणं—कारण है।

मूलार्थ—अचेलक जो धर्म है और सचेलक जो धर्म है, एक कार्य को प्राप्त हुए इन दोनों में भेद का कारण क्या ? अर्थात् जब फल दोनों का एक है तो फिर इन में भेद क्यों डाला गया।

टीका—भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने तो अचेलक धर्म स्वल्प और जीर्ण वस्त्रधारण-रूप धर्म का प्रतिपादन किया है और श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य-धारणरूप का कथन किया। तात्पर्य यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ के मत में तो साधु के लिए विशिष्ट वस्त्र—बहुमूल्य वस्त्र रखने और धारण करने का आदेश है और श्री वर्द्धमान स्वामी ने साधु को अचेलक रहने अर्थात् अल्प मूल्य जीर्ण-प्राय वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी है। जब कि दोनों का मंतव्य एक है, दोनों की एक ही साध्य की सिद्धि के लिए प्रवृत्ति है तो फिर वस्त्रादि के विषय में मत-भेद क्यों ? यह इस गाथा का अभिप्राय है। यहाँ पर 'अचेलक' शब्द का नञ् अल्पार्थ का वाचक है उसका अर्थ है—मानोपेत श्वेत वस्त्र, वा कुत्सित—जीर्ण श्वेतवस्त्र। तथा जिनकल्प की अपेक्षा अचेलक का अर्थ है—वस्त्र का अभाव अर्थात् वस्त्र रहित होना। सारांश यह है कि पार्श्वनाथ स्वामी ने तो सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है और उसके विरुद्ध वर्द्धमान स्वामी अचेलक धर्म के संस्थापक हैं अतः यह वेष सम्बन्धी विभेद भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

शिष्यों के इस प्रकार के सन्देह-मूलक विचारों को देखकर श्रीकेशीकुमार श्रमण और श्री गौतम स्वामी ने जो विचार किया अब उसका वर्णन करते हैं—

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥१४॥

अथ तौ तत्र शिष्याणां, विज्ञाय प्रवितर्कितम्।
समागमे कृतमती, उभौ केशिगौतमौ ॥१४॥

पदार्थान्वयः—अह—अथानन्तर ते—वे दोनों तत्थ—उस नगरी में सीसाण—शिष्यों के विन्नाय—जानकर पवितक्किय—प्रवितर्कित—प्रश्न को समागमे—परस्पर मिलने में कयमई—की है बुद्धि जिन्होंने उभओ—दोनों ही केसिगोयमा—केशि और गौतम।

मूलार्थ—अथानन्तर केशीकुमार और गौतममुनि इन दोनों ने शिष्यों के इस प्रकार के शंका-मूलक तर्क को जानकर परस्पर समागम करने—मिलने का विचार किया।

टीका—जिस समय केशीकुमार और गौतम मुनि का शिष्य-समुदाय अपने २ स्थान पर पहुँचा और उनके मार्ग में मिलने से उत्पन्न हुए संशय को जब दोनों ने जाना तब उनके सन्देह को दूर करने के लिए अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी के सिद्धान्तों में जो भेद प्रतीत होता है उसका वास्तविक रहस्य क्या है इत्यादि विषय को स्पष्ट करके उनके सन्देह को दूर करने के लिए उक्त दोनों महर्षियों ने परस्पर मिलकर वार्तालाप करना ही उचित समझा इसलिए दोनों के अन्तःकरण में समागम का विचार उत्पन्न हुआ। इस सन्दर्भ से यह भली भाँति प्रतीत होता है कि संशय की निवृत्ति के लिए, तथा संघ में शाँति को स्थापन करने के लिए परस्पर मिलने और एक दूसरे के स्थान पर आकर प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने में सज्जन पुरुष कभी संकोच नहीं करते क्योंकि उनके हृदय में संकीर्णता को स्थान नहीं होता।

तदनन्तर—

गोयमे पडिरुवन्नू, सीससंघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो, तिन्दुयं वणमागओ ॥१५॥

गौतमः प्रतिरूपज्ञः, शिष्यसंघसमाकुलः ।
ज्येष्ठं कुलमपेक्षमाणः, तिन्दुकं वनमागतः ॥१५॥

पदार्थान्वयः—गोयमे-गौतम पडिरूवन्नू-विनय के जाननेवाले सीससंघ-शिष्य-समुदाय से समाउले-व्याप्त जेट्ठ-ज्येष्ठ—बड़े कुल-कुल को अवेक्खन्तो-देखते हुए तिन्दुयं-तिन्दुक वणं-वन में आगओ-पधारे।

मूलार्थ—विनय धर्म के जानकार गौतममुनि, ज्येष्ठ—बड़े कुल को देखते हुए अपने शिष्य-मंडल के साथ तिन्दुक वन में—[जहाँ पर केशीकुमार श्रमण ठहरे हुए थे] पधारे।

टीका—जब दोनों महर्षियों के मन में परस्पर समागम का विचार स्थिर हो गया तब विनय धर्म के ज्ञाता श्रीगौतम मुनि ने अपने मन में विचारा कि श्री

पार्श्वनाथ भगवान् तेईसवें तीर्थंकर थे, और यह केशीकुमार उन्हीं की सन्तान में से हैं, तथा पार्श्वनाथ भगवान् का जो कुल है वह ज्येष्ठ है और उनकी कुल में के होने से केशीकुमार भी हमारे ज्येष्ठ—बड़े हैं अतः मुझे ही उनके पास जाना चाहिए। यह विचार करके गौतम मुनि अपने शिष्य-समुदाय को साथ लेकर केशीकुमार श्रमण से मिलने की इच्छा से तिन्दुक नामा उद्यान में आये। प्रस्तुत गाथा में योग्यता, प्रतिरूपज्ञता—विनीतता और विचारशीलता तथा कुल-मर्यादा का प्रतिपालन आदि सत्पुरुषोचित गुण-समुदाय का दिग्दर्शन बड़ी ही सुन्दरता से कराया गया है। यह गुण-समुदाय सत्पुरुषों के जीवन की विशिष्टता को परखने की उत्तम कसौटी है। इसके अतिरिक्त सत्पुरुषों के समागम में आने से मुमुक्षुजनों को कितना लाभ हो सकता है और विषय-सन्तप्त हृदयों में किस अंश तक शान्ति का स्रोत बहने लगता है इत्यादि की कल्पना भी इस से सहज में की जा सकती है।

जिस समय गौतम मुनि तिन्दुक उद्यान में केशीकुमार श्रमण के निकट पहुँचे उस समय उनके साथ केशीकुमार मुनि ने जिस सद्भावना को व्यक्त किया अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं।
पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ॥१६॥

केशीकुमार श्रमणः, गौतमं दृष्ट्वागतम्।
प्रतिरूपां प्रतिपत्तिम्, सम्यक् सम्प्रतिपद्यते ॥१६॥

पदार्थान्वयः—केसीकुमार समणे—केशीकुमार श्रमण गोयमं—गौतम को आगयं—आते हुए दिस्स—देखकर पडिरूवं—प्रतिरूपयोग्य पडिवत्तिं—प्रतिपत्ति-भक्ति को सम्मं—सम्यक्-भलीप्रकार संपडिवज्जई—ग्रहण करते हैं।

मूलार्थ—गौतम मुनि को आते हुए देखकर केशीकुमार श्रमण ने, भक्ति-बहुमान पुरस्सर उनका स्वागत किया।

टीका—केशीकुमार श्रमण ने जब देखा कि भगवान् वर्द्धमान स्वामी के गणधर गौतम मुनि अपने शिष्य-परिवार को साथ में लेकर तिन्दुक वन में उनके पास आ रहे

हैं तब उन्होंने अभ्युत्थान देते हुए बहुमान पुरस्सर, बड़े प्रेम के साथ उनका स्वागत किया अर्थात् योग्य पुरुषों का, योग्य पुरुष जिस प्रकार से सन्मान करते हैं उसी प्रकार से उन्होंने [केशीकुमार श्रमण ने] गौतम स्वामी का सन्मान किया। प्रस्तुत गाथा के द्वारा, केशीकुमार श्रमण की विशिष्ट योग्यता का परिचय देने के साथ साथ भारतीय-सभ्यता के अतिथि सेवारूप प्राचीन उज्ज्वल आदर्श का भी आंशिक परिचय दे दिया गया है और वास्तव में देखा जावे तो सत्पुरुषों का यह स्वभावसिद्ध व्यवहार है कि उनके पास यदि कोई साधारण व्यक्ति भी आवे तो उसका भी वे उसकी योग्यता से अधिक आदर करते हैं। फिर गौतममुनि जैसे आदर्श साधु के लिए तो जितना भी सन्मान दिया जावे उतना कम है, इसी आशय से केशीकुमार द्वारा आचरण किये जाने वाले सद्व्यवहार के लिए सूत्रकार ने 'पडिरूवं पडिवत्तिं—प्रतिरूपा प्रतिपत्तिम्' इस वाक्य का प्रयोग किया है जिस से कि उनकी—केशीकुमार की सद्भावना में अंशमात्र भी विकृति का समावेश न होने पावे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने पास आनेवाले आगन्तुक पुरुष के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस बात की शिक्षा वह इस गाथा के भावार्थ से ग्रहण करे।

अब इसी विषय को अर्थात् केशीकुमार द्वारा किये जाने वाले गौतम मुनि के सन्मान को विशेष रूप से व्यक्त करते हैं—

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥१७॥

पलालं प्रासुकं तत्र, पंचमं कुशतृणानि च।
गौतमस्य निषद्यायै, क्षिप्रं संप्रणामयति ॥१७॥

पदार्थान्वयः—पलाल—पलाल फासुय—प्रासुक तत्थ—वहाँ पर कुस—कुशा य—और तणाणि—तृण पचम—पाँचवा गोयमस्स—गौतम के निसिज्जाए—बैठने के लिए खिप्प—शीघ्र संपणामए—समर्पण करने लगे—समर्पित किया।

मूलार्थ—उस वन में जो प्रासुक-निर्दोष, पलाल, कुश और तृणादि थे वे गौतम मुनि के बैठने के लिए शीघ्र ही उपस्थित कर दिये।

टीका—तिन्दुक वन में उपस्थित हुए गौतम स्वामी का भक्ति और प्रेम-पुरस्सर स्वागत करने के अनन्तर केशीकुमार मुनि ने गौतम स्वामी के बैठने के लिए उस वन में रहे हुए पाँच प्रकार के पलाल कुश और तृणादि—जो कि मुनि के लिए उपादेय कहे हैं—शीघ्र ही उपस्थित कर दिये। तात्पर्य यह है कि आसनादि प्रदान के द्वारा उनकी प्रतिपत्ति-भक्ति की। शास्त्रों में साधु के लिए पाँच प्रकार के तृणादि के ग्रहण करने का विधान है, यथा—'तिण पणग पुण भणिय, जिणेहिं कम्मट्ठगंठिमहणेहिं। साली वीही कोद्दव रालग रण्णेतिणाइ य।' तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र देव ने अष्टविध कर्मों के मर्दन के लिए पाँच प्रकार के तृण बतलाये हैं यथा—शाली, व्रीही, कोद्रव रालक और अरण्य तृण आदि। केशीकुमार ने आसनादि रूप में ये तृणादि जोकि उस समय उनके पास विद्यमान थे—उनको अर्पण किये। इसी प्रकार केशीकुमार के शिष्यों ने गौतम स्वामी के शिष्यों का यथायोग्य सत्कार किया, यह बात भी उक्त गाथा के आन्तरिक भाव पर विचार करने से ध्वनित होती है।

इस भांति पारस्परिक शिष्टाचार के अनन्तर जब वे दोनों महापुरुष अपने २ आसनों पर विराजमान हो गये तब उनकी शोभा किस प्रकार की थी अर्थात् वे किस प्रकार से सुशोभित हो रहे थे अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

केसीकुमार समणे, गोयमे य महायसे।
उभओ निसण्णा सोहन्ति, चन्दसूरसमप्पभा ॥१८॥

केशीकुमार श्रमणः, गौतमश्च महायशाः।
उभौ निषण्णौ शोभेते, चन्द्रसूर्यसमप्रभौ ॥१८॥

पदार्थान्वयः—केसीकुमार समणे—केशीकुमार श्रमण य—और गोयमे—गौतम महायसे—महान् यशवाले उभओ—दोनों ही निसण्णा—बैठे हुए सोहन्ति—शोभा पाते हैं चन्दसूरसमप्पभा—चन्द्र और सूर्य के समान प्रभावाले।

मूलार्थ—केशीकुमार श्रमण और महायशस्वी गौतम ये दोनों ही बैठे हुए ऐसे शोभा पा रहे हैं जैसे अपनी कान्ति से चन्द्र और सूर्य शोभा पाते हैं।

टीका—इस गाथा में उपमा अलङ्कार के द्वारा केशीकुमार और गौतम मुनि को चन्द्रमा और सूर्य के रूप में वर्णित किया है। यथा—चन्द्रमा और सूर्य के समान

प्रभा-कान्तिवाले वे दोनों महापुरुष अपने २ आसनों पर बैठे हुए सुशोभित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे चन्द्रमा और सूर्य अपनी प्रभा-कान्ति से संसार को आह्लादित और प्रकाशित करते हैं, तद्वत् वे दोनों ऋषि अपने शान्ति और तेजस्विता आदि सद्गुणों से भव्य जीवों को उपकृत कर रहे हैं। यहाँ पर चन्द्रमा के समान केशीकुमार और सूर्य के समान गौतम मुनि को समझना चाहिए, कारण यह है कि प्रस्तुत गाथा का जो वर्णन-क्रम है उसके अनुसार ऐसा ही प्रतीत होता है। इस कल्पना के लिए एक और भी कारण है वह यह कि भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने अपने शासन में जिस पद्धति को स्थान दिया है उसमें समय की अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथ के शासन की अपेक्षा तपश्चर्या को अधिक स्थान दिया है। अतः उनके शासन पर चलनेवाले गौतम मुनि में तपोबल की प्रधानता होने से उनको सूर्य से उपमित करना कुछ अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, और वास्तव में तो दोनों—केशीकुमार और गौतम मुनि—के लिए सूर्य और चन्द्रमा की उपमा देना किसी प्रकार से असंगत नहीं। सारांश तो यह है कि अपने शिष्य-समुदाय के साथ तपोवन में विराजमान हुए ये दोनों महापुरुष सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभा पा रहे हैं।

इस प्रकार तिन्दुक वन में उन दोनों महात्माओं के समागम के पश्चात् जो कुछ हुआ अब उसका उपक्रम करते हुए कहते हैं—

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया।
गिहत्थाणं अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥१९॥

समागता बहवस्तत्र, पाखण्डाः कौतुकाश्रिताः।
गृहस्थानामनेकानां, सहस्राणि समागतानि ॥१९॥

पदार्थान्वयः—समागया—आगये बहू—बहुत से तत्थ—उस स्थान पर पासंडा—पाखण्डी लोग और कोउगासिया—कुतूहल के आश्रित—कौतूहली लोग अणेगाओ—अनेक गिहत्थाण—गृहस्थों के समूह साहस्सीओ—सहस्रों हजारों समागया—इकट्ठे होगये।

मूलार्थ—उस वन में बहुत से पाखण्डी लोग और बहुत से कुतूहली लोग तथा हजारों की संख्या में गृहस्थ लोग भी एकत्रित हो गये। [उन दोनों महापुरुषों का शास्त्रार्थ सुनने के लिए]।

टीका—जिस समय उस तिन्दुक वन में वे दोनों ऋषि तत्त्वनिर्णय के लिए एकत्रित हुए उस समय श्रावस्ती नगरी में भी उनके समागम का पता लग गया। आम लोगों में यह बात फैल गई कि शास्त्रार्थ के लिए दोनों ऋषि तिन्दुक वन में एकत्रित हो रहे हैं। इस समाचार को सुनकर लोग हजारों की संख्या में वहाँ पर जमा हो गये। उनमें बहुत से पाखण्डी—पाखण्डव्रतों के धारण करनेवाले लोग, और कौतुकी—कुतूहल के देखनेवाले—लोग भी उपस्थित थे। कौतुकी वे लोग कहे जाते हैं जो केवल उपहास्य करनेवाले हों। किसी २ प्रति में 'कोउगासिया' के स्थान पर 'कोउगामिया' ऐसा पाठ भी है, उसका अर्थ है, कौतुकी और मृग, अर्थात् मृग पशु की तरह अज्ञानी अपने हित और अहित से अनभिज्ञ। यदि कोई ऐसी शंका करे कि जब गाथा में पाखण्डी और कौतुकी आदि लोगों के नाम का उल्लेख किया है तो फिर श्रावक लोगों के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका समाधान यह है कि पाखण्डी कहने से अन्य दार्शनिकों का ग्रहण है और कौतुकी कहने से धर्म से पराङ्मुख केवल उपहास्यप्रिय मनुष्यों का ग्रहण अभिमत है तथा गृहस्थ कहने से जिज्ञासु और श्रावक लोगों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार शब्दों के देखने से अर्थ का निश्चय हो जाता है। कारण यह है कि जहाँ पर धर्माधिकार का विधान है वहाँ पर प्रायः 'गिहिधम्म-गृहस्थधर्म' इस प्रकार का तो उल्लेख मिलता है परन्तु 'सावगधम्म-श्रावक धर्म' इस प्रकार का उल्लेख देखने में नहीं आता। इसलिए इसी नियम को दृष्टिगोचर रखकर यहाँ पर भी गृहस्थ शब्द से श्रावक का ग्रहण किया जा सकता है।

इस मनुष्य समुदाय के अतिरिक्त वहाँ पर और कौन २ आये अब इस विषय में कहते हैं—

देवदाणवगन्धव्वा , जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥२०॥

देवदानवगन्धर्वा , यक्षराक्षसकिन्नरा ।
अदृश्यानां च भूतानाम्, आसीत् तत्र समागमः ॥२०॥

पदार्थान्वयः—देव-देवता दाणव-दानव गन्धव्वा-गन्धर्व जक्ख-यक्ष

रक्खस–राक्षस किन्नरा–किन्नर अदिस्साण–अदृश्य भूयाण–भूतों का य–पुनः आसी–हुआ तत्थ–वहाँ पर समागमो–समागम ।

मूलार्थ—देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर तथा अदृश्य भूत इन सब का भी उस वन में समागम हुआ ।

टीका—तिन्दुक नामा वन में सहस्रों मनुष्यों के एकत्रित होने के अतिरिक्त अनेक प्रकार के देव दानवों का भी समागम हुआ । यथा—देव—ज्योतिषी और वैमानिक, दानव—भवनपति देव विशेष, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—व्यन्तर आदि के देव विशेष वहाँ पर एकत्रित होगये । इसके अतिरिक्त अदृश्य भूतों का केलि-किल आदि वाणव्यन्तरों का भी वहाँ पर आगमन हुआ जोकि उनके किल किल शब्द से प्रमाणित हो रहा था । तात्पर्य यह है कि प्रथम के देवगण तो दृश्यरूप में वहाँ पर उपस्थित थे और कतिपय भूतगण अदृश्यरूप में वहाँ पर विद्यमान थे । इस बात को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं कि—'एते चानन्तरमदृश्य विशेषणात् दृश्य-रूपाः अदृश्यानां च भूतानां केलिकिल व्यन्तर विशेषाणामासीत्' इत्यादि । इससे प्रतीत होता है कि मनुष्यों के प्रति दिखने और न दिखनेवाले देवगण भी उन दोनों महापुरुषों की धर्म-चर्चा को श्रवण करने के लिए वहाँ पर आये ।

इस प्रकार मनुष्यों और देवों का समारोह हो जाने के अनन्तर उन दोनों महर्षियों के धार्मिक वार्तालाप का आरम्भ हुआ—

पुच्छामि ते महाभाग ! केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥

पृच्छामि त्वां महाभाग ! केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—महाभाग–हे महाभाग ! ते–तुझे पुच्छामि–पूछता हूँ केसी–केशीकुमार गोयम–गौतम को अब्बवी–कहने लगे तओ–तदनन्तर केसिं–केशीके बुवन्त–बोलने पर—उसके प्रति तु–पुनः अर्थका वा भिन्न क्रम का वाची है गोयमो–गौतम इणं–इस प्रकार अब्बवी–कहने लगे ।

मूलार्थ—केशीकुमार गौतम मुनि के प्रति कहने लगे कि—हे महाभाग ! मैं तुम से पूछता हूँ । केशीकुमार के इस प्रकार कहने पर गौतम मुनि ने इस प्रकार कहा ।

टीका—जिस समय तिन्दुक वन का सभा-मण्डप मनुष्यों और देव दानवों से भर गया और सब का चित्त उक्त दोनों महापुरुषों के विचार सुनने को उत्कंठित हो रहा था उस समय केशीकुमार ने प्रश्न पूछने की इच्छा प्रकट करते हुए गौतम स्वामी को सम्बोधित करके कहा कि—हे महाभाग अर्थात् अतिशय से युक्त, अचिन्त्य शक्तिवाले महापुरुष ! क्या मैं इस समय आप से कुछ पूछ सकता हूँ ? इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा । तात्पर्य यह है कि केशीकुमार के आशय को समझते हुए गौतम स्वामी उसके प्रति इस प्रकार बोले । इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में प्रश्न करने की विधि का भी बड़ी सुन्दरता से निदर्शन करा दिया गया है । जैसेकि प्रश्न-कर्त्ता को उचित यह है कि वह प्रश्न करने से पहले जिसके प्रति वह प्रश्न करना चाहता है अथवा जिससे वह प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की जिज्ञासा रखता है—उससे अनुमति—आज्ञा प्राप्त कर ले और उसके बाद प्रश्न करे । इससे किसी प्रकार के मनोमालिन्य की सम्भावना को अवकाश नहीं रहता ।

इस प्रकार केशीकुमार के द्वारा प्रश्न पूछने की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् में उनके प्रति गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका उल्लेख करते हैं—

पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥

पृच्छतु भदन्त ! यथेष्टं ते, केशिनं गौतमोऽब्रवीत् ।
ततः केशी अनुज्ञातः, गौतममिदमब्रवीत् ॥२२॥

पदार्थान्वयः—भन्ते—हे भगवन् ! जहिच्छं—यथा इच्छा ते—आपकी पुच्छ—पूछें केसिं—केशी के प्रति गोयम—गौतम अब्बवी—बोले तओ—तदनन्तर केसी—केशीकुमार अणुन्नाए—आज्ञा के मिल जाने पर गोयमं—गौतम के प्रति इणं—इस प्रकार अब्बवी—बोले ।

मूलार्थ—हे भगवन्! आप यथा इच्छा—अपनी इच्छा के अनुसार पूछें, यह गौतम ने केशी के प्रति कहा। तदनन्तर अनुज्ञा मिल जाने पर गौतम के प्रति केशी मुनि ने इस प्रकार कहा।

टीका—जब केशीकुमार ने गौतम स्वामी से प्रश्न पूछने की अनुज्ञा प्राप्त कर ली अर्थात् उन्होंने प्रश्न पूछने की अनुमति देते हुए उन से यह कह दिया कि आप बड़ी खुशी से जो चाहें सो पूछ सकते हैं तब केशीकुमार ने उनके प्रति इस प्रकार कहा यह इस गाथा का संकलित भावार्थ है। प्रस्तुत गाथा में तथा इससे पहली गाथा में प्रश्नोत्तर के प्रस्ताव पर उक्त दोनों महापुरुषों का जो वार्तालाप हुआ है उसमें अर्थात् परस्पर के वार्तालाप में भाषा समिति का कितनी सुन्दरता से उपयोग किया गया है यह बात सब से अधिक ध्यान देने के योग्य है, परस्पर के वार्तालाप में कितना विनय, कितना माधुर्य और कितनी सरसता है यह बात सहज ही ध्यान में आ सकती है। धर्मचर्चा के जिज्ञासुओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है। इसके अतिरिक्त गाथा के द्वितीय पाद में 'गोयम' यह प्रथमा विभक्ति के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग सुप् व्यत्यय से हुआ है।

अनुज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् गौतम स्वामी के प्रति केशीकुमार श्रमण ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२३॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः, योऽयं पंचशिक्षितः।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महामुनिना ॥२३॥

पदार्थान्वयः—चाउज्जामो—चतुर्यामरूप जो—जो धम्मो—धर्म य—और जो—जो इमो—यह पंचसिक्खियो—पाँच शिक्षारूप धर्म देसिओ—उपदेश किया है वद्धमाणेण—वर्द्धमान स्वामी ने य—और पासेण—पार्श्वनाथ महामुणी—महामुनि ने।

मूलार्थ—वर्द्धमान स्वामी ने पाँच शिक्षारूप धर्म का कथन किया है और महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्यामरूप धर्म का प्रतिपादन किया है।

टीका—केशीकुमार ने गौतम स्वामी के प्रति कहा कि—हे गौतम ! श्री पार्श्वनाथ स्वामी ने चातुर्याम—चार महाव्रतरूप धर्म कथन किया है और श्रीवर्द्धमान ने पाँच शिक्षारूप—पाँच महाव्रतरूप धर्म का प्रतिपादन किया है। यद्यपि धर्म सम्बन्धि नियम दोनों के एक ही हैं परन्तु संख्या में अन्तर—भेद है। सो यह भेद क्यों ? जैसेकि अहिंसा सत्य अस्तेय और अपरिग्रह इन चार महाव्रतरूप धर्म सो पार्श्वनाथ का है तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पाँच शिक्षारूप धर्म वर्द्धमान स्वामी का है। सो इनमें सङ्ख्यागत भेद स्पष्ट है।

तथा—

एगकज्जपवन्नाणं , विसेसे किं नु कारणं ?
धम्मे दुविहे मेहावी , कहं विप्पच्चओ न ते ॥२४॥

एककार्यप्रपन्नयोः , विशेषे किन्नु कारणम्।
धर्मे द्विविधे मेधाविन्! कथं विप्रत्ययो न ते ॥२४॥

पदार्थान्वयः—एग-एक कज्ज-कार्य में पवन्नाण-प्रवृत्त होनेवालों में विसेसे-विशेष भेद होने में किं-क्या ? नु-वितर्क कारण-कारण है ? मेहावी-हे मेधाविन् ! धम्मे-धर्म के दुविहे-दो भेद हो जाने पर कहं-कैसे विप्पच्चओ-विप्रत्यय-संशय ते-तुझे न-नहीं है।

मूलार्थ—हे मेधाविन्! एक कार्य में प्रवृत्त होने वालों के धर्म में विशेष भेद होने में कारण क्या है ? अथ च धर्म के दो भेद हो जाने पर आप को संशय क्यों नहीं होता ?

टीका—केशीकुमार गौतम मुनि से कहते हैं कि हे गौतम ! जबकि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर स्वामी ये दोनों ही तीर्थंकर हैं और दोनों का लक्ष्य भी एक अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है तो फिर इनके धार्मिक नियमों में भेद क्यों ? हे मेधाविन् ! धर्म के दो भेद किये जाने पर क्या आपके मन में विप्रत्यय—अविश्वास उत्पन्न नहीं होता ? तात्पर्य यह है कि जब दोनों का कार्य एक है तो उसके साधन-भूत धर्म के नियमों में भेद क्यों किया गया ? क्या इस प्रकार, नियमों में परिवर्तन

करने से इन दोनों की सर्वज्ञता में तो कोई विरोध नहीं आता ? क्योंकि जब सर्वज्ञता दोनों की तुल्य है तब उनके धार्मिक नियमों में भी कोई भेद नहीं होना चाहिए, और यदि भेद किया गया तो इनकी सर्वज्ञता भी सदेहास्पद हो जावेगी। तात्पर्य यह है कि दोनों में एक ही सर्वज्ञ ठहरेगा, या तो भगवान् महावीर ही सर्वज्ञ ठहरेंगे या भगवान् पार्श्वनाथ को ही सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। यहाँ पर तो एक तीर्थंकर के धर्म-सम्बन्धि नियमों में दूसरा तीर्थंकर विभेद करके हस्तक्षेप कर रहा है, इस विचार से तो एक को अल्पज्ञ और दूसरे को सर्वज्ञ अवश्य मानना पड़ेगा। दोनों का सर्वज्ञ होना कठिन है। इसी आशय से केशीकुमार गौतम स्वामी को मेधावी का सम्बोधन देते हुए कहते हैं कि क्या आपको इस विषय में सन्देह उत्पन्न नहीं होता ? यहाँ पर गौतम स्वामी के लिए जो मेधावी विशेषण दिया गया है उससे गौतम स्वामी को प्रतिभा-सम्पन्न और विशिष्ट ज्ञानवान् समझकर उनसे पूर्वोक्त प्रश्न का यथार्थ अथ च सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त करने की आशा ध्वनित की गई है।

केशीकुमार के इस प्रश्न को सुनकर उसके उत्तर में श्री गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हुए कहते हैं। यथा—

तओ केसिं बुवन्तं तु, गोयमो इणमब्बवी।
पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं ॥२५॥

ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत्।
प्रज्ञा समीक्षते धर्मतत्त्वं तत्त्वविनिश्चयम् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—तओ—तदनन्तर केसिं—केशीकुमार के बुवन्तं—बोलने पर उसके प्रति गोयमो—गौतम इणं—यह अब्बवी—कहने लगे पन्ना—प्रज्ञा धम्मं—धर्म के तत्त्व को समिक्खए—सम्यक् प्रकार से देखती है तत्त—तत्त्व का विणिच्छिय—विनिश्चय होता है धर्म में तु—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—तदनन्तर इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी ने कहा कि—जीवादि तत्त्वों का विनिश्चय जिस में किया जाता है ऐसे धर्म तत्त्व को प्रज्ञा ही सम्यक् देख सकती है।

टीका—केशीकुमार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—जिसमें जीवादि पदार्थों का विशेषरूप से निर्णय किया जाता है ऐसे धर्म-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान प्रज्ञा—बुद्धि द्वारा ही किया जा सकता है। गौतम स्वामी के इस कथन का आशय यह है कि केवल वाक्य के श्रवण मात्र से उसके अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता। किन्तु वाक्य श्रवण के अनन्तर उसके अर्थ का विनिश्चय—विशिष्ट निर्णय—बुद्धि करती है। अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही वाक्यार्थ का यथार्थ निर्णय होता है [प्रज्ञा—बुद्धिः, समीक्षते—सम्यक् पश्यति धर्म तत्त्वम्—धर्म परमार्थम्, तत्त्वाना जीवादीना विनिश्चयो—विशिष्ट निर्णयात्मको यस्मिंस्तथा। इदमुक्त भवति न वाक्यश्रवणमात्रादेव वाक्यार्थ निर्णयो भवति किन्तु प्रज्ञावशात्' इति वृत्तिकारः] तथा—धर्म शब्द का विंदु—'धम्म' अलाक्षणिक है।

अब इसी बात को विस्पष्ट करते हुए कहते हैं। यथा—

पुरिमा उज्जुजड्डा उ, वक्कजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥

पूर्वे ऋजुजडास्तु, वक्रजडाश्च पश्चिमाः।
मध्यमा ऋजुप्रज्ञास्तु, तेन धर्मो द्विधा कृतः ॥२६॥

पदार्थान्वयः—पुरिमा—पहले, प्रथम तीर्थंकर के मुनि उज्जुजड्डा—ऋजुजड थे उ—जिससे पच्छिमा—पीछे के—चरम तीर्थंकर के मुनि वक्कजड्डा—वक्रजड हैं य—और मज्झिमा—मध्य के—मध्यम तीर्थंकरों के मुनि उज्जुपन्ना—ऋजुप्राज्ञ हैं तेण—इस हेतु से धम्मे—धर्म दुहा—दो भेदवाला कए—किया गया उ—प्राग्वत्।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थंकर के मुनि ऋजुजड और चरम तीर्थंकर के मुनि वक्रजड हैं किन्तु मध्यम तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ होते हैं। इस कारण से धर्म के दो भेद किए गये।

टीका—धर्मतत्त्व का निर्णय, प्रज्ञा द्वारा ही होता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी, केशीकुमार के पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं। धर्म के दो भेद क्यों किये गये ? इसका कारण अधिकारियों की बुद्धि का तरतम भाव है

जो कि मुनियों का ऋजुवक्र, जड़वक्र और ऋजुप्राज्ञ होने पर निर्भर है। जैसेकि—प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के साधु, ऋजुजड़ थे अर्थात् सरल होने पर भी उनमें जड़ता थी, वे पदार्थ को बड़ी कठिनता से समझते थे। और चरम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी के साधु वक्रजड़ हैं जोकि शिक्षित किये जाने पर भी अनेक प्रकार की कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते हैं तथा वक्रता के कारण छलपूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप में प्रदर्शित करते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ अर्थात् सरल और बुद्धिमान् थे। उनको समझाने में—शिक्षित करने में किसी प्रकार की भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी, अथ च किसी विषय का सकेतमात्र कर देने पर ही वह उसके मर्म तक पहुँच जाते थे। अर्थात् अपनी बुद्धि के द्वारा पेश किये गये उस तत्त्व के साधक बाधक विषयों को अवगत कर लेते थे। गुरुजनों द्वारा मिली हुई शिक्षा में फलाफल का विचार और तत्सम्बन्धि ऊहापोह भी भली प्रकार से कर लेते थे। अतः धर्म के नियमों में भेद किया गया अर्थात् उसकी सख्या में न्यूनाधिक्य किया गया। तात्पर्य यह है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के साधुओं की मानसिक स्थिति का विचार करके अहिंसा आदि पाँच शिक्षाओं—पाँच महाव्रतों का विधान किया गया और मध्यवर्त्ति तीर्थंकरों के मुनियों की बुद्धि का विचार करके चातुर्याम अर्थात् चार महाव्रतों का उपदेश किया गया। यह सब कुछ काल के प्रभाव से अधिकारी भेद को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है, न कि सर्वज्ञ-प्रोक्त नियमों में किसी प्रकार की न्यूनता को देखकर उसमें सुधार करने की दृष्टि से किया गया है। इसलिए दोनों तीर्थंकरों की सर्वज्ञता पर इस नियम-भेद का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और ना ही इसमें किसी प्रकार का विरोध है। सारांश यह है कि द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को दृष्टिगोचर रखते हुए जिस समय जिस प्रकार के अधिकारी पुरुष होते हैं, उनको शिक्षित करने के लिए उसी प्रकार के उपायों और नियमों की योजना करनी पड़ती है। जैसेकि पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप दोनों कालचक्र चलते हैं, इसलिए दोनों को दृष्टि में रखकर धर्म सम्बन्धि नियमों का विधान किया गया है, उसमें समय और अधिकारी भेद से भेद का होना, या करना परम आवश्यक है। इससे साध्य या लक्ष्य एक होने पर भी उसके साधन में भेद का होना किसी प्रकार से भी

असंगत अर्थ व सन्देह का उत्पादक नहीं हो सकता। यह जो नियमों में भेद किया गया है सो केवल समयानुसार केवल मनुष्य प्रकृति को ही ध्यान में रखकर किया गया है इसमें सन्देह को कोई स्थान नहीं। आप मध्यम तीर्थंकर की सन्तान हैं अतः आपके लिये इस चातुर्यामिक—चार व्रतरूप धर्म का विधान है और हम चरम तीर्थंकर की संतति हैं, अतः हमारे लिए पाँच शिक्षारूप—पाँच महाव्रतरूप धर्म के पालन का आदेश है। इसमें विरोध या संशय की उद्भावना करना व्यर्थ है। यह प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय है।

अब फिर इसी विषय को पल्लवित करते हुए कहते हैं—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणां दुरनुपालकः।
कल्पो मध्यमगानां तु, सुविशोध्यः सुपालकः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—पुरिमाण—पूर्व के मुनियों का कप्पो—कल्प दुव्विसोज्झो—दुर्विशोध्य था उ—और चरिमाण—चरम मुनियों का—कल्प दुरणुपालओ—दुरनुपालक है मज्झिमगाण—मध्यकालीन मुनियों का कल्प सुविसोज्झो—सुविशोध्य तु—और सुपालओ—सुपालक है।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प दुर्विशोध्य, और चरम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प, दुरनुपालक, किन्तु मध्यवर्ति तीर्थंकरों के मुनियों का कल्प सुविशोध्य और सुपालक है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार के प्रश्न के उत्तर को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। गौतम स्वामी कहते हैं कि प्रथम तीर्थंकर के समय के मुनियों को साधु कल्प—आचार का समझाना बहुत कठिन था कारण कि वे मनुज प्रज्ञासरल और मन्दबुद्धि थे अतः सरल होने पर भी उनकी बुद्धि शीघ्रता से पदार्थों के अवधारण करने में समर्थ नहीं थी तथा चरम तीर्थंकर के मुनियों का शिक्षित करना तो विशेष कठिन नहीं किन्तु इनके लिए कल्प का पालन करना

जो कि मुनियों का ऋजुवक्र, जड़वक्र और ऋजुप्राज्ञ होने पर निर्भर है। जैसेकि—प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के साधु, ऋजुजड़ थे अर्थात् सरल होने पर भी उनमें जड़ता थी, वे पदार्थ को बड़ी कठिनता से समझते थे। और चरम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी के साधु वक्रजड़ हैं जोकि शिक्षित किये जाने पर भी अनेक प्रकार की कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते हैं तथा वक्रता के कारण छलपूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप में प्रदर्शित करते हैं। इनके अतिरिक्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ अर्थात् सरल और बुद्धिमान् थे। उनको समझाने में—शिक्षित करने में किसी प्रकार की भी कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी, अथ च किसी विषय का संकेतमात्र कर देने पर ही वह उसके मर्म तक पहुँच जाते थे। अर्थात् अपनी बुद्धि के द्वारा पेश किये गये उस तत्त्व के साधक बाधक विषयों को अवगत कर लेते थे। गुरुजनों द्वारा मिली हुई शिक्षा में फलाफल का विचार और तत्सम्बन्धि ऊहापोह भी भली प्रकार से कर लेते थे। अतः धर्म के नियमों में भेद किया गया अर्थात् उसकी संख्या में न्यूनाधिक्य किया गया। तात्पर्य यह है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के साधुओं की मानसिक स्थिति का विचार करके अहिंसा आदि पाँच शिक्षाओं—पाँच महाव्रतों का विधान किया गया और मध्यवर्ति तीर्थंकरों के मुनियों की बुद्धि का विचार करके चातुर्याम अर्थात् चार महाव्रतों का उपदेश किया गया। यह सब कुछ काल के प्रभाव से अधिकारी भेद को लक्ष्य में रख कर ही किया गया है, न कि सर्वज्ञ-प्रोक्त नियमों में किसी प्रकार की न्यूनता को देखकर उसमें सुधार करने की दृष्टि से किया गया है। इसलिए दोनों तीर्थंकरों की सर्वज्ञता पर इस नियम-भेद का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और ना ही इसमें किसी प्रकार का विरोध है। सारांश यह है कि द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को दृष्टिगोचर रखते हुए जिस समय जिस प्रकार के अधिकारी पुरुष होते हैं, उनको शिक्षित करने के लिए उसी प्रकार के उपायों और नियमों की योजना करनी पड़ती है। जैसेकि पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप दोनों कालचक्र चलते हैं, इसलिए दोनों को दृष्टि में रखकर धर्म सम्बन्धि नियमों का विधान किया गया है, उसमें समय और अधिकारी भेद से भेद का होना, या करना परम आवश्यक है। इससे साध्य या लक्ष्य एक होने पर भी उसके साधन में भेद का होना किसी प्रकार से भी

असंगत अर्थ व सन्देह का उत्पादक नहीं हो सकता। यह जो नियमों में भेद किया गया है सो केवल समयानुसार केवल मनुष्य प्रकृति को ही ध्यान में रखकर किया गया है इसमें सन्देह को कोई स्थान नहीं। आप मध्यम तीर्थंकर की सन्तान हैं अतः आपके लिये इस चातुर्यामिक—चार व्रतरूप धर्म का विधान है और हम चरम तीर्थंकर की सतति हैं, अतः हमारे लिए पाँच शिक्षारूप—पाँच महाव्रतरूप धर्म के पालन का आदेश है। इसमें विरोध या संशय की सद्भावना करना व्यर्थ है। यह प्रस्तुत गाथा का अभिप्राय है।

अब फिर इसी विषय को पल्लवित करते हुए कहते हैं—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु, चरमाणां दुरनुपालकः।
कल्पो मध्यमगानां तु, सुविशोध्यः सुपालकः ॥२७॥

पदार्थान्वयः—पुरिमाण—पूर्व के मुनियों का कप्पो—कल्प दुव्विसोज्झो—दुर्विशोध्य था उ—और चरिमाण—चरम मुनियों का—कल्प दुरणुपालओ—दुरनुपालक है मज्झिमगाण—मध्यकालीन मुनियों का कल्प सुविसोज्झो—सुविशोध्य तु—और सुपालओ—सुपालक है।

मूलार्थ—प्रथम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प दुर्विशोध्य, और चरम तीर्थंकर के मुनियों का कल्प, दुरनुपालक, किन्तु मध्यवर्ति तीर्थंकरों के मुनियों का कल्प सुविशोध्य और सुपालक है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार के प्रश्न के उत्तर को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। गौतम स्वामी कहते हैं कि प्रथम तीर्थंकर के समय के मुनियों को साधु कल्प—आचार का समझाना बहुत कठिन था कारण कि वे ऋजुजड़ महासरल और मन्दबुद्धि थे अतः सरल होने पर भी उनकी बुद्धि शीघ्रता से पदार्थों के अवधारण करने में समर्थ नहीं थी तथा चरम तीर्थंकर के मुनियों का शिक्षित करना तो विशेष कठिन नहीं किन्तु इनके लिए कल्प का पालन करना

अतीव कठिन है क्योंकि इस काल के जीव, कुतर्क उत्पन्न करने के लिए बड़े कुशल हैं, और सद्धेतु को हेत्वाभास बनाने में अपने बुद्धि-बल का विशेष उपयोग करते हैं और विपरीत इसके मध्य के २२ तीर्थंकरों के समय के मुनियों को साधु-कल्प के लिए शिक्षित करना या साधु-कल्प का उनको बोध देना और उनके द्वारा उसका पालन किया जाना ये दोनों ही सुलभ थे। तात्पर्य यह है कि मध्य के तीर्थंकरों के भिक्षु साधु-कल्प की शिक्षा भी सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं और उसका पालन भी उनके लिए सुलभ है, इसी हेतु से प्रथम और चरम तीर्थंकर के समय में पाँच महाव्रतों की शिक्षा का विधान है, और श्रीअजितनाथ प्रभु से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक चार महाव्रतों की शिक्षा का प्रतिपादन किया है जोकि २३वें तीर्थंकर के समय तक एक रूप से चला आया। जैसेकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि मध्यवर्त्ति तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं अतः उनके लिए शिक्षाव्रतों का ग्रहण और उनका पालन ये दोनों ही सुकर हैं इसलिए अपेक्षाभेद से नियमों में भेद किया गया है न कि किसी प्रकार की त्रुटि—न्यूनाधिकता को लेकर इसकी कल्पना है। इसके अतिरिक्त यदि कोई यह शंका करे कि—वाचक भी तो उसी समय के होते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि, बुद्धि की कल्पना नाना प्रकार की होती है। सब की प्रज्ञा एक सरीखी नहीं होती इसलिए मुख्यता पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। तथा इसके कथन से यह भी भली भाँति प्रमाणित होता है कि समय के अनुसार नियमों में भी परिवर्तन किया जा सकता है, जिसे धर्म-भेद कहना अथवा उसमें विरोध का उद्भावन करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं कहा जा सकता।

गौतम स्वामी की तर्फ से दिये गये इस पूर्वोक्त उत्तर को सुनने के पश्चात् केशीकुमार श्रमण ने उनके प्रति जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं। यथा—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥२८॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मे, त मां कथय गौतम ! ॥२८॥

पदार्थान्वयः—साहु–श्रेष्ठ है पन्ना–प्रज्ञा ते–तुम्हारी गोयम–हे गौतम ! छिन्नो–तू ने छेदन किया इमो–यह मे–मेरा संसओ–संशय अन्नोवि–और भी मज्झ–मेरा संसओ–संशय है तं–उसको मे–मुझे गोयमा–हे गौतम ! कहसु–कहो।

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है, आपने मेरे सन्देह को दूर किया। मेरा एक और भी संशय है। हे गौतम ! आप उसका अर्थ भी मुझ से कहो ?

टीका—केशीकुमार ने अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर प्राप्त करके दूसरे प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए गौतम स्वामी से कहा कि हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा बड़ी श्रेष्ठ है। आपने मेरे संशय को दूर कर दिया अब मेरा जो दूसरा संशय है उसको भी दूर करें ? केशीकुमार के इस कथन में कितनी साधुता और सरलता है यह अनायास ही प्रतीत हो सकती है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि केशीकुमार के द्वारा उद्भावन किये गये संशय का गौतम स्वामी के द्वारा निराकरण करना तथा अन्य संशय के निराकरणार्थ प्रस्ताव करना इत्यादि प्रश्नोत्तररूप जितना भी सन्दर्भ है यह सब नाम मात्र इन दोनों महापुरुषों के शिष्य परिवार के हृदय में उत्पन्न हुए सन्देहों की निवृत्ति के लिए ही है। अन्यथा केशीकुमार के हृदय में तो इस प्रकार की न कोई शंका थी और न उसकी निवृत्ति के लिए गौतम स्वामी का प्रयास था। कारण कि मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानवालों में इस प्रकार के संशय का अभाव होता है। अतः यह प्रश्नोत्तररूप समग्र सन्दर्भ स्व शिष्यों तथा सभा में उपस्थित हुए अन्य भाविक सद्गृहस्थों के संशयों को दूर करने के लिए प्रस्तावित किया गया है। तथा इस गाथा में अभिमान से रहित होकर सत्य के ग्रहण करने का जो उपदेश ध्वनित किया गया है उसका अनुसरण प्रत्येक जिज्ञासु को करना चाहिए।

अब लिंग विषयक दूसरे प्रश्न का वर्णन करते हैं—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥२९॥

अचेलकश्च यो धर्म, योऽयं सान्तरोत्तर[1]।
देशितो वर्धमानेन, पार्श्वेण च महायशसा ॥२९॥

१ जो इमोत्ति—यश्चायं सान्तराणि वर्द्धमान शिष्य वस्त्रापेक्षया कथंचित् कदाचिन्मान वर्णे विशेषितानि, उत्तराणि च बहुमूल्यतया प्रधानानि वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः [कर्मसंयमी टीका]।

पदार्थान्वयः—अचेलगो—अचेलक जो—जो धम्मो—धर्म य—और जो—जो इमो—यह सतरुत्तरो—प्रधान वस्त्र धारण करना देसिओ—उपदेशित किया वद्धमाणेण—वर्द्धमान स्वामी ने या—और पासेण—पार्श्वनाथ महामुणी—महामुनि ने।

मूलार्थ—हे गौतम! वर्द्धमान स्वामी ने अचेलकधर्म का उपदेश दिया है और महामुनि पार्श्वनाथ स्वामी ने सचेलकधर्म का प्रतिपादन किया है।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का आशय यह है कि भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् वर्द्धमान स्वामी ये दोनों ही महापुरुष तीर्थंकर जो सर्वज्ञता में समान हैं परन्तु साधु के लिंग—वेष के विषय में इनकी प्ररूपणा में भेद नज़र आता है यथा—भगवान् पार्श्वनाथ ने तो सचेलकधर्म का उपदेश दिया है और भगवान् वर्द्धमान स्वामी अचेलकधर्म का विधान करते हैं। इस प्रकार दोनों के कथन में विरोध प्रतीत होता है। दोनों के साधुओं में वेष की विभिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है, सो ऐसे क्यों?

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

एगकज्जपवन्नाणं , विसेसे किं नु कारणं।
लिंगे दुविहे मेहावी! कहं विप्पच्चओ न ते ॥३०॥

एककार्यप्रपन्नयो॰ , विशेषे किन्नु कारणम्।
लिङ्गे द्विविधे मेधाविन्! कथं विप्रत्ययो न ते ॥३०॥

पदार्थान्वयः—एग—एक कज्ज—कार्य पवन्नाणं—प्रवृत्त हुओं के विसेसे—विशेष भेद किं—क्या है नु—वितिश्चय में है कारणं—हेतु मेहावी—हे मेधाविन्! लिंगे—लिंग के दुविहे—दो भेद हो जाने पर कहं—कैसे विप्पच्चओ—विप्रत्यय—संशय ते—तुम को न—नहीं है।

मूलार्थ—हे गौतम! एक कार्य में प्रवृत्त हुओं में विशेषता क्या है? इसमें हेतु क्या है? हे मेधाविन्! लिंग—वेष के दो भेद हो जाने पर क्या आपके मन में विप्रत्यय—संशय उत्पन्न नहीं होता?

टीका—केशीकुमार श्रमण अपने प्रश्न की उपपत्ति करते हुए कहते हैं कि जब दोनों महापुरुष—श्रीपार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी—एक ही कार्य की

सिद्धि में उद्यत हुए हैं तो फिर इन्हों ने परस्पर के लिंग में भेद क्यों डाला ? तात्पर्य यह है कि इनके अनुयायी मुनियों के भेष में भेद क्यों पड़ा ? क्या लिंग—वेष के भेद किये जाने पर आपके मन में विप्रत्यय—अविश्वास उत्पन्न नहीं होता ? यहाँ पर लिंग नाम वेष का है और उसी से साधु की पहचान होती है 'लिंग्यते—गम्यते अनेनाय प्रतीतिर्लिंग वर्षाकल्पादिरूपो वेषः' सो जबकि लिंग परीक्षा के वास्ते है तो फिर अचेलक और सचेलक रूप दो प्रकार का भेद क्यों किया गया ? श्री वर्द्धमान स्वामी ने अचेलक और मानोपेत कुत्सित वस्त्र के धारण करने की आज्ञा दी है और भगवान् पार्श्वनाथ ने इसके प्रतिकूल सचेलकधर्म अथ च बहुमूल्य वस्त्रों के धारण करने की आज्ञा प्रदान की है, तो क्या यह परस्पर सर्वज्ञता में भेद अतलाने का कारण नहीं है ? क्या आपके मन में इस प्रकार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता।

इस पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥३१॥
केशिनमेवं ब्रुवाणं तु, गौतम इदमब्रवीत् ।
विज्ञानेन समागम्य, धर्मसाधनमीप्सितम् ॥३१॥

पदार्थान्वयः—केसिं—केशीकुमार के एवं—इस प्रकार बुवाणं—बोलने पर उसके प्रति गोयमो—गौतम इणं—यह अब्बवी—कहने लगे विन्नाणेण—विज्ञान से समागम्म—जानकर धम्मसाहणं—धर्म साधन के उपकरण की इच्छियं—अनुमति दी है तु—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—केशीकुमार के इस प्रकार बोलने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने कहा कि, हे भगवन् ! विज्ञान से जानकर ही धर्म साधन के उपकरण की आज्ञा प्रदान की है।

टीका—केशीकुमार के उपपत्तिपूर्वक प्रश्न कर चुकने के बाद उसके उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा कि, श्रीपार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी ने केवलज्ञान द्वारा जानकर ही धर्मसाधन के लिए वस्त्रादि के धारण की आज्ञा दी है। जैसेकि श्रीपार्श्वनाथ ने

जो पाँच वर्ण के वस्त्रों या बहुमूल्य वस्त्रों की आज्ञा दी है उसका कारण यह था कि उनके शासन के साधु ऋजुप्राज्ञ होने से ममत्त्व रहित थे अतएव वस्त्रों के रंगने आदि में प्रवृत्त नहीं होते थे अतः उनके लिए बहुमूल्य वस्त्रों की आज्ञा थी परन्तु श्रीवर्द्धमान स्वामी के अनुयायी साधु, वक्रजड़ होने के कारण ममत्त्व विशेष से रंगने आदि में प्रवृत्ति करनेवाले होने से उनके लिए मानोपेत केवल श्वेतवस्त्र और जीर्णवस्त्रों के ही धारण करने का आदेश किया है। इसलिए दोनों महापुरुषों की सर्वज्ञता में कोई भी विरोध नहीं आता क्योंकि ये दोनों आज्ञाएँ विज्ञान-मूलक हैं।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥३२॥

प्रत्ययार्थं च लोकस्य, नानाविधविकल्पनम्।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च, लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥३२॥

पदार्थान्वयः—पच्चयत्थ—प्रतीति के लिए लोगस्स—लोक के नाणाविह—नानाविध विगप्पणं—विकल्प करना च—और जत्तत्थं—यात्रार्थ—संयम निर्वाह के लिए गहणत्थ—ज्ञानादि ग्रहण के लिए—वा पहचानने के लिए च—समुच्चय अर्थ में लोगे—लोक में लिंग—लिंग का पओयणं—प्रयोजन है।

मूलार्थ—लोक में प्रत्यय के लिए, वर्षादि काल में संयम की रक्षा के लिए तथा संयम यात्रा के निर्वाह के लिए, ज्ञानादि ग्रहण के लिए, अथवा यह साधु है ऐसी पहचान के लिए लोक में लिंग का प्रयोजन है।

टीका—केशीकुमार के दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने उनके प्रति कहा कि हे भगवन्! लिंग-वेष के विषय में आपने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर केवल इतना ही है कि लोक में ऐसी प्रतीति हो कि यह साधु है। यदि ऐसा न हो तब तो प्रत्येक व्यक्ति यथारुचि वेष धारण करके अपनी पूजा के लिए अपने आपको साधु कहलाने का साहस कर सकता है, इसलिए लोक में, प्रत्यय-विश्वास उत्पन्न करना, लिंग का प्रयोजन है। तथा वर्षाकालादि में नानाविध उपकरणों की

जो यति के लिए आज्ञा है वह भी साधुवृत्ति की प्रतीति अथ च पूर्ति के लिए है। एवं संयमरूप यात्रा के निर्वाह के लिए और ज्ञानादि का ग्रहण करने के लिए अथवा पहचान के लिए—लोक में लिंग के प्रयोजन की—आवश्यकता है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि साधुवेष का मुख्य प्रयोजन तो एकमात्र प्रतीति ही है और बाकी के प्रयोजन तो गौण हैं। जैसेकि—कदाचित् कर्मोदय से मन में किसी प्रकार का विप्लव-विकार उत्पन्न हो आवे तो उस समय अपने साधुवेष की ओर ध्यान देने से चित्त की वृत्ति ठीक हो सकती है। अतः इस पूर्वोक्त लिंगभेद से सर्वज्ञता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो सकती।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥३३॥

अथ भवेत्प्रतिज्ञा तु, मोक्षसद्भूतसाधनानि ।
ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं चैव निश्चये ॥३३॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ—उपन्यास अर्थ में है उ—निश्चयार्थ में भवे—है पइन्ना—प्रतिज्ञा मोक्ख—मोक्ष का सब्भूय—सद्भूत साहणा—साधना नाणं—ज्ञान च—और दंसणं—दर्शन च—पुनः चरित्त—चारित्र च—पुनः एव—निश्चयार्थक में है निच्छए—निश्चय नय में।

मूलार्थ—हे भगवन्! वस्तुतः दोनों तीर्थंकरों की प्रतिज्ञा तो यही है कि *निश्चय में मोक्ष के सद्भूत साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप ही हैं।*

टीका—केशीकुमार श्रमण के प्रति गौतम स्वामी फिर कहते हैं कि हे भगवन्! श्रीपार्श्वनाथ और वर्द्धमान स्वामी इन दोनों महापुरुषों की यही प्रतिज्ञा है कि—निश्चय में मोक्ष के सद्भूत साधन तो सम्यक् ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ही हैं। साधुवेष तो केवल व्यवहारोपयोगी है इसलिए वह मोक्ष का मुख्य साधन नहीं किन्तु असंयम मार्ग का निवर्त्तक होने से कथंचित् परम्परया गौण साधन है वास्तविक साधन तो रत्नत्रयी—सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप—को माना है। अपि च—

भरतादि अनेक भव्य जीवों को साधु के बाह्य वेष के बिना ही केवलज्ञान की उत्पत्ति हो गई। इसलिये निश्चय में दोनों ही महापुरुषों की यही एक प्रतिज्ञा है कि बाह्य वेष, मोक्ष साधना में कोई सर्वथा आवश्यक वस्तु नहीं है और व्यावहारिक दृष्टि में दोनों की वेष विषयक सम्मति समयानुसार है अतः इसमें विप्रत्यय—अविश्वास को कोई स्थान नहीं है। कारण कि वास्तविक प्रतिज्ञा दोनों की समान है।

गौतम मुनि के इस उत्तर को सुनकर, केशीकुमार ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥३४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥३४॥

टीका—इस गाथा का पदार्थ और मूलार्थ पूर्व की २८वीं गाथा के विवरण में आ चुका है। इन दोनों का पाठ एक ही है अतः यहाँ पर नहीं लिखते। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार ने उत्तर की स्वीकारता, अपनी निरभिमानता और गौतम स्वामी के ज्ञान की प्रशंसा आदि करते हुए अपने सत्पुरुषोचित गुणों का जिस उदारभाव से परिचय दिया है वह उन्हीं के अनुरूप है। विशेष—धर्म का विषय और लिंगभेद का विषय इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में शिष्यवर्ग के अन्तःकरण में जो शंका उत्पन्न हुई थी उसका तो सैद्धान्तिक दृष्टि से निराकरण हो गया, और शिष्यवर्ग भी सब प्रकार से निःशंकित हो गया। तात्पर्य यह है कि जिस प्रयोजन को लेकर इस शास्त्रार्थ का आरम्भ किया गया था वह तो सिद्ध हो चुका अब तो उसकी आवश्यकता नहीं रही। परन्तु इस धर्मवाद—धर्मचर्चा में जो श्रावस्ती नगरी के अनेक सद्गृहस्थ उपस्थित हुए थे उनको भी धर्म का कुछ लाभ मिल जावे, इस आशय से केशीकुमार मुनि अब तीसरे प्रश्न को प्रस्तावित करते हैं। ताकि सभा में उपस्थित हुई अन्य जनता भी कुछ धर्म का सन्देश लेकर जावे।

केशीकुमार श्रमण ने, तीसरे द्वार में गौतम स्वामी के प्रति जिस प्रश्न को उपस्थित किया अब उसका वर्णन करते हैं—

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा !
ते य ते अहिगच्छन्ति, कहं ते निज्जिया तुमे ॥३५॥
अनेकानां सहस्राणां, मध्ये तिष्ठसि गौतम !
ते च त्वामभिगच्छन्ति, कथं ते निर्जितास्त्वया ॥३५॥

पदार्थान्वयः—अणेगाण—अनेक सहस्साण—सहस्रों के मज्झे—मध्य में गोयमा—हे गौतम ! चिट्ठसि—तू ठहरता है ते—वे शत्रु य—फिर ते—तेरे को जीतने के लिए अहिगच्छन्ति—सम्मुख आते हैं कह—किस प्रकार ते—वे शत्रु तुमे—तूने निज्जिया—जीते हैं।

मूलार्थ—हे गौतम ! तू अनेक सहस्र शत्रुओं के मध्य में खड़ा है, वे शत्रु तेरे जीतने को तेरे सन्मुख आ रहे हैं, तूने किस प्रकार उन शत्रुओं को जीता है ?

टीका—इस प्रश्न में केशीकुमार मुनि ने जनता को सद्बोध देने के लिए एक बड़ा ही मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद विचार उपस्थित किया है। केशीकुमार कहते हैं कि हे गौतम ! आप हजारों शत्रुओं के बीच घिरे खड़े हो और वे शत्रु भी आपको जीतने के लिए आपकी ओर भागे चले आरहे हैं, तो फिर आपने इन शत्रुओं को कैसे पराजित किया ? कहने का तात्पर्य यह है कि आप अकेले हो और आपके शत्रु अनेक हैं, अनेकों पर एक का विजय प्राप्त करना निस्सन्देह विस्मयजनक है परन्तु आपने उनको परास्त कर दिया है। अतः आप बतलावें कि आपने किस प्रकार से इन पर विजय प्राप्त की है ?

केशीकुमार के इस उक्त प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा अब उसका वर्णन करते हैं—

एगेजिए जिया पंच, पंचजिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥३६॥
एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च, पञ्चसु जितेषु जिता दश।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—एगेजिए-एक के जीतने पर जिया-जीते गये पंच-पाँच पचजिए-पाँचों के जीतने पर जिया-जीते गये दस-दश उ-फिर दसहा-दश प्रकार के शत्रुओं को जिणित्ता-जीतकर सव्वसत्तू-सर्व शत्रुओं को अहं-मैं जिणामि-जीतता हूँ णं-वाक्यालङ्कार में।

मूलार्थ—एक के जीतने पर पाँच जीते गये, पाँचों के जीतने पर दश जीते गये, तथा दश प्रकार के शत्रुओं को जीतकर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि मैंने पहले सब से बड़े शत्रु को जीत लिया, उसके जीतने के साथ ही चार और भी जीते गये, जब मैंने पूर्वोक्त पाँचों को जीता तब मैंने दश प्रकार के प्रधान शत्रुओं को भी जीत लिया, और जब मैंने दश प्रकार के प्रधान शत्रुओं को जीत लिया तब मैंने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। तात्पर्य यह है कि जो शत्रु मेरी ओर धावा करके आ रहे थे उनको मैंने इस प्रकार से परास्त कर दिया। यहाँ इतना स्मरण रहे कि यह गाथा गुप्तोपमालङ्कार से वर्णन की गई है, क्योंकि वहाँ पर बैठी हुई जनता को इसके परमार्थ की अभी तक प्राप्ति नहीं हुई और वे इस ध्यान में लगी हुई है कि वे शत्रु कौन हैं ? और किस प्रकार जीते गये ? अतएव केशीकुमार ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए फिर प्रश्न किया जोकि इस प्रकार है—

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥३७॥

शत्रवश्च इति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥३७॥

पदार्थान्वय—सत्तू-शत्रु य-पुनः के-कौन वुत्ते-कहे गये हैं ? इइ-इस प्रकार केसी-केशीकुमार श्रमण गोयमं-गौतम के प्रति अब्बवी-कहने लगे तओ-तदनन्तर केसिं-केशीकुमार के बुवंत-कहने पर उसके प्रति गोयमो-गौतम इणं-इस प्रकार अब्बवी-कहने लगे तु-अवधारणार्थक में है।

मूलार्थ—हे गौतम ! वे शत्रु कौन कहे गये हैं ? केशीकुमार के इस कथन के अनन्तर उनके प्रति गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे।

टीका—केशीकुमार ने गौतम स्वामी से पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर को स्पष्ट कराने के लिए पुनः यह प्रश्न किया कि वे पाँच और दश शत्रु कौन से हैं और उन पर आपने किस प्रकार से विजय प्राप्त की ? यद्यपि केशी मुनि को इन बातों का स्वयं ज्ञान था परन्तु जनता के बोध के लिए उन्होंने ऐसा किया।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥३८॥

एक आत्माऽजितः शत्रुः, कषाया इन्द्रियाणि च।
तान् जित्वा यथान्यायं, विहराम्यहं मुने ! ॥३८॥

पदार्थान्वयः—एगप्पा–एक आत्मा अजिए–न जीता हुआ सत्तू–शत्रु है कसाया–कषाय य–और इन्दियाणि–इन्द्रियें भी शत्रु हैं ते–उनको जिणित्तु–जीत कर जहानायं–न्यायपूर्वक महामुणी–हे महामुने ! विहरामि–मैं विचरता हूँ।

मूलार्थ—हे महामुने ! वशीभूत न किया हुआ एक आत्मा शत्रुरूप है एवं कषाय और इन्द्रियें भी शत्रुरूप हैं उनको न्यायपूर्वक जीतकर मैं विचरता हूँ।

टीका—केशीकुमार श्रमण के किए हुए प्रश्न के उत्तर को फिर से स्पष्ट करते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि हे महामुने ! एक अपना आत्मा वशीभूत न किया हुआ शत्रुरूप है क्योंकि सर्व प्रकार के अनर्थ इसी से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अवशीभूत आत्मा अर्थात् मन, सबसे बड़ा शत्रु है। जब आत्मा वशीभूत नहीं हुआ तब क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार शत्रु और भी युद्ध के लिए उपस्थित हो गये, जब ये पूर्वोक्त पाँच शत्रु बन गए तब पाँचों इन्द्रियें भी शत्रुरूप बन गईं। इस प्रकार जब दश शत्रु उत्पन्न हो गये तब, नोकषाय आदि उत्तरोत्तर सहस्रों शत्रु खड़े हो गये। इस प्रकार इन बड़े हुए शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये सब से प्रथम न्यायपूर्वक—न्याय की शैली से अपने आत्मा अर्थात् मन को अपने

वश में किया [—यही उसका जीतना है] । मन के वशीभूत हो जाने पर उक्त चारों कषाय भी वश में हो गये, और जब कषायों को जीत लिया तब पाँचों इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो गईं । इनके वश में आने से अन्य सब नोकषाय आदि शत्रुओं को मैंने परास्त कर दिया । इस प्रकार न्यायपूर्वक समस्त शत्रुवर्ग पर विजय प्राप्त करके मैं निर्भय होकर विचरता हूँ । यह गौतम स्वामी का, केशी मुनि के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है । जैसे कि ऊपर बतलाया गया है कि प्रथम एक को जीता, फिर चार पर विजय प्राप्त की । इस प्रकार जब पाँचों को जीत लिया, तब दश जीते गये और दश के जीतने से बाकी के भी सर्व शत्रु परास्त हो गये, इत्यादि कथन का जो रहस्य था उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत गाथा के द्वारा किया गया है । यदि संक्षेप में कहा जाय तो इतना ही है कि आत्मा अर्थात् मन के जीतने से ही सब पर विजय पाई जा सकती है । 'मनजीते जगजीत' यह लोकोक्ति भी इसी रहस्य का उद्घाटन कर रही है ।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने सन्तोष प्रकट करते हुए उनसे फिर कहा कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥३९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥३९॥

टीका—इस गाथा का अर्थ और भाव पूर्व की भाँति ही है । पूर्व शैली के अनुसार इस चतुर्थ द्वार में केशीकुमार मुनि अब पाशबद्ध जीवों के विषय में प्रश्न करते हैं—

दीसन्ति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी ! ॥४०॥

दृश्यन्ते बहवो लोके, पाशबद्धाः शरीरिणः ।
मुक्तपाशो लघुभूतः, कथं त्वं विहरसि मुने ! ॥४०॥

पदार्थान्वयः—दीसन्ति–देखे जाते हैं बहवे–बहुत से लोए–लोक में पासबद्धा–पाश से बँधे सरीरिणो–जीव मुक्कपासो–मुक्तपाश लहुब्भूओ–और लघुभूत होकर मुणी–हे मुने ! तं–तू कह–कैसे विहरसी–विचरता है।

मूलार्थ—हे मुने ! लोक में बहुत से जीव पाश से बँधे हुए देखे जाते हैं। परन्तु तुम पाश से मुक्त और लघुभूत होकर कैसे विचरते हो ?

टीका—केशीकुमार श्रमण इस चतुर्थ द्वार में गौतम गणधर से पूछते हैं कि—हे गौतम ! इस ससार में बहुत से जीव पाश के द्वारा बँधे हुए दीखते हैं। अतएव वे दुःखों का अनुभव कर रहे हैं। परन्तु आप उक्त पाश से मुक्त और वायु की तरह अतिलघु अर्थात् अप्रतिबद्ध होकर ससार में विचर रहे हैं। सो कैसे ? उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जो प्रतिबद्ध है और लघुभूत भी नहीं है, उसका स्वेच्छापूर्वक विचरना नहीं हो सकता। अथवा यों कहिए कि जैसे पशु आदि जीव पाश के बन्धन से दुःख पाते हैं, उसी प्रकार भवपाश से बँधे हुए मनुष्यादि जीव संसार-चक्र में घूमते हुए दुःख पा रहे हैं। परन्तु हे मुने ! आप इस पाश से मुक्त होकर ससार में यथारुचि विचर रहे हैं, इसका कारण क्या ? तात्पर्य यह है कि उक्त पाश से आप किस प्रकार मुक्त हुए ?

अब गौतम स्वामी केशीकुमार के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—

ते पासे सव्वसो छित्ता, निहन्तूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥४१॥

तान् पाशान् सर्वशश्छित्त्वा, निहत्योपायतः।
मुक्तपाशो लघुभूत, विहराम्यहं मुने ! ॥४१॥

पदार्थान्वयः—ते–उन पासे–पाशों को सव्वसो–सर्व प्रकार से छित्ता–छेदन करके निहन्तूण–और हनन करके उवायओ–उपाय से मुक्कपासो–मुक्तपाश और लहुब्भूओ–लघुभूत होकर मुणी–हे मुने ! अहं–मैं विहरामि–विचरता हूँ।

मूलार्थ—हे मुने ! मैं उन पाशों को सर्व प्रकार से छेदन कर तथा उपाय से विनष्ट कर, मुक्तपाश और लघुभूत होकर विचरता हूँ।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! जिन पाशों से संसारी जीव बँधे हुए हैं मैं उन सर्व पाशों को तोड़कर तथा फिर—उनसे बाँधा न जाऊँ—इस आशय से उपाय द्वारा उनका समूल घात करके, मुक्तपाश और लघुभूत होकर इस संसार में अप्रतिबद्ध होकर विचरता हूँ। यहाँ पर 'उपाय' से सद्भूत भावना का निरन्तर अभ्यास अभिमत है। तथा—'सव्वसो—सर्वश' यह 'सर्वान्' पद के स्थान पर अर्थात् उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पूर्व की भाँति यह प्रश्न भी लुप्तोपमालङ्कार से वर्णित है। अतएव जब गौतम स्वामी इस प्रकार कह चुके तब जनता की हित बुद्धि से केशीकुमार उक्त प्रश्न के विषय में फिर पूछते हैं। यथा—

पासा य इइ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४२॥

पाशाश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत् ।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥४२॥

पदार्थान्वयः—पासा—पाश के—कौन से वुत्ता—कहे गये हैं ? केसी—केशीकुमार गोयम—गौतम के प्रति इइ—इस प्रकार अब्बवी—बोले तु—तदनन्तर केसिं—केशीकुमार के बुवतं—बोलने से उसके प्रति गोयमो—गौतम इण—इस प्रकार अब्बवी—बोले।

मूलार्थ—वे पाश कौन से कहे हैं, इस प्रकार केशीकुमार के बोलने पर गौतम स्वामी कहने लगे।

टीका—केशीकुमार मुनि ने जनता के बोध के लिए फिर यह पूछा कि—हे गौतम ! वे पाश क्या हैं ? जिनसे ये ससारी जीव बँधे हुए हैं। आप उनसे किस प्रकार मुक्त हुए ? जिससे कि इस समय सुखपूर्वक विचर रहे हो इत्यादि। यहाँ इतना ध्यान रहे कि इस प्रकार के स्पष्टीकरण से ही साधारण जनता को सुखपूर्वक बोध हो सकता है, तथा जनता के सन्मुख इन्हीं प्रश्नोत्तरों की आवश्यकता है कि जिनसे उनको विशेष लाभ पहुँचने की सभावना हो सके। कई एक प्रतियों में उक्त गाथा के तृतीय चरण का पाठ—'केसिमेव वुवत तु' इस प्रकार का भी देखा जाता है।

केशीकुमार के उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥४३॥

रागद्वेषादयस्तीव्राः, स्नेहपाशा भयंकराः।
तान् छित्वा यथान्यायं, विहरामि यथाक्रमम् ॥४३॥

पदार्थान्वय—रागद्दोसादओ—रागद्वेषादि तिव्वा—तीव्र नेह—स्नेह पासा—पाश भयकरा—भयकर हैं ते—उनको छिन्दित्ता—छेदन करके जहानायं—न्यायपूर्वक विहरामि—विचरता हूँ जहक्कमं—यथाक्रम।

मूलार्थ—हे भगवन्! रागद्वेषादि और तीव्र स्नेहरूप पाश बड़े भयकर हैं, इनको यथान्याय छेदन करके मैं यथाक्रम विचरता हूँ।

टीका—गौतम मुनि केशीकुमार से कहते हैं कि भगवन् रागद्वेष, मोह और तीव्र स्नेह, ये भयंकर पाश हैं। जैसे पाश में पड़ा हुआ पशु आदि जीव परवश होता है उसी प्रकार रागद्वेषादि के वश में पड़े हुए प्राणि भी पराधीन हो रहे हैं। सो मैंने इन पाशों को यथान्याय जिन प्रवचन के अनुसार छेदन कर दिया है अतएव मैं यथाक्रम—शांतिपूर्वक इस ससार में विचरता हूँ। तात्पर्य यह है कि स्नेहरूप पाश से बँधे हुए ये संसारी जीव भयकर से भयकर कष्टों का सामना कर रहे हैं और जो आत्मा इन पाशों को तोड़कर इनसे मुक्त हो गये हैं वे सुखपूर्वक इस संसार में विचरते हैं। यहाँ पर इस गाथा में दिये गये आदि शब्द से मोह का ग्रहण करना।

इस प्रकार गौतम स्वामी के कथन को सुनकर केशीकुमार कहते हैं।

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥४४॥

साधु गौतम! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम! ॥४४॥

टीका—इस गाथा का पदार्थ और भावार्थ आदि सब कुछ पूर्व की भाँति ही समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार प्रश्न के चतुर्थ द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब पंचम द्वार का वर्णन करते हैं, जिसके लिए ऊपर की गाथा में केशीकुमार के द्वारा प्रस्ताव किया गया है। तथाहि—

अन्तोहिअयसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा !
फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कहं ॥४५॥

अन्तर्हृदयसंभूता, लता तिष्ठति गौतम !
फलति विषभक्ष्याणि, सा तूद्धृता कथम् [उत्पाटिता] ? ॥४५॥

पदार्थान्वयः—अन्तो—भीतर हिअयसंभूया—हृदय के भीतर उत्पन्न हुई लया—लता गोयमा—हे गौतम ! चिट्ठइ—ठहरती है फलेइ—फल देती है विसभक्खीणि—विष-फलों का स—वह उ—फिर कहं—किस प्रकार आपने उद्धरिया—उखेड़ी।

मूलार्थ—हे गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई लता उसी स्थान पर ठहरती है, जिसका फल विष के समान [परिणाम में दारुण] है। आपने उस लता को किस प्रकार से उत्पाटित किया ?

टीका—केशीकुमार मुनि, गौतम स्वामी से कहते हैं कि हे गौतम ! हृदय—मन के भीतर एक विषरूप फलों को प्रदान करने वाली लता है, जिसकी उत्पत्ति और निवास उसी स्थान पर है। आपने उस लता को उस स्थान से किस प्रकार उखाड़कर फेंक दिया है ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक संसारी जीव के हृदय में विष फलों को उत्पन्न करने वाली एक लता विद्यमान है, जिसको कि हृदय से अलग करना बड़ा ही कठिन है। परन्तु आपने उस विषलता को अपने हृदय-स्थान से उखाड़कर परे फेंक दिया है। सो कैसे ? अर्थात् किस प्रकार से आपने उसका उत्पाटन किया ? विषफल उसको कहते हैं कि जो देखने में सुन्दर, स्पर्श में कोमल और खाने में मधुर हो परन्तु परिणाम जिसका मृत्यु हो अर्थात् खाने वाले के प्राणों का तुरन्त ही अपहरण कर देता हो।

इस प्रश्न के उत्तर में अब गौतम स्वामी कहते हैं कि—

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥४६॥

तां लतां सर्वतश्छित्त्वा, उद्धृत्य समूलिकाम्।
विहरामि यथान्यायं, मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—तं—उस लयं—लता को सव्वसो—सर्व प्रकार से छित्ता—छेदन करके समूलियं—जड़ सहित उद्धरित्ता—उखाड़कर जहानायं—यथान्याय, मैं विहरामि—विचरता हूँ।

मूलार्थ—मैंने उस लता को सर्व प्रकार से छेदन तथा खंड खंड करके मूल सहित उखाड़कर फेंक दिया है। अतः मैं न्यायपूर्वक विचरता हूँ और विषभक्षण अर्थात् विषरूप फलों के भक्षण से मुक्त हो गया हूँ।

टीका—गौतम स्वामी केशीकुमार मुनि के प्रश्न का उत्तर देते हुए उनसे कहते हैं कि मैंने उस लता—विषवेल—को सर्व प्रकार से छेदन कर दिया है और उसे मूलसहित उखाड़ दिया है। अर्थात् उसका जो मूल [राग-द्वेष] है, उसको मैंने अपने हृदय से निकाल दिया है। इसलिए अब मैं सुखपूर्वक विचरता हूँ। जब कि लता ही नहीं रही तो फिर उसके विषरूप फल कहाँ ? इसलिए मैं विषरूप फलों के भक्षण से भी मुक्त हो गया हूँ। इसी का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि मैं शांतिपूर्वक विचरता हूँ। यहाँ—विसभक्खणं—[विषभक्षणात्] इस पद में सुप् का व्यत्यय किया हुआ है अर्थात् पञ्चमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार गौतम स्वामी के उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने फिर जो कुछ कहा और गौतम स्वामी ने उसका जो उत्तर दिया, अब उसका उल्लेख करते हैं—

लया य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४७॥

लता च इति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥४७॥

इस प्रकार प्रश्न के चतुर्थ द्वार का वर्णन करने के अनन्तर अब पंचम द्वार का वर्णन करते हैं, जिसके लिए ऊपर की गाथा में केशीकुमार के द्वारा प्रस्ताव किया गया है। तथाहि—

अन्तोहिअयसंभूया, लया चिट्ठइ, गोयमा!
फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कहं ॥४५॥

अन्तर्हृदयसंभूता, लता तिष्ठति गौतम!
फलति विषभक्ष्याणि, सा तूद्धृता कथम् [उत्पाटिता]? ॥४५॥

पदार्थान्वयः—अन्तो—भीतर हिअयसंभूया—हृदय के भीतर उत्पन्न हुई लया—लता गोयमा—हे गौतम! चिट्ठइ—ठहरती है फलेइ—फल देती है विसभक्खीणि—विष-फलों का स—वह उ—फिर कहं—किस प्रकार आपने उद्धरिया—उखेड़ी।

मूलार्थ—हे गौतम! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई लता उसी स्थान पर ठहरती है, जिसका फल विष के समान [परिणाम में दारुण] है। आपने उस लता को किस प्रकार से उत्पाटित किया?

टीका—केशीकुमार मुनि, गौतम स्वामी से कहते हैं कि हे गौतम! हृदय—मन के भीतर एक विषरूप फलों को प्रदान करने वाली लता है, जिसकी उत्पत्ति और निवास उसी स्थान पर है। आपने उस लता को उस स्थान से किस प्रकार उखाड़कर फेंक दिया है? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक संसारी जीव के हृदय में विष फलों को उत्पन्न करने वाली एक लता विद्यमान है, जिसको कि हृदय से अलग करना बड़ा ही कठिन है। परन्तु आपने उस विषलता को अपने हृदय-स्थान से उखाड़कर परे फेंक दिया है। सो कैसे? अर्थात् किस प्रकार से आपने उसका उत्पाटन किया? विषफल उसको कहते हैं कि जो देखने में सुन्दर, स्पर्श में कोमल और खाने में मधुर हो परन्तु परिणाम जिसका मृत्यु हो अर्थात् खाने वाले के प्राणों का तुरन्त ही अपहरण कर देता हो।

इस प्रश्न के उत्तर में अब गौतम स्वामी कहते हैं कि—

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥४६॥

तां लतां सर्वतश्छित्त्वा, उद्धृत्य समूलिकाम् ।
विहरामि यथान्यायं, मुक्तोऽस्मि विषभक्षणात् ॥४६॥

पदार्थान्वयः—तं–उस लयं–लता को सव्वसो–सर्व प्रकार से छित्ता–छेदन करके समूलियं–जड़ सहित उद्धरित्ता–उखाड़कर जहानायं–यथान्याय, मैं विहरामि–विचरता हूँ ।

मूलार्थ—मैंने उस लता को सर्व प्रकार से छेदन तथा खंड खंड करके मूल सहित उखाड़कर फेंक दिया है । अतः मैं न्यायपूर्वक विचरता हूँ और विषभक्षण अर्थात् विषरूप फलों के भक्षण से मुक्त हो गया हूँ ।

टीका—गौतम स्वामी केशीकुमार मुनि के प्रश्न का उत्तर देते हुए उससे कहते हैं कि मैंने उस लता—विषवेल—को सर्व प्रकार से छेदन कर दिया है और उसे मूलसहित उखाड़ दिया है । अर्थात् उसका जो मूल [राग-द्वेष] है, उसको मैंने अपने हृदय से निकाल दिया है । इसलिए अब मैं सुखपूर्वक विचरता हूँ । जब कि लता ही नहीं रही तो फिर उसके विषरूप फल कहाँ ? इसलिए मैं विषरूप फलों के भक्षण से भी मुक्त हो गया हूँ । इसी का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि मैं शांतिपूर्वक विचरता हूँ । यहाँ—विसभक्खणं—[विषभक्षणात्] इस पद में सुप् का व्यत्यय किया हुआ है अर्थात् पञ्चमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग किया गया है ।

इस प्रकार गौतम स्वामी के उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने फिर जो कुछ कहा और गौतम स्वामी ने उसका जो उत्तर दिया, अब उसका उल्लेख करते हैं—

लया य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४७॥

लता च इति का उक्ता, केशी गौतममब्रवीत् ।
केशिनमेवं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥४७॥

पदार्थान्वयः—लया-लता का-कौन सी वुत्ता-कही गई है इइ-इस प्रकार केसी-केशीकुमार गोयमं-गौतम के प्रति अब्बवी-कहने लगे य-और तु-तदनन्तर बुवंतं-बोलते हुए केसिं-केशीकुमार के प्रति गोयमो-गौतम स्वामी इणं-इस प्रकार अब्बवी-कहने लगे।

मूलार्थ—हे गौतम! लता कौन सी कही गई है? इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा।

टीका—पास में बैठी हुई जनता को समझाने के उद्देश्य से केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से फिर पूछा कि हे गौतम! वह लता कौन सी है कि जिसके फलों को विषरूप वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि जिस विष-लता को समूल घात करके आप शांतिपूर्वक विचर रहे हैं उसका स्वरूप क्या है? तथा—बृहद्वृत्ति में उक्त गाथा के तृतीय चरण का पाठ—'केसिमेव बुवंत तु' इस प्रकार से दिया गया है, परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

अब गौतम स्वामी, उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए इस प्रकार कहते हैं—

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी! ॥४८॥

भवतृष्णा लता उक्ता, भीमा भीमफलोदया।
तामुच्छिद्य यथान्यायं, विहरामि महामुने! ॥४८॥

पदार्थान्वयः—भवतण्हा-भव-संसार में तण्हा-तृष्णा लया-लता वुत्ता-कही गई है भीमा-भीम है भीमफलोदया-भीम-भयंकर-फलों के देनेहारी तं-उसका उच्छित्तु-उच्छेदन करके जहानायं-न्यायपूर्वक महामुणी-हे महामुने! विहरामि-मैं विचरता हूँ।

मूलार्थ—हे महामुने! संसार में तृष्णा रूप लता है जोकि बड़ी भयंकर और भयंकर फलों को देनेहारी है। उसको न्यायपूर्वक उच्छेदन करके मैं विचरता हूँ।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि इस संसार में जो तृष्णा है वही विष-लता है, इसी लिये यह बड़ी भयंकर अथ च भयंकर फलों को

देने वाली कही गई है। सो इस लता को मैंने न्यायपूर्वक अर्थात् जिनप्रवचन के अनुसार अपने हृदय-स्थान से उखाड़ दिया है अर्थात् इसका समूलोन्मूलन कर दिया है। इसी लिए मैं इस संसार में आनन्दपूर्वक विचरण करता हूँ। यहाँ प्रस्तुत गाथा के द्वारा यह समझाया गया है कि इस संसार में समस्त प्रकार के दुःखों का मूल 'तृष्णा' है। इसी लिए इसको विषलता—विष की बेल कहते हैं, क्योंकि इससे विष के समान नाना प्रकार के दुःखरूप फल उत्पन्न होते हैं। अतः जिन आत्माओं ने इस तृष्णा का सर्वथा विनाश कर दिया है, वे ही आत्मा वास्तव में सुखी हैं। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को चाहिए कि वे जहाँ तक हो सके, वहाँ तक तृष्णा का क्षय करने का प्रयत्न करें।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार मुनि बोले कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥४९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥४९॥

इस गाथा का भावार्थ पहले की ही तरह जान लेना। इस प्रकार पंचम द्वार के अनन्तर प्रश्न के छठे द्वार का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार मुनि, अब अग्नि को शान्त करने के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। यथा—

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा !
जे डहन्ति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ॥५०॥

सम्प्रज्वलिता घोराः, अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम !
ये दहन्ति शरीरस्थाः, कथं विध्यापितास्त्वया ॥५०॥

पदार्थान्वयः—संपज्जलिया—संप्रज्वलित घोरा—रौद्र गोयमा—हे गौतम ! अग्गी—अग्नि चिट्ठइ—ठहरती है जे—जो डहन्ति—भस्म करती है सरीरत्था—शरीर में रही हुई कहं—किस प्रकार तुमे—तुमने विज्झाविया—बुझाई ?

मूलार्थ—हे गौतम ! शरीर में जो अग्नियाँ ठहरी हुई हैं जो कि संप्रज्वलित हो रही हैं अतएव घोर वा प्रचड तथा शरीर को भस्म करने वाली हैं, उनको आपने कैसे शान्त किया ? अर्थात् वे आपने कैसे बुझाईं ?

टीका—केशीकुमार पूछते हैं कि हे गौतम ! शरीर और आत्मा में जो अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं और आत्मा के गुणों को भस्मसात् कर रही हैं, उन अग्नियों को आपने कैसे बुझाया ? कैसे शान्त किया ? क्योंकि वे बड़े रौद्र और भयानक हैं ? यहाँ पर इस गाथा में जो 'शरीरस्थ' शब्द आया है, इसलिए उपचारनय से यह आत्मा ऐसा अर्थ करना क्योंकि अग्नियों की स्थिति आत्मा में है और आत्मा का शरीर के साथ नीर-क्षीर की तरह अभेद है तथा तैजस और कार्मण शरीर तो मोक्षान्तभावी हैं अर्थात् जब तक यह आत्मा मुक्त नहीं होता, तब तक ये आत्मा से किसी समय में भी पृथक् नहीं होते। इसलिए शरीरस्थ का अर्थ यहाँ पर 'आत्मा में स्थित' ऐसा करना। 'अग्गी चिट्ठइ' यहाँ पर सुप् का व्यत्यय करने से बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग किया गया है।

अब इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

महामेहप्पसूयाओ , गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहन्ति मे ॥५१॥

महामेघप्रसूतात् , गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिञ्चामि सततं देहं, सिक्ता न च दहन्ति माम् ॥५१॥

पदार्थान्वयः—महामेह—महामेघ के प्पसूयाओ—प्रसूत से गिज्झ—ग्रहण करके जलुत्तम—उत्तम जल को वारि—पवित्र पानी को सिंचामि—मैं सिंचन करता हूँ सयय—निरन्तर ते—उनको उ—फिर सित्ता—सिंचन की गई मे—मुझे वे नो—निश्चय नहीं डहन्ति—दहन करतीं—जलातीं।

मूलार्थ—महामेघ के प्रसूत से उत्तम और पवित्र जल का ग्रहण करके मैं उन अग्नियों को निरन्तर सींचता रहता हूँ। अतः सिंचन की गई वे अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

टीका—श्रीगौतम स्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! मैं महामेघ के स्रोत से उत्तम जल लेकर उसके द्वारा उन अग्नियों को निरन्तर सींचता रहता हूँ। अतः सिंचन की गई वे अग्नियाँ मुझे जला नहीं सकतीं अर्थात् मेरे आत्मगुणों को भस्म करने में वे समर्थ नहीं हो सकतीं। जैसे कि प्रज्वलित हुई बाह्य अग्नि तब तक ही किसी वस्तु को भस्म कर सकती है, जब तक कि वह जल के द्वारा शान्त न की जाय और जल के द्वारा शान्त की गई अग्नि जैसे किसी भी वस्तु को जलाने में समर्थ नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा में विद्यमान अग्निज्वाला को जल के अभिषेक से शान्त कर देने पर वह आत्मगुणों को भस्म नहीं कर सकती। इसी लिए मैं शांतिपूर्वक विचरता हूँ।

अब उक्त विषय को अधिक स्फुट करने के लिए केशीकुमार मुनि फिर पूछते हैं। यथा—

अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥५२॥

अग्नयश्चेति के उक्ताः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥५२॥

पदार्थान्वयः—अग्गी—अग्नियाँ के—कौन सी वुत्ते—कही गई इइ—इस प्रकार केसी—केशीकुमार गोयम—गौतम के प्रति अब्बवी—कहने लगे तओ—तदनन्तर बुवंतं—बोलते हुए केसिं—केशीकुमार के प्रति गोयमो—गौतम स्वामी इणं—इस प्रकार अब्बवी—कहने लगे तु—अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—हे गौतम! अग्नियाँ कौनसी कही गई हैं? [उपलक्षणरूप से महामेघ कौन सा है और पवित्र जल किसका नाम है?] इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा।

टीका—आत्मा में प्रज्वलित हुई अग्नि को महामेघ के पवित्र जल से शान्त करने के रहस्य को सभा में उपस्थित हुई जनता को समझाने के निमित्त केशीकुमार मुनि फिर गौतम स्वामी से पूछते हैं कि वे अग्नियाँ कौन-सी हैं तथा महामेघ किसको कहते हैं? तथा वह उत्तम जल कौन सा है, जिसके द्वारा आप इस उक्त अग्नि-समुदाय को शान्त करते हैं? इत्यादि।

अब गौतम स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए इस प्रकार कहते हैं—

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥५३॥

कषाया अग्नय उक्ताः, श्रुतशीलतपो जलम् ।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः, भिन्नाः खलु न दहन्ति माम् ॥५३॥

पदार्थान्वयः—कसाया-कषाय अग्गिणो-अग्निरूप वुत्ता-कही गई हैं सुयसीलतवो-श्रुत, शील और तप जलं-जल है सुयधाराभिहया-श्रुतधारा से ताडित सन्ता-की हुई भिन्ना-भेदन की हुई हु-जिससे मे-मुझे न-नहीं डहन्ति-जलातीं ।

मूलार्थ—हे मुने ! [क्रोध, मान, माया और लोभरूप] चार कषाय अग्नियाँ हैं । श्रुत, शील और तपरूप जल कहा जाता है तथा श्रुतरूप जलधारा से ताडित किये जाने पर भेदन को प्राप्त हुई ये अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं ।

टीका—श्रीगौतम स्वामी, केशीकुमार के प्रति कहते हैं कि हे मुने ! क्रोध, मान, माया और लोभरूप चारों विषय अग्नियाँ हैं, जो कि आत्मा के शांति आदि गुणों को निरन्तर शोषण कर रही हैं । श्रीतीर्थंकर देव महामेघ के समान हैं और जैसे मेघ से पवित्र जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भगवान् के पवित्र मुख से श्रुतरूप उत्तम जल उत्पन्न होता है जो कि 'आगम' के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें वर्णित हुआ श्रुत—ज्ञान, शील—पञ्चमहाव्रतरूप और द्वादशविध तपरूप जल है । एवं श्रुतरूप जलधारा से जब ये ताडित की जाती हैं अर्थात् श्रुतरूप जलधारा जब उन पर पड़ती है, तब ये शान्त हो जाती हैं । अतः शान्त हुई ये अग्नियाँ मुझे जला नहीं सकतीं । तात्पर्य यह है कि आक्रोश, हनन, तर्जन, धर्मभ्रंश और अलाभ आदि जब निमित्त मिलते हैं, तब ही उन कषायरूप अग्नियों के प्रचण्ड होने की सम्भावना होती है परन्तु श्रुतधारारूप आगम के सदुपदेश से जब वे अग्नियाँ शान्त कर दी जाती हैं, तब उनका आत्मगुणों पर कोई प्रभाव नहीं होता । इसलिए गौतम मुनि कहते हैं कि हे मुने ! इस प्रकार शान्त हो जाने से इनका मेरे आत्मा पर कोई असर नहीं होता अर्थात् मेरे शांति आदि आत्मगुणों में किसी प्रकार की भी

विकृति नहीं आती । सारांश यह है कि जिस प्रकार अग्नि को शान्त करने के लिए जल का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार अन्तरात्मा में प्रदीप्त हुई कषायरूप अग्नि को शान्त करने के लिए निर्ग्रन्थप्रवचनरूप महास्रोत से उत्पन्न होने वाले श्रुत, ज्ञान, शील और तपरूप निर्मल जलधारा का उपयोग करना चाहिए ।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥५४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥५४॥

इस गाथा का अर्थ प्रथम आ चुका है, उसी प्रकार जान लेना ।

इस प्रकार छठे द्वार का वर्णन हो जाने के पश्चात् अब सातवें प्रश्नद्वार का उल्लेख करते हैं । उसमें अश्वनिग्रहसम्बन्धी प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार कहते हैं—

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण न हीरसि ? ॥५५॥

अयं साहसिको भीमः, दुष्टाश्वः परिधावति ।
यस्मिन् गौतम ! आरूढः, कथं तेन न ह्रियसे ॥५५॥

पदार्थान्वयः—अयं-यह साहसिओ-साहसिक भीमो-भीम—बलवान् दुट्ठस्सो-दुष्ट अश्व—घोड़ा परिधावई-सर्व प्रकार से भागता है जंसि-जिस पर गोयम-हे गौतम ! आरूढो-चढ़ा हुआ है कहं-कैसे तेण-उस अश्व के द्वारा न-नहीं हीरसि-दुष्ट मार्ग में ले जाया गया ?

मूलार्थ—हे गौतम ! यह साहसिक और भीम दुष्ट घोड़ा चारों ओर भाग रहा है । उस पर चढ़े हुए आप उसके द्वारा कैसे उन्मार्ग में नहीं ले जाये गये ? अर्थात् यह दुष्ट घोड़ा आपको दुष्ट मार्ग में क्यों नहीं ले गया ?

टीका—केशी मुनि कहते हैं कि हे गौतम ! यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाला दुष्ट घोड़ा जो कि बड़ा ही चपल और भीम अर्थात् दुष्ट मार्ग में ले जाकर पटकने वाला तथा महान् उपद्रवों को करने वाला है। आश्चर्य यह है कि आप उस पर आरूढ हो रहे हैं, उस पर सवार हो रहे हैं परन्तु आपको उसने उन्मार्ग में ले जाकर कहीं पर नहीं पटका, इसका क्या कारण है ? आप कृपा करके इसके रहस्य को समझाने का कष्ट करें।

प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥५६॥

प्रधावन्तं निगृह्णामि, श्रुतरश्मिसमाहितम् ।
न मे गच्छत्युन्मार्गं, मार्गं च प्रतिपद्यते ॥५६॥

पदार्थान्वयः—पहावन्तं–भागते हुए को निगिण्हामि–पकड़ता हूँ सुयरस्सी–श्रुतरश्मि के द्वारा समाहियं–समाहित—बँधे हुए को। अतः मे–मेरा अश्व उम्मग्गं–उन्मार्ग को न गच्छइ–नहीं जाता च–पुनः मग्गं–मार्ग को पडिवज्जइ–ग्रहण करता है।

मूलार्थ—हे मुने ! भागते हुए दुष्ट अश्व को पकड़कर मैं श्रुतरूप रस्सी से बाँधकर रखता हूँ। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जाता किंतु सन्मार्ग को ग्रहण करता है।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जिस समय यह दुष्ट अश्व उन्मार्ग में जाता है, मैं उसी समय उसको पकड़ लेता हूँ—निरोध कर लेता हूँ और श्रुतरश्मि—श्रुतरूप रज्जु से उसको बाँधकर रखता हूँ, जिससे कि वह उन्मार्ग में नहीं जा सकता किन्तु सन्मार्ग की ही ओर आता है। इसलिए वह मेरे को उन्मार्ग में ले जाकर नहीं पटकता। तात्पर्य यह है कि उसका नियन्त्रण मेरे हाथ में है। अतः मैं उस पर सुखपूर्वक आरूढ होता हूँ। 'श्रुतरश्मिः—श्रुतम् आगमो नियन्त्रकतया रश्मिरिव रश्मि —प्रग्रहः श्रुतरश्मिस्तेन समाहितो बद्धः श्रुतरश्मिसमाहितस्तम्' इति वृत्तिकारः।

गौतम स्वामी के उपर्युक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामी का इस प्रश्न के सम्बन्ध में जो कुछ विचार हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं—

आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्ववी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्ववी ॥५७॥
अश्वश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्त तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥५७॥

पदार्थान्वयः—आसे-अश्व के-कौन सा वुत्ते-कहा गया है इइ-इस प्रकार—बाकी का भावार्थ प्रथम आई हुई गाथाओं के समान ही जानना।

मूलार्थ—हे गौतम! आप अश्व किसको कहते हैं? केशीकुमार के इस कथन को सुनकर गौतम स्वामी ने उनके प्रति इस प्रकार कहा।

टीका—सभा में उपस्थित हुए अन्य लोगों के बोधार्थ, केशीकुमार ने गौतम स्वामी से फिर कहा कि हे गौतम! आप अश्व किसको कहते हैं? अर्थात् आपके मत में यह अश्व कौन-सा है तथा उपलक्षण से सन्मार्ग और कुमार्ग आप किसे समझते हैं? एवं ध्रुवरश्मि से आपका क्या तात्पर्य है? इत्यादि। यहाँ पर भी प्रथम की भाँति ही केशीकुमार ने गौतम के प्रति उक्त गाथा में कहे हुए अश्वादि के सम्बन्ध में प्रश्न किया है, अर्थात् इस प्रश्न से उनका तात्पर्य यह था कि पास में बैठे हुए सभ्य पुरुषों को वस्तुतत्त्व से अवगत कराना है।

अब गौतम स्वामी के उत्तर का वर्णन करते हैं—

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ॥५८॥
मनः साहसिको भीमः, दुष्टाश्व परिधावति।
त सम्यक् तु निगृह्णामि, धर्मशिक्षायै कथकम् [इव] ॥५८॥

पदार्थान्वयः—मणो-मन साहस्सिओ-साहसिक भीमो-रौद्र दुट्ठस्सो-दुष्ट अश्व है, जो परिधावइ-चारों ओर भागता है तं-उसको सम्मं-सम्यक् प्रकार से

निगिण्हामि—निग्रह करता हूँ धम्मसिक्खाइ—धर्मशिक्षा से कन्थग—जातिमान् अश्व की तरह ।

मूलार्थ—हे मुने ! यह मन ही साहसी और रौद्र दुष्टाश्व है, जो कि चारों ओर भागता है । मैं उसको कन्थक—जातिमान् अश्व की तरह धर्मशिक्षा के द्वारा निग्रह करता हूँ ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि यह मन ही दुष्ट अश्व है, जो कि बड़ा रौद्र और उन्मार्ग में ले जाने वाला है । उस मन रूप अश्व को मैं धर्मशिक्षा के द्वारा अपने वश में रखता हूँ अर्थात् जिस प्रकार जातिविशिष्ट अश्व को अश्ववाहक—चाबकसवार सुधार लेता है, उसी प्रकार धर्म-शिक्षा के द्वारा मैंने इस मनरूप अश्व को निगृहीत कर लिया है, जिससे कि उन्मार्ग-गामी होने के स्थान में यह सन्मार्ग को ग्रहण कर रहा है । अतएव मुझे यह कुपथ में नहीं ले जाता । प्रस्तुत गाथा से जो शिक्षा प्राप्त हो रही है, वह प्रत्यक्ष है । अर्थात् मन रूप घोड़ा इस जीवात्मा को जिधर चाहे ले जा सकता है, ऊँची नीची जिस गति में चाहे धकेल सकता है । इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि अपने मन को सुधार ले, उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे ।

गौतम स्वामी के इस उक्त उत्तर को सुनकर उनके प्रति केशीकुमार मुनि कहते हैं कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥५९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥५९॥

इस गाथा का भावार्थ पहले की तरह ही जान लेना ।

इस प्रकार प्रश्न के सातवें द्वार में अश्वविषयक प्रश्न पूछने के अनन्तर केशीकुमार मुनि अब इस आठवें द्वार में मार्ग के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने का प्रस्ताव करते हैं अर्थात् वह मार्ग कौन-सा है कि जिस पर चलने से आप या अन्य कोई पुरुष विनाश को प्राप्त नहीं होता । यथा—

कुप्पहा बहवे लोए, जेसिं नासन्ति जन्तवो।
अद्धाणे कहं वट्टन्तो, तं न नाससि गोयमा! ॥६०॥

कुपथा बहवो लोके, यैर्नश्यन्ति जन्तवः।
अध्वनि कथं वर्तमानः, त्वं न नश्यसि गौतम! ॥६०॥

पदार्थान्वयः—कुप्पहा—कुपथ बहवे—बहुत से हैं लोए—लोक में जेसिं—जिनसे जन्तवो—जीव नासन्ति—नाश पाते हैं अद्धाणे—मार्ग में कहं—कैसे तं—तुम वट्टन्तो—वर्तते हो गोयमा—हे गौतम! न नाससि—नाश को प्राप्त नहीं होता।

मूलार्थ—हे गौतम! लोक में ऐसे बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु आप सन्मार्ग में चलते हुए उससे भ्रष्ट क्यों नहीं होते?

टीका—केशीकुमार मुनि कहते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु आप सन्मार्ग में प्रवृत्त हो रहे हैं और उससे कभी भ्रष्ट नहीं होते। इसका क्या कारण? तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य जीव, सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर नाश को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहे हैं, उसी प्रकार आप भी सन्मार्ग से गिरकर दुःख को प्राप्त क्यों नहीं होते? इसका कारण बतलाइए?

अब इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

जे य मग्गेण गच्छन्ति, जे य उम्मग्गपट्ठिया।
ते सव्वे वेइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी! ॥६१॥

ये च मार्गेण गच्छन्ति, ये चोन्मार्गप्रस्थिताः।
ते सर्वे विदिता मया, तस्मान्न नश्याम्यहं मुने! ॥६१॥

पदार्थान्वयः—जे—जो मग्गेण—मार्ग से गच्छन्ति—जाते हैं य—और जे—जो उम्मग्ग—उन्मार्ग में पट्ठिया—प्रस्थित हैं ते—वे सव्वे—सर्व वेइया—विदित हैं मज्झं—मेरे को तो—इसलिए मुणी—हे मुने! हं—मैं न नस्सामि—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

मूलार्थ—हे मुने ! जो सन्मार्ग से जाते हैं तथा जो उन्मार्ग में प्रस्थान कर रहे हैं, उन सब को मैं जानता हूँ । अतः मैं सन्मार्ग से च्युत नहीं होता ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! जो आत्मा—जीव सन्मार्ग में जा रहे हैं तथा उन्मार्ग में चल रहे हैं, उन दोनों को मैं भली भाँति जानता हूँ । अतः मेरा आत्मा सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता । क्योंकि जो आत्मा सुमार्ग और कुमार्ग इन दोनों को जानते हैं और जो अपने हित के इच्छुक होते हैं, वे कभी कुमार्ग में प्रस्थान नहीं करते । क्योंकि उसके कुमार्ग के फल का उनको यथार्थ रूप से ज्ञान होता है । सो मुझे इन सब का ज्ञान है । अतः मैं सन्मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता । प्रस्तुत गाथा से जो शिक्षा प्राप्त होती है, वह यह है कि गमन करने से पूर्व, मार्ग का निश्चय अवश्य कर लेना चाहिए, जिससे कि फिर आपत्ति का सामना न करना पड़े ।

इस पर केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी का जो वार्तालाप हुआ, अब उसको कहते हैं—

मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६२॥

मार्गश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६२॥

पदार्थान्वय—मग्गे-मार्ग य-और कुमार्ग के-कौन-सा वुत्ते-कहा है । इत्यादि समग्र पदार्थ पूर्व में आई हुई गाथा की भाँति ही जान लेना ।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह सुमार्ग और कुमार्ग कौन-सा है, इत्यादि मूलार्थ भी प्रथम उल्लेख की गई गाथाओं के मूलार्थ के समान ही है ।

टीका—जनता के बोध के लिए केशीकुमार मुनि गौतम से कहते हैं कि वह सन्मार्ग कौन-सा है और कुमार्ग आप किसे समझते हैं तथा सन्मार्ग में जीव किस प्रकार प्रस्थान करते हैं और कुमार्ग में किस प्रकार प्रयाण करते हैं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर गौतम स्वामी ने अन्तिम गाथा के द्वारा दिया है ।

अथ गौतम स्वामी के द्वारा दिये गये उत्तर का उल्लेख करते हैं—

कुप्पवयणपासण्डी , सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥६३॥

कुप्रवचनपाखण्डिन: , सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः ।
सन्मार्गं तु जिनाख्यातम्, एष मार्गो हि उत्तमः ॥६३॥

पदार्थान्वयः—कुप्पवयण–कुप्रवचन के मानने वाले पासण्डी–पाखण्डी लोग सव्वे–सभी उम्मग्ग–उन्मार्ग में पट्ठिया–प्रस्थित हैं सम्मग्ग–सन्मार्ग तो जिणक्खायं–जिनभाषित है एस–यह मग्गे–मार्ग हि–निश्चय से उत्तमे–उत्तम है तु–प्राग्वत्।

मूलार्थ—कुदर्शनवादी सभी पाखण्डी लोग उन्मार्ग में प्रस्थित हैं। सन्मार्ग तो जिनभाषित है और यही उत्तम मार्ग है।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जितने भी कुप्रवचन के मानने वाले पाखण्डी लोग हैं, वे सभी उन्मार्ग पर चलने वाले हैं अर्थात् उनका जो कथन है, वह उन्मार्ग है। सन्मार्ग तो जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ ही है। इसलिए यही उत्तम मार्ग है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि पाखण्डियों के मार्ग में पदार्थों का स्वरूप याथातथ्य रूप में वर्णन नहीं किया गया। अतः उसको उन्मार्ग के तुल्य कहा गया है और विपरीत इसके जिनके मार्ग में पदार्थों का स्वरूप यथार्थ प्रतिपादन किया गया है, इसलिए वह सन्मार्ग के समान है। उदाहरणार्थ—जीवादि पदार्थों का जो स्वरूप जिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादन किया है, उसके समान अन्य किसी दर्शन ने भी प्रतिपादन नहीं किया। अथवा ऐसा कहिए कि वस्तुतत्त्व के अनुरूप जीवादि पदार्थों का जिस प्रकार का स्वरूप जिनदर्शन में प्रतिपादन किया गया है, वैसा याथातथ्य स्वरूप अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता। कारण कि वे वादी लोग राग-द्वेषादि दोषों से युक्त होने के कारण यथार्थवक्ता या आप्त पुरुष नहीं हो सकते और विपरीत इसके जिनेन्द्र देव रागादि दोषों से मुक्त हैं। इसलिए उनके कथन में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं आ सकता। अतः उनका जो कथन है, वह वस्तुस्वरूप के अनुसार अथच निर्दोष है क्योंकि वीतराग होने से वे यथार्थवक्ता और आप्त पुरुष हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि उनका जो कथन है, वह सर्वोत्तम मार्ग है। उस पर चलने वाले पुरुष का कभी भी पतन नहीं होता।

यह सुनकर केशीकुमार कहते हैं कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥६४॥

इस गाथा का अर्थ पहले अनेक बार आ चुका है।

टीका—इस प्रकार आठवें द्वार का वर्णन किया गया। अब प्रश्न के नौवें द्वार का वर्णन किया जाता है, जिसके सम्बन्ध में ऊपर की गाथा में प्रस्ताव किया गया है। तथाहि—

महाउदगवेगेणं , वुज्झमाणाण पाणिणं।
सरणं गइं पइट्ठं य, दीवं कं मन्नसी ? मुणी ! ॥६५॥

महोदकवेगेन , उह्यमानानां प्राणिनाम्।
शरणं गतिं प्रतिष्ठां च, द्वीपं कं मन्यसे ? मुने ! ॥६५॥

पदार्थान्वयः—महाउदगवेगेण—महान् उदक के वेग से वुज्झमाणाण—डूबते हुए पाणिणं—प्राणियों को सरणं—शरण रूप गइं—गतिरूप य—और पइट्ठं—प्रतिष्ठा रूप दीवं—द्वीप कं—कौन-सा मन्नसी—मानते हो मुणी—हे मुने !

मूलार्थ—हे मुने ! महान् उदक के वेग में बहते हुए प्राणियों को शरण-गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप आप किसको मानते हो ?

टीका—केशीकुमार, गौतम स्वामी से पूछते हैं कि हे मुने ! महान् उदक—महास्रोत के वेग—प्रवाह में जो प्राणी बह रहे हैं—डूब रहे हैं, उनके सहारे के लिए अर्थात् जहाँ जाकर स्थिरतापूर्वक निवास किया जा सके ऐसा शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप कौन-सा है ? तात्पर्य यह है कि जिस समय पानी का महाप्रवाह आता है, उस समय अल्प सत्त्व वाले जीव उसमें बहने—डूबने लगते हैं। सो

उन बहते—डूबते हुए जीवों के बचाव के लिए कौन-सा ऐसा द्वीप है कि जहाँ आकर शांतिपूर्वक निवास किया जाय ? क्योंकि बहते हुए प्राणी को किसी आश्रय का मिल जाना उसकी रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए महाप्रवाह में बहते हुए प्राणियों को शरण, गति और प्रतिष्ठा को देने वाले द्वीप के स्वरूप का आप अवश्य वर्णन करें, यह केशीकुमार के कथन का सारांश है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में श्रीगौतम स्वामी ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स , गई तत्थ न विज्जई ॥६६॥

अस्त्येको महाद्वीपः, वारिमध्ये महालयः।
महोदकवेगस्य , गतिस्तत्र न विद्यते ॥६६॥

पदार्थान्वयः—अत्थि-है एगो-एक महादीवो-महाद्वीप वारिमज्झे-जल के मध्य में महाउदगवेगस्स-महान् उदक वेग की तत्थ-वहाँ पर गई-गति न विज्जई-नहीं है।

मूलार्थ—समुद्र के मध्य में एक महाद्वीप है। वह बड़े विस्तार वाला है। जल के महान् वेग की वहाँ पर गति नहीं है।

टीका—केशीकुमार के प्रति गौतम स्वामी कहते हैं कि समुद्र के मध्य में एक बड़ा भारी द्वीप है। वह द्वीप लम्बाई और चौड़ाई में बड़ा विस्तृत है तथा जल से बहुत ऊँचा है। अतः वायु के द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी जल के वेग की वहाँ पर गति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि पानी का प्रवाह उस महाद्वीप में प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए वह डूबते हुए प्राणियों का पूर्ण सहायक है। अर्थात् वहाँ पहुँच जाने पर फिर जल के प्रवाह का भय नहीं रहता किन्तु वहाँ पर पहुँच जाने के बाद हर एक प्राणी आनन्दपूर्वक रह सकता है। परन्तु नियम यह है कि पानी के वेग से पीड़ित जीवों को एक समय वहाँ—उस द्वीप में पहुँच जाना चाहिए ?

गौतम स्वामी के इस कथन को सुनकर केशीकुमार कहते हैं—

दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६७॥

द्वीपश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥६७॥

पदार्थान्वयः—दीवे–द्वीप के–कौन-सा वुत्ते–कहा गया है इइ–इस प्रकार केसी–केशीकुमार ने गोयम–गौतम के प्रति अब्बवी–कहा । इत्यादि सब पूर्व की तरह जान लेना ।

मूलार्थ—हे गौतम ! वह महाद्वीप कौन-सा कहा गया है, इस प्रकार केशीकुमार के कहने पर उसके प्रति गौतम स्वामी इस प्रकार बोले ।

टीका—यद्यपि गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, उसको केशीकुमार ने अच्छी तरह से समझ लिया परन्तु पास में बैठी हुई जनता को उसका स्फुट रूप से रहस्य समझाने के लिए केशीकुमार मुनि ने उनके प्रति द्वीप के विषय में फिर प्रश्न किया है कि वह महाद्वीप कौन-सा है, जहाँ पर जाने से प्राणियों को समुद्र के प्रवाह में डूबने का फिर भय नहीं रहता। इत्यादि ।

उक्त प्रश्न का गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, अब उसका वर्णन करते हैं—

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

जरामरणवेगेन, उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च, गतिः शरणमुत्तमम् ॥६८॥

पदार्थान्वयः—जरा–बुढ़ापा मरण–मृत्यु के वेगेण–वेग से वुज्झमाणाण–डूबते हुए पाणिण–प्राणियों को धम्मो–धर्म दीवो–द्वीप है पइट्ठा–प्रतिष्ठान है य–और गई–गति रूप है सरण–शरणभूत है उत्तम–उत्तम है ।

मूलार्थ—जरा-मरण के वेग से डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप प्रतिष्ठान रूप है और उसमें जाना उत्तम शरण रूप है ।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न को सुनकर गौतम स्वामी ने कहा कि संसार रूप महासमुद्र में जरा-मरण रूप जल है, जिसके प्रबल प्रवाह में ये प्राणी बह रहे हैं। उन बहते अर्थात् डूबते हुए प्राणियों को आश्रय देने वाला धर्म [श्रुतचारित्र रूप] ही महाद्वीप है। जिस समय संसारी जीव जन्म, जरा और मरण तथा आधि-व्याधि रूप जलराशि के महान् वेग में बहते हुए व्याकुल हो उठते हैं, उस समय इस धर्म रूप महाद्वीप की शरण में जाने से अर्थात् उसको प्राप्त कर लेने से उनकी रक्षा हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि फिर वे उक्त जल के भयंकर वेग से त्रास को प्राप्त नहीं होते। यहाँ पर जन्म, जरा और मृत्यु को समुद्र-जल के समान कहा है और श्रुत चारित्र रूप धर्म को महाद्वीप बतलाया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे महाद्वीप में जल के वेग का प्रवेश नहीं होता, तद्वत् श्रुत और चारित्र रूप महाद्वीप में जन्म, जरा और मृत्यु आदि भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। कारण मोक्ष में इनका सर्वथा अभाव है। इसलिए संसार रूप समुद्र के जरा-मरणादि रूप जलप्रवाह में बहते हुए प्राणियों को इसी धर्म रूप महाद्वीप का सहारा है और इसी की शरण में जाना परमोत्तम है।

इस प्रकार गौतम स्वामी का उत्तर सुनकर केशीकुमार ने कहा कि—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥६९॥

टीका—इस गाथा का अर्थ पहले की गाथाओं के समान ही है। इस प्रकार नवें द्वार का वर्णन हो चुका। अब प्रश्न के दशवें द्वार का प्रस्ताव करते हैं। दशवें प्रश्न के प्रस्ताव में संसार-समुद्र से पार होने के उपायों या साधनों के विषय में प्रश्नोत्तर रूप से बड़े मनोरंजक विषय का उल्लेख किया गया है। यथा—

अण्णवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावई।
जंसि गोयममारूढो, कहं पारं गमिस्ससि ॥७०॥

अर्णवे महौघे, नौर्विपरिधावति ।
यस्यां गौतम ! आरूढः, कथं पारं गमिष्यसि ॥७०॥

पदार्थान्वय —अण्णवंसि–समुद्र में महोहंसि–महाप्रवाह वाले में नावा–नौका भी विपरिधावई–विपरीत रूप से चारों ओर जा रही है जसि–जिसमें गोयम–हे गौतम ! तू आरूढो–सवार हो रहा है कहं–कैसे पारं–पार को गमिस्ससि–प्राप्त होगा ?

मूलार्थ—हे गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नौका विपरीत रूप से चारों ओर भाग रही है, जिसमें कि आप आरूढ या सवार हो रहे हैं तो फिर आप कैसे पार जा सकोगे ?

टीका—महान् जलराशि और महान् वेग वाले समुद्र में विपरीत गमन करने वाली अथवा समुद्र के मध्य में इधर-उधर भटकने वाली नौका पर पार जाने की इच्छा से आरूढ हुए, किसी पुरुष को देखकर जैसे उसके किनारे लगने की बहुत कम सम्भावना होती है और उसकी इस दशा को देखकर मन में उसके लिए नाना प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विपरीत गमन करने अर्थात् इधर उधर घूमने वाली नौका पर आरूढ हुए गौतम स्वामी को लक्ष्य में रखकर केशीकुमार मुनि उनसे पार होने के विषय में प्रश्न करते हैं कि आप इतने बड़े अगाध जलप्रवाह में उच्छृंखल प्रवृत्ति से गमन करने वाली नौका पर आरूढ होकर किस प्रकार इस समुद्र को पार कर सकोगे ?

अब इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि—

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

या त्वास्राविणी नौः, न सा पारस्य गामिनी ।
या निरास्राविणी नौः, सा तु पारस्य गामिनी ॥७१॥

पदार्थान्वयः—जा–जो अस्साविणी–छिद्रसहित नावा–नौका है न–नहीं सा–वह पारस्स–पार गामिणी–जाने वाली है । उ–पुनः जा–जो निरस्साविणी–छिद्ररहित नावा–नौका है सा–वह उ–निश्चय ही पारस्स–पार गामिणी–जाने वाली है—पार पहुँचाने वाली है ।

मूलार्थ—जो नौका छिद्रों वाली होती है, वह पार ले जाने वाली नहीं होती किन्तु जो नौका छिद्रों से रहित है, वह अवश्य पार ले जाने वाली होती है।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि हे भगवन्! जो नाव छिद्रों वाली है, उस पर आरूढ हुआ पुरुष कभी पार नहीं जा सकता। क्योंकि छिद्रों के द्वारा उसमें जल भरता चला जाता है। अतः वह पार ले जाने को समर्थ नहीं किन्तु मध्य में ही डुबो देने वाली है। विपरीत इसके जो नौका छिद्रों से रहित है, उस पर आरूढ हुआ पुरुष अवश्य पार जा सकता है। क्योंकि छिद्ररहित होने से उसमें जल का प्रवेश नहीं होता। इसलिए वह पार ले जाने को समर्थ है। गौतम स्वामी के इस कथन का तात्पर्य यह है कि समुद्र पार करने के लिए मैंने जिस नौका का आश्रय लिया है, वह छिद्रों सहित नहीं किन्तु छिद्रों से रहित अतएव विपरीत चलने वाली नहीं है। इसलिए उक्त प्रकार की सुदृढ नौका पर आरूढ होता हुआ मैं इस संसार-समुद्र को अवश्यमेव पार कर जाने का विश्वास रखता हूं।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर केशीकुमार ने उनके प्रति जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्ववी।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७२॥

नौश्चेति कोक्ता, केशी गौतममब्रवीत्।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७२॥

पदार्थान्वयः—नावा—नौका का—कौन-सी वुत्ता—कही है, इत्यादि सब पदार्थ पूर्ववत् जान लेना।

मूलार्थ—वह नौका कौन-सी है, इस प्रकार केशीकुमार ने गौतम मुनि के प्रति कहा, इत्यादि सब पूर्ववत् ही जान लेना।

टीका—वह नौका कौन-सी है, उपलक्षण से नाविक कौन है तथा यह समुद्र और इस समुद्र का परला किनारा क्या है, इत्यादि। केशी मुनि के प्रश्न का सब रहस्य प्रथम की तरह ही समझ लेना। लेख-विस्तार के भय से अधिक पुनरुक्ति नहीं की गई।

अब इसके प्रत्युत्तर में गौतम स्वामी कहते हैं कि—

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥७३॥

शरीरमाहुर्नौरिति , जीव उच्यते नाविकः ।
संसारोऽर्णव उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ॥७३॥

पदार्थान्वयः—सरीरम्–यह शरीर नावत्ति–नौका है इस प्रकार आहु–तीर्थंकर देव कहते हैं जीवो–जीव नाविओ–नाविक वुच्चइ–कहा जाता है संसारो–संसार को अण्णवो–समुद्र वुत्तो–कहा जाता है जं–जिसको महेसिणो–महर्षि लोग तरंति–तैर जाते हैं ।

मूलार्थ—तीर्थंकर देव ने इस शरीर को नौका के समान कहा है और जीव नाविक है तथा यह संसार ही समुद्र है, जिसको महर्षि लोग तैर जाते हैं।

टीका—गौतम मुनि कहते हैं कि जो शरीर है, वही नाव है तथा इस पर सवार होने वाला जीव नाविक माना गया है । यह संसार ही अर्णव—समुद्र के तुल्य होने से समुद्र कहलाता है, जिसको महर्षि लोग तैरते हैं—पार कर जाते हैं । प्रस्तुत गाथा में शरीर को नौका माना है और जीव को नाविक कहा गया है । इसका कारण यह है कि जिस प्रकार जीवाजीवादि की नाव आधारभूत है, उसी प्रकार यह शरीर भी ज्ञानदर्शन और चारित्र आदि का आधारभूत है । जब कि शरीर को नौका की उपमा दी गई तो उसके अधिष्ठाता जीव को नाविक कहा ही जायगा । क्योंकि शरीर रूप नौका का सञ्चालन जीव द्वारा ही हो सकता है तथा नौका समुद्र में रहती है और वह इन संसारी जीवों को उसके पार करती है । अतः यह संसार ही एक प्रकार का बड़ा भारी समुद्र है, जिसको महर्षि लोग पार कर जाते हैं ? जैसे नाव के द्वारा पार होने वाले जीव पार जाने पर नौका को छोड़कर इच्छित स्थान को प्राप्त हो जाते हैं, ठीक इसी प्रकार संसार-समुद्र से पार हो जाने वाले जीव इस शरीर को यहाँ पर छोड़कर मोक्ष में चले जाते हैं क्योंकि जैसे समुद्र को पार करने के लिए नौका एक साधनमात्र है और समुद्र को पार कर लेने के अनन्तर फिर उसकी आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार शरीर भी

संसार-समुद्र से पार होने का एक साधनमात्र है। अतः पार होने के बाद अर्थात् मोक्ष में चले जाने के अनन्तर इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

गौतम स्वामी के इस उत्तर को सुनकर अब अन्य प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७४॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥७४॥

टीका—इस गाथा का सम्पूर्ण भावार्थ पहले की तरह ही जान लेना। इस प्रकार दशवें प्रश्नद्वार का वर्णन करने के अनन्तर ग्यारहवें प्रश्नद्वार का प्रस्ताव करते हुए अब प्रश्नोत्तर रूप से अन्धकार के विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७५॥

अन्धकारे तमसि घोरे, तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः।
कः करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७५॥

पदार्थान्वयः—अंधयारे—अन्धकार घोरे—घोर तमे—तमरूप में बहू—बहुत से पाणिणो—प्राणी चिट्ठंति—ठहरते हैं को—कौन उज्जोयं—उद्योत करिस्सइ—करेगा सव्वलोगम्मि—सर्वलोक में पाणिणं—प्राणियों को।

मूलार्थ—हे गौतम ! बहुत से प्राणी घोर अन्धकार में स्थित हैं। सो इन सब प्राणियों को लोक में कौन उद्योत करता है ?

टीका—केशीकुमार श्रमण कहते हैं कि हे गौतम ! इस संसार में एक बड़ा घोर भयानक—अन्धकार है। उस अन्धकार में बहुत से जीव ठहरे हुए हैं अर्थात् बहुत से प्राणी इस अन्धकार से व्याप्त हैं। ऐसी दशा में इन प्राणियों को लोक में कौन उद्योत—प्रकाश देने में समर्थ है ? तात्पर्य यह है कि अन्धकार की दशा में मनुष्य अभीष्ट क्रियाओं के यथारुचि सम्पादन करने में असमर्थ है। इसलिए उसे प्रकाश

की आवश्यकता पड़ती है। जैसे कोई अन्धा पुरुष वस्तु के ग्रहण अथवा विसर्जन आदि का काम यथाविधि नहीं कर सकता, इसी प्रकार अन्धकारव्याप्त पुरुष भी किसी कार्य को व्यवस्थापूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता। ['अन्धमिवान्ध चक्षुः प्रवृत्तिनिवर्त्तकत्वेनार्थात् जन करोत्यन्धकारस्तस्मिन्, तमसि प्रतीते'] लोक का अर्थ जगत् है।

अब गौतम स्वामी कहते हैं—

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोयपभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७६॥
उद्गतो विमलो भानुः, सर्वलोकप्रभाकरः ।
सः करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७६॥

पदार्थान्वयः—उग्गओ—उदय हुआ है विमलो—निर्मल भाणू—सूर्य सव्वलोगपभंकरो—सर्वलोक में प्रकाश करने वाला सो—वह —उद्योत करिस्सइ—करेगा सव्वलोगम्मि—सर्वलोक में पाणिणं—प्राणियों को।

मूलार्थ—हे भगवन्! सर्वलोक में प्रकाश करने वाला उदय हुआ निर्मल सूर्य इस लोक में सर्व प्राणियों को प्रकाश करेगा।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जगत् में फैले हुए घोर अन्धकार से व्याप्त प्राणियों को सर्वलोक में प्रकाश करने वाला उदय हुआ निर्मल सूर्य ही प्रकाश देगा। क्योंकि अन्धकार को दूर करके प्रकाश का देने वाला एकमात्र सूर्य ही है। अत वही उद्योत करेगा। यहाँ पर 'विमलो'—निर्मल यह सूर्य का विशेषण इसलिए दिया गया है कि बादलों से घिरे हुए सूर्य में उतना प्रकाश देने की शक्ति नहीं होती, जितनी कि निर्मल सूर्य में होती है।

इस विषय को स्फुट करने के लिए केशीकुमार और गौतम स्वामी के बीच जो प्रश्नोत्तर हुआ, अब उसका वर्णन करते हैं। यथा—

भाणू अ इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७७॥

भानुश्चेति क उक्तः, केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥७७॥

टीका—इस गाथा का सब विचार पहले की तरह ही समझ लेना और विशेष इतना ही है कि गौतम स्वामी से केशीकुमार कहते हैं कि भाणू–सूर्य के–कौन-सा वुत्ते–कहा है। शेष सब कुछ पहले आई हुई गाथाओं के समान ही है।

अब गौतम स्वामी उत्तर देते हैं—

उग्गओ खीणसंसारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥७८॥

उद्गतः क्षीणसंसारः, सर्वज्ञो जिनभास्करः ।
स करिष्यत्युद्योतं, सर्वलोके प्राणिनाम् ॥७८॥

पदार्थान्वयः—उग्गओ–उदय हुआ खीणसंसारो–क्षीण हो गया है संसार जिसका सव्वण्णू–सर्वज्ञ जिणभक्खरो–जिनभास्कर सो–वह करिस्सइ–करेगा उज्जोयं–उद्योत सव्वलोगम्मि–सर्वलोक में पाणिणं–प्राणियों को ।

मूलार्थ—क्षीण हो गया है संसार जिनका ऐसे सर्वज्ञ जिनेन्द्ररूप भास्कर का उदय हुआ है। वही सर्वलोक में प्राणियों को उद्योत करेगा।

टीका—गौतम स्वामी कहते हैं कि जिस आत्मा का संसार-भ्रमण क्षय हो चुका है अर्थात् जिसने चारों प्रकार के घाती कर्मों का नाश करके कैवल्य पद प्राप्त कर लिया है अतएव वे सर्वज्ञ और समदर्शी हो गये हैं, वे ही जिनेन्द्र भगवान् वास्तव में सूर्य हैं, जिनका कि इस समय उदय हुआ है। इसलिए लोक को—अन्धकारव्याप्त समस्त प्राणियों को वे ही प्रकाश देने वाले हैं और देंगे। इस कथन का अभिप्राय है कि जैसे उदय को प्राप्त हुआ सूर्य संसार के सब अन्धकार को दूर कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान् भी आत्मगत अज्ञान और मिथ्यात्वरूप अन्धकार को दूर करने में दूसरे भास्कर हैं। इसके अतिरिक्त उक्त गाथा से प्रतीत होता है कि भगवान् वर्द्धमान स्वामी के समय में इस आर्यभूमि में अज्ञानता और अन्धविश्वास का अधिक प्राबल्य था। बहुत से भव्य जीव अज्ञानता के अन्धकारमय

भयानक जगत में भटक रहे थे। इन सब कुसंस्कारों को जिनेन्द्र भगवान् श्रीवर्द्धमान स्वामी ने दूर किया।

गौतम स्वामी के उक्त उत्तर को सुनकर, अन्य प्रश्न का प्रस्ताव करते हुए अब केशीकुमार फिर कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७९॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते, छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम, तं मां कथय गौतम ! ॥७९॥

टीका—इसका भावार्थ प्राग्वत् ही जान लेना।

इस प्रकार ग्यारहवें प्रश्नद्वार का वर्णन किया गया। अब बारहवें प्रश्नद्वार का आरम्भ करते हैं। उसमें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्माओं की सदैव काल स्थिति कहाँ पर है, इस अभिप्राय से प्रेरित होकर केशीकुमार ने जिस प्रश्न का प्रस्ताव किया है, अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवमणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी ! ॥८०॥

शारीरमानसैर्दुःखै , बाध्यमानानां प्राणिनाम् ।
क्षेमं शिवमनाबाधं, स्थानं किं मन्यसे मुने ! ॥८०॥

पदार्थान्वयः—सारीर—शारीरिक और माणसे—मानसिक दुक्खे—दुःखों से बज्झमाणाण—बाध्यमान पाणिणं—प्राणियों को खेम—क्षेम—व्याधिरहित सिवम्—सर्वोपद्रवरहित अणाबाह—स्वाभाविक पीडारहित ठाणं—स्थान किं—कौन-सा मन्नसी—मानते हो मुणी—हे मुने।

मूलार्थ—हे मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम और शिव रूप तथा बाधाओं से रहित आप कौन-सा स्थान मानते हो ?

टीका—केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से पूछते हैं कि हे मुने ! जो प्राणी शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित हो रहे हैं, उनके लिए क्षेम—व्याधि

रहित और शिव—सर्व प्रकार के उपद्रवों से रहित कौन-सा स्थान है ? तात्पर्य यह है कि जिस स्थान में जाकर ये प्राणी सर्व प्रकार के दुःखों से रहित होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकें, ऐसा कौन-सा स्थान है ? कारण कि लोक में त्यागवृत्ति का अनुसरण करते हुए तपश्चर्या आदि के अनुष्ठान में जितने भी कष्ट जीव सहते हैं, उन सब का एकमात्र प्रयोजन सर्व प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख की प्राप्ति है। सो इस प्रकार के शाश्वत सुख का अगर कोई स्थान नहीं तो यह सब व्यर्थ हो जाता है। अतः कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ पर पहुँचने से इन संसारी प्राणियों को परम शांति की प्राप्ति हो सके। इसलिए आप कृपा करके ऐसे स्थान का निर्देश करें। बृहद्वृत्तिकार ने—'वज्झमाणाण' के स्थान पर 'पच्चमाणाण' पाठ दिया है। उसका अर्थ है 'पच्यमानानामिव' अर्थात् दुःखों से आकुलीभूत। यदि संक्षेप से कहें तो जन्म, मरण आदि का दुःख जहाँ पर नहीं, वह कौन-सा स्थान है। इतना ही भाव उक्त गाथा में आये हुए प्रश्न का है, जो कि केशी मुनि ने गौतम स्वामी से किया है।

इस प्रश्न के उत्तर में गौतम मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥

अस्त्येकं ध्रुवं स्थान, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यू, व्याधयो वेदनास्तथा ॥८१॥

पदार्थान्वयः—एगं—एक धुवं—ध्रुव ठाणं—स्थान अत्थि—है लोगग्गम्मि—लोक के अग्रभाग में दुरारुहं—दुरारोह—दुःख से आरोहण करने योग्य जत्थ—जहाँ पर नत्थि—नहीं है जरा—बुढ़ापा मच्चू—मृत्यु तहा—तथा वाहिणो—व्याधियाँ और वेयणा—वेदनाएँ।

मूलार्थ—लोक के अग्रभाग में एक ध्रुव—निश्चल स्थान है, जहाँ पर जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाएँ नहीं हैं परन्तु उस पर आरोहण करना नितान्त कठिन है।

टीका—केशी मुनि को उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि लोक के अग्रभाग में ऐसा एक स्थान है कि जहाँ पर जरा और मृत्यु का अभाव है तथा किसी प्रकार की व्याधि और वेदना की भी वहाँ पर सत्ता नहीं एव वह स्थान ध्रुव, निश्चल अर्थात् शाश्वत है परन्तु उस स्थान तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। तात्पर्य यह है कि उस स्थान पर पहुँचने के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन साधन हैं अर्थात् इनके द्वारा ही वहाँ पर पहुँचा जा सकता है परन्तु इनका सम्यक्तया सम्पादन करना भी बहुत कठिन है। यहाँ पर गाथा में जो 'ध्रुव' पद दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि वह स्थान अल्पकालभावी नहीं किन्तु शाश्वत अर्थात् सदा रहने वाला है।

इसके अनन्तर उक्त विषय में इन दोनों महापुरुषों का जो प्रश्नोत्तर होता है, अब शास्त्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

ठाणे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥८२॥

स्थानं चेति किमुक्तं ? केशी गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिनं ब्रुवन्तं तु, गौतम इदमब्रवीत् ॥८२॥

पदार्थान्वयः—ठाणे—यह स्थान के—कौन-सा वुत्ते—कहा गया है, इत्यादि। शेष सब कुछ प्रथम की तरह ही जानना।

टीका—केशीकुमार ने फिर कहा कि हे गौतम ! यह स्थान कौन-सा कहा गया है—कौन-सा माना गया है कि जिस स्थान पर जन्म, जरा और मृत्यु तथा शोक, रोग आदि दुःखों का अभाव है ? तथा जिस स्थान पर जाकर यह जीव अजर अमर आदि नामों से युक्त हो जाता है क्योंकि जो लोग आस्तिक हैं, उनका सारा उद्योग उसी स्थान के लिए है कि जहाँ पर उक्त प्रकार की आधि-व्याधियों को स्थान नहीं है। कृपया आप उस स्थान का स्पष्ट शब्दों में निर्देश करें।

केशीकुमार के उक्त कथनानुसार गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया, अब उसका उल्लेख करते हैं। यथा—

निव्वाणंति अवाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणावाहं, जं चरंति महेसिणो ॥८३॥

निर्वाणमित्यवाधमिति , सिद्धिर्लोकाग्रमेव च।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यच्चरन्ति महर्षयः ॥८३॥

पदार्थान्वयः—निव्वाणं—निर्वाण ति—इस प्रकार—पूर्व परामर्श में अवाह—बाधारहित ति—आगवत् सिद्धी—मोक्ष लोगग्गम्—लोकाग्र एव—पादपूर्ति में है य—समुच्चयार्थक है खेम—क्षेम सिव—शिव अणावाह—बाधारहित जं—जिस स्थान को महेसिणो—महर्षि लोग चरंति—आचरण करते हैं वा प्राप्त होते हैं।

मूलार्थ—हे मुने! जिस स्थान को महर्षि लोग प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध इन नामों से विख्यात है। तात्पर्य यह है कि जिस स्थान का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उसके ये नाम हैं।

टीका—केशीकुमार के प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी कहते हैं कि वह स्थान निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें सर्व प्रकार के कषायों से निवृत्त होकर परम शान्त अवस्था को प्राप्त होने से इसको निर्वाण कहते हैं तथा इसमें सर्व प्रकार की शारीरिक और मानसिक बाधाओं का अभाव होने से इसका अव्याबाध नाम भी है। एवं सर्वकार्यों की इसमें सिद्धि हो जाने से इसका सिद्धि नाम भी है। लोक के अग्र—अन्त भाग में होने से इसको लोकाग्र के नाम से भी पुकारते हैं। इसमें पहुँचने से किसी प्रकार का भी कष्ट न होने तथा परम आनन्द की प्राप्ति होने से इसको क्षेम और शिवरूप तथा अनाबाध भी कहते हैं। परन्तु इस स्थान को पूर्णरूप से संयम का पालन करने वाले महर्षि लोग ही प्राप्त करते हैं। क्योंकि यह स्थान सर्वोत्तम और सर्वोच्च तथा सब के लिए उपादेय है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तं ठाणं सासयंवासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ॥८४॥

तत् स्थानं शाश्वतावासं, लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवौघान्तकरा मुने ! ॥८४॥

पदार्थान्वयः—तं-वह ठाण-स्थान सासयवास-शाश्वत वासरूप है लोगग्गंमि-लोक के अग्रभाग में दुरारुहं-दुःख से—आरोहण योग्य जं-जिसको सपत्ता-प्राप्त करके न-नहीं सोयन्ति-सोच करते भवोहन्तकरा-भव—संसार—के प्रवाह—जन्म-मरण—का अन्त करने वाले मुणी-मुनि लोग—हे मुने !

मूलार्थ—हे मुने ! वह स्थान शाश्वत वासरूप है, लोक के अग्रभाग में स्थित है परन्तु दुरारोह है तथा जिसको प्राप्त करके भव-परम्परा का अन्त करने वाले मुनिजन सोच नहीं करते ।

टीका—गौतम मुनि कहते हैं कि वह स्थान नित्य वासरूप है और सर्वोपरि वर्तमान होने से लोकाग्र में स्थित है । परन्तु वहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है । जो आत्मा इस स्थान को प्राप्त कर लेते हैं, वे भवपरम्परा का अन्त करके फिर किसी प्रकार के शोक को प्राप्त नहीं होते । तात्पर्य यह है कि जिन आत्माओं ने केवल ज्ञान को प्राप्त करके जन्म-मरणरूप भव-परम्परा का अन्त कर दिया है,[1] वे मुनिजन ही इस शाश्वत स्थान को प्राप्त होते हैं और इसको प्राप्त करके वे शोक दुःखादि से सर्वथा रहित हो जाते हैं । 'सासय' इस पद में बिन्दु अलाक्षणिक है । प्रस्तुत गाथा में मोक्ष को नित्य और उसको प्राप्त करने वाले का अपुनरावर्तन, ये बातें सूचित की गई हैं ।

इस पर केशीकुमार कहते हैं—

साहु गोयम ! पन्ना ते , छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयातीत ! सव्वसुत्तमहोयही ॥८५॥

साधु गौतम ! प्रज्ञा ते , छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
नमस्तुभ्यं संशयातीत ! सर्वसूत्रमहोदधे ! ॥८५॥

---

1 भवा नरकादयस्तेषामोघः—'पुनः पुनर्भवरूपप्रवाहस्तस्यान्तकराः पर्यन्तविधायिनो भवौघान्तकराः' इति वृत्तिकारः ।

पदार्थान्वयः—साहु–साधु उत्तम है गोयम–हे गौतम ! ते–तेरी पन्ना–प्रज्ञा मे–मेरा इमो–यह संसओ–संशय छिन्नो–छेदन कर दिया आपने संसयातीत–हे संशयातीत ! सव्वसुत्तमहोदही–हे सर्वसूत्रमहोदधि ! नमो–नमस्कार हो ते–आपको।

मूलार्थ—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा साधु है। आपने मेरे संशय को छेदन कर दिया है। अतः हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्र के पारगामी ! आपको नमस्कार है।

टीका—केशीकुमार मुनि गौतम स्वामी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा को धन्य है। क्योंकि आपने मेरे सारे सन्देह दूर कर दिये। आप सारे आगमों के समुद्र हैं और सर्व प्रकार के संशयों से रहित हैं। अतः आपको मेरा बार बार नमस्कार है। प्रस्तुत गाथा में केशीकुमार मुनि के ज्ञान और ज्ञानवान् के विनय का दिग्दर्शन कराते हुए विनयधर्म के आदर्श का जो चित्र खींचा गया है, वह प्रत्येक भव्य जीव के लिए दर्शनीय और अनुकरणीय है।

इस प्रकार केशीकुमार के मन, वाणी द्वारा किये गये विनय का वर्णन करके अब उसके कायिक विनय का दिग्दर्शन कराते हुए साथ में उक्त शास्त्रार्थ के परिणाम का भी वर्णन करते हैं। यथा—

एवं तु संसए छिन्ने, केसी　घोरपरक्कमे।
अभिवन्दित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥८६॥
पंचमहव्वयधम्मं　, पडिवज्जइ　भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥
एवं तु संशये छिन्ने, केशी　घोरपराक्रमः।
अभिवन्द्य　शिरसा, गौतमं तु महायशसम् ॥८६॥
पञ्चमहाव्रतधर्मं　, प्रतिपद्यते　भावतः।
पूर्वस्य　पश्चिमे, मार्गे　तत्र　सुखावहे ॥८७॥

पदार्थान्वयः—एवं–इस प्रकार तु–निश्चय संसए–संशय छिन्ने–छेदन हो जाने पर केसी–केशीकुमार मुनि घोरपरक्कमे–घोर पराक्रम वाला महायसं–महान्

यश वाले **गोयमं**–गौतम को **अभिवन्दित्ता**–वन्दना करके **सिरसा**–शिर से **तु**–पुनः **पंचमहव्वयधम्मं**–पाँच महाव्रतरूप धर्म को **भावओ**–भाव से **पडिवज्जइ**–ग्रहण किया **पुरिमस्स**–पूर्व तीर्थंकर के और **पच्छिमम्मि**–पश्चिम तीर्थंकर के **मग्गे**–मार्ग में **सुहावहे**–सुख के देने वाले **तत्थ**–उस वन में ।

मूलार्थ—इस प्रकार संशयों के दूर हो जाने पर घोर पराक्रम वाले केशीकुमार ने महायशस्वी गौतम स्वामी को शिर से वन्दना करके उस तिन्दुक वन में पाँच महाव्रतरूप धर्म को भाव से ग्रहण किया । कारण कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के मार्ग में पञ्च यमरूप धर्म का पालन करना बतलाया है, जो कि सुख देने वाला है ।

टीका—जब केशीकुमार श्रमण के द्वारा किये जाने वाले सभी प्रश्नों का उत्तर भली प्रकार से गौतम स्वामी ने दे दिया, तब केशीकुमार ने गौतम स्वामी को बड़े नम्रभाव से वन्दना की और भाव से—अन्तःकरण से चतुर्यामरूप धर्म को पञ्चमहाव्रतरूप में ग्रहण किया । क्योंकि आद्य और चरम तीर्थंकर के शासन में इसी धर्म का आदेश है, जो कि सुख देने वाला है । जब कि इस समय चरम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान स्वामी का शासन प्रवृत्त हो रहा है, तब मुझको भी उसी के अनुसार प्रवृत्ति करनी होगी । इस विचार से ही केशीकुमार श्रमण ने चतुर्याम के बदले पाँच यमरूप धर्म को अन्तःकरण से ग्रहण किया, यह उक्त गाथाद्वय का अभिप्राय है । 'सुहावहे' यह 'मग्गे—मार्गे' का विशेषण है [सुखावहे—कल्याण-प्रापके] । इस कथन से केशीकुमार मुनि की सरलता, निष्पक्षता और सत्यप्रियता आदि मुनिजनोचित गुणों का परिचय विशेष रूप से मिल रहा है, जो कि कल्याण की इच्छा रखने वाले मुनिवर्ग के लिए विशेष मननीय और अनुकरणीय है ।

अब इन दोनों महापुरुषों के समागम का फल वर्णन करते हैं—

केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमे ।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥८८॥

केशिगौतमयोर्नित्यं, तस्मिन्नासीत् समागमः ।
श्रुतशीलसमुत्कर्षः, महार्थार्थविनिश्चयः ॥८८॥

पदार्थान्वय :—तम्मि—उस वन में केसीगोयमओ—केशी और गौतम का निच्चं—नित्य—सदा समागमे—समागम में आसि—हुआ सुयसील—श्रुत और शील का समुक्करिसो—सम्यक् उत्कर्ष महत्थत्थ—महार्थ—मुक्ति के अर्थ का साधक शिक्षा व्रतादिरूप अर्थ का विणिच्छओ—विशिष्ट निर्णय ।

मूलार्थ—उस वन में केशीकुमार मुनि और गौतम स्वामी का जो नित्य—निरन्तर समागम हुआ, उसमें श्रुत, शील, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् उत्कर्ष जिसमें है, ऐसे मुक्ति के साधक शिक्षा व्रत आदि नियमों का विशिष्ट निर्णय हुआ ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में, केशीकुमार और गौतम स्वामी के पारस्परिक समागम में महाप्रयोजन रूप मोक्ष के अर्थ का विशिष्ट निर्णय किया गया है । मोक्षदशा में अथवा जीवन्मुक्त दशा में ज्ञान और चारित्र का पूर्ण अतिशय होता है । मोक्ष के साधन रूप जो शिक्षाव्रतादि नियम हैं, उनके अर्थ का विनिश्चय अर्थात् विशिष्ट निर्णय उस समागम में हुआ । यद्यपि निर्णय—सन्देहरहित निश्चय तो शिष्यों का हुआ तथापि शिष्यसमुदाय का पक्ष लेकर प्रश्न करने से केशीकुमार के नाम का निर्देश किया गया है । गाथा में आये हुए 'नित्य' शब्द का अभिप्राय यह है कि जब तक वे दोनों महापुरुष उस नगरी में रहें, तब तक विशेष रूप से धर्मों का निर्णय होता रहा । विशिष्ट निर्णय का फल है विभिन्नता का अभाव और एकता की स्थापना । सो दोनों के शिष्य-समुदाय में क्रियाभेद अथवा वेषभेद से दृष्टिगोचर होने वाली विभिन्नता जाती रही ।

इस प्रकार दोनों महर्षियों के संवाद से जब धर्मसम्बन्धी निर्णय हो चुका, तब उससे परिषत् अर्थात् पास में बैठे हुए अन्य सभ्यों को जो लाभ पहुँचा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया ।
संथुया ते पसीयन्तु, भयवं केसिगोयमे ॥८९॥

त्ति बेमि ।

केसिगोयमिज्जं तेवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२३॥

तोषिता परिषत् सर्वा, सन्मार्गं समुपस्थितौ ।
संस्तुतौ तौ प्रसीदताम्, भगवन्तौ केशिगौतमौ ॥८९॥

इति ब्रवीमि ।

केशिगौतमीयं त्रयोविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—तोसिया–सन्तुष्ट हुई परिसा–परिषत् सव्वा–सर्व और सम्मग्गं–सन्मार्ग में समुवट्ठिया–समुपस्थित हुई भयवं–भगवान् केसिगोयमे–केशी और गौतम संथुया–स्तुति किये गये ते–वे दोनों पसीयन्तु–प्रसन्न होवें त्ति बेमि–इस प्रकार मैं कहता हूँ । यह केशिगौतमीय अध्ययन समाप्त हुआ ।

मूलार्थ—सर्वपरिषत् उक्त संवाद को सुनकर—सन्मार्ग में प्रवृत्त हुई तथा भगवान् केशीकुमार और गौतम स्वामी प्रसन्न हों, इस प्रकार परिषत् ने उनकी स्तुति की ।

टीका—उक्त दोनों महर्षियों के धार्मिक संवाद में जो धर्मसम्बन्धी निर्णय हुआ, उसको सुनकर देवों और मनुष्यों की परिषद् को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह सन्मार्ग में प्रवृत्त होने को उद्यत हो गई । अतएव उसने केशीकुमार और गौतम स्वामी की उचित शब्दों में प्रशंसा करते हुए उनमें अपनी विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया ।

वास्तव में, महापुरुषों के संवाद में किये गये तत्त्वनिर्णय से अनेक भव्य पुरुषों को लाभ पहुँचता है । इसलिए परिषद् के द्वारा इन दोनों महापुरुषों की स्तुति का किया जाना सर्वथा समुचित है । इस सन्दर्भ में प्रथम दो प्रश्नों को छोड़कर शेष दश प्रश्नों में गुप्तोपमालङ्कार से वर्णन किया गया है ताकि श्रोताओं को प्रश्नविषयक स्फुट उत्तर जानने की पूरी इच्छा बनी रहे । इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' की व्याख्या पूर्व की ही भाँति समझ लेनी । इस प्रकार यह तेईसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ।

त्रयोविंशाध्ययन समाप्त ।

अह समिइओ चउवीसइमं अज्झयणं

अथ समितयः (इति) चतुर्विंशमध्ययनम्

गत तेईसवें अध्ययन में इस बात का वर्णन किया है कि यदि चित्त में किसी प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय तो केशी मुनि और गौतम गणधर की तरह उसकी निवृत्ति करने का उपाय करना चाहिए परन्तु शंकाओं के निराकरण में सम्यक् वचनयोग का होना नितान्त आवश्यक है और वाग्योग के लिए प्रवचन माताओं के ज्ञान की आवश्यकता है। अतः इस चौबीसवें अध्ययन में प्रवचन माताओं के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिआ ॥१॥

अष्टौ प्रवचनमातरः, समितयो गुप्तयस्तथैव च।
पञ्चैव च समितयः, तिस्रो गुप्तय आख्याताः ॥१॥

पदार्थान्वयः—अट्ठ—आठ पवयण—प्रवचन मायाओ—माताएँ हैं समिई—समिति य—और तहेव—उसी प्रकार गुत्ती—गुप्तियाँ पंच—पाँच एव—निश्चय में समिईओ—समितियाँ य—और तओ—तीन गुत्तीउ—गुप्तियाँ आहिआ—कही गई हैं।

मूलार्थ—समिति और गुप्तिरूप आठ प्रवचन माताएँ हैं, जैसे कि पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ।

टीका—समिति और गुप्ति को प्रवचन माता इसलिए कहा है कि ये प्रवचन को प्रसूत—उत्पन्न करने वाली हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे द्रव्यमाता पुत्र को जन्म देती है, उसी प्रकार भावमाता समिति और गुप्तिरूप हैं जो कि प्रवचन को जन्म देती हैं। ये प्रवचन माताएँ आठ हैं। इनमें पाँच समिति के नाम से प्रसिद्ध हैं और तीन गुप्ति के नाम से विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त ये आठों ही प्रवचन माताएँ प्रवचन की उत्पादक होने के साथ साथ उसकी संरक्षक भी हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे माता पुत्र को जन्म देने के पश्चात् उसकी सर्व प्रकार से रक्षा भी करती है, उसी प्रकार यह समिति गुप्तिरूप माता प्रवचनरूप पुत्र को जन्म देकर उसका संरक्षण भी करती है जिससे कि श्रुतज्ञान के द्वारा सम्यक् शिक्षा को प्राप्त करता हुआ भव्यजीव मोक्ष-मंदिर में पहुँच जाता है। ठीक प्रवचन के अनुसार आत्मा की जो चेष्टा है, उसे समिति कहते हैं और मन, वचन, काया के सम्यग्योग—निग्रह—का नाम गुप्ति है। यह इनकी तान्त्रिक—शास्त्रप्रसिद्ध संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् ने इनका इसी तरह से विवरण किया है। मुमुक्षु जनों के लिए इनकी आराधना परम आवश्यक है।

अब इनके नामों का निर्देश किया जाता है। यथा—

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२॥

ईर्याभाषैषणादानोच्चाररूपाः समितय इति।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः, कायगुप्तिश्चाष्टमी ॥२॥

पदार्थान्वयः—इरिया—ईर्या भासे—भाषा एसणा—एषणा आदाणे—आदान य—और उच्चारे—उच्चार समिई—समितियाँ हैं इय—इतनी मणोगुत्ती—मनोगुप्ति वयगुत्ती—वचनगुप्ति य—और कायगुत्ती—कायगुप्ति अट्ठमा—आठवीं।

मूलार्थ—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और उच्चारसमिति तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और आठवीं कायगुप्ति है। यही आठ प्रवचन माताएँ हैं।

टीका—इस गाथा में पाँचों समितियों और तीनों गुप्तियों के नाम का निर्देश किया है। इनमें ईर्या—गतिपरिमाण, भाषा—भाषणविधि, एषणा—निर्दोष आहारादि का विधिपूर्वक ग्रहण करना, आदान—वस्त्र पात्र आदि उपकरणों के ग्रहण और निक्षेप में यत्नों से काम लेना और उच्चार—मल मूत्रादि त्याज्य पदार्थों में भी यत्नों से पराङ्मुख न होना, ये पाँचों समितियाँ कहलाती हैं। जैसे कि ईर्यासमिति, भाषासमिति आदि के नाम से ऊपर उल्लेख किया गया है। मनोगुप्ति—मन को वश में रखना, वचनगुप्ति—वाणी पर काबू रखना और कायगुप्ति—शरीर को संयम में रखना, ये तीनों गुप्तियाँ कहलाती हैं। इन्हीं को प्रवचन माता कहते हैं। यहाँ पर गुप्ति शब्द का निर्वचन वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगनिवारणं गुप्तिः' अर्थात् प्रवचन विधि से सन्मार्ग में व्यवस्थापन और उन्मार्ग गमन से निवारण करने का नाम गुप्ति है। यद्यपि गुप्ति का यह लक्षण आंशिक रूप से समिति में भी पाया जाता है तथापि समिति के प्रविचार रूप और गुप्ति के प्रविचार और अविचार उभयरूप होने से इनमें परस्पर भेद है।

अब इनके विषय में फिर कहते हैं—

एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥३॥

एता अष्टौ समितयः, समासेन व्याख्याताः।
द्वादशांगं जिनाख्यातं, मातं यत्र तु प्रवचनम् ॥३॥

पदार्थान्वयः—एयाओ–यह अट्ठ–आठ समिईओ–समितियाँ समासेण–संक्षेप से वियाहिया–वर्णन की गई हैं दुवालसंगं–द्वादशांग जिणक्खायं–जिनकथित पवयणं–प्रवचन उ–निश्चय ही जत्थ–जिसमें मायं–समाविष्ट—अन्तर्भूत है।

मूलार्थ—ये आठ समितियाँ संक्षेप से वर्णन की गई हैं। जिनभाषित द्वादशांग रूप प्रवचन इन्हीं के अन्दर समाया हुआ है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताओं के महत्त्व का वर्णन किया गया है। इसी लिए शास्त्रकार कहते हैं कि इन आठों में

जिनभाषित द्वादशांग रूप समग्र प्रवचन—आगम—समाया हुआ है। तात्पर्य यह है कि ये आठों सारे जिनप्रवचन के मूल स्थान हैं। अथवा यों कहें कि यह सक्षेप से इनका नामनिर्देश मात्र कर दिया है और विशेष रूप से इनका निर्वचन तो समग्र जिनप्रवचन है अर्थात् द्वादशांग रूप समग्र जैनागम इनकी व्याख्या स्वरूप है। यथा—ईर्यासमिति में प्राणातिपातविरमण—अहिंसा—व्रत का समवतार होता है और भाषासमिति में समाये हुए सत्यव्रत में सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायों का समवतरण हो जाता है क्योंकि जब तक समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों के स्वरूप का बोध नहीं होता, तब तक सत्य का यथार्थ भाषण नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य समितियों के विषय में विचार कर लेना चाहिए। ज्ञानदर्शन के अविनाभावी होने से चारित्र भी इनके सहगत ही है। इस प्रकार जब कि इन तीनों का आठ प्रवचन माताओं में समावेश है तो फिर और कौन-सा विषय शेष रह जाता है कि जो इनके अन्तर्भूत न हो सकता हो। इसलिए ये आठों प्रवचन माता के नाम से अभिहित किये गये हैं।

अब अनुक्रम से इनकी व्याख्या करते हुए प्रथम ईर्यासमिति का वर्णन करते हैं। यथा—

आलम्बणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए॥४॥

आलम्बनेन कालेन, मार्गेण यतनया च।
चतुष्कारणपरिशुद्धां, संयत ईर्यां रीयेत॥४॥

पदार्थान्वयः—आलम्बणेण—आलम्बन से कालेण—काल से मग्गेण—मार्ग से य—और जयणाइ—यतना से चउकारण—चार कारण से परिसुद्ध—परिशुद्ध इरियं—ईर्या को संजए—संयत पुरुष रिए—प्राप्त करे।

मूलार्थ—आलम्बन, काल, मार्ग और यतना इन चार कारणों की परिशुद्धि से संयत—साधुगति को प्राप्त करे या गमन करे।

टीका—इस गाथा में ईर्यासमिति के लक्षण और स्वरूप का वर्णन किया गया है। ईर्या नाम गति या गमन का है अर्थात् गमन करते समय आलम्बन,

काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों का अनुसरण करना ईर्या समिति है। तात्पर्य यह है कि इन उक्त कारणों से परिशोधित जो गमन है, वही संयत पुरुष की ईर्या समिति कहलाती है। यदि संक्षेप से कहें तो प्रमादरहित जो गमन है, वह ईर्या समिति है। इसके द्वारा सम्पादित किया गया व्यवहार कार्य का साधक होता है अर्थात् कर्मबन्ध का हेतु नहीं होता।

अब आलम्बनादि कारणों के विषय में कहते हैं—

तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पह वज्जिए ॥५॥

तत्रालम्बनं ज्ञानं, दर्शनं चरणं तथा।
कालश्च दिवस उक्तः, मार्ग उत्पथवर्जितः ॥५॥

पदार्थान्वयः—तत्थ—उक्त चारों में आलम्बण—आलम्बन नाणं—ज्ञान दंसणं—दर्शन तहा—तथा चरणं—चारित्र है य—और काले—काल दिवसे—दिवस वुत्ते—कहा गया है मग्गे—मार्ग उप्पह—उत्पथ से वज्जिए—वर्जित—रहित।

मूलार्थ—ईर्या के उक्त कारणों में से आलम्बन-ज्ञानदर्शन और चारित्र है। काल, दिवस है; और उत्पथ का त्याग, मार्ग है।

टीका—इस गाथा में ईर्या के आलम्बनादि कारणों का वर्णन किया गया है। जैसे कि ज्ञानदर्शन और चारित्र का नाम आलम्बन है। जिसको आश्रित करके गमन किया जाय, वह आलम्बन कहाता है। पदार्थों के यथार्थ बोध का नाम ज्ञान, तत्त्वाभिरुचि दर्शन और सदाचार को चारित्र कहते हैं। इनको आश्रित करके जो गमन किया जाता है, वही सम्यक् गमन या ईर्या समिति है। अतः ये तीनों ईर्या में आलम्बन रूप माने गये हैं। इनके बिना अर्थात् इनकी अपेक्षा न करके जो गमन है, वह निरालम्बन—आलम्बनरहित गमन है जिसकी कि साधु के लिए आज्ञा नहीं। ईर्या की शुद्धि में दूसरा कारण काल है। काल से यहाँ पर दिवस का ग्रहण अभिप्रेत है अर्थात् साधु के लिए गमनागमन का जो समय है, वह दिवस है क्योंकि रात्रि में आलोक का अभाव होने से चक्षुओं की पदार्थों के साक्षात्कार में

गति नहीं हो सकती। इसी लिए रात्रि में बाहर गमन करने की साधु के लिए आज्ञा नहीं है। तात्पर्य यह है कि ईर्या का समय दिन माना गया है। ईर्याशुद्धि में तीसरा कारण मार्ग है, जो कि उत्पथरहित है। तात्पर्य यह है कि उत्पथरहित जो पथ है, उसे मार्ग कहा है और उसी से गमन करना शास्त्रसम्मत अथच युक्ति-युक्त है। क्योंकि उत्पथ में गमन करने से आत्मा और संयम इन दोनों की विराधना सम्भव है। अतः ईर्या का मुख्य मार्ग उत्पथ का त्याग है। इस सारे कथन का सारांश यह है कि संयमशील पुरुष के गमन में उक्त प्रकार से आलम्बन, काल और मार्ग की शुद्धि परम आवश्यक है।

अब यतना के विषय में कहते हैं। यथा—

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥६॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव, कालतो भावतस्तथा।
यतनाश्चतुर्विधा उक्ताः, ता मे कीर्तयतः शृणु ॥६॥

पदार्थान्वयः—दव्वओ—द्रव्य से खेत्तओ—क्षेत्र से च—समुच्चय अर्थ में एव—निश्चय अर्थ में कालओ—काल से तहा—उसी प्रकार भावओ—भाव से जयणा—यतना चउव्विहा—चार प्रकार की वुत्ता—कही गई है तं—उसे कित्तयओ—कहते हुए मे—मुझसे सुण—श्रवण कर।

मूलार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की है। मैं तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो।

टीका—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि यतना के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार भेद हैं अर्थात् इन भेदों से यतना चार प्रकार की कही है। मैं तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो। तात्पर्य यह है कि यतना के इन चार प्रकार के भेदों को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ, तुम सावधान होकर श्रवण करो। कारण यह है कि आलम्बनादि चारों कारणों में से यतना प्रधान कारण है। यदि यतनापूर्वक ईर्या—गति—की जाय तो उसमें किसी प्रकार के भी विघ्न की आशंका नहीं रहती।

इसी लिए प्रस्तुत गाथा में आये हुए—'कित्तयओ—कीर्तयतः' का अर्थ करते हुए वृत्तिकार लिखते हैं—'सम्यक् स्वरूपाभिधानद्वारेण सशब्दयतः शृणु—आकर्णय शिष्य'। अर्थात् हे शिष्य ! मेरे द्वारा किये गये यतना के सम्यग् निर्णय को तू श्रवण कर।

अथ यतना के द्रव्यादि चारों भेदों के पृथक् २ स्वरूप का वर्णन करते हैं—

दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥७॥

द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत, युगमात्रं च क्षेत्रतः।
कालतो यावद्रीयेत, उपयुक्तश्च भावतः ॥७॥

पदार्थान्वयः—दव्वओ-द्रव्य से चक्खुसा-आँखों से पेहे-देखकर चले च-और खेत्तओ-क्षेत्र से जुगमित्तं-चार हाथ प्रमाण देखे कालओ-काल से जाव-जब तक रीइज्जा-चले, तब तक देखे य-और भावओ-भाव से उवउत्ते-उपयोगपूर्वक चले—गमन करे।

मूलार्थ—द्रव्य से—आँखों से देखकर चले। क्षेत्र से—चार हाथ प्रमाण देखे। काल से—जब तक चलता रहे। भाव से—उपयोगपूर्वक गमन करे।

टीका—इस गाथा में यतना के चारों भेदों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। ऊपर बतलाया गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना के चार भेद हैं। यथा—द्रव्ययतना, क्षेत्रयतना, कालयतना और भावयतना। इनमें जीव अजीव आदि द्रव्यों को नेत्रों से देखकर चलना द्रव्ययतना है। चार हाथ प्रमाण भूमि को आगे से देखकर चलना क्षेत्रयतना है। जब तक चले, तब तक देखे, यह कालयतना है। उपयोग से—सावधानतापूर्वक गमन का नाम भावयतना है। इस प्रकार यतना के चार भेद हैं।

अब भावयतना के विषय में कुछ और विशेष कहते हैं—

इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पञ्चहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ॥८॥

इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य, स्वाध्यायं चैव पञ्चधा ।
तन्मूर्त्तिः (सन्) तत्पुरस्कारः, उपयुक्त ईर्यां रीयेत ॥८॥

पदार्थान्वयः—इन्दियत्थे–इन्द्रियों के अर्थों को विवज्जित्ता–वर्ज कर च–और सज्झायं–स्वाध्याय एव–भी पञ्चहा–पाँच प्रकार की तम्मुत्ती–तन्मय होकर तप्पुरक्कारे–उसी को आगे कर उवउत्ते–उपयोगपूर्वक रियं–ईर्या में रिए–गमन करे ।

मूलार्थ—इन्द्रियों के विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का परित्याग करके तन्मय होकर ईर्या को सम्मुख रखता हुआ उपयोगपूर्वक गमन करे ।

टीका—इस गाथा में उपयोगपूर्वक गमन करने के विषय में कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया गया है । यथा—जब चलने का समय हो और चल पड़े तब शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि जो इन्द्रियों के विषय हैं, उनको छोड़कर चले अर्थात् इन विषयों की ओर ध्यान न देवे । मार्ग में चलता हुआ—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, धर्मकथा और अनुप्रेक्षा—इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय का भी परित्याग कर देवे । किन्तु चलते समय तन्मूर्ति—तन्मय होकर—ईर्या समिति रूप होकर और उसी को सम्मुख रखकर उपयोगपूर्वक मार्ग में चले । तात्पर्य यह है कि मन, वचन, और काया की चंचलता का परित्याग करके मार्ग में गमन करना चाहिए । उसमें भी उपयोग का भंग न होना चाहिए, अन्यथा किसी जीव के उपघात हो जाने की सम्भावना रहती है । यहाँ पर 'तन्मूर्ति और पुरस्कार' इन दोनों शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—'तत्र तस्यामेवेर्यायां मूर्तिः—शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्यासौ तन्मूर्तिः, तथा तामेव पुरस्करोति तत्र चोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गी-कुरुत इति पुरस्कारः' ।

इस प्रकार ईर्यासमिति का निरूपण करने के अनन्तर अब भाषासमिति के विषय में कहते हैं । यथा—

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया ।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥९॥

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विगहासु तहेव य ॥९॥

क्रोधे माने च मायायां, लोभे चोपयुक्तता।
हास्ये भये च मौखर्ये, विकथासु तथैव च ॥९॥

पदार्थान्वय—कोहे–क्रोध में माणे–मान में य–और मायाए–माया में य–पुन लोभे–लोभ में हासे–हास्य में भए–भय में मोहरिए–मुखरता में तहेव–उसी प्रकार विकहासु–विकथा में य–पुनः उवउत्तया–उपयुक्तता—उपयोगपना।

मूलार्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा में उपयुक्तता होनी चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भाषासमिति का वर्णन किया गया है। भाषासमिति की रक्षा के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ में तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा में उपयुक्तता होनी चाहिए, अर्थात् भाषण करते समय इन उपर्युक्त दोषों के सम्पर्क का पूरे विवेक से ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि इनके कारण ही असत्य बोला जाता है अर्थात् क्रोधादि के वशीभूत होकर सत्यप्रिय मनुष्य भी असत्य बोलने को तैयार हो जाता है। अतः सत्य की रक्षा के लिए इन क्रोधादि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। मौखर्य—मुखरता का अर्थ है। दूसरे की निन्दा, चुगली आदि करना यह दोष भी सत्य का विघातक है। मुखरताप्रिय जीव अपने सम्भाषण में असत्य का अधिक व्यवहार करते हैं। यहाँ पर 'उपयुक्तता' से यह अभिप्रेत है कि कदाचित् क्रोधादि के कारण संभाषण में असत्य के सम्पर्क की सभावना हो जाय तो विवेकशील आत्मा उस पर अवश्य विचार करे और उससे बचने का प्रयत्न करे। कारण कि असत्य का प्रयोग प्रायः अनुपयुक्त दशा में ही होता है।

इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि—

एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥१०॥

एतान्यष्टौ स्थानानि, परिवर्ज्य संयतः।
असावद्यां मितां काले, भाषां भाषेत प्रज्ञावान् ॥१०॥

पदार्थान्वय —एयाइं–ये अनन्तरोक्त अट्ठ–आठ ठाणाइं–स्थान संजए–संयत परिवज्जित्तु–छोड़कर असावज्जं–असावद्य मियं–परिमित—स्तोकमात्र काले–समय पर भासं–भाषा को पन्नवं–प्रज्ञावान्—बुद्धिमान् भासिज्ज–बोले ।

मूलार्थ—बुद्धिमान् संयत पुरुष उक्त आठ स्थानों को परित्याग कर, यथासमय परिमित और असावद्य भाषा को बोले ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में भाषासमिति के संरक्षण का उपाय और विधि का वर्णन किया गया है । बुद्धिमान् साधु ऊपर बतलाये गये क्रोधादि आठ स्थानों को छोड़कर ही निरवद्य—निर्दोष भाषा का व्यवहार करे । वह भी जब तक भाषण करने की आवश्यकता हो, तब तक करे तथा पूछे हुए प्रश्न का उत्तर भी परिमित अक्षरों में ही देने का प्रयत्न करे । इस कथन का सारांश यह है कि संयमशील बुद्धिमान् साधु बोलते समय क्रोधादि के वशीभूत न होवे तथा अपने भाषण को परिमित और समयानुकूल रक्खे । इस प्रकार भाषा का व्यवहार करने से भाषासमिति का संरक्षण होता है अर्थात् असत्य सम्भाषण की बहुत ही कम सम्भावना रहती है । इसके अतिरिक्त समय पर किया हुआ भाषण कभी निष्फल भी नहीं जाता । इसलिए प्रज्ञाशील साधु को भाषासमिति के संरक्षण का ध्यान रखते हुए हित, मित और निर्दोष भाषा का ही व्यवहार करना चाहिए, यह उक्त गाथा का शास्त्रसम्मत भाव है ।

अब एषणासमिति के विषय में कहते हैं—

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा ।
आहारोवहिसेज्जाए , एए तिन्नि विसोहए ॥११॥

गवेषणायां ग्रहणे च, परिभोगैषणा च या ।
आहारोपधिशय्यासु , एतास्तिस्रोऽपि शोधयेत् ॥११॥

पदार्थान्वयः—गवेसणाए–गवेषणा में य–और गहणे–ग्रहणैषणा में य–तथा परिभोगेसणा–परिभोगैषणा जा–जो आहार–आहार उवहि–उपधि सेज्जाए–शय्या में एए–इन तिन्नि–तीन—स्थानों की विसोहए–विशुद्धि करे ।

मूलार्थ—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा तथा आहार, उपधि

टीका—भाषासमिति के अनन्तर अब सूत्रकार एषणासमिति का वर्णन करते हैं। एषणा का अर्थ है उपयोगपूर्वक विचार करना। उसके गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा ये तीन भेद हैं। गवेषणा—आहार आदि की इच्छा के निमित्त गोचरी—गोचर चर्या में प्रवृत्त होना गवेषणा है। ग्रहणैषणा—विचारपूर्वक निर्दोष आहार का ग्रहण करना ग्रहणैषणा है। परिभोगैषणा—जब आहार करने का समय हो, तब आहारसम्बन्धी निन्दा-स्तुति से रहित होकर आहार करना परिभोगैषणा कहलाती है। इसके अतिरिक्त उपधि और शय्या आदि के विषय में भी इन तीनों एषणाओं की शुद्धि रखनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भिक्षा के अन्वेषण, ग्रहण और भक्षण में एषणासमिति की आवश्यकता है उसी प्रकार उपधि—उपकरण और शय्या—उपाश्रय और तृणसंस्तारकादि के विषय में भी एषणासमिति को व्यवहार में लाना चाहिए। साराश यह है कि निर्दोष आहार, उपधि और शय्या आदि के ग्रहण में साधु को हेयोपादेय आदि सब बातों का पूरा विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि सामान्य रूप से 'एषणा' इच्छा का नाम है तथापि निर्दोष पदार्थों के देखने या ग्रहण करने में शास्त्रविधि के अनुसार विचारपूर्वक जो प्रवृत्ति है, उसी को यहाँ पर एषणा शब्द से व्यवहृत किया गया है। 'आहारोवहिसेज्जाए' इस वाक्य में वचन-व्यत्यय और 'तिन्नि' पद में लिङ्गव्यत्यय है, जो कि प्राकृत के नियम से है।

अब आहारादि की शुद्धि का प्रकार बतलाते हैं। यथा—

उग्गमुप्पायणं पढमे,
बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं,
विसोहेज्ज जयं जई ॥१२॥

उद्गमनोत्पादनदोषान् प्रथमायां,
द्वितीयायां शोधयेदेषणादोषान्।
परिभोगैषणायां चतुष्कं,
विशोधयेद् यतमानो यति ॥१२॥

पदार्थान्वयः—उग्गमुप्पायणं—उद्गम और उत्पादन दोष पढमे—प्रथम एषणा में बीए—दूसरी एषणा में एसणं—एषणा दोषों—शंका आदि दोषों की सोहेज्ज—विशुद्धि करे परिभोयम्मि—परिभोगैषणा में चउक्क—चतुष्क—आहार—वस्त्र पात्र और शय्या की विसोहेज्ज—विशुद्धि करे जयं—यतमान—यतना वाला जई—यति साधु।

मूलार्थ—संयमशील यति प्रथम एषणा में उद्गम और उत्पादन आदि दोषों की शुद्धि करे। दूसरी एषणा में—शंकितादि दोषों की शुद्धि करे। तीसरी एषणा में पिंड—शय्या, वस्त्र और पात्र आदि की शुद्धि करे।

टीका—एषणा समिति के अवान्तर भेदों में किन २ दोषों की शुद्धि—पर्यालोचन करना चाहिए। इस विषय में प्रस्तुत गाथा का अवतार हुआ है। प्रथम एषणा—गवेषणा—में सोलह उद्गमसम्बन्धी और सोलह उत्पादनसम्बन्धी दोष हैं। इनकी शुद्धि करनी चाहिए। दूसरी एषणा—ग्रहणैषणा—में शंकितादि दस दोष हैं, जिनको शुद्ध करना नितान्त आवश्यक है। तीसरी एषणा—परिभोगैषणा—में वस्त्र, पात्र, पिंड और शय्या तथा आहार करते समय निन्दा स्तुति आदि के द्वारा जो पाँच दोष उत्पन्न होते हैं, उनको शुद्ध करना अर्थात् आहारसम्बन्धी निन्दा स्तुति के त्याग द्वारा उनको दूर करना चाहिए। यह एषणासमिति के विषय में संयमशील यति का कर्त्तव्य वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि यत्नशील यति भिक्षासम्बन्धी उक्त ४२ और निन्दास्तुतिजन्य पाँच इस प्रकार ४७ दोषों की शुद्धि करके आहारादि का ग्रहण करे। यह एषणासमिति के स्वरूप का दिग्दर्शन है। इसके अनुसार आहारादि क्रियाओं के अनुष्ठान से हिंसादि दोषों का सम्पर्क नहीं होता। अन्यथा दोषादि के लगने की सभावना रहती है।

अब आदानसमिति के विषय में कहते हैं—

ओहोवहोवग्गहियं, भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो वा, पउंजेज्ज इमं विहिं ॥१३॥

ओघोपधिमौपग्रहिकोपधिं, भाण्डकं द्विविधं मुनिः।
गृह्णन्निक्षिपंश्च, प्रयुञ्जीतेमं विधिम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—ओहोवहो—ओघोपधि उग्गहियं—औपग्रहिकोपधि भण्डगं—भाण्डोपकरण दुविहं—दो प्रकार का मुणी—मुनि गिण्हन्तो—ग्रहण करता हुआ वा—और निक्खिवन्तो—रखता हुआ इम—वक्ष्यमाण विहिं—विधि का पउंजेज्ज—प्रयोग करे ।

मूलार्थ—ओघोपधि और औपग्रहिकोपधि तथा दो प्रकार का उपकरण—इनका ग्रहण और निक्षेप करता हुआ वह साधु वक्ष्यमाण विधि का अनुसरण करे अर्थात् इनका ग्रहण और निक्षेप विधिपूर्वक करे ।

टीका—इस गाथा में आदान निक्षेप रूप चतुर्थ समिति का विवेचन किया है । यथा—आदान का अर्थ ग्रहण और निक्षेप का अर्थ स्थापन करना या रखना है । किसी भी वस्तु के ग्रहण या निक्षेप करने में साधु के लिए शास्त्रोक्त विधि का अनुसरण करना आवश्यक है । अतः प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए यह आज्ञा दी है कि वह अपने उपकरणों के ग्रहण अथवा स्थापन में वक्ष्यमाण विधि का प्रयोग करे अर्थात् आगे कही गई विधि के अनुसार वर्तन करे । साधु के उपकरण को उपधि कहते हैं । वह दो प्रकार की है—एक ओघ अर्थात् औपाधिक, दूसरी औपग्रहिक । इस प्रकार उपधि के औपाधिकोपधि और औपग्रहिकोपधि ये दो भेद हुए । इनमें रजोहरणादि तो औपाधिक उपधि है और दण्डादि को औपग्रहिक उपधि माना है । सारांश यह है कि इन दोनों प्रकार की उपधि का ग्रहण और निक्षेप मुनि को विधिपूर्वक करना चाहिए । अर्थात् विधिपूर्वक ही ग्रहण करे और विधिपूर्वक ही निक्षेप करे । तभी वह आदान-निक्षेपसमिति का यथावत् पालन कर सकता है । इसका कारण यह है कि विधिपूर्वक की गई क्रिया, कर्म की निर्जरा अथवा पुण्य के बन्धन का कारण बनती है अन्यथा निष्फल या अशुभ कर्म के बन्ध का हेतु हो जाती है । इसलिए आदानसमिति में उपधि के ग्रहण और त्याग में विधि का अवश्य अनुसरण करना चाहिए, जिससे कि उक्त समिति का पूर्णरूप से आराधन हो जाय ।

अब विधि का उल्लेख करते हैं । यथा—

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥१४॥

चक्षुषा प्रतिलेख्य, प्रमार्जयेत् यतो यतिः ।
आददीत निक्षिपेद् वा, द्विधाऽपि समितः सदा ॥१४॥

पदार्थान्वयः—चक्खुसा–आँखों से पडिलेहित्ता–देखकर जयं–यतना वाला संयमी जई–यति—साधु पमज्जेज्ज–प्रमार्जन करे आइए–ग्रहण करे वा–अथवा निक्खिवेज्जा–निक्षेपण करे दुहओवि–दोनों प्रकार की उपधि में सया–सदा समिए–समिति वाला होवे ।

मूलार्थ—संयमी साधु आँखों से देखकर दोनों प्रकार की उपधि का प्रमार्जन करे तथा उसके ग्रहण और निक्षेप में सदा समिति वाला होवे ।

टीका—इस गाथा में आदान-निक्षेपसमिति में वर्णन किये गये दो प्रकार के उपकरणों के ग्रहण और निक्षेप की विधि का उल्लेख किया गया है । पूर्व गाथा में साधु की दोनों प्रकार की उपधि—उपकरण—का वर्णन आ चुका है । उनको उठाते या रखते समय प्रथम नेत्रों से अच्छी तरह देख-भालकर फिर रजोहरणा से उनका प्रमार्जन करके संयमवान् साधु उनको ग्रहण करे अथवा भूमि पर रक्खे । यह इनके ग्रहण और निक्षेप की विधि अर्थात् शास्त्रविहित मर्यादा है । इस सारे कथन का अभिप्राय यह है कि साधु अपने किसी भी उपकरण को बिना देखे भाले और बिना प्रमार्जन किये अपने व्यवहार में न लावे तथा उसमें भी उपयोगपूर्वक यतना से काम करे, जिससे कि उपकरणों के आदान-निक्षेप में प्रमादवश किसी प्रकार की विराधना न हो जाय । इसी आशय से प्रस्तुत गाथा में—'समिए—समितः' पद दिया गया है, जिसका अर्थ है समिति का आराधक अर्थात् अनुसरण करने वाला ।

अब पाँचवीं उच्चारसमिति का वर्णन करते हैं । यथा—

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं ।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥१५॥

उच्चारं प्रस्रवणं, खेलं सिंघाणं जल्लकम् ।
आहारमुपधिं देहं, अन्यद्वापि तथाविधम् ॥१५॥

पदार्थान्वय:—उच्चार-पुरीष—मल पासवणं—मूत्र खेल—मुख का मल सिंघाण—नासिका का मल जल्लिय—शरीर का मल आहार—आहार उवहिं—उपधि देह—शरीर च—अथवा अन्नं—अन्य पदार्थ वावि—भी तहाविहं—वैसा—फेंकने योग्य।

मूलार्थ—मल—विष्ठा, मूत्र, मुख का मल, नासिका का मल, शरीर का मल, आहार उपधि शरीर तथा और भी इसी प्रकार के फेंकने योग्य पदार्थ, इन सब को विधि—यतना—से फेंके।

टीका—इस गाथा में पाँचवीं उच्चारसमिति का वर्णन किया गया है। संयमशील साधु के लिए शास्त्र की यह आज्ञा है कि वह मल, मूत्र आदि त्याज्य पदार्थों का भी विधिपूर्वक व्युत्सर्जन करे अर्थात् देख-भालकर और फेंकने योग्य स्थान में उपयोगपूर्वक फेंके, जिससे किसी को घृणा भी उत्पन्न न हो तथा क्षुद्र जीव की विराधना आदि भी न हो। उच्चार नाम मल—विष्ठा का है। मूत्र प्रसिद्ध ही है। खेल नाम मुख से निकलने वाले मल का है। नासिका के मल को सिंघाण कहते हैं। शरीर में पसीना आ जाने से जो मल उत्पन्न होता है, वह जल्लक कहलाता है। इसके अतिरिक्त अशनादि आहार और उपधि त्यागने योग्य जीर्ण वस्त्रादि तथा देह—शरीर अर्थात् कोई साधु किसी निर्जन प्रदेश में वा अज्ञात ग्रामादि स्थान में मृत्यु को प्राप्त हो गया हो। उसके शव को एवं अन्य गोमयादि पदार्थों को यदि व्युत्सर्जन करना हो तो संयमशील साधु विवेकपूर्वक व्युत्सर्जन करे। इस विषय का पूर्ण विवरण देखना हो तो 'निशीथसूत्र' में देखना। वहाँ पर व्युत्सर्जन के स्थानों का भी उल्लेख है।

अब परिष्ठापन—व्युत्सर्जन—विधि के विषय में कहते हैं—

अणावायमसंलोए, अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए, आवाए चेव संलोए॥१६॥

अनापातमसंलोकम्, अनापात चैव भवति संलोकम्।
आपातमसंलोकम्, आपात चैव संलोकम्॥१६॥

पदार्थान्वय:—अणावायम्—आगमन से रहित असंलोए—देखता भी नहीं अणावाए—आगमन से रहित च—पादपूर्ति में एव—अवधारणार्थक में संलोए—संलोकन

करने वाला होइ—होता है आवायम्—आता है असंलोए—देखता नहीं आवाए—आता है च—और संलोए—देखता भी है। एव—पादपूर्ति में है।

मूलार्थ—१ आता भी नहीं और देखता भी नहीं। २ आता नहीं परन्तु देखता है। ३ आता है परन्तु देखता नहीं। ४ आता भी है और देखता भी है।

टीका—जब मल मूत्र आदि का त्याग करना हो, तब १० बोल—अंक देखकर उनका—मल मूत्र आदि का त्याग—व्युत्सर्जन करना चाहिए। उसमें प्रथम चतुर्भंगी की रचना करके दिखलाते हैं। यथा—मलमूत्रादि के परिष्ठापन—व्युत्सर्जन की भूमि, जिसे स्थण्डिल कहते हैं, ऐसी होनी चाहिए कि जिस समय कोई साधु उक्त मलादि पदार्थों को त्यागने के लिए गया हो, उस समय न तो कोई गृहस्थादि आता हो और न कोई दूर खड़ा देखता हो, यह प्रथम भंग है। कोई आता तो नहीं परन्तु दूर खड़ा देखता है, यह दूसरा भग है। आता तो है पर देखता नहीं, यह तीसरा भग है। और आता भी है तथा देखता भी है, यह चौथा भग है। इन चारों में उपादेय तो प्रथम भग ही है। शेष तीन तो केवल दिखलाने के लिए वर्णन कर दिये गये हैं। इस सारे सन्दर्भ का सार इतना ही है कि इन घृणायुक्त पदार्थों को किसी निर्जन प्रदेश में ही विवेकपूर्वक व्युत्सर्जन करना चाहिए, जिससे कि त्यागे हुए ये पदार्थ किसी अन्य आत्मा को घृणा उत्पन्न करने वाले न हो जायँ। उक्त गाथा में आये हुए 'संलोक' शब्द में मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय जानना चाहिए, जिसका अर्थ होता है देखने वाला।

अब मल मूत्रादि के त्याग की भूमि के विषय में कहते हैं—

अणावायमसंलोए, परस्सणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य ॥१७॥

अनापातेऽसंलोके, परस्यानुपघातके।
समेऽशुषिरे चापि, अचिरकालकृते च ॥१७॥

पदार्थान्वयः—अणावायम्—अनापात असंलोए—असंलोक स्थान में परस्स—पर जीवों के अणुवघाइए—अनुपघात में समे—समभूमि में या—अथवा अज्झुसिरे—तृण

पत्रादि से अनाकीर्ण स्थान में य—और अचिरकालकयम्मि—अचिर काल के अचित्त हुए स्थान में अवि—भाग्यत्।

मूलार्थ—अनापात—जहाँ लोग न आते हों। असंलोक—लोग न देखते हों, पर जीवों का उपघात करने वाला न हो। सम अर्थात् विषम न हो और तृणादि से आच्छादित न हो तथा थोड़े काल का अचित्त हुआ हो, ऐसे स्थान में उच्चार आदि त्याज्य पदार्थों को व्युत्सर्जन करे, यह अग्रिम गाथा के साथ अन्वय करके अर्थ करना।

टीका—इस गाथा में मल मूत्रादि के त्याग की विधि में स्थानादि का निर्देश किया गया है। जहाँ पर मल मूत्रादि घृणास्पद वस्तुओं को गेरा जाय, वह स्थान किस प्रकार का होना चाहिए, इसी बात का प्रस्तुत गाथा में वर्णन है। जैसे कि—उस स्थान को स्वपक्ष और विपक्ष के गृहस्थ लोग न तो देखते हों और न वहाँ पर आते हों तथा उस स्थान पर जीवों का उपघात न हो अथवा वहाँ आत्मसंयम और प्रवचन का उपघात न होता हो। वह भूमि सम हो अर्थात् ऊँची नीची न हो, एवं तृणादि से आच्छादित—आकीर्ण और मध्य में पोली भी न हो। तथा अचिरकाल—थोड़े समय की अचित्त हुई हो। इस प्रकार मलादि पदार्थों के त्याग करने की भूमि में उक्त पाँच बातें होनी चाहिएँ। यथा—१ उसको कोई देखता नहीं, २ वहाँ पर आता न हो, ३ वह किसी की उपघातक न हो, सम हो, ४ तृण पत्रादि से आच्छन्न और मध्य में पोली न हो, और ५ थोड़े काल की अचित्त की गई हो। ऐसी भूमि वा स्थान में उक्त मलादि पदार्थों का विवेकपूर्वक त्याग करे। यह शास्त्रीय मर्यादा है, जिसका कि पालन करना साधु के लिए परम आवश्यक है अन्यथा संयम की विराधना और प्रवचन की अवहेलना संभव है, जो कि अनिष्टकारक है।

अब फिर स्थानसम्बन्धी विषय में ही कहते हैं—

विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासन्ने विलवज्जिए।
तसपाणवीयरहिए , उच्चाराईणि वोसिरे ॥१८॥

विस्तीर्णे दूरमवगाढे, नासन्ने बिलवर्जिते ।
त्रसप्राणबीजरहिते , उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ॥१८॥

पदार्थान्वय —विच्छिण्णे–विस्तीर्ण दूरमोगाढे–नीचे दूर तक अचित्त नासन्ने–ग्रामादि के अति समीप न हो बिलवज्जिए–मूषक आदि के बिलों से रहित हो तसपाणबीयरहिए–त्रस प्राणी और बीजरहित हो उच्चाराईणि–उच्चारादि को वोसिरे–व्युत्सर्जन करे ।

मूलार्थ—जो स्थान विस्तृत हो, बहुत नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादि के अति समीप न हो, मूषक आदि के बिलों से रहित हो तथा त्रस प्राणी और बीज आदि से वर्जित हो, ऐसे स्थान में उच्चार आदि का त्याग करे ।

टीका—प्रथम गाथा में स्थण्डिल भूमि के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं । अब शेष पाँच इस गाथा में वर्णन किये हैं । जैसे कि—१ स्थण्डिल की भूमि लम्बाई और चौड़ाई में विस्तार वाली हो, २ बहुत नीचे तक अचित्त हो, ३ ग्रामादि के अति निकट न हो, ४ वहाँ पर मूषक आदि के बिल न हों, ५ द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीव और शालि धान्यादि के बीज भी वहाँ पर न हों । ऐसी भूमि में उच्चारप्रस्रवण—मल मूत्र आदि वस्तुओं का त्याग करे। तात्पर्य यह है कि मल मूत्रादि के त्याग में जिस भूमि का उपयोग किया जाय, उसमें उक्त दस बातें होनी चाहिएँ जिनका इन दोनों गाथाओं में उल्लेख किया गया है । संयमशील साधु को चाहिए कि वह संयम की आराधना और जिनप्रवचन के महत्त्व को लक्ष्य में रखता हुआ उक्त विधि के अनुसार उच्चारसमिति का यथाविधि पालन करे ।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए गुप्तियों के वर्णन का उपक्रम करते हैं । यथा—

एयाओ पञ्च समिईओ, समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ, वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥१९॥

एताः पञ्च समितयः, समासेन व्याख्याताः ।
इतश्च तिस्रो गुप्तीः, प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्या ॥१९॥

पदार्थान्वयः—एयाओ—ये पञ्च—पाँच समिईओ—समितियाँ समासेण—सक्षेप से वियाहिया—वर्णन की हैं इत्तो—इसके अनन्तर य—वितर्क में तओ—तीन गुत्तीओ—गुप्तियाँ अणुपुव्वसो—अनुक्रम से वोच्छामि—कहूँगा।

मूलार्थ—ये पाँच समितियाँ संक्षेप से वर्णन की गई हैं। इसके अनन्तर तीनों गुप्तियों का स्वरूप अनुक्रम से वर्णन करता हूँ।

टीका—शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार सक्षेप से पाँच समितियों का वर्णन कर दिया गया। अब इसके पश्चात् तीनों गुप्तियों के स्वरूप का मैं वर्णन करता हूँ। तुम सावधान होकर श्रवण करो, यह इस गाथा का संक्षिप्त भावार्थ है। इसके अतिरिक्त 'अणुपुव्वसो' यह आर्ष वचन होने के कारण 'आनुपूर्व्या, आनुपूर्वीतः' इनका प्रतिवचन समझना चाहिए। तथा 'समासेण' का अभिप्राय यह है कि जब सारा जिनप्रवचन इनमें प्रविष्ट है—गर्भित है, तब इनका जितना भी विस्तार किया जाय उतना कम है।

अब पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार गुप्तियों के निरूपण—प्रस्ताव में प्रथम मनोगुप्ति के विषय में कहते हैं—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्तिओ चउव्विहा ॥२०॥

सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा च, मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२०॥

पदार्थान्वयः—सच्चा—सत्या तहेव—उसी प्रकार मोसा—मृषा य—पुनः सच्चमोसा—सत्यामृषा तहेव—उसी प्रकार चउत्थी—चौथी असच्चमोसा—असत्यामृषा य—पादपूर्ति में मणगुत्तिओ—मनोगुप्ति चउव्विहा—चतुर्विध है।

मूलार्थ—सत्या, असत्या, उसी प्रकार सत्यामृषा और चतुर्थी असत्यामृषा ऐसे चार प्रकार की मनोगुप्ति कही है।

टीका—समितियों के अनन्तर अब शास्त्रकार गुप्तियों का वर्णन करते हैं। उनमें भी प्रधान होने से प्रथम मनोगुप्ति का वर्णन करते हैं। मन के निरोध को मनोगुप्ति कहते हैं। उसके चार भेद हैं। यथा—सत्या, असत्या, सत्यामृषा और

असत्यामृषा । जो पदार्थ जगत् में सत् रूप से विद्यमान हैं, उनका मनोयोग से चिन्तन करना सत्यमनोयोग कहलाता है । इसके निरोध को अर्थात् इन सत्य पदार्थों के चिन्तन न करने को सत्यामनोगुप्ति कहते हैं । इसी प्रकार सत्य पदार्थों को विपरीत भाव से चिन्तन करने का नाम असत्यमृषा मनोयोग है और उक्त योग के निरोध को असत्यामृषा मनोगुप्ति कहते हैं। सत्य और असत्य उभयात्मक विचार को मिश्रमनोयोग कहा है । इसके निरोध का नाम ही सत्यमृषा मनोगुप्ति है । मिश्र मनोयोग, जैसे कि बिना प्रतीति के यह चिन्तन करना कि आज इस नगर में दस पुरुषों की मृत्यु हो गई है । चौथी व्यवहार मनोगुप्ति है, जो कि असत्यमृषा मनोयोग के निरोध स्वरूप असत्यमृषा मनोगुप्ति के नाम से कही जाती है । असत्यमृषा मनोयोग वह है, जो कि सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं है । जैसे यह चिन्तन करना कि—भो देवदत्त ! घटमानय । अमुकवस्तु मह्य दीयतामित्यादि । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का चिन्तन करना व्यवहारात्मक मनोयोग कहलाता है । सो इस व्यवहार मनोयोग के निरोध का नाम व्यवहारमनोगुप्ति है । यहाँ पर यह शका हो सकती है कि पदार्थों के सद्भाव को मन से चिन्तन करने का नाम मनोयोग है । सो यदि मनोगुप्ति के द्वारा उस मनोयोग का निरोध कर दिया जाय तो फिर पदार्थों का बोध कैसे होगा ? क्योंकि मानसिक चिन्तन का यहाँ पर अभाव है ? इसका समाधान यह है कि मनोयोग का निरोध करके पदार्थों के सद्भाव का यथार्थ बोध श्रुतादि ज्ञान के द्वारा भली प्रकार से हो सकता है । कारण कि योग और है तथा उपयोग और है । योग का सम्बन्ध मन से है और उपयोग का आत्मा से है । अत जब योगों का भली भाँति निरोध किया जाय, तब पदार्थों का ठीक सद्बोध उपयोगों के द्वारा होने लगता है । उनका विशद रूप से भान होने लगता है । इसका कारण यह है कि परमाणुओं का समूह रूप एक मनोवर्गणा है, जो कि रूपी द्रव्य है और वह रूपी द्रव्यों के जानने में ही एकमात्र कारणभूत होती है परन्तु आत्मा और उसका ज्ञान दोनों अरूपी हैं । अतः वे विशद रूप से रूपी और अरूपी दोनों प्रकार के पदार्थों को जानने और देखने में कारणभूत बनते हैं ।

इस प्रकार मनोगुप्ति के चारों भेदों का निरूपण करके अब मन के निरोध के सम्बन्ध में कहते हैं । यथा—

संरम्भसमारम्भे , आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२१॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च ।
मनः प्रवर्तमान तु, निवर्त्तयेद्यतं यतिः ॥२१॥

पदार्थान्वयः—संरम्भ–संरंभ समारम्भे–समारम्भ तहेव–उसी प्रकार आरम्भे–आरम्भ में य–फिर पवत्तमाणं–प्रवृत्त हुए मणं–मन को जयं–यतना वाला जई–यति नियत्तेज्ज–निवृत्त करे—रोके ।

मूलार्थ—संयमशील मुनि संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन को निवृत्त करे—उसकी प्रवृत्ति को रोके ।

टीका—इस गाथा में मन के संकल्पों का दिग्दर्शन कराते हुए उसको वहाँ से रोकने का आदेश किया गया है । यथा, संरम्भ—मैं इसको मार दूँ, ऐसा मन में विचार करना संरम्भ कहाता है । समारम्भ—किसी को पीड़ा देने के लिए मन में संकल्प करना तथा किसी का उच्चाटनादि के लिए ध्यान करना समारम्भ है । आरम्भ—जो अत्यन्त क्लेश से पर जीवों के प्राण हरण करने के लिए अशुभ ध्यान का अवलंबन है, उसे आरम्भ कहते हैं । सो इस प्रकार के अनिष्टजनक मानसिक संकल्पों से संयमशील यति को सदा पृथक् रहना चाहिए अर्थात् मन में स्थान नहीं देना चाहिए । किन्तु जो शुभ संकल्प हैं, उनकी ओर मन को प्रवृत्त करना चाहिए, जिससे अन्य जीवों का उपकार और स्वात्मा का उद्धार हो जाय । इस कथन से व्यवहार मनोगुप्ति का लक्षण दिखलाया गया है । जैसे कि वृत्तिकार लिखते हैं—'असत्यामृषा उभयस्वभावविकल्पमनोदलिकव्यापाररूपमनोयोगगोचरा मनोगुप्तिः' अर्थात् जो दोनों प्रकार—सत्यासत्य के भावों से विकल होकर मनोयोग की प्रवृत्ति होती है, उसे असत्यामृषा मनोगुप्ति कहते हैं जिस समय मनोगुप्ति के करने का समय प्राप्त नहीं हुआ, उस समय मन के समवधारण द्वारा शुभ संकल्पों से मनोयोग के व्यापार का प्रयोग करे ।

अब वाग्गुप्ति के विषय में कहते हैं—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥२२॥

सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु, वचोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥२२॥

पदार्थान्वय—सच्चा—सत्या तहेव—उसी प्रकार मोसा—मृषा य—पुनः सच्चमोसा—सत्यामृषा तहेव—उसी प्रकार य—फिर चउत्थी—चतुर्थी असच्चमोसा—असत्या मृषा वयगुत्ती—वचनगुप्ति चउव्विहा—चार प्रकार की है।

मूलार्थ—सत्यवाग्गुप्ति, मृषावाग्गुप्ति, तद्वत् सत्यामृषावाग्गुप्ति और चौथी असत्यामृषावाग्गुप्ति इस प्रकार वचनगुप्ति चार प्रकार से कही गई है।

टीका—इस गाथा में वचनगुप्ति के चार प्रकार बतलाये गये हैं। जीव को जीव ही कथन करना सत्य वचनयोग है। जीव को अजीव कहना असत्य वचन योग है। बिना निर्णय किये ऐसा कथन कर देना कि आज इस नगर में सौ बालकों का जन्म हुआ है, इसको मिश्र वाग्योग कहते हैं और असत्या मृषा वाग्योग उसका नाम है जिसमें ऐसा कहा जाय कि स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप कर्म नहीं है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के वाग्योग को असत्यामृषा वाग्योग कहते हैं। इन चारों प्रकार के वचनयोगों के निरोध का नाम वचनगुप्ति है। यहाँ पर इतना स्मरण रखना कि मनोगुप्ति के पश्चात् वाग्गुप्ति होती है क्योंकि प्रथम जो विचार मन में उत्पन्न होता है, उसी का वाणी के द्वारा प्रकाश किया जाता है तथा ये दोनों ही कर्म निर्जरा के हेतुभूत हैं।

अब वचनगुप्ति के विषय का वर्णन करते हैं—

संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२३॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे च तथैव च।
वचः प्रवर्तमान तु, निवर्तयेद्यतं यतिः ॥२३॥

पदार्थान्वयः—सरम्भ–सरम्भ समारम्भे–समारम्भ य–और तहेव–उसी प्रकार आरम्भे–आरम्भ में य–पुनः पवत्तमाणं–प्रवृत्त हुए वयं–वचन को तु–निश्चय जयं–यतना वाला जई–यति नियत्तेज्ज–निवृत्त करे।

मूलार्थ—सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए वचन को सयमशील साधु निवृत्त करे।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वचनगुप्ति के विषय का वर्णन है। सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुई वाणी को रोकना वचनगुप्ति है। परजीवों के विनाशार्थ क्षुद्र मन्त्रादि के परावर्तन रूप सकल्पों के द्वारा उत्पन्न हुई जो सूक्ष्म ध्वनि है, वह सकल्प रूप शब्द का वाच्य है। उसी को वचनसरम्भ कहते हैं। परपरिताप करने वाले मन्त्रादि का जो परावर्तन है, वह समारम्भ है। किसी के लिए हानिकारक वचनों का प्रयोग करना और आक्रोशयुक्त शब्दों का व्यवहार भी समारम्भ के अन्तर्गत है। और तथाविध सक्लेश के द्वारा अन्य प्राणियों के प्राण व्यपरोपण करने के लिए जो मन्त्रादि का जप करना है, उसे आरम्भ कहते हैं। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से वचन के योग को हटाकर वचनगुप्ति का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए, इत्यादि।

अब कायगुप्ति के विषय में कहते हैं—

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे, इन्दियाण य जुंजणे ॥२४॥

स्थाने निषीदने चैव, तथैव च त्वग्वर्तने।
उल्लघने प्रलघने, इन्द्रियाणां च योजने ॥२४॥

पदार्थान्वयः—ठाणे–स्थान में निसीयणे–बैठने में च–समुच्चय में एव–पादपूर्ति में तहेव–उसी प्रकार तुयट्टणे–शयन करने में उल्लघण–उल्लघन य–और पल्लघणे–प्रलघन में य–तथा इदियाण–इन्द्रियों को जुजणे–जोड़ने में।

मूलार्थ—स्थान में, बैठने में तथा शयन करने में, लघन और प्रलघन में एव इन्द्रियों को शब्दादि विषयों के साथ जोड़ने में यतना रखनी—विवेक रखना—चाहिए।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तीसरी कायगुप्ति के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। यथा—ऊँचे स्थानों में बैठने में त्वग्वर्तन अर्थात् शयन करने में, ऐसे ही ऊर्ध्वभूमि आदि के उल्लंघन में अथवा गर्त्त आदि के उल्लंघन में और सामान्य रूप से गमन करने में तथा इन्द्रियों को शब्दादि विषयों के साथ जोड़ने आदि बातों में काया का जो व्यापार है, उसको संयम में रखना। तात्पर्य यह है कि इन उक्त क्रियाओं में होने वाले काया योग के निरोध को कायगुप्ति कहते हैं। कायगुप्ति में शरीर का व्यापार बहुत कम होता है और वह भी विवेकपूर्वक ही होता है। कायगुप्ति के समय आत्मा प्रायः पद्मासनादि आसनों में ही स्थित पाया जाता है। अतः कर्मनिर्जरा के लिए मन और वचन के साथ काया के निरोध की भी पूर्ण आवश्यकता है।

अब कायगुप्ति के विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

संरम्भसमारम्भे , आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥२५॥

संरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
कायं प्रवर्तमानं तु, निवर्तयेद्यतं यतिः ॥२५॥

पदार्थान्वयः—संरम्भे—संरम्भ में समारम्भे—समारम्भ में य—और आरम्भे—आरम्भ में पवत्तमाणं—प्रवर्तमान कायं—काया को नियत्तेज्ज—निवृत्त करे जयं—संयमशील जई—यति।

मूलार्थ—प्रयत्नशील यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुई काया—शरीर—को निवृत्त करे अर्थात् आरम्भ समारम्भ आदि में प्रवृत्त न होने दे।

टीका—जैसे पूर्व की गाथाओं में मन और वचन के आरम्भ संरम्भ आदि तीन भेद बतलाये गये हैं, ठीक इसी प्रकार काया के तीन भेद हैं। यथा—यष्टि और मुष्टि आदि से मारने का संकल्प उत्पन्न करके स्वाभाविक रूप से जिसमें काय का संचालन किया जाय, उसे संरम्भ कहते हैं। दूसरे को परिताप देने के लिए

जो मुष्टि आदि का अभिघात किया जाय, उसको समारम्भ कहते हैं। एवं यदि सकल्पों के अनुसार पर जीवों का नाश ही कर दिया जाय तो उसका नाम आरम्भ है। अतः संयमशील मुनि उक्त आरम्भादि से अपने आत्मा को सर्वथा निवृत्त करने का प्रयत्न करे, जिससे कि काय का योग स्थिर होकर वह कायगुप्ति के रूप में परिवर्तित हो जाय, जिसे कि काययोग का निरोध कहते हैं। यदि काया का निरोध—कायगुप्ति न हो सके तो कायसमवधारण तो अवश्य करना चाहिए। काया को अशुभ व्यापारों से निवृत्त करना और शुभ योगों में प्रवृत्त करना कायसमवधारण कहलाता है।

अब शास्त्रकार समिति और गुप्ति के परस्पर भेद का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२६॥
एताः पञ्च समितयः, चरणस्य च प्रवर्तने।
गुप्तयो निवर्तने उक्ता, अशुभार्थेभ्यः सर्वेभ्यः ॥२६॥

पदार्थान्वयः—एयाओ—ये पञ्च—पाँच समिईओ—समितियाँ चरणस्स—चारित्र की पवत्तणे—प्रवृत्ति के लिए य—और गुत्ती—गुप्तियाँ सव्वसो—सर्व असुभत्थेसु—अशुभ अर्थों से य—शुभ अर्थों से नियत्तणे—निवृत्ति के लिए वुत्ता—कही हैं।

मूलार्थ—ये पाँचों समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए कही गई हैं और तीनों गुप्तियाँ शुभ और अशुभ सर्व प्रकार के अर्थों से निवृत्ति के लिए कथन की गई हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रयोजन विशेष को लेकर समिति और गुप्ति का परस्पर भेद बतलाया गया है। समिति प्रवृत्ति रूप अर्थात् चारित्र में शुद्धि की विधायक हैं और गुप्तियाँ मन, वचन, काया के योगों की निरोधक होने से निवृत्ति रूप हैं। जैसे कि—पाँचों समितियों का विधान, चारित्र की शुद्धि के लिए किया गया है। क्योंकि जब समितिपूर्वक गमनागमनादि क्रियाओं में प्रवृत्ति होगी, तब ही चारित्र की शुद्धि अर्थात् निर्मलता होगी। इसलिए चारित्रसंशोधनार्थ ही पाँचों प्रकार की समितियों का प्रतिपादन किया गया है। गुप्तियों का कथन शुभ

या अशुभ अर्थों से निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काया के शुभ अथवा अशुभ योगों के निरोधार्थ ही शास्त्रकार ने तीनों गुप्तियों का विधान किया है। जैसे कि, जब गुप्ति होती, तब योग निर्व्यापार हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि समिति का प्रयोजन चारित्र में प्रवृत्ति कराना और गुप्ति का प्रयोजन योगों का निरोध करना है। जैसे कि गन्धहस्ति भाष्य में कहा है—'सम्यगागमानुसारेणा-रक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापारः, कायव्यापारः वाग्व्यापारश्च निर्व्यापारता वा वाक्काययोर्गुप्तिः' अर्थात् आगमानुसार जो राग-द्वेषरहित परिणामों का मन के साथ सहचार है, उसकी निवृत्ति करना। उसे ही गुप्ति कहते हैं। इसी प्रकार वाक् और काय के विषय में जान लेना चाहिए। सारांश यह है कि—योगों का निर्व्यापार होना ही गुप्ति है। इस गाथा के चतुर्थ चरण में 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है अर्थात् पचमी के स्थान—अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है। 'अपि' शब्द चरणपूर्त्ति का वाचक है। 'च' शब्द इसलिए दिया है कि उपलक्षण से अशुभ के साथ शुभ अर्थों का भी समुच्चय—ग्रहण हो सके। अर्थशब्द, यहाँ पर शुभाशुभ परमाणुओं का वाचक ही जानना चाहिए।

अब प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए उसकी फलश्रुति का भी दिग्दर्शन कराते हैं। यथा—

एयाओ पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥२७॥

त्ति बेमि।

इति समिईओ चउवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२४॥

एताः प्रवचनमातृः, यः सम्यगाचरेन्मुनिः।
स क्षिप्रं सर्वसंसारात्, विप्रमुच्यते पण्डितः ॥२७॥

इति ब्रवीमि।

इति समितयश्चतुर्विंशमध्ययन समाप्तम् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—एआओ–ये पवयणमाया–प्रवचन माता जे–जो सम्मं–भली प्रकार से मुणी–साधु आयरे–आचरण करे सो–वह सव्व–सर्व संसारा–संसार से पण्डिए–पण्डित खिप्पं–शीघ्र विप्पमुच्चइ–छूट जाता है त्ति बेमि–ऐसा मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जो मुनि इन प्रवचन माताओं का सम्यक् भाव से आचरण करता है, वह पण्डित सर्व संसारचक्र से शीघ्र ही छूट जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताओं की सेवा—सम्यक् रूप से पालन करने—का फल बतलाया गया है। शास्त्रकार कहते हैं कि जो तत्त्ववेत्ता मुनि उपरोक्त प्रवचन माताओं का सम्यक् प्रकार से आचरण करे, वह मुनि बहुत शीघ्र नरक, तिर्यग्, मनुष्य और देवता इन चारों गति रूप संसारचक्र से सर्वथा मुक्त हो जाता है। जो तीनों काल के भावों को सम्यक् प्रकार से जानता हो, उसे ही मुनि कहते हैं और वही प्रवचन माता के पालने में समर्थ हो सकता है, साधारण व्यक्ति नहीं। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत गाथा में मुनि और पण्डित शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए प्रत्येक भव्य आत्मा को योग्य है कि वह मोक्षगमन के लिए प्रवचन माताओं की सम्यक् प्रकार से सेवा करे अर्थात् विशुद्ध भावों से इनका आचरण करके मुक्ति को प्राप्त करे। 'त्ति बेमि' की व्याख्या प्रथम की भाँति ही जान लेनी।

चतुर्विंशाध्ययन समाप्त।

अह जन्नइज्जं पञ्चवीसइमं अज्झयणं

अथ यज्ञीयं पञ्चविंशतितममध्ययनम्

चौबीसवें अध्ययन में प्रवचन माता का स्वरूप वर्णन किया गया है परन्तु प्रवचन माता का पालन वही कर सकता है जो कि ब्रह्म के गुणों में स्थित हो। इसलिए इस पचीसवें अध्ययन में जयघोष मुनि के चरितवर्णन से ब्रह्म के गुणों का वर्णन करते हैं तथा यज्ञ और ब्रह्म के गुणों का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम भी—यज्ञीय अध्ययन है। जयघोष ब्राह्मण का पूर्व चरित संक्षेप से इस प्रकार है। यथा—

वाराणसी नगरी में दो ब्राह्मण बसते थे। वे दोनों सहोदर भाई तथा परस्पर अत्यन्त प्रेम रखने वाले थे। किसी समय जयघोष स्नान करने के लिए गंगा के तट पर गया। जब वह स्नान करके अपना नित्यकर्म करने में प्रवृत्त हुआ, तब उसने देखा कि एक भयंकर साँप ने निकलकर एक मंडूक को पकड़ लिया और बलात्कार से उसे खाने लगा। मेंढक बेचारा 'चीं चीं' शब्द कर रहा था। उसी समय एक वन का रहने वाला बिल्ला (बिडाल) वहाँ पर आ निकला। उसने सर्प पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। जब वह बिडाल उस सर्प को मार कर खाने लगा, तब जयघोष को इस दृश्य से बड़ा आश्चर्य हुआ और इस घटना पर विचार करते २ उसको वैराग्य उत्पन्न हो गया। वैराग्य की धुन में वह कहने लगा कि अहो ! संसार की कैसी विचित्र दशा है। इसकी क्षणभंगुरता कितनी विस्मयोत्पादक है। अभी यह सर्प मेंढक को खाने आया था और अब यह स्वयं एक बिडाल का

भक्ष्य बन रहा है। सत्य है! जो इस संसार में बलवान् है, वह निर्बल का घातक बन रहा है। इसी प्रकार काल सब से बलवान् है। वह सर्व जीवों को परलोक में पहुँचा देता है। अतः वास्तव में देखा जाय तो इस विश्व में धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है कि जो सर्व जीवों का रक्षक और कुशलदाता है एवं संसार के अनेकविध कष्टों से बचाकर मोक्ष-मंदिर में पहुँचा देता है। अतः मुझे भी इस धर्म की ही शरण में जाकर सर्व दुःखों से निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए। मन में इस प्रकार के भाव उत्पन्न होने के अनन्तर जयघोष वहाँ से उठा और एक परम पवित्र श्रमण के पास आकर जैनधर्म में दीक्षित हो गया अर्थात् उसने सर्वविरति मार्ग को अंगीकार कर लिया। तदनन्तर वे जयघोष मुनि साधुवृत्ति का सम्यक् पालन करते हुए अर्थात् तप, स्वाध्याय और संयम आदि के सम्यक् अनुष्ठान से आत्मा की शुद्धि करते हुए धर्मोपदेश के निमित्त ग्रामानुग्राम विचरने लगे। इसके आगे का चरित सूत्रकार स्वयं वर्णन करते हैं। यथा—

माहणकुलसंभूओ , आसि विप्पो महायसो।
जायाई जमजन्नम्मि, जयघोसि त्ति नामओ ॥१॥

ब्राह्मणकुलसंभूतः , आसीद् विप्रो महायशाः।
यायाजी यमयज्ञे, जयघोष इति नामतः ॥१॥

पदार्थान्वयः—माहणकुल—ब्राह्मणकुल में संभूओ—उत्पन्न हुआ आसि—था विप्पो—विप्र महायसो—महान् यश वाला जायाई—आवश्यक रूप यज्ञ करने वाला जमजन्नम्मि—यमरूप यज्ञ में—अनुरक्त जयघोसि—जयघोष त्ति—इस नामओ—नाम से प्रसिद्ध।

मूलार्थ—ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने वाला जयघोष नाम से प्रसिद्ध एक महान् यशस्वी विप्र हुआ, जो कि यमरूप—यज्ञ में अनुरक्त अतएव भावरूप से यजन करने के स्वभाव वाला था।

टीका—इस गाथा में जयघोष का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यथा—वह ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ था और भावयज्ञ के अनुष्ठान में रत था अर्थात्

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का यथाविधि पालन करने वाला था। इस कथन से द्रव्ययज्ञ की निकृष्टता अथच निषेध सूचन किया गया है। यज्ञ के दो भेद हैं— एक द्रव्ययज्ञ, दूसरा भावयज्ञ। इनमें द्रव्ययज्ञ श्रौत, स्मार्त भेद से दो प्रकार का है। श्रौतयज्ञ के वाजपेय और अग्निष्टोमादि अनेक भेद हैं। स्मार्त यज्ञ भी कई प्रकार के हैं। इन द्रव्ययज्ञों में जो श्रौत यज्ञ हैं, उनमें तो पशुहिंसा अवश्य करनी पड़ती है और जो स्मार्त यज्ञ हैं, वे पशु आदि त्रस जीवों की हिंसा से तो रहित हैं परन्तु स्थावर जीवों की हिंसा उनमें भी पर्याप्त रूप से होती है। और जो भाव यज्ञ है, उसमें किसी प्रकार की हिंसा की सम्भावना तक भी नहीं है। उसी को यम यज्ञ कहते हैं। मुनि जयघोष पूर्वाश्रम में ब्राह्मण होते हुए भी सर्वविरति रूप साधु धर्म में दीक्षित हो चुके थे। इसलिए वे सर्व प्रकार के द्रव्ययज्ञों के त्यागी और भाव यज्ञ के अनुरागी थे। इसके अतिरिक्त जयघोष नाम से इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि पूर्वाश्रम में उसकी हिंसात्मक द्रव्ययज्ञों के अनुष्ठान में अधिक प्रवृत्ति रही होगी। कारण कि यजनशील होने से जयघोष इस नाम के निष्पन्न होने की कल्पना सर्वथा निराधार तो प्रतीत नहीं होती किन्तु उस समय की बढ़ी हुई याज्ञिक प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते हुए उक्त कल्पना कुछ विश्वास योग्य ही प्रतीत होती है।

अब उसके व्यक्तित्व का और पर्यटन करते हुए फिर से वाराणसी नगरी में पधारने का उल्लेख करते हैं। यथा—

इन्दियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी।
गामाणुगामं रीयंते, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥२॥

इन्द्रियग्रामनिग्राही, मार्गगामी महामुनिः।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः, प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ॥२॥

पदार्थान्वयः—इन्दियग्गाम—इन्द्रियों के समूह का निग्गाही—निग्रह करने वाला मग्गगामी—मुक्तिपथ में गमन करने वाला महामुणी—महामुनि गामाणुगामं—ग्रामानुग्राम रीयंते—फिरता हुआ वाणारसिं—वाराणसी पुरिं—पुरी को पत्तो—प्राप्त हुआ।

मूलार्थ—इन्द्रियसमूह का निग्रह करने वाला, मोक्षपथ का अनुगामी वह महामुनि ग्रामानुग्राम विचरता हुआ वाराणसी नाम की नगरी को प्राप्त हुआ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में मुनि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में और उसके वाराणसी में पधारने का उल्लेख किया गया है । मुनि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यथा—वह इन्द्रियसमूह का निग्रह करने वाला अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला और मन्मार्ग—मोक्षमार्ग पर चलने वाला अर्थात् पूर्ण संयमी और धर्मात्मा था तथा ग्रामानुग्राम विचरता हुआ अर्थात् अपने सदुपदेश से संसारी जीवों को धर्म का लाभ पहुँचाता हुआ वाराणसी नगरी में आया । अपने २ विषयों की ओर जाती हुई चक्षुरादि इन्द्रियों को रोकना इन्द्रियनिग्रह है ।

वाराणसी नगरी में पधारने के पश्चात् जयघोष मुनि जिस स्थान में ठहरे, अब उसका उल्लेख करते हैं—

वाणारसीए बहिया, उज्जाणम्मि मणोरमे ।
फासुए सेज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥३॥

वाराणस्यां बहिः, उद्याने मनोरमे ।
प्रासुके शय्यासंस्तारे, तत्र वासमुपागतः ॥३॥

पदार्थान्वयः—वाणारसीए—वाराणसी के बहिया—बाहर मणोरमे—रमणीय उज्जाणम्मि—उद्यान में फासुए—प्रासुक—निर्दोष सेज्जसंथारे—शय्या और संस्तारक पर तत्थ—उस वन में वासम्—निवास को उवागए—प्राप्त किया ।

मूलार्थ—वे मुनि वाराणसी के बाहर मनोरम नामा उद्यान में प्रासुक—निर्दोष—शय्या और संस्तारक पर विराजमान होते हुए वहाँ रहने लगे ।

टीका—इस गाथा में मुनि के निवास योग्य भूमि का उल्लेख किया गया है । जैसे कि—वह जयघोष मुनि वाराणसी नगरी के समीपवर्ती एक मनोरम नाम उद्यान में आकर ठहर गये । वहाँ पर प्रासुक भूमि और तृणादि को देखकर तथा उनके स्वामी की आज्ञा को लेकर उस पर विराजमान हो गये । प्रासुक शब्द का अर्थ है निर्जीव—प्राणरहित—अचित्त अर्थात् साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष । 'प्रगता असवः प्राणा येषु ते प्रासुकाः' ।

जयघोष मुनि के इस प्रकार नगरी के बाहर शुद्ध और निर्दोष भूमि पर विराजमान हो जाने के पश्चात् जो वृत्तान्त हुआ, अब उसका उल्लेख करते हैं—

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे ।
विजयघोसि त्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥४॥

अथ तस्मिन्नेव काले, पुर्यां तत्र ब्राह्मणः ।
विजयघोष इति नाम्ना, यज्ञं यजति वेदवित् ॥४॥

पदार्थान्वयः—अह–अथ तेणेव–उसी कालेणं–काल में तत्थ–उस पुरीए–नगरी में माहणे–ब्राह्मण विजयघोसि–विजयघोष त्ति–इस नामेणं–नाम से प्रसिद्ध जन्नं–यज्ञ का जयइ–यजन करता था वेयवी–वेदवित्—वेदों का ज्ञाता ।

मूलार्थ—उस समय उसी नगरी में वेदों का ज्ञाता विजयघोष इस नाम से विख्यात एक ब्राह्मण यज्ञ करता था ।

टीका—जिस समय जयघोष मुनि नगरी के समीपवर्ती मनोरम उद्यान में विराजमान थे, उस समय उस नगरी में विजयघोष इस नाम से विख्यात और वेदों के ज्ञाता उनके छोटे भ्राता ने एक यज्ञ का आरम्भ कर रक्खा था अर्थात् यज्ञ कर रहा था । [गंगातट पर नित्यकर्म करते हुए जयघोष को सर्प-मूषक वाली घटना देखकर वैराग्य उत्पन्न होना और जंगल में जाकर उनका एक मुनि के पास धर्म में दीक्षित होना आदि किसी भी घटना का विजयघोष को ज्ञान नहीं । भ्राता के गंगा जी से लौटकर न आने और इधर-उधर ढूँढने पर भी न मिलने से विजयघोष ने यही निश्चय कर लिया कि मेरे भ्राता गंगा में बह गये और मृत्यु को प्राप्त हो गये । इस निश्चय के अनुसार विजयघोष ने अपने भाई का शास्त्रविधि के अनुसार सारा और्ध्वदैहिक क्रियाकर्म किया । अब जयघोष को मरे अथवा गये को अनुमानतः चार वर्ष हो गये, तब विजयघोष ने अपने भाई का चातुर्वार्षिक श्राद्ध करना आरम्भ किया । यही उसका यज्ञानुष्ठान था, ऐसी वृद्धपरम्परा चली आती है ।] कुछ भी हो, विजयघोष का यज्ञ करना तो प्रमाणित ही है । फिर वह चाहे भ्राता के निमित्त हो अथवा और किसी उद्देश्य से हो । यज्ञ से यहाँ पर द्रव्ययज्ञ का ही ग्रहण है, भावयज्ञ का नहीं । इसके अतिरिक्त यहाँ पर सप्तमी के स्थान में तृतीया का प्रयोग 'सुप्' के व्यत्यय से जानना । 'अथ' शब्द उपन्यासार्थक है ।

तदनन्तर क्या हुआ ? अब इसके विषय में कहते हैं—

अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे ।
विजयघोसस्स जन्नम्मि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥५॥

अथ स तत्रानगारः, मासक्षमणपारणायाम् ।
विजयघोषस्य यज्ञे, भिक्षार्थमुपस्थितः ॥५॥

पदार्थान्वयः—अह—अथ से—वह अणगारे—साधु तत्थ—वहाँ मासक्खमण—मासोपवास की पारणे—पारणा के लिए विजयघोसस्स—विजयघोष के जन्नम्मि—यज्ञ में भिक्खमट्ठा—भिक्षा के लिए उवट्ठिए—उपस्थित हुआ ।

मूलार्थ—उस समय वह अनगार मासोपवास की पारणा के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षार्थ उपस्थित हुआ ।

टीका—जिस समय विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था, उस समय जयघोष मुनि मासोपवास की तपश्चर्या में लगा हुआ था । अब उसके मासोपवास की पारणा का दिन आया, तब वह जयघोष मुनि आवश्यक नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर भिक्षा के लिए उस नगरी में भ्रमण करता हुआ, जहाँ पर विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था, वहाँ पर उपस्थित हुआ । तात्पर्य यह है कि साधु की वृत्ति निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने की है । सो वह अपनी साधुवृत्ति के अनुसार पर्यटन करता हुआ विजयघोष की यज्ञशाला में पहुँच गया । 'भिक्खमट्ठा' इस वाक्य में मकार अलाक्षणिक है और 'अट्ठा' में अकार का दीर्घ होना एवं बिन्दु का अभाव होना यह सब प्राकृत के कारण ही समझना चाहिए ।

किसी किसी प्रति में 'भिक्खस्सऽट्ठ—भैक्ष्यस्यार्थे' ऐसा पाठ भी देखने में आता है । तदनन्तर क्या हुआ, अब इस विषय में कहते हैं—

समुवट्ठियं तहिं सन्तं, जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥६॥

समुपस्थितं तत्र सन्तं, याजकः प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि तुभ्यं भिक्षां, भिक्षो याचस्वान्यतः ॥६॥

पदार्थान्वयः—समुवट्ठियं—उपस्थित हुए तहिं—वहाँ—उस यज्ञ में सन्तं—विद्यमान जायगो—याजक—विजयघोष पडिसेहए—निषेध करता है ते—तुझे भिक्खं—भिक्षा हु—निश्चय ही न दाहामि—नहीं दूँगा भिक्खू—हे भिक्षु ! अन्नओ—अन्य स्थान से जायाहि—याचना करो ।

मूलार्थ—जब जयघोष मुनि उस यज्ञ में भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ, तब यज्ञ करने वाले विजयघोष ने प्रतिषेध करते हुए कहा कि हे भिक्षु ! मैं तुझे भिक्षा नहीं दूँगा । अतः तुम अन्यत्र कहीं जाकर याचना करो ।

टीका—जिस समय जयघोष मुनि भिक्षा के लिए उस यज्ञ में उपस्थित हुए, तब यज्ञ के अधिष्ठाता विजयघोष ने उनको भिक्षा देने से साफ इनकार कर दिया । विजयघोष के शब्दों को देखते हुए उस समय याजक लोगों का मुनियों के ऊपर कितना असद्भाव था, यह स्पष्ट रूप से झलक रहा है, जो कि उस समय की बढ़ी हुई साम्प्रदायिकता का द्योतक है । यहाँ पर 'हु' शब्द यथार्थक है । यथा—'नैव दास्यामि ते भिक्षाम्' तुझे भिक्षा किसी तरह पर भी नहीं दूँगा, इत्यादि ।

अस्तु, इस प्रकार का अवहेलनासूचक उत्तर देने के अनन्तर यज्ञशाला में प्रस्तुत किये गये भोज्य पदार्थों का निर्माण किनके लिए है तथा कौन २ पुरुष इस अन्न के अधिकारी हैं इत्यादि बातों का वर्णन विजयघोष ने जिस प्रकार से किया, अब उसका उल्लेख करते हैं—

जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया ।
जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥७॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिणं देयं, भो भिक्खू सव्वकामियं ॥८॥

ये च वेदविदो विप्राः, यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः ।
ज्योतिःशास्त्रांगविदो ये च, ये च धर्माणां पारगाः ॥७॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिदं देयं, भो भिक्षो ! सर्वकाम्यम् ॥८॥

पदार्थान्वयः—जे-जो य-पुनः वेयविऊ-वेदों के जानने वाले विप्पा-विप्र—ब्राह्मण हैं य-और जन्नट्ठा-यज्ञ के अर्थी जे-जो दिया-द्विज हैं य-और जे-जो जोइसंगविऊ-ज्योतिषांग के वेत्ता हैं य-तथा जे-जो धम्माण-धर्मों के पारगा-पारगामी हैं य-च—शब्द अन्यथिवा समुच्चयार्थक है।

जे-जो समत्था-समर्थ हैं समुद्धत्तुं-उद्धार करने को परं-पर का अप्पाणं-अपने आत्मा का एव-पादपूर्ति में है तेसिं-उनके लिए इणं-यह अन्नं-भोजनादि पदार्थ देयं-देने योग्य है भो भिक्खु-हे भिक्षो ! सव्वकामियं-सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला।

मूलार्थ—हे भिक्षो ! जो वेदों के जानने वाले विप्र हैं तथा जो यज्ञ के करने वाले द्विज हैं और जो ज्योतिषांग के ज्ञाता हैं, एवं जो धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं तथा अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, उनके लिए सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला यह अन्न—भोज्य पदार्थ—तय्यार किया गया है। [युग्मव्याख्या]

टीका—इन दोनों गाथाओं का अर्थ स्पष्ट है। विजयघोष ने अपने यज्ञमण्डप में प्रस्तुत किये गये अन्न के अधिकारी कौन हैं अथवा किन पुरुषों के निमित्त यह अन्न—भोजन तय्यार किया गया है इत्यादि भावों का बड़े स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। विजयघोष कहते हैं कि हे मुने ! यह भोजन उन पुरुषों के लिए तय्यार किया गया है कि जो निम्नलिखित गुणों से अलंकृत हैं। यथा—जो वेदवित्—वेदों के जानने वाले ब्राह्मण हैं, इतना ही नहीं किन्तु जो यज्ञार्थी—वेदोक्त विधि के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले द्विज हैं तथा ज्योतिषांग विद्या के ज्ञाता और धर्मशास्त्रों के पारगामी हैं, इसके अतिरिक्त जो स्वात्मा और पर के आत्मा का उद्धार करने का अपने में सामर्थ्य रखते हैं। तथा यह अन्न भी यज्ञ का अन्न है। अतः यह मनुष्यों की सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। अथवा सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि इस समय इस यज्ञ में खाने की सभी वस्तुएँ विद्यमान हैं। जिसको जिस वस्तु के खाने की इच्छा हो, वही उसको सुख से उपलब्ध हो सकती है। 'सर्वकाम्यम्' इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि यज्ञ में प्रस्तुत किया गया यह भोजन षड्रसयुक्त है अर्थात् इसमें

मधुर अम्लादि सारे ही रस विद्यमान हैं, जिनका कि खाने वाले को सुखपूर्वक अनुभव हो सकता है। यद्यपि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष ये छ वेदों के अंग कथन किये हैं[1] अत अंग के कथनमात्र से ही ज्योतिष का ग्रहण हो सकता है तो फिर ज्योतिष का पृथक् ग्रहण क्यों किया ? इस प्रकार की शंका का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं तथापि शास्त्रकार ने जो उसको पृथक् ग्रहण किया है उसका तात्पर्य उसकी—ज्योतिष—की—प्रधानता को सूचन करना है अर्थात् यज्ञमण्डप में यज्ञसम्पादनार्थ उपस्थित ब्राह्मण इस विद्या में विशेष निपुण हैं। मनुष्यों के सुख-दुःख, जन्म-मरण, लाभ-हानि आदि बातों का इसके द्वारा भली भाँति ज्ञान हो जाता है। इसलिए भी इसका पृथक् ग्रहण है। 'धम्माण पारगा—धर्माणां पारगाः'—धर्मों के पारगामी—इस वाक्य में आये हुए धर्म शब्द का अर्थ है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का प्रतिपादन करने वाले धर्मशास्त्र। उनके पारगामी अर्थात् धर्मशास्त्रों के मर्मज्ञ—मर्म को जानने वाले। इस सारे वर्णन से विजयघोष का आशय यह प्रतीत होता है कि वह जयघोष मुनि से कह रहे हैं कि जो इन पूर्वोक्त गुणों से अलंकृत हैं, उन्हीं के लिए यह भोजन प्रस्तुत—तय्यार कराया गया है और किसी के लिए नहीं। अत आप कहीं अन्यत्र जावें क्योंकि एक तो आप हमारे सम्प्रदाय से पृथक् हैं, दूसरे आपमें इन उक्त गुणों का अभाव है। इसलिए यहाँ से आपको भिक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती कारण कि आप इसके अधिकारी नहीं हैं।

विजयघोष के इस प्रकार के भिक्षानिषेधसम्बन्धी नीरस वचनों का जयघोष मुनि पर क्या प्रभाव पड़ा, अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

सो तत्थ एवं पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी।
नवि रुट्ठो नवि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥९॥

स तत्रैव प्रतिषिद्धः, याजकेन महामुनिः।
नापि रुष्टो नापि तुष्टः, उत्तमार्थगवेषकः ॥९॥

१ शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च।
ज्योतिषं चेति विज्ञेयं षडङ्गानि पृथक् पृथक्॥

पदार्थान्वयः—सो—वह जयघोष नामा मुनि तत्थ—उस यज्ञ में एव—इस प्रकार पडिसिद्धो—प्रतिषेध किया हुआ जायगेण—यज्ञकर्ता ने महामुणी—महामुनि नवि—न तो रुट्ठो—रुष्ट—क्रुद्ध—हुए नवि—न तुट्ठो—तुष्ट—प्रसन्न—हुए उत्तमट्ठ—उत्तमार्थ—मोक्ष—के गवेसओ—गवेषक।

मूलार्थ—इस प्रकार उस यज्ञ में भिक्षा के लिए प्रतिषेध किये गये महामुनि जयघोष न तो रुष्ट हुए और न ही प्रसन्न हुए क्योंकि वे उत्तमार्थ—मुक्ति—की गवेषणा करने वाले थे।

टीका—क्रोध, मान, माया आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने वाले मुनिजनों की आत्मा कितनी उज्ज्वल होती है और राग-द्वेष के मल से वह कितनी पृथक् हुई होती है, इस भाव का चित्र प्रस्तुत गाथा में बड़ी सुन्दरता से खींचा गया है। विजयघोष के अभिमानपूर्ण अकिंचित्कर वचनों का जयघोष मुनि की आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जैसे साधारण सी मछली के कूदने पर महासमुद्र की गम्भीरता में अणुमात्र भी क्षोभ नहीं होता, इसी प्रकार विजयघोष याचक के तुच्छ शब्दों से जयघोष मुनि के, राग-द्वेष से रहित, प्रशान्त और गम्भीर अन्तःकरण में अणुमात्र भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि उनके चित्त में अल्पमात्र भी विकृति नहीं आई। उन्होंने विजयघोष के इस व्यवहार पर न खेद प्रकट किया और न प्रसन्नता ही व्यक्त की किन्तु अपने निज स्वभाव में ही स्थिर रहे। कारण कि वे महामुनि थे और मोक्ष के गवेषक थे। वास्तव में विचार किया जाए तो आगमसम्मत भिक्षु का यही धर्म है, जिसका आचरण जयघोष मुनि ने किया। भिक्षा के लिए जाने वाले मुनि के विषय में शास्त्रकार कहते हैं कि—'बहु परघरे अत्थि विविहं खाइमं साइमं। न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा दिज्जपरो ण वा॥ [बहुपर-गृहेऽस्ति विविधं खाद्यं स्वाद्यम्। न तस्मै पण्डितः कुप्येदिच्छया दद्यात्परो न वा॥]। अर्थात् गृहस्थ के घर में अनेक प्रकार के खाद्य और स्वाद्य पदार्थ होते हैं। यदि भिक्षा के निमित्त घर में आये हुए साधु को गृहस्थ वे पदार्थ नहीं देता तो साधु उस पर क्रोध न करे क्योंकि किसी पदार्थ को देना न देना उसकी—गृहस्थ की—इच्छा पर निर्भर है। उत्तमार्थ मोक्ष का नाम है क्योंकि मोक्ष से बढ़कर और कोई भी उत्तम अर्थ—पुरुषार्थ नहीं है।

विजयघोष के द्वारा प्रतिषेध किये जाने पर भी समभाव में स्थिर रहने वाले जयघोष मुनि ने उसके प्रति जो कुछ कहा, उसका दिग्दर्शन कराने से पहले जिस हेतु को लेकर यह कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

नन्नट्ठं पाणहेउं वा, नवि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥१०॥

नान्नार्थं पानहेतुं वा, नापि निर्वाहणाय वा।
तेषां विमोक्षणार्थम्, इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥

पदार्थान्वयः—नन्नट्ठं–न तो अन्न के लिए वा–अथवा पाणहेउ–पानी के लिए वा–तथा नवि–न ही निव्वाहणाय–वस्त्रादि के लिए अपितु तेसिं–उनकी—याजकों की विमोक्खणट्ठाए–विमुक्ति के लिए इमं–यह वक्ष्यमाण वयणम्–वचन अब्बवी–बोले।

मूलार्थ—न तो अन्न के लिए और न पानी के लिए तथा न किसी प्रकार के वस्त्रादि निर्वाह के लिए किन्तु उन याजकों को कर्मबन्धन से मुक्त कराने के लिए जयघोष मुनि ने उनके प्रति ये वक्ष्यमाण वचन कहे।

टीका—शास्त्रकारों का आदेश है कि साधु किसी को जो कुछ भी उपदेश दे, वह किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर न दे। तात्पर्य यह है कि साधु का धर्मोपदेश न तो अन्नपानादि की प्राप्ति के लिए होना चाहिए और न वस्त्रादि के निर्वाहार्थ। मुनिजनों का उपदेश, अपनी यशःकीर्ति के लिए भी न होना चाहिए किन्तु कर्मों की निर्जरा और अन्य जीवों को संसारचक्र से विमुक्त कराने के लिए ही होना चाहिए। बस, इसी साधुमनोचित कर्त्तव्य को ध्यान में रखकर जयघोष मुनि ने जो कुछ उन याजकों के प्रति उपदेशरूप में कहा उसका प्रयोजनमात्र, उनको कर्मबन्धनों से मुक्त कराकर परमानन्द को प्राप्त कराना है। सारांश यह है कि इस प्रकार से प्रतिषेध किये जाने पर भी जयघोष मुनि ने उनको उपदेश दिया परन्तु वह अन्न, पानी या वस्त्रादि के लाभार्थ नहीं किन्तु उनके सद्बोधार्थ अथच विमोक्षणार्थ ही परम दयालु मुनि ने उनके प्रति सब कुछ कहा।

जयघोष मुनि ने परोपकार बुद्धि से अपने लघु भ्राता विजयघोष के प्रति क्या कहा ? अब इस विषय में कहते हैं—

नवि जाणासि वेयमुहं, नवि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥११॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ।
न ते तुमं वियाणासि, अह जाणासि तो भण ॥१२॥

नापि जानासि वेदमुख, नापि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणां मुख यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम् ॥११॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ।
न तान् त्व विजानासि, अथ जानासि तदा भण ॥१२॥

पदार्थान्वयः—नवि–न तो जाणासि–तुम जानते हो वेयमुहं–वेदों के मुख को नवि–और न जं–जो जन्नाण मुहं–यज्ञों का मुख है उसको च–और जं–जो नक्खत्ताण–नक्षत्रों के मुहं–मुख को वा–अथवा जं–जो च–पुनः धम्माण–धर्मों के मुहं–मुख को ।

जे–जो समत्था–समर्थ हैं समुद्धत्तुं–उद्धार करने परम्–पर का य–और अप्पाणम्–आत्मा का एव–निश्चयार्थक है ते–उनको तुमं–तुम न–नहीं वियाणासि–जानते अह–यदि जाणासि–जानते हो तो–तो भण–कहो ।

मूलार्थ—न तो तुम वेदों के मुख को जानते हो और न यज्ञों के मुख को । नक्षत्रों के मुख को भी तुम नहीं जानते और धर्मों का जो मुख है, उसका भी तुमको ज्ञान नहीं । जो अपने तथा पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हैं, उनको भी तुम नहीं जानते । यदि जानते हो तो कहो ।

टीका—प्रस्तुत दोनों गाथाओं में विजयघोष के कथनानुसार ही जयघोष मुनि ने अनुक्रम से उत्तर दिया है । जयघोष मुनि कहते हैं कि तुमको यह भी पता नहीं कि वेदों का मुख क्या है ? तात्पर्य यह है कि वेदों में जिस बात की

मुख्यता—प्रधानता है, उससे तू अनभिज्ञ है। यज्ञों में जिसकी प्रधानता है, उससे भी तू अपरिचित है अर्थात् सब से बढ़कर जो यज्ञ है, उसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार नक्षत्रों में जिसकी प्रधानता है, उसको भी तुम नहीं जानते। धर्मों में जिसकी मुख्यता है, उसका भी तुम्हें परिचय नहीं है। इसके अतिरिक्त स्व और पर आत्मा के उद्धार करने की जिनमें शक्ति है, ऐसे महापुरुषों का भी तुम्हें पता नहीं। यदि है तो बतलाओ। तात्पर्य यह है कि इन पूर्वोक्त विषयों से तू सर्वथा अपरिचित प्रतीत होता है अर्थात् इनका तुम्हें यथार्थ ज्ञान हो, ऐसा मुझे तो प्रतीत होता नहीं। यदि तुम जानने का अभिमान रखते हो तो कहो, इनकी समुचित व्याख्या करके बतलाओ। इस सारे कथन में जयघोष मुनि ने विजयघोष की सारी बातों की समालोचना उसी क्रम से आरम्भ की है, जिस क्रम से विजयघोष ने कथन किया है। वास्तव में दोनों का यह वार्तालाप यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए अन्य ब्राह्मण विद्वानों के बोधार्थ ही उपस्थित किया गया समझना चाहिए। [युग्मव्याख्या]

जयघोष मुनि के उक्त सम्भाषण को सुनने के अनन्तर विजयघोष ने जो कुछ किया, अब उसका वर्णन करते हैं—

तस्सक्खेवपमोक्खं च, अचयन्तो तहिं दिओ।
सपरिसो पंजली होउं, पुच्छई तं महामुणिं ॥१३॥

तस्याक्षेपप्रमोक्षं च, (दातुम्) अशक्नुवन् तत्र द्विजः।
सपरिषत् प्राञ्जलिर्भूत्वा, पृच्छति तं महामुनिम् ॥१३॥

पदार्थान्वयः—तस्स—उस मुनि के क्खेवपमोक्खं—आक्षेपों के उत्तर देने में अचयन्तो—असमर्थ होकर तहिं—उस यज्ञ में दिओ—द्विज—ब्राह्मण सपरिसो—परिषत् के सहित पंजली होउ—हाथ जोड़कर तं—उस महामुणिं—महामुनि को पुच्छई—पूछता है।

मूलार्थ—उस मुनि के आक्षेपों के उत्तर देने में असमर्थ हुआ वह द्विज विजयघोष ब्राह्मण—अपनी परिषद् के साथ हाथ जोड़कर उस महामुनि (जयघोष) से पूछने लगा।

टीका—जिस समय यज्ञशाला में उपस्थित हुए जयघोष मुनि ने विजयघोष के कथन को सुनकर उसके प्रति उक्त आक्षेप रूप प्रश्न किये, तो वह उनका उत्तर देने में असमर्थ होता हुआ, यज्ञ में उपस्थित हुए अन्य ब्राह्मणसमुदाय को अपने साथ लेकर जयघोष मुनि से हाथ जोड़कर पूछने लगा। इस सारे कथन का तात्पर्य यह है कि जयघोष मुनि के आक्षेपप्रधान प्रश्नों के उत्तर देने की अपने में शक्ति न देखकर विजय ने अपने मन में विचार किया कि इस यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए मुझ सहित अनेक प्रकाण्ड विद्वानों के समक्ष निर्भय होकर जिस मुनि ने उक्त प्रकार के आक्षेपप्रधान प्रश्न किये हैं, वह अवश्य ही वेदों के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखने वाला कोई महान् भिक्षु है। ऐसे धारणाशील विद्वान् मुनियों का संयोग कभी भाग्य से ही होता है। अतः इनके किये हुए प्रश्नों के उत्तर भी विनयपूर्वक इन्हीं से पूछने चाहिएँ। और वे उत्तर भी वास्तविक उत्तर होंगे, जिनमें कि फिर किसी प्रकार के सन्देह को भी अवकाश नहीं रहेगा। इसलिए विजयघोष ने अपनी परिषद्—विद्वन्मण्डली—के सहित बड़े विनय के साथ हाथ जोड़कर जयघोष मुनि से पूछने की इच्छा प्रकट की। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रतिपक्षी होने पर भी, ज्ञानप्राप्ति के लिए तो विनय को अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए।

तदनन्तर विजयघोष ने जो कुछ पूछा, अब उसके विषय में कहते हैं—

वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं ॥१४॥
जे समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
एयं मे संसयं सव्वं, साहू कहसु पुच्छिओ ॥१५॥

वेदानां च मुखं ब्रूहि, ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम्।
नक्षत्राणां मुखं ब्रूहि, ब्रूहि धर्माणां वा मुखम् ॥१४॥
ये समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
एतं मे संशयं सर्वं, साधो कथय (मया) पृष्टः ॥१५॥

पदार्थान्वय —वेयाण–वेदों के मुहं–मुख को बूहि–कहो च–और ज–जो जन्नाण–यज्ञों का मुहं–मुख है बूहि–कहो। नक्खत्ताण–नक्षत्रों के मुहं–मुख को बूहि–कहो वा–तथा धम्माण–धर्मों के मुहं–मुख को बूहि–कहो। जे–जो समत्था–समर्थ हैं समुद्धत्तु–उद्धार करने में पर–पर के य–और अप्पाणं–अपने आत्मा के एव–निश्चयार्थक है एय–इस मे–मेरे सव्वं–सर्व संसय–संशय को साहू–हे साधो! पुच्छिओ–पूछे हुए आप कहसु–कहो।

मूलार्थ—हे साधो! वेदों के मुख को कहो। यज्ञों के मुख को कहो। नक्षत्रों के मुख को और धर्मों के मुख को कहो एवं पर और अपने आत्मा के उद्धार करने में जो समर्थ है, उसे भी कहो। मेरे ये सर्व संशय हैं। मेरे पूछने पर आप इनके विषय में अवश्य कहो।

टीका—अपनी विद्वन्मण्डली के साथ उक्त मुनि के सम्मुख उपस्थित हुए विजयघोष ने बड़ी नम्रता के साथ इस प्रकार पूछना आरम्भ किया। यथा—हे मुने! वेदों का मुख क्या है? अर्थात् वेदों में मुख्य—उपादेय वस्तु क्या है? अथवा वेदों में जो मुख्य—उपादेय वस्तु है, आप उसे बतलाइए तथा यज्ञों और नक्षत्रों का जो मुख है, उसे भी आप प्रकट करें एवं धर्मों का मुख भी आप बतलाने की कृपा करें। इसके अतिरिक्त अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में जो समर्थ है, उसका भी आप वर्णन करें। मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ। अतः आप मेरे इन उक्त सर्व संशयों को दूर करने की अवश्य कृपा करें, इत्यादि।

इन दोनों गाथाओं में जयघोष मुनि के द्वारा किये गये प्रश्नों का उन्हीं के मुख से उत्तर सुनने की जिज्ञासा प्रकट की गई है। क्योंकि उनका जिस प्रकार का यथार्थ उत्तर उनसे प्राप्त हो सकता है, वैसा और किसी से मिलना दुर्घट है। इसी आशय से विजयघोष ने उनसे उक्त प्रश्नों के उत्तर की याचना की है। पहली गाथा में जो 'बूहि' शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है, वह केवल आदर—व सम्मान के द्योतनार्थ है। अतः पुनरुक्ति की आशंका के लिए यहाँ पर स्थान नहीं है। संशय उसको कहते हैं, जिसमें मन दोलायमान रहे—'संशेतेऽस्मिन् मन इति संशयः'। 'एव' शब्द यहाँ पर अवधारण अर्थ में है। [युग्मव्याख्या]

विजयघोष के उक्त वक्तव्य को सुनने के अनन्तर जयघोष मुनि ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा, अब शास्त्रकार उसका वर्णन करते हैं—

अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो, धम्माणं कासवो मुहं ॥१६॥

अग्निहोत्रमुखा वेदाः, यज्ञार्थी वेदसां मुखम्।
नक्षत्राणा मुखं चन्द्रः, धर्माणां काश्यपो मुखम् ॥१६॥

पदार्थान्वयः—अग्गिहुत्तमुहा-अग्निहोत्रमुख वेया-वेद हैं जन्नट्ठी-यज्ञ का अर्थी वेयसा-यज्ञ से जो कर्म क्षय करता है वही यज्ञ का मुह-मुख है नक्खत्ताण-नक्षत्रों का मुह-मुख चन्दो-चन्द्रमा है धम्माणं-धर्मों का मुह-मुख कासवो-काश्यप—ऋषभदेव है।

मूलार्थ—अग्निहोत्र वेदों का मुख है। यज्ञ के द्वारा कर्मों का क्षय करना यज्ञ का मुख है। चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख है और धर्मों का मुख काश्यप—भगवान् ऋषभदेव हैं।

टीका—विजयघोष के उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए महामुनि जयघोष कहते हैं कि अग्निहोत्र वेदों का मुख है अर्थात् अग्निहोत्रप्रधान वेद हैं। कारण कि वेदों में अग्निहोत्र को ही प्रधानता दी गई है। इसी लिए वेदों में नित्यप्रति अग्निहोत्र करने की आज्ञा दी गई है। सो यह अग्निहोत्र वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय होने से वेदों का मुख माना गया है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जयघोष मुनि ने जिस आशय को लेकर यह कथन किया है, वह बड़ा ही गम्भीर है। वे वेद और उसमें प्रतिपादन किये गये अग्निहोत्र आदि को विजयघोष की अपेक्षा किसी और ही दृष्टि से देख रहे हैं। अतएव उनके मत में इन दोनों शब्दों की व्याख्या भी कुछ और ही प्रकार की है, जो कि युक्तियुक्त और सर्वथा हृदयग्राही है। यथा—वेद नाम ज्ञान का है क्योंकि वेद शब्द 'विद् ज्ञाने' अर्थात् ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है। जब ज्ञान के द्वारा सब द्रव्यों का स्वरूप भली भाँति जान लिया गया तो फिर अपने आत्मा को कर्मजन्य संसारचक्र से मुक्त करने के लिए तप रूप

अग्नि के द्वारा कर्मरूप इन्धन को जलाकर सद्भावनारूप आहुति की आवश्यकता होती है। एतदर्थ दीक्षित को अग्निहोत्र की परम आवश्यकता है। जैसे कि अन्यत्र कहा भी है—'कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढसद्भावनाहुतिः। धर्मध्यानाग्निना कार्या दीक्षितेनाग्निकारिका ॥' अर्थात् धर्मध्यानरूप अग्नि के द्वारा कर्म रूप इन्धन को जलाना और सद्भावनारूप आहुति का प्रक्षेप करना चाहिए। इस प्रकार दीक्षित के लिए अग्निहोत्र का विधान है। जैसे कि ऊपर कहा गया है कि अग्निहोत्र वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म है। इसी लिए 'अग्निमुखा वै वेदाः' यह कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों का जो आरण्यक भाग है, उसको अधिक महत्त्व दिया गया है। जैसे दधि का सार नवनीत—मक्खन—होता है, ठीक उसी प्रकार आरण्यक भाग को वेदों का सार बतलाया गया है। यथा—'नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव। ओषधिभ्योऽमृतं यद्वद् वेदेष्वारण्यकं तथा ॥' इत्यादि। आरण्यक में धर्म का दश प्रकार से कथन किया गया है। यथा—'सत्यं तपश्च सन्तोषः क्षमा चारित्रमार्जवम्। श्रद्धा धृतिरहिंसा च संवरश्च तथापरः ॥' इनका अर्थ स्पष्ट है। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं। यथा—वेद के कारण जो कर्म क्षय किये जाते हैं, उसे वेदसा कहते हैं। वही संयमरूप भावयज्ञ है। उसका अनुष्ठान करने वाला यज्ञार्थी कहलाता है। प्रश्नव्याकरण में अहिंसा को यज्ञ के नाम से वर्णन किया है। अतः सर्व प्रकार से अहिंसा के पालन करने वाले को यज्ञार्थी कहते हैं। इसके अतिरिक्त निघण्टु—वैदिककोष—में यज्ञ का नाम 'वेदसा' भी लिखा है। अतः यज्ञ का मुख—उपाय अहिंसादि कर्म ही है। एवं नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है। कारण कि वह उनका स्वामी है। नक्षत्रों के प्रकाशमान होते हुए भी चन्द्रमा के बिना रजनी अमा कहलाती है। अतः नक्षत्रों में चन्द्रमा की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त व्यापारविधि में भी चान्द्र संवत्सर और चान्द्रमास की ही प्रधानता मानी जाती है। इसी तरह तिथियों की गणना भी चन्द्रमा के ही अधीन है। अतः चन्द्रमा नक्षत्रों का मुख है। आदि प्ररूपक होने से धर्मों में प्रधानता काश्यप अर्थात् भगवान् ऋषभ देव की है। कारण कि इस अवसर्पिणी काल के तृतीय समय के पश्चिम भाग में धर्म की प्ररूपणा श्रीऋषभदेव ने ही की है। आरण्यक में लिखा है—'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि प्रणीतानि ब्राह्मणानि। यदा च तपसा प्राप्तपदं यद् ब्रह्म केवलं तदा

च महर्षिणा प्रणीतानि तानि पुस्तकानि ब्राह्मणानि' । ब्रह्माण्डपुराण में कहा है कि—'इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः । केवलज्ञानलम्भाच महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागाः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषां प्रवर्तित आख्यातः प्रणीतश्च त्रेतायामादौ' इत्यादि । इससे सिद्ध है कि सब धर्मों में प्रधान काश्यप—श्रीऋषभदेव ही हैं । अतः जिस प्रकार का अग्निहोत्र आदि कर्म का स्वरूप तुमने माना हुआ है, वह समीचीन नहीं । उसका यथार्थ भाव यही है, जो कि ऊपर प्रदर्शित किया गया है ।

अब काश्यप की प्रधानता के विषय में फिर कहते हैं—

जहा चन्दं गहाईया, चिट्ठन्ति पंजलीउडा ।
वन्दमाणा नमंसन्ता, उत्तमं मणहारिणो ॥१७॥
यथा चन्द्रं ग्रहादिका, तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटाः ।
वन्दमाना नमस्यन्तम्, उत्तमं मनोहारिणः ॥१७॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे चन्द—चन्द्रमा को गहाईया—ग्रहादिक पंजलीउडा—हाथ जोड़कर वन्दमाणा—वन्दना करते हुए नमंसन्ता—नमस्कार करते हुए उत्तम—प्रधान को मणहारिणो—मन को हरण करने वाले चिट्ठन्ति—स्थित हैं ।

मूलार्थ—जिस प्रकार सर्वप्रधान चन्द्रमा की, मनोहर नक्षत्रादि तारागण, हाथ जोड़कर वन्दना और नमस्कार करते हुए स्थित हैं, उसी प्रकार इन्द्रादि देव भगवान् काश्यप—ऋषभदेव—की सेवा करते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में नक्षत्र और चन्द्रमा के दृष्टान्त से भगवान् ऋषभदेव के महत्त्व का वर्णन किया गया है । जैसे ग्रह, नक्षत्र और तारागणों का स्वामी होने से चन्द्रमा उनके द्वारा पूजनीय और वन्दनीय हो रहा है, वैसे ही श्रीऋषभदेव, देवेन्द्र और मनुजेन्द्रादि के पूजनीय और सेवनीय हैं । तात्पर्य यह है कि लोक में वे चन्द्रमा के समान सर्वप्रधान माने गये हैं ।

इस प्रकार पूर्वोक्त चारों प्रश्नों का उत्तर देने के अनन्तर अब पाँचवें प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रथम उसकी भूमिका की रचना करते हैं—

अजाणगा जन्नवाई, विज्जामाहणसंपया ।
मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो ॥१८॥

अजानाना यज्ञवादिनः, विद्याब्राह्मणसम्पदाम् ।
मूढाः स्वाध्यायतपसा, भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ॥१८॥

पदार्थान्वयः—अजाणगा–तत्त्व से अनभिज्ञ जन्नवाई–यज्ञ के कथन करने वाले विज्जा–विद्या—और माहणसंपया–ब्राह्मण की—सम्पदा से अनभिज्ञ मूढा–मूढ़ हैं सज्झाय–स्वाध्याय और तवसा–तप से भासच्छन्ना–भस्माच्छादित अग्गिणो–अग्नि की इव–तरह ।

मूलार्थ—हे यज्ञवादी ब्राह्मण लोगो! तुम ब्राह्मण की विद्या और सम्पदा से अनभिज्ञ हो। तथा स्वाध्याय और तप के विषय में भी मूढ़ हो। अतः तुम भस्म से आच्छादित की हुई अग्नि के समान हो। तात्पर्य यह है कि जैसे भस्म से आच्छादित की हुई अग्नि ऊपर से तो शान्त दीखती है और उसके अन्दर ताप बराबर बना रहता है, इसी प्रकार तुम बाहर से तो शान्त प्रतीत होते हो परन्तु तुम्हारे अन्तःकरण में कषायरूप अग्नि प्रज्वलित हो रही है।

टीका—पाँचवें प्रश्न का उत्तर देने के लिए भूमिका का निर्माण करते हुए जयघोष मुनि कहते हैं कि जिन ब्राह्मण याजकों को आप उत्तम पात्र समझ रहे हैं, वे वास्तव में ब्राह्मणों की विद्या और सम्पत्ति से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। कारण कि ब्राह्मणों की विद्या आध्यात्मिक विद्या है और सम्पदा अकिंचन भाव है। परन्तु यहाँ पर इन दोनों का ही अभाव दीखता है। स्वाध्याय और तप के विषय में भी ये मोहयुक्त ही प्रतीत होते हैं अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का इन्हें ज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त ये भस्माच्छन्न—भस्म से ढकी हुई—अग्नि के सदृश प्रतीत होते हैं, जो कि बाहर से शान्त और भीतर से कषाय युक्त हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे भस्माच्छन्न अग्नि बाहर से देखने में ठण्डी और अन्दर से उष्ण होती है, ये ब्राह्मण लोग भी ऊपर से तो शान्त और दान्त दिखाई देते हैं परन्तु इनके हृदय को यदि टटोला जाय, तो यहाँ कषायरूप अग्नि प्रचण्ड

हो रही है। सारांश यह है कि आपके इन यज्ञप्रिय ब्राह्मणों में ब्राह्मणोचित गुणों का अभाव होने से ब्राह्मणत्व प्रतीत नहीं होता। किसी किसी प्रति में 'मूढा' के स्थान पर 'गूढा' पाठ देखने में आता है। तब 'गूढा सज्झायतवसा—गूढाः स्वाध्यायतपसा'—इसका अर्थ होता है स्वाध्याय और तप से गूढ अर्थात् छिपे हुए। तात्पर्य यह है कि बाह्य वृत्ति से तो वे स्वाध्यायशील और तपस्वी प्रतीत होते हैं परन्तु अन्तःकरण उनका कषायों की प्रचण्ड ज्वालाओं से प्रदीप्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त 'विज्जामाहणसंपया' और 'मूढा सज्झायतवसा' इन दोनों वाक्यों में 'सुप्' का व्यत्यय किया गया है। प्रथम में षष्ठी के स्थान पर तृतीया और दूसरे में सप्तमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है।

अब, ब्राह्मण कौन है ? और उसके क्या लक्षण हैं ? इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए अब ब्राह्मणत्व के विषय में कहते हैं—

जो लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गीव महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥१९॥

यो लोके ब्राह्मण उक्तः, अग्निरिव महितो यथा।
सदा कुशलसन्दिष्टं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥१९॥

पदार्थान्वयः—जो—जो लोए—लोक में बम्भणो—ब्राह्मण वुत्तो—कहा गया है जहा—जैसे अग्गी—अग्नि महिओ—पूजित है—तद्वत् पूजित। य—पादपूर्ति में है। सया—सदैव काल कुसलसंदिट्ठं—कुशलों द्वारा संदिष्ट तं—उसको वयं—हम माहणं—ब्राह्मण बूम—कहते हैं।

मूलार्थ—जो कुशलों द्वारा संदिष्ट अर्थात् जिसको कुशलों ने ब्राह्मण कहा है और जो लोक में अग्नि के समान पूजनीय है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में प्रथम ब्राह्मण शब्द का महत्त्व सूचन किया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि जो ब्राह्मण है, वह लोक—जगत्—में अग्नि की भाँति पूजनीय होता है। अर्थात् जैसे लोग अग्नि की उपासना करते हैं और घृत आदि के अभिषेक से उसे प्रदीप्त करते हैं, उसी प्रकार लोगों के द्वारा ब्राह्मण भी

वन्दनीय और पूजनीय होता है तथा तपरूप अग्नि के द्वारा तेजस्विता धारण करने वाला होता है। इसके अतिरिक्त कुशलों—तीर्थंकरों ने ब्राह्मणत्व के सम्पादक जो गुण कथन किये हैं, उन गुणों से जो अलंकृत है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

कुशलों ने गुणों के अनुसार ब्राह्मण का जो स्वरूप बतलाया है, अब उसी के विषय में कहते हैं—

जो न सज्जइ आगन्तु, पव्वयन्तो न सोयइ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥२०॥

यो न स्वजत्यागन्तुं, प्रव्रजन्न शोचति।
रमत आर्यवचने, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२०॥

पदार्थान्वयः—जो—जो न सज्जइ—संग नहीं करता आगन्तु—स्वजनादि के आगमन पर पव्वयन्तो—प्रव्रजित होता हुआ न सोयइ—सोच नहीं करता परन्तु अज्जवयणम्मि—आर्यवचन में रमइ—रमण करता है तं—उसको वयं—हम माहणं—ब्राह्मण बूम—कहते हैं।

मूलार्थ—जो स्वजनादि में आसक्त नहीं होता और दीक्षित होता हुआ सोच नहीं करता किन्तु आर्यवचनों में रमण करता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में तीर्थंकरभाषित ब्राह्मणलक्षणों का दिग्दर्शन कराया गया है। अतः जिनप्रवचन के अनुसार ब्राह्मण का स्वरूप बतलाते हुए जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि—जो स्वजनादि सम्बन्धिजनों के मिलने पर या उपाश्रय आदि में आने पर भी उनका संग नहीं करता—उनमें अनुरक्त नहीं होता और दीक्षित होकर स्थानान्तर में गमन करता हुआ शोक भी नहीं करता [जैसे कि इनके बिना मैं क्या करूँगा इत्यादि] अपितु आर्यवचनों—तीर्थंकर भगवान् के कहे हुए वचनों में ही रमण करता है अर्थात् निस्पृह भाव से रहता है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो किसी में आसक्ति नहीं रखता तथा हर्ष और शोक से रहित एवं स्वाध्याय में रत है, वही सच्चा ब्राह्मण है क्योंकि उसमें शास्त्रोक्त ब्राह्मणत्व के सम्पादक गुण विद्यमान हैं।

अब फिर कहते हैं—

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं ।
रागदोसभयाईयं , तं वयं बूम माहणं ॥२१॥

जातरूपं यथामृष्टं, निष्मातमलपापकम् ।
रागद्वेषभयातीतं , त वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२१॥

पदार्थान्वयः—जायरूव–जातरूप जहा–जैसे आमट्ठ–आमृष्ट निद्धन्त–निर्ध्मात मल–मल पावग–पावक से रागदोसभयाईयं–राग, द्वेष और भय से रहित तं–उसको वय–हम माहण–ब्राह्मण बूम–कहते हैं।

मूलार्थ—जैसे अग्नि के द्वारा शुद्ध किया हुआ स्वर्ण तेजस्वी और निर्मल हो जाता है, तद्वत् रागद्वेष और भय से जो रहित है उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—'जातरूप' नाम स्वर्ण का है। जैसे मनःशिला आदि रासायनिक द्रव्यों के संयोग से अग्नि में तपाने पर निर्मल होने से सुवर्ण अपने वास्तविक स्वरूप में आता हुआ सुवर्ण कहलाता है, तात्पर्य यह है कि अशुद्ध सुवर्ण को जैसे अग्नि में डाला जाता है और द्रव्यों के संयोग से उसको मल से रहित किया जाता है, फिर वह अपने असली रूप को प्रकट करने में समर्थ होता है, अर्थात् लोक में वह स्वर्ण के नाम से पुकारा जाता है, ठीक इसी प्रकार साधनसामग्री के द्वारा जिस आत्मा ने भयरूप बाह्य और रागद्वेष रूप अन्तरंग मल को दूर करके अपने को सर्वथा निर्मल बना लिया है, उसी को यथार्थ रूप में ब्राह्मण कहते हैं। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि जैसे सशोधित स्वर्ण अपने अपूर्व पर्याय को धारण कर लेता है, उसी प्रकार कषाय मल से रहित हुआ आत्मा अपूर्व गुण को धारण करने वाला हो जाता है। प्रस्तुत गाथा में 'म' अलाक्षणिक है। और 'निद्धन्तमलपावगं' में 'पावक' शब्द पदव्यत्यय से प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि—पावकेन वह्निना निर्ध्मातम्' इत्यादि। यदि 'म' को अलाक्षणिक न मानें तो 'मट्ठ' का अर्थ महार्थ भी किया जा सकता है, जो कि मोक्ष का साधक है।

अब फिर कहते हैं—

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥२२॥

तपस्विनं कृशं दान्तम्, अपचितमांसशोणितम् ।
सुव्रत प्राप्तनिर्वाणं, त वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२२॥

पदार्थान्वय.—तवस्सिय–तपस्वी किसं–कृश दन्त–दान्त—इन्द्रियों को दमन करने वाला अवचिय–अपचित—कम हो गया है मस–मास और सोणिय–रुधिर जिसका सुव्वय–सुन्दर व्रतों वाला पत्त–प्राप्त किया है निव्वाण–निर्वाण को जिसने त–उसको—इत्यादि सब पूर्ववत् जानना ।

मूलार्थ—जो तपस्वी, कृश और दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला है, जिसके शरीर में मांस और रुधिर कम हो गया है तथा व्रतशील और निर्वाण—परम शान्ति—को जिसने प्राप्त किया है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में सयमशील परम तपस्वी साधु को ही ब्राह्मण रूप से वर्णन किया है । जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि जो तपस्वी अर्थात् तप करने वाला और तप के प्रभाव से जिसका शरीर कृश हो गया हो तथा शरीर का मास और रुधिर भी सूख गया हो एवं जिसने परम शान्ति रूप निर्वाण को प्राप्त किया हो ऐसे दान्त—परम सयमी पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं । इस गाथा में ब्राह्मणत्व के सम्पादक तप का अनुष्ठान, इन्द्रियों का दमन, व्रतों का पालन और पूर्णसमता, इन चार गुणों का उल्लेख किया गया है । बृहद्वृत्तिकार ने इस गाथा को प्रक्षिप्त कहा है परन्तु दीपिका आदि में इसको प्रक्षिप्त नहीं कहा ।

फिर कहते हैं—

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेण, तं वयं बूम माहणं ॥२३॥

त्रसप्राणिनो विज्ञाय, संग्रहेण च स्थावरान् ।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन, तं वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२३॥

पदार्थान्वयः—तस–त्रस य–और थावरे–स्थावर पाणे–प्राणियों को संगहेण–संक्षेप से वा विस्तार से वियाणेत्ता–जानकर जो–जो तिविहेण–तीनों योगों से न हिंसइ–हिंसा नहीं करता तं वयं बूम माहणं–उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो त्रस और स्थावर प्राणियों को संक्षेप व विस्तार से भली भाँति जानकर उनकी हिंसा नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—ब्राह्मणत्व के सम्पादक अन्य गुणों का वर्णन करने के निमित्त से जयघोष मुनि, विजयघोष प्रभृति ब्राह्मणमण्डली से फिर कहते हैं कि—हम ब्राह्मण उसको मानते हैं कि जो त्रस और स्थावर प्राणियों के स्वरूप को समास अथवा व्यास रूप से जानता हुआ उनकी मन, वचन और काया किसी से भी हिंसा नहीं करता। इसका अभिप्राय यह है कि त्रस अथवा स्थावर किसी भी जीव को मन, वचन और शरीर के द्वारा जो स्वयं कष्ट नहीं पहुँचाता, और कष्ट देने के लिए किसी को प्रेरणा नहीं करता और यदि कोई कष्ट देवे तो उसको भला नहीं समझता, तात्पर्य यह है कि तीन योग और तीन करणों से जो अहिंसा धर्म का पालन करता है, उसको हम ब्राह्मण कहते अथवा मानते हैं। मन, वचन और काया के व्यापार की योग संज्ञा है। अन्यत्र भी लिखा है कि—'यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु दारुणम्। कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥' अर्थात् जो मन, वचन और कर्म से किसी प्रकार का पाप नहीं करता, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इस प्रकार प्रथम महाव्रत की व्याख्या में ब्राह्मणत्व के स्वरूप का वर्णन किया गया। अब द्वितीय महाव्रत में उसका स्वरूप वर्णन करते हैं—

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥२४॥

क्रोधाद्वा यदि वा हास्यात्, लोभाद्वा यदि वा भयात्।
मृषा न वदति यस्तु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२४॥

पदार्थान्वयः—कोहा–क्रोध से वा–अथवा जइ वा–यदि हासा–हास्य से वा–अथवा लोहा–लोभ से जइ वा–यदि भया–भय से जो–जो मुसं–झूठ न–नहीं वयई–बोलता तं–उसको वयं–हम माहणं–ब्राह्मण बूम–कहते हैं। उ–अवधारण अर्थ में है।

मूलार्थ—क्रोध से, लोभ से, हास्य और भय से भी जो झूठ नहीं बोलता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—इस गाथा में द्वितीय महाव्रत को लेकर ब्राह्मणत्व के स्वरूप का निरूपण करने के साथ २ इस बात को भी ध्वनित किया गया है कि असत्य किन २ कारणों से बोला जाता है। जैसे कि—मनुष्य को झूठ बोलने का अवसर प्रायः क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य और भय आदि के कारणों से ही उपस्थित होता है अर्थात् इन्हीं कारणों से मनुष्य झूठ बोलते हैं। कोई क्रोध के आवेश में आकर असत्य बोल जाता है, किसी को लोभ के वशीभूत होने पर असत्य बोलने के लिए बाधित होना पड़ता है तथा कोई भय के कारण झूठ बोलते हैं एवं हास्य के कारण भी अनेक पुरुष झूठ बोलते देखे जाते हैं परन्तु जो व्यक्ति इन उक्त कारणों के उपस्थित होने पर भी असत्य नहीं बोलता, वास्तव में वही ब्राह्मण है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य के अन्दर लोभ आदि उक्त दोष विद्यमान हैं, तब तक वह असत्य के सम्भाषण से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। और जहाँ उक्त दोषों का अभाव है, वहाँ असत्य का लोप हो जाता है। इसलिए जो असत्य का त्यागी है, वही सच्चा ब्राह्मण है। अन्यत्र भी इसी बात का समर्थन मिलता है। यथा—'यदा सर्वानृतं त्यक्तं मिथ्याभाषा विवर्जिता। अनवद्यं च भाषेत ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥' 'अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥' तात्पर्य यह है कि सत्य की सहस्रों अश्वमेधों से भी अधिक महिमा है।

अब तृतीय महाव्रत की व्याख्या में उक्त विषय का वर्णन करते हैं। यथा—

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं॥२५॥

चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहुम्।
न गृह्णात्यदत्तं यः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्॥२५॥

पदार्थान्वयः—चित्तमन्तम्—चेतना वाले पदार्थ वा—अथवा अचित्तं—चेतना रहित अप्प—स्तोक वा—अथवा बहु—बहुत जइ वा—यदि जे—जो अदत्त—बिना दिये न गिण्हाइ—ग्रहण नहीं करता तं वयं बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जितने भी सचित्त अथवा अचित्त, अल्प अथवा बहुत पदार्थ हैं, उनको जो विना दिये ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं—फिर वे सचित्त हों अथवा अचित्त हों—तथा उन पदार्थों को अल्प प्रमाण में या अधिक प्रमाण में, विना दिये अर्थात् उनके स्वामी की आज्ञा के विना जो कभी भी ग्रहण नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विना दिये, वस्तु का जो ग्रहण करना है, वह स्तेय—चोरी है। इसलिए कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब तक उसका स्वामी उसके लेने की आज्ञा न दे देवे, तब तक उसको लेने की शास्त्र आज्ञा नहीं देता। अतः जो व्यक्ति विना दिये किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता, वही सच्चा ब्राह्मण है। सचित्त—सजीव—चेतना वाले पदार्थ द्विपदादि, और अचित्त—निर्जीव—चेतनारहित पदार्थ तृण भस्मादिक हैं। यहाँ पर सचेतनादि के कहने का अभिप्राय यह है कि जो तृतीय महाव्रत को धारण करने वाले हैं, वे शिष्यादि को उनके सम्बन्धिजनों की आज्ञा के विना ग्रहण नहीं कर सकते अर्थात् दीक्षा नहीं दे सकते। निर्जीव तृण भस्मादि तुच्छ पदार्थों को भी स्वामी के आदेश विना ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है। अन्यत्र भी कहा है—'परद्रव्यं यदा दृष्टम् आकुले ह्यथवा रहे। धर्मकामो न गृह्णाति ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि।

अब चतुर्थ महाव्रत के प्रस्ताव में उक्त विषय का वर्णन करते हैं—

दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं , जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥२६॥

दिव्यमानुष्यतैरश्चं , यो न सेवते मैथुनम् ।
मनसा कायवाक्येन, त वय ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२६॥

पदार्थान्वयः—दिव्व—देव माणुस्स—मनुष्य और तेरिच्छ—तिर्यग्सम्बन्धी जो—जो मेहुणं—मैथुन को न सेवइ—सेवन नहीं करता मणसा—मन से काय—काया से वक्केण—वचन से तं वयं बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो देव, मनुष्य और तिर्यंच् सम्बन्धी मैथुन को मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—विजयघोष मुनि कहते हैं कि जो व्यक्ति देव, मनुष्य और पशुसम्बन्धी मैथुन का सेवन नहीं करता अर्थात् मन, वचन और शरीर इन तीनों से जिसने मैथुन का परित्याग कर दिया है, वही हमारे मत में ब्राह्मण है। यहाँ पर शरीर के अतिरिक्त मन और वचन के उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि मन, वाणी से भी मैथुन का त्याग कर देना चाहिए अर्थात् कामविषयक मानसिक चिन्तन और वाणी द्वारा कामोद्दीपक विषयों का निरूपण करना भी ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य है। कारण कि जिनके अन्तःकरण में कामसम्बन्धी वासना विद्यमान है और जो अपनी वाणी के द्वारा कामवर्द्धक सामग्री का सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हैं, वे पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले नहीं कहे जा सकते। अतः तीन योग और तीन करणों से जिसने मैथुन का परित्याग कर दिया है, वही पूर्ण ब्रह्मचारी है और उसी को ब्राह्मण कहते हैं। अन्यत्र भी लिखा है—'देवमानुषतिर्यक्षु मैथुनं वर्जयेत्सदा। कामरागविरक्तश्च ब्रह्म सम्पद्यते सदा॥' इत्यादि। प्रस्तुत गाथा में जो तिर्यग् शब्द का उल्लेख किया है, उसका कारण यह है कि बहुत से अज्ञ और पामर जीव ऐसे भी इस सृष्टि में विद्यमान हैं कि जो सृष्टिविरुद्ध आचरण करने से भी पीछे नहीं हटते। एतदर्थ अर्थात् तन्निषेधार्थ उक्त शब्द का उपादान किया गया है।

अब फिर पूर्वोक्त विषय में कहते हैं अर्थात् ब्राह्मणत्व के निरूपणार्थ पाँचवें महाव्रत का उल्लेख करते हैं। यथा—

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥२७॥

यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२७॥

पदार्थान्वयः—जहा—जैसे पोम—पद्म जले—जल में जायं—उत्पन्न हुआ वारिणा—जल से न—नहीं उवलिप्पइ—उपलिप्त होता एव—इसी प्रकार कामेहिं—कामभोगों से जो अलित्त—अलिप्त है त वय बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है परन्तु वह जल से उपलिप्त नहीं होता; इसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि जैसे कमल, कीच से उत्पन्न होकर जल के ऊपर ठहरता और जल के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करता हुआ भी जल से उपलिप्त नहीं होता, ठीक इसी प्रकार जो कामभोगों से उत्पन्न और वृद्धि को प्राप्त करके भी उनमें उपलिप्त नहीं होता उसी को हम ब्राह्मण मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष कामभोगों से कमलपत्र की तरह अलिप्त रहता है अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होता, वास्तव में वही ब्राह्मण है। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि कामभोग और परिग्रह इनको एक समझकर ही सूत्रकर्ता ने उनकी आसक्ति का निषेध किया है। अतः किसी भी भोग्य अथवा उपभोग्य वस्तु में आसक्ति का न रखना ही सूत्रकार को अभिप्रेत है। अन्यत्र भी कहा है—'यदा सर्वं परित्यज्य निस्सङ्गो निष्परिग्रहः। निश्चिन्तश्च चरेद् धर्मं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥' इत्यादि।

इस प्रकार मूलगुणों के द्वारा ब्राह्मणत्व का निरूपण किया गया, अब उत्तर गुणों से उसका वर्णन करते हैं—

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२८॥

अलोलुपं मुधाजीवितम्, अनगारमकिञ्चनम् ।
असंसक्तं गृहस्थेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२८॥

पदार्थान्वयः—अलोलुयं-लोलुपता से रहित मुहाजीविं-मुधाजीवी अणगार-अनगाररहित अकिंचणं-अकिंचन वृत्ति वाला असंसत्तं-असंसक्त गिहत्थेसु-गृहस्थों में तं वयं बूम माहणं-उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो अज्ञात उञ्छ वृत्ति वाला, लोलुपता से रहित, अनगार और अकिंचन—अकिंच वृत्ति वाला तथा गृहस्थों में आसक्ति न रखने वाला है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में साधु के उत्तम गुणों का वर्णन किया गया है, जो कि ब्राह्मणत्व के सम्पादक हैं। जयघोष मुनि कहते हैं कि ब्राह्मण वह है कि जिसमें आचारसम्बन्धी निम्नलिखित गुण विद्यमान हों अर्थात् इन आचरणीय गुणों से युक्त

व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहना चाहिए। तथाहि—अलोलुप—लोलुपता से रहित अर्थात् रसों में अमूर्च्छित—मूर्च्छा न रखने वाला। मुधाजीवी—अज्ञात—अपरिचित कुलों से निर्दोष भिक्षा के लेने वाला अर्थात् भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा चलाने वाला। अनगार—गृह, मठादि से रहित। अकिंचन—द्रव्यादि का परित्यागी और गृहस्थों में असंसक्त अर्थात् उनसे अधिक परिचय न रखने वाला। कारण कि गृहस्थों के अधिक परिचय में आने से आत्मा में किसी न किसी प्रकार के हानिकारक दोष के आ जाने की सम्भावना रहती है। सब इस सारे कथन का सारांश यह हुआ कि जो व्यक्ति रसों का त्यागी, निर्दोष भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने वाला, द्रव्य और गृह मठादि से रहित एवं गृहस्थों के अनावश्यक संसर्ग में नहीं आता, वही सच्चा ब्राह्मण है।

अब पूर्वोक्त विषय में फिर कहते हैं—

जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥२९॥

हित्वा पूर्वसंयोगं, ज्ञातिसंगाँश्च बान्धवान्।
यो न सजति भोगेषु, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥२९॥

पदार्थान्वयः—जहित्ता—छोड़कर पुव्व—पूर्व संजोग—संयोग य—और नाइसंगे—ज्ञातियों का सङ्ग बन्धवे—बन्धुजनों का सङ्ग जो—जो न सज्जइ—नहीं आसक्त होता भोगेसु—भोगों में तं वयं बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—जो पूर्वसंयोग तथा ज्ञाति और बन्धुजनों के सम्बन्ध को छोड़ने के अनन्तर फिर कामभोगों में खचित—आसक्त नहीं होता, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में व्याजरूप से त्यागवृत्ति को दृढ़तर रखने का उपदेश किया गया है। जयघोष मुनि कहते हैं कि, जिसने माता पिता के सम्बन्ध को त्याग दिया है, श्वसुर आदि के संग को भी छोड़ दिया है, ज्ञाति तथा सम्बन्धी जनों के मोह से अलग हो गया है तथा त्यागे हुए कामभोगों में जो फिर आसक्त

नहीं होता, वही ब्राह्मण है। तात्पर्य यह है कि विषयभोग और तज्जनक सामग्री के विषय में जो विरक्त हो चुका है अथवा विषयजन्य सुखों की जिसके हृदय में कल्पना तक नहीं है, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

अब वेदों, वेदविहित यज्ञों और उनका अनुष्ठान करने वाले याजकों के विषय में कहते हैं—

पसुबन्धा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायन्ति दुस्सीलं, कम्माणि बलवन्ति हि ॥३०॥

पशुबन्धाः सर्ववेदाः, इष्टं च पापकर्मणा।
न तं त्रायन्ते दुःशील, कर्माणि बलवन्ति हि ॥३०॥

पदार्थान्वयः—पसुबन्धा—पशुओं के वध-बन्धन के लिए सव्ववेया—सर्व वेद हैं च—और जट्ठ—यज्ञ पावकम्मुणा—पापकर्मों का हेतुभूत है तं—यज्ञ के करने वाले को न तायन्ति—रक्षा नहीं कर सकते। दुस्सील—दुराचारी को इह—तुम्हारे मत में कम्माणि—कर्म बलवन्ति—बलवान् हैं हु—खेद अर्थ में है।

मूलार्थ—सर्व वेद पशुओं के वध-बन्धन के लिए हैं और यज्ञ पापकर्म का हेतु है। ये वेद या यज्ञ वेदपाठी वा यज्ञकर्ता के रक्षक नहीं हो सकते अपितु पाप कर्मों को बलवान् बनाकर दुर्गति में पहुँचा देते हैं।

टीका—प्रस्तुत गाथा में वेदों के कर्मकाण्ड की आलोचना की गई है। जयघोष मुनि कहते हैं कि ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चारों वेद पशुओं के वध-बन्धनार्थ ही देखे जाते हैं। अश्वमेधादि यज्ञों में यूपों का वर्णन आता है। यज्ञमण्डप में गाड़े जाते हैं और उनके साथ बन्ध पशु बाँधे जाते हैं। इससे प्रतीत हुआ कि वेद प्रायः पशुओं के वध-बन्धनार्थ ही निर्मित हुए हैं। जब ऐसा है, तब तो हिंसात्मक होने से उक्त यज्ञ भी पापकर्म को ही जन्म देने वाला है। यज्ञ के लिए पशुओं की नियुक्ति का उल्लेख मन्वादि स्मृतियों के 'यज्ञार्थे पशवः सृष्टाः' इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त 'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों से यज्ञविषयक हिंसा का

उल्लेख प्रत्यक्ष पाया जाता है। अत इन उपरोक्त वैध यज्ञों के लिए वेदों का अध्ययन, पारलौकिक दुःखों से बचाने में कभी सहायक अथवा समर्थ नहीं हो सकता। उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि हिंसाजनक क्रियाओं के अनुष्ठान से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का तीव्र बन्ध होता है और उसी के कारण यह आत्मा दुर्गति में जाता है। इससे प्रमाणित हुआ कि वेदोक्त हिंसामय यज्ञों से किसी प्रकार के भी पुण्य फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी लिए सांख्यमत के मानने वालों ने भी इन वैध यज्ञों की बड़ी कड़ी आलोचना की है—'वृक्षाञ्छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर-कर्दमम्। यद्येवं प्राप्यते स्वर्गो नरके केन गम्यते ॥' अर्थात् यूपार्थ वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर और रुधिर का कीचड़ करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक-प्राप्ति के साधन कौन-से हैं ? तात्पर्य यह है कि इन उपायों से स्वर्ग की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यहाँ पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रस्तुत सूत्र के गत बारहवें अध्ययन में वेदों को हिंसा के विधायक नहीं माना किन्तु यह कहा है कि तुम वेदों को पढ़ते तो हो परन्तु उनके अर्थों का तुमको ज्ञान नहीं है। और यहाँ पर उसके विरुद्ध यह लिखा है कि समस्त वेद पशुबन्धनार्थ हैं, और तत्प्रति-पाद्य यज्ञादि कर्म पाप के हेतुभूत हैं। इस कथन से यह प्रतीत होता है कि जयघोष मुनि के समय में—हिंसात्मक वैदिक यज्ञों की प्रथा चल पड़ी थी और उसका प्रचार अधिक हो चुका था और वर्तमान काल में वेदों के जितने भी प्राचीन भाष्य उपलब्ध होते हैं, उनमें हिंसा का विधान पुष्कल रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक भाष्यों की भी यही दशा है। उदाहरणार्थ स्वर्गीय पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र के यजुर्वेदीय भाषाभाष्य को ले लीजिए। उसमें यजुर्वेद के २५वें अध्याय के आश्वमेधिक प्रकरण को पढ़िए और देखिए कि उसमें किस प्रकार से हिंसा का विधान किया गया है। वस्तुतः इसमें भाष्यकारों का कोई दोष नहीं। उन्होंने तो मूल वेदमन्त्रों का प्रकरणसङ्गत, प्रमाणयुक्त और मन्त्र के अनुसार जो अर्थ था, वह कर दिया है। अब रही स्वामी दयानन्द जी के भाष्य की बात, सो स्वामी जी का वेदभाष्य तो संसार में अपने नमूने का एक ही भाष्य है। उक्त भाष्य का विचारपूर्वक स्वाध्याय करने से पता चलता है कि यह भाष्य बिलकुल असम्बद्ध है। एक मन्त्र की दूसरे मन्त्र से न तो कोई प्रकरणगत सगति है और न किसी

मकार का अर्थगत सम्बन्ध है । एवं वेदमन्त्रों के जो अर्थ किये हैं, उनमें भी किसी प्रामाणिक अथवा युक्तियुक्त सरणि का अनुसरण नहीं किया । इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द जी ने वेदों को हिंसा के कलङ्क से मुक्त कराने का अपने भाष्य में बड़ा प्रयत्न किया है । मन्त्रों के पदों को इधर उधर तोड़-मरोड़कर उनका मनमाना अर्थ और भाव निकालने में बड़े साहस से काम लिया है । परन्तु इस कथन में भी स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कि वे इस काम में बुरी तरह असफल हुए हैं । सारांश यह है कि वर्तमान काल में ऋग्, यजु आदि के नाम से प्रसिद्ध वेद और सायण, महीधर, उव्वट आदि आचार्यों के संस्कृतभाष्य तथा पण्डित ज्वालाप्रसाद आदि अन्य आधुनिक विद्वानों के भाषाभाष्यों को देखने से एक तटस्थ विद्वान् के हृदय में जो भाव अङ्कित हो सकते हैं, उन्हीं को प्रस्तुत गाथा में संक्षेप से व्यक्त किया गया है ।

अब प्रकारान्तर से उक्त विषय का वर्णन करते हैं । यथा—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥

नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओङ्कारेण ब्राह्मणः ।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः ॥३१॥

पदार्थान्वयः—न वि–न तो मुण्डिएण–मुण्डित होने से समणो–श्रमण होता है न–न ओंकारेण–ओंकार पढ़ने मात्र से बम्भणो–ब्राह्मण होता है रण्णवासेण–अरण्य में निवास करने से न मुणी–मुनि नहीं होता न–नहीं कुसचीरेण–कुश वस्त्रों से—कुशा आदि तृणों के पहनने मात्र से तावसो–तपस्वी होता है ।

मूलार्थ—केवल शिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं बन सकता, केवल ओंकार मात्र कहने से ब्राह्मण नहीं हो सकता, और जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि तथा कुशा आदि के वस्त्र धारण कर लेने से कोई तापस—तपस्वी नहीं हो सकता ।

टीका—प्रस्तुत गाथा में बाह्य लिंग की अवगणना की गई है अर्थात् जो लोग केवल बाह्य लिंग को ही कार्य का साधक समझते हैं, उनके विचारों की आलोचना

की गई है। जयघोष मुनि कहते हैं कि कोई व्यक्ति केवल सिर मुँडा लेने से श्रमण नहीं बन सकता, जब तक उसमें श्रमणोचित गुण विद्यमान न हों और न ही कोई पुरुष, मात्र ओङ्कार अर्थात् ॐभूर्भुवःस्वः इत्यादि गायत्रीमन्त्र के उच्चारण कर लेने मात्र से ब्राह्मण हो सकता है। इसी प्रकार केवल अरण्य—वन—में निवास कर लेने मात्र से मुनि भी नहीं हो सकता, तथा कुश—दर्भ—और वल्कल आदि के पहन लेने से कोई तपस्वी भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ये तो सब बाह्य के चिह्नमात्र केवल पहचान के लिए ही हैं। इनसे कार्यसिद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं। कार्यसिद्धि का सम्बन्ध तो अन्तरंग साधनों से ही है। तथा—'ॐकार मात्र से ब्राह्मण नहीं हो सकता' इस कथन का तात्पर्य यह है कि केवल पाठमात्र का उच्चारण कर लेना ही ब्राह्मणत्व के लिए पर्याप्त नहीं किन्तु ब्राह्मणोचित गुणों का धारण करना आवश्यक है। इसी प्रकार दूसरे नामों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। अन्यत्र भी कहा है—'मुण्डनात् श्रमणो नैव, संस्काराद् ब्राह्मणो न वा। मुनिर्नारण्य-वासित्वात्, वल्कलाच्च च तापसः ॥' इत्यादि।

फिर किन कारणों से श्रमणादि हो सकते हैं? अब इस विषय में कहते हैं—

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥

समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः ॥३२॥

पदार्थान्वयः—समयाए—समभाव से समणो—श्रमण होइ—होता है, बम्भचेरेण—ब्रह्मचर्य से बम्भणो—ब्राह्मण होता है य—और नाणेण—ज्ञान से मुणी—मुनि होइ—होता है तवेण—तप से तावसो—तपस्वी होइ—होता है।

मूलार्थ—समभाव से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी होता है।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि श्रमण वह होता है कि जिसमें समभाव हो अर्थात् रागद्वेषादि से अलग होकर जिसके आत्मा में समभाव की परिणति हो रही

हो, वह श्रमण है। इसी प्रकार मन, वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य के धारण करने वाला ब्राह्मण होता है। 'ब्रह्म' शब्द के दो अर्थ हैं—एक शब्दब्रह्म, दूसरा परब्रह्म। इसके अतिरिक्त ब्रह्म शब्द कुशलानुष्ठान का वाचक भी है। इसलिए जो व्यक्ति शब्दब्रह्म में निष्णात होकर परब्रह्म—अहिंसादि महाव्रतों और कुशलानुष्ठान को धारण करता है, वही ब्राह्मण है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान—तत्त्वज्ञान से मुनि होता है, अर्थात् जो तत्त्वविद्या में निष्णात हो, वह मुनि है। इसी भाँति तप का आचरण करने वाला तापस है। इच्छा के निरोध को तप कहते हैं अर्थात् जिसने इच्छाओं का निरोध कर दिया हो, वह तपस्वी है। प्रस्तुत गाथा में जो कुछ कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि गुणों से ही पुरुष श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तपस्वी हो सकता है, न कि बाहर के केवल वेष मात्र से—द्रव्यलिंग मात्र से।

इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णों का विभाग भी कर्म के ही अधीन है। तथाहि—

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥३३॥

कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यो कर्मणा भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥३३॥

पदार्थान्वयः—कम्मुणा—कर्म से बम्भणो—ब्राह्मण होइ—होता है कम्मुणा—कर्म से खत्तिओ—क्षत्रिय होइ—होता है। वईसो—वैश्य कम्मुणा—कर्म से होइ—होता है। सुद्दो—शूद्र कम्मुणा—कर्म से हवइ—होता है।

मूलार्थ—कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

टीका—प्रस्तुत गाथा में ब्राह्मणादि चारों वर्णों की उत्पत्ति और स्थिति का संक्षेप से वर्णन किया गया है। जैसे कि मनुष्यजाति तो एक ही है परन्तु क्रिया विभाग से चारों वर्णों की मर्यादा स्थापन की गई है। जिस समय मनुष्यजाति में अकर्म-भूमिज मनुष्य थे, उस समय वर्णव्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं

थी, परन्तु जब वे कर्मभूमियों की आकृति में आये, तब से उनकी क्रिया के अनुसार चारों वर्णों की स्थापना की गई। यथा—'क्षमा दान दमो ध्यान सत्यं शौचं धृतिर्घृणा। ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥' इत्यादि वाक्योक्त क्रियाओं के आचरण करने वालों की ब्राह्मण संज्ञा हुई। क्षत नाम भय का है। अतः जो भय आदि से लोगों का संरक्षण करने लगे और परोपकार के लिए अपने जीवन को न्योछावर करने लगे, वे क्षत्रिय संज्ञा से अलङ्कृत हुए। जिन्होंने कृषिकर्म, पशुपालन और व्यापारादि में निपुणता प्राप्त कर ली, वे वैश्य कहलाए और जो शिल्पकला और सेवा-कर्म में प्रवीण निकले, उनको शूद्र कहा गया। फिर इन चारों वर्णों के कुल बन गये। जैसे कि ब्राह्मणकुल, क्षत्रियकुल, वैश्यकुल और शूद्रकुल। इस प्रकार इन चारों वर्णों की उत्पत्ति कर्मों से ही मानी गई है। इस प्रकार का कथन महाभारत में भी विद्यमान है। यथा—'एकवर्णमिदं सर्वं, पूर्वमासीत् युधिष्ठिर! क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥' तात्पर्य यह है कि प्रथम एक ही वर्ण था। फिर क्रियाकर्म के विभाग से चारों वर्णों की व्यवस्था की गई।

सर्वज्ञ ने इस बात का पहले उपदेश किया है। अब इसी विषय में कहते हैं। यथा—

एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥३४॥

एतान्प्रादुरकार्षीद् बुद्धः, यैर्भवति स्नातकः।
सर्वकर्मविनिर्मुक्तं, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् ॥३४॥

पदार्थान्वयः—एए—इन अनन्तरोक्त धर्मों को पाउकरे—प्रकट किया बुद्ध—बुद्ध ने—सर्वज्ञ ने जेहिं—जिनसे सिणायओ—स्नातक होइ—होता है सव्व—सर्व कम्म—कर्मों से विणिम्मुक्कं—विनिर्मुक्त त वयं बूम माहणं—उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलार्थ—इस धर्म को बुद्ध ने—सर्वज्ञ ने प्रकट किया, जिससे कि यह जीव स्नातक हो जाता है। और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

टीका—जयघोष मुनि कहते हैं कि यह पूर्वोक्त वर्णन मैंने अपनी बुद्धि से नहीं किया किन्तु यह सब जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ है, जो कि बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ हैं। इन पूर्वोक्त धर्मों के आराधन से यह जीव स्नातक हो जाता है, और कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यहाँ पर स्नातक शब्द से, केवली का ग्रहण करना अभीष्ट है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि महाव्रतों के यथाविधि अनुष्ठान से यह आत्मा केवलज्ञान की प्राप्ति करता हुआ सर्व प्रकार के कर्मों का समूल घात कर देता है। उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं इत्यादि। जैनमत में स्नातक नाम केवली का है, वैदिकमत में चारों वेदों के पाठी को स्नातक कहते हैं। और बौद्धमत में बुद्ध को माना गया है। सर्वकर्मविप्रमुक्त का अर्थ, चारों घाती कर्मों का क्षय करने वाला है। इसके अतिरिक्त एकवचन 'अहम्' के स्थान पर जो बहुवचन 'वयम्' का प्रयोग किया है, वह—'द्वौ च अस्मदोऽविशेषणे' इस सूत्र के आधार से किया गया है। और 'विणिमुक्कं—विनिर्मुक्तम्' यहाँ प्रथमा के स्थान पर द्वितीया है।

अब उक्त विषय का उपसंहार करते हुए अन्तिम प्रश्न के विषय में कहते हैं—

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥३५॥

एवं गुणसमायुक्ताः, ये भवन्ति द्विजोत्तमाः।
ते समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च ॥३५॥

पदार्थान्वयः—एवं-पूर्वोक्त गुण-गुणों से समाउत्ता-समायुक्त जे-जो दिउत्तमा-द्विजोत्तम भवन्ति-होते हैं ते-वे समत्था-समर्थ हैं समुद्धत्तुं-उद्धार करने को परम्-पर के य-और अप्पाणं-अपने आत्मा का एव-अवधारणार्थक है।

मूलार्थ—उक्त प्रकार के गुणों से युक्त जो द्विजेन्द्र हैं, वे ही स्वात्मा को और पर को संसार-समुद्र से पार करने को समर्थ हैं।

टीका—अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में कौन पुरुष समर्थ हो सकता है, इस अवशिष्ट प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत गाथा में दिया गया है।

जयघोष मुनि कहते हैं कि पूर्व प्रकरण में अहिंसा और सत्य प्रभृति जितने भी ब्राह्मणत्व के सम्पादक गुण बतलाये गये हैं, उन गुणों से युक्त जो आत्मा है, वही अपने और पर के उद्धार करने में समर्थ है और इसी लिए वह द्विजोत्तम—द्विजों में श्रेष्ठ—है। इसके विपरीत जिस आत्मा में उक्त गुण विद्यमान नहीं हैं, वह वास्तव में वेदवित्, यज्ञार्थी और धर्म का पारगामी भी नहीं है। फिर उसको 'स्व' और 'पर' का उद्धारक कहना या मानना भी केवल साहसमात्र है। जैसे कीचड़ से कीचड़ की शुद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार हिंसा आदि क्रूर कर्मों के आचरण से आत्मा की शुद्धि भी नहीं हो सकती। इसीलिए सच्चा वेदवित्, सच्चा यज्ञार्थी और धर्म का पारगामी सच्चा ब्राह्मण बनने तथा 'स्व' 'पर' का उद्धारक बनने के लिए पूर्वोक्त गुणों का धारण करना ही नितान्त आवश्यक है।

इसके अनन्तर फिर क्या हुआ ? अब इस विषय में कहते हैं—

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य बम्भणे।
समुदाय तयओ तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥३६॥

एवं तु संशये छिन्ने, विजयघोषश्च ब्राह्मणः।
समादाय ततस्तं तु, जयघोषं महामुनिम् ॥३६॥

पदार्थान्वयः—एवं—इस प्रकार संसए—संशय के छिन्ने—छेदन हो जाने पर विजयघोसे—विजयघोष बम्भणे—ब्राह्मण य—फिर समुदाय—सम्यक् निश्चय कर तओ—तदनन्तर तं—उसको जयघोसं—जयघोष महामुणिं—महामुनि को पहचान लिया। तु—वाक्यालङ्कार में है।

मूलार्थ—इस प्रकार संशयों के छेदन हो जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने विचार करके जयघोष मुनि को पहचान लिया कि यह मेरा भ्राता है।

टीका—जयघोष मुनि ने जब अपना वक्तव्य समाप्त किया, तब विजयघोष ब्राह्मण ने उनकी वाणी और आकृति से उनको पहचान लिया अर्थात् यह मेरा भ्राता ही है, इस प्रकार उसको निश्चय हो गया। वास्तव में शरीर की आकृति, वाणी और सहवास—वार्तालाप आदि से पूर्व विस्मृत पदार्थों की स्मृति हो ही जाया करती है।

प्रस्तुत गाथा में 'तु' शब्द वाक्यान्तरोपन्यास अर्थ में गृहीत किया गया है। यथा 'च' पूरणार्थक भी है। 'समुदाय' यह आर्ष प्रयोग 'समादाय' का प्रतिरूप है। किसी २ प्रति में 'बम्भणे' के स्थान पर 'माहणे' लिखा है। अर्थ दोनों का एक ही है।

इस प्रकार पहचान लेने के अनन्तर विजयघोष ने फिर जो कुछ किया, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥३७॥

तुष्टश्च विजयघोष, इदमुदाह कृताञ्जलिः।
ब्राह्मणत्वं यथाभूतं, सुष्ठु मे उपदर्शितम् ॥३७॥

पदार्थान्वयः—तुट्ठे–तुष्ट हुआ विजयघोसे–विजयघोष इणम्–यह वक्ष्यमाण वचन कयंजली–हाथ जोड़कर उदाहु–कहने लगा। माहणत्त–ब्राह्मणत्व जहाभूय–यथाभूत, यथार्थ सुट्ठु–भली भाँति मे–मुझे उवदंसिय–उपदर्शित किया।

मूलार्थ—प्रसन्न हुआ विजयघोष हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगा कि हे भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को मेरे प्रति बहुत ही अच्छी तरह प्रदर्शित किया है।

टीका—जब विजयघोष ने यह जान लिया कि ये मुनिराज तो मेरे पूर्वाश्रम के भाई हैं, तब उसको बड़ी प्रसन्नता हुई और हाथ जोड़कर जयघोष मुनि से कहने लगा कि भगवन्! आपने ब्राह्मणत्व के यथावत् स्वरूप को बहुत ही अच्छी तरह से प्रदर्शित किया है। तात्पर्य यह है कि आपने ब्राह्मण के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वास्तव में वही यथार्थ हैं। अर्थात् इन लक्षणों से लक्षित या इन गुणों से युक्त जो व्यक्ति है, उसी को ब्राह्मण कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त विजयघोष के प्रसन्न होने के दो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गये—एक तो संशयों का दूर होना और दूसरे वर्षों से गये हुए भ्राता का मिलाप होना। इसलिए यह अतिप्रसन्नचित्त होकर जयघोष मुनि के पूर्वोक्त वर्णन का सविनय समर्थन करने लगा।

इस प्रकार प्रसन्न हुए विजयघोष ने अपने पूज्य भ्राता जयघोष मुनि से जो कुछ कहा, अब उसका वर्णन करते हैं—

तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविऊ विऊ।
जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥३८॥

यूयं यष्टारो यज्ञानां, यूयं वेदविदो विदः।
ज्योतिषाङ्गविदो यूयं, यूयं धर्माणां पारगाः ॥३८॥

पदार्थान्वयः—तुब्भे-आप जन्नाणं-यज्ञों के जइया-यजन करने वाले हैं तुब्भे-आप वेयविऊ-वेदों के वेत्ता हैं विऊ-विद्वान् हैं तुब्भे-आप जोइसंग-ज्योतिषांग के विऊ-पण्डित हैं तुब्भे-आप धम्माण-धर्मों के पारगा-पारगामी हैं।

मूलार्थ—हे भगवन्, आप यज्ञों के करने वाले हैं। आप वेदों के ज्ञाता—वेदविद्या के पण्डित हैं। आप ज्योतिषांग के वेत्ता और धर्मों के पारगामी हैं।

टीका—कोई २ ऐसा पाठ भी पढ़ते हैं—'सजाणतो सओ त तु'—जानते हुए कि यह मेरा भाई है। तब विजयघोष ने जयघोष मुनि के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—हे भगवन्! वास्तव में आप ही यज्ञों के याजक हैं, आप ही वेदविद्या के पूर्ण ज्ञाता हैं, अर्थात् आप ही वेदों के पूर्ण विद्वान् हैं तथा ज्योतिषांग के पूर्ण ज्ञाता भी आप ही हैं। और धर्मों—सदाचारसम्बन्धी नियमों के पारगामी भी आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे आप सर्वशास्त्रों में निष्णात हैं, वैसे ही आप चरित्र के पालन में भी सर्वथा परिपूर्ण हैं अर्थात् जहाँ आप ज्ञानवान् हैं वहाँ आप चारित्रवान् भी हैं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह सद्भूत गुणों की स्तुति है, इसमें अतिशयोक्ति नहीं है।

अब फिर इसी विषय में कहते हैं—

तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करेहम्हं, भिक्खेणं भिक्खु उत्तमा ॥३९॥

यूयं समर्थाः समुद्धर्तुं, परमात्मानमेव च।
तदनुग्रहं कुरुतास्माकं, भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः ॥३९॥

पदार्थान्वयः—तुब्भे-आप समत्था-समर्थ हैं उद्धत्तु-उद्धार करने में परम्-पर का य-और अप्पाणम्-अपने आत्मा का एव-पादपूर्ति में है तम्-इसलिए

भिक्खेण–भिक्षा से अम्ह–हमारे ऊपर अणुग्गहं–अनुग्रह करेह–करो भिक्खुउत्तमा–हे भिक्षुओं में उत्तम !

मूलार्थ—हे परमोत्तम भिक्षु ! आप अपने और पर के आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हो। इसलिए आप भिक्षा द्वारा हमारे ऊपर अनुग्रह करो।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जयघोष मुनि की स्तुति करते हुए साथ में उनसे भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है। विजयघोष कहते हैं कि आप भिक्षुओं में उत्तम भिक्षु हैं और आप तत्त्ववेत्ता होने के कारण 'स्व' और 'पर' के उद्धार करने की भी अपने आत्मा में पूर्ण शक्ति रखते हैं। अतः आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप भिक्षा द्वारा हमारे ऊपर अनुग्रह करें अर्थात् भिक्षा लेकर हमें अनुगृहीत करें। तात्पर्य यह है कि आप यहाँ से भिक्षा अवश्य ग्रहण करें। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि विजयघोष ने जयघोष मुनि की सेवा में भिक्षा के लिए जो प्रार्थना की है, वह भावपूर्ण और शुद्ध हृदय से की है। अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ को योग्य पात्र का अवसर प्राप्त होने पर अपने अन्तःकरण में इसी प्रकार के भावों को स्थान देना चाहिए।

विजयघोष की इस प्रार्थना के उत्तर में जयघोष मुनि ने जो कुछ कहा, अब उसका निरूपण करते हैं—

न कज्जं मज्झ भिक्खेण, खिप्पं निक्खमसू दिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे, घोरे संसारसागरे ॥४०॥

न कार्यं मम भैक्ष्येण, क्षिप्रं निष्क्राम द्विज !
मा भ्रम भयावर्ते, घोरे संसारसागरे ॥४०॥

पदार्थान्वयः—मज्झ–मुझे भिक्खेण–भिक्षा से न कज्जं–कार्य नहीं है दिया–हे द्विज ! खिप्पं निक्खमसू–तू शीघ्र ही दीक्षा को ग्रहण कर मा भमिहिसि–मत भ्रमण कर भयावट्टे–भयों के आवर्त वाले घोरे–भयंकर संसारसागरे–संसार रूप समुद्र में।

मूलार्थ—हे द्विज ! मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नहीं, तू शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण कर और भयों के आवर्त वाले इस घोर संसारसागर में भ्रमण मत कर।

टीका—विजयघोष द्वारा भिक्षा के लिए की गई प्रार्थना को सुनकर जयघोष मुनि बोले कि मुझे भिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। मेरा प्रयोजन तो यहाँ पर आने का यह है कि तुम इस ससार को छोड़ो और जल्दी ही दीक्षा ग्रहण करो। इस ससाररूपी समुद्र में तुम भ्रमण मत करो—गोते मत खाओ। यह ससार समुद्र बड़ा भयङ्कर है। इसमें अनेक प्रकार के भय रूप आवर्त—चक्र—हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे समुद्र अनेक प्रकार के आवर्तों से युक्त अतएव भयङ्कर है, इसी प्रकार यह ससार भी ऐहिक और पारलौकिक भयों से युक्त होने से महाभयङ्कर और नाना प्रकार के दुःखों का घर है। इसलिए तुम इस ससार-सागर से पार होने का अति शीघ्र प्रयत्न करो और वह प्रयत्न यही है कि तुम इस ससार को छोड़कर प्रव्रजित हो जाओ।

अब इसी कथन का समर्थन करते हुए फिर कहते हैं—

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥४१॥

उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्राम्यति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥४१॥

पदार्थान्वयः—उवलेवो-कर्मों का उपलेप होइ-होता है भोगेसु-कामभोगों में अभोगी-अभोगी जीव नोवलिप्पई-कर्मों से लिप्त नहीं होता भोगी-भोगी जीव ससारे-ससार में भमइ-भ्रमण करता है अभोगी-अभोगी जीव विप्पमुच्चई-कर्मबन्धन से छूट जाता है।

मूलार्थ—कर्मों का उपचय भोगों से होता है और अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता, तथा भोगी ससार में भ्रमण करता है और अभोगी बन्धन से छूट जाता है।

टीका—जयघोष मुनि फिर कहते हैं कि जो जीव शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि विषयों में लगे हुए हैं, वे ही आत्मा में कर्मों का उपचय करते हैं। जिन आत्माओं ने इन विषयों का त्याग कर दिया है, वे कर्मों से लिप्त

नहीं होते। इस प्रकार जिन जीवों ने कर्मों का उपचय किया है और जिन्होंने नहीं किया, उन दोनों के फल में अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि जो भोगी जीव हैं, वे तो संसारचक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं, और जिन्होंने इन विषयभोगों को सर्वथा त्याग दिया है, वे अभोगी आत्मा इस संसारचक्र से निकलकर अर्थात् कर्मों के जाल को सर्व प्रकार से तोड़कर मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं। तात्पर्य यह है कि भोगों में आसक्ति रखने वाले जीव जन्म-मरण की परम्परा में फँसे रहते हैं और अभोगी—विषयभोगों से विरक्त—जीव कर्मों के बन्धन को तोड़कर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को उचित है कि वह इन कामभोगादि विषयों को त्यागने का प्रयत्न करे।

अब उक्त विषय को एक दृष्टान्त के द्वारा स्फुट करते हैं। यथा—

उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥४२॥

आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ, गोलकौ मृत्तिकामयौ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये, य आर्द्रः स तत्र लगति ॥४२॥

पदार्थान्वयः—उल्लो—आर्द्र य—और सुक्खो—शुष्क दो—दो छूढा—गेरे हुए गोलया—गोले मट्टियामया—मृत्तिकामय—मिट्टी के दो वि—दोनों ही आवडिया—गिरे हुए कुड्डे—भीत पर जो—जो उल्लो—आर्द्र—गीला होगा सो—वह अत्थ—उस भीत में लग्गई—लग जाता है।

मूलार्थ—गीला और शुष्क दो मिट्टी के गोले भीत पर फेंके गये। उनमें जो गीला होता है, वह भीत पर चिपट जाता है।

टीका—कर्मों के लेपसम्बन्धी विषय को समझाने के लिए मट्टी के दो गोलों का दृष्टान्त बड़ा ही स्थूल और जल्दी समझ में आ जाय, ऐसा है। जैसे कि मट्टी के दो गोले हैं। उनमें एक गीला है और दूसरा सूखा हुआ है। उन दोनों को यदि कोई पुरुष भीत पर फेंके तो उनमें जो गीला है, वह तो वहाँ चिपट जाता है और जो सूखा होता है, वह नहीं चिपटता, किन्तु नीचे गिर जाता है।

अथ इसी को दृष्टान्त में घटाते हुए कहते हैं—

एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥४३॥

एवं लगन्ति दुर्मेधसः, ये नराः कामलालसाः ।
विरक्तास्तु न लगन्ति, यथा स शुष्क गोलकः ॥४३॥

पदार्थान्वयः—एव-इसी प्रकार लग्गन्ति-कर्मों का बन्ध करते हैं जे-जो नरा-पुरुष दुम्मेहा-दुष्ट बुद्धि वाले कामलालसा-कामभोगों की लालसा करने वाले विरत्ता-जो विरक्त हैं उ-निश्चय में है न लग्गन्ति-उनको कर्मों का बन्धन नहीं होता जहा-जैसे से-वह सुक्क-सूखा हुआ गोलए-गोला ।

मूलार्थ—इसी प्रकार जो नर विषयों में मूर्च्छित हैं, उन्हीं को कर्म चिपटते हैं । और जो विषयों से विरक्त हैं उनको ये कर्म नहीं चिपटते । जैसे कि सूखा हुआ गोला भीत पर नहीं चिपटता ।

टीका—इस गाथा में अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त से कर्मों के उपचय की सिद्धि की गई है । जो पुरुष दुष्टबुद्धि वाले और कामभोगों में लालसा रखने वाले हैं, उन्हीं को ये कर्माणु चिपटते हैं । जैसे कि मट्टी का गीला गोला भीत पर चिपट जाता है । इसमें अन्वय दृष्टान्त इसका यह है कि जब विषयवासना उत्पन्न हुई, तब ही कर्मों का उपचय आत्मा के साथ हो गया अर्थात् विषयवासना के साथ ही कर्मों का बन्ध हो जाता है । व्यतिरेक दृष्टान्त यह है कि जब विषय-वासना जाती रही, तब कर्मों का उपचय भी अर्थात् कर्मों का बन्ध भी नहीं होता । जैसे कि शुष्क गोले को भीत पर फेंकने से भी वह उससे नहीं चिपटता, ठीक इसी प्रकार विषयविरक्त आत्मा के साथ भी कर्मों का उपचय नहीं होता । यहाँ पर इतना और स्मरण रहे कि यज्ञमण्डप में उपस्थित हुए विद्वानों के सामने कर्मोपचय के सम्बन्ध में इस प्रकार अति स्थूल दृष्टान्त देने का तात्पर्य इतना ही प्रतीत होता है कि उन विद्वानों के साथ यज्ञमण्डप में बैठे हुए अनेक साधारण बुद्धि रखने वाले मनुष्य भी उपस्थित थे, जो कि इस अति सूक्ष्म विषय को सहज में समझने

की योग्यता नहीं रखते थे। इसलिए परमदयालु जयघोष मुनि ने उनके बोधार्थ इस अति सहज और स्थूल दृष्टान्त को व्यवहार में लाने की चेष्टा की, जिससे कि वे लोग इस सरल दृष्टान्त के द्वारा कर्मबन्ध के विषय को अच्छी तरह से समझ जायँ। जैसेकि स्थानांगसूत्र में लिखा है—'हणा जाणइ' अर्थात् बहुत से जीव हेतु के द्वारा बोध को प्राप्त होते हैं।

जयघोष मुनि के इस सारगर्भित उपदेश को सुनने के अनन्तर विजयघोष याजक ने क्या किया अर्थात् उसकी आत्मा पर मुनि जी के उक्त उपदेश का क्या प्रभाव पड़ा और उसने फिर क्या किया, अब इस विषय में कहते हैं—

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अन्तिए।
अणगारस्स निक्खन्तो, धम्मं सोच्चा अणुत्तरं॥४४॥

एव स विजयघोषः, जयघोषस्यान्तिके ।
अनगारस्य निष्क्रान्त , धर्मं श्रुत्वाऽनुत्तरम् ॥४४॥

पदार्थान्वयः—एव—इस प्रकार से—वह विजयघोसे—विजयघोष जयघोसस्स—जयघोष अणगारस्स—अनगार के अन्तिए—समीप अणुत्तरं—प्रधान धम्म—धर्म को सोच्चा—सुनकर निक्खन्तो—दीक्षित हो गया।

मूलार्थ—इस प्रकार विजयघोष ब्राह्मण, जयघोष मुनि के पास सर्वप्रधान धर्म को श्रवण करके दीक्षित हो गया।

टीका—प्रस्तुत गाथा में जयघोष मुनि के उपदेश की सफलता का दिग्दर्शन कराया गया है। जयघोष मुनि के सात्त्विक और सारगर्भित उपदेश को सुनकर अर्थात् यज्ञ, अग्निहोत्र और ब्राह्मणत्व आदि विषयों की जयघोष मुनि के द्वारा की गई सत्य और युक्तियुक्त व्याख्या को सुनकर विजयघोष ब्राह्मण ने ससार का परित्याग करके उनके समीप मुनिवृत्ति को अंगीकार कर लिया—मुनिधर्म में दीक्षित हो गया। वास्तव में जो भद्रप्रकृति के मनुष्य होते हैं, वे सन्मार्ग पर बहुत ही शीघ्र आ जाते हैं।

अब प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए उक्त दोनों मुनिवरों की दीक्षा के फलविषय में कहते हैं—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥४५॥
त्ति बेमि।

इति जन्नइज्जं पञ्चवीसइमं अज्झयणं समत्तं ॥२५॥

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि, संयमेन तपसा च।
जयघोषविजयघोषौ , सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥४५॥
इति ब्रवीमि।

इति यज्ञीयं पञ्चविंशातितममध्ययनं समाप्तम् ॥२५॥

पदार्थान्वयः—खवित्ता—क्षय करके पुव्वकम्माइ—पूर्वकर्मों को संजमेण—सयम से य—और तवेण—तप से जयघोसविजयघोसा—जयघोष और विजयघोष अणुत्तरं—सर्वप्रधान सिद्धिं—सिद्धि को पत्ता—प्राप्त हुए। त्ति बेमि—इस प्रकार मैं कहता हूँ। यह यज्ञीय नामक पचीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

मूलार्थ—संयम और तप के द्वारा पूर्वकर्मों को क्षय करके जयघोष और विजयघोष दोनों सर्वप्रधान सिद्धगति को प्राप्त हो गये।

टीका—प्रस्तुत गाथा में दोनों मुनियों की दीक्षा के फल का वर्णन किया गया है। यथा—दोनों मुनियों ने सयम और तप के द्वारा कर्मों का क्षय करके पुनरावृत्तिशून्य सर्वप्रधान मोक्षगति को प्राप्त कर लिया। यही मुनिवृत्ति के धारण और आचरण करने का अन्तिम फल है। कर्मों को क्षय करने के लिए सयम और तप ही कारण हैं। अथवा यों कहिए कि कर्म, तप और सयम के द्वारा ही क्षय किये जाते हैं। इनको क्षय करने का और कोई साधन नहीं, यह इस गाथा का ध्वनितार्थ है।

इसके अतिरिक्त 'त्ति बेमि' का अर्थ प्रथम की भाँति ही समझ लेना चाहिए।

पञ्चविंशाध्ययन समाप्त।

उत्तराध्ययनसूत्रम्

शब्दार्थ-कोष

अ=और-पुन: ८००, ८२३, ८२७, ८२८, ८५४, ८५६, ८७६, ६५५, ६८१
अइ=अति ८१८
अइगया=वापस चले आये ६७४
अइच्छन्त=चलते हुए ७७४
अइदुस्सहा=अतिदुस्सह ८३७
अइमत्त=प्रमाण से अधिक ६६२
अइमायाए=अतिमात्रा से ६८१, ६२३
अइमायं=प्रमाण से अधिक ४६५
अइयाओ=चला गया ६२३
अउला=अतुल-उपमा रहित ८८१
अउलो=अतुल ८६८
अकम्पमाणे=अकम्पायमान होता हुआ ६४४
अकाऊण=न करके ७८८
अकामकामे=काम भोगों की कामना न करने वाला अर्थात् मुक्ति की कामना करने वाला ६४१
अकासि=करते हुए ६०६
अकिच्चं=अकरणीय है ५६८
अकिंचणा=द्रव्य से रहित ६२७
अकिंचणे=अकिंचन ६५६
अकिंचणं=अकिंचन वृत्ति वाला ११२५
अकिरियं=अक्रिया को ७४६, ७५०
अकुक्कुओ=जो भी कुत्सित शब्द न करता हुआ ६४३
अकुसेण=अंकुश से ६६२
अक्कोसवहं=आक्रोश वध को ६४३
अक्कोसा=आक्रोश गाली आदि ७६६
अगणी=अग्नि ८१३
अगिहे=घर से रहित ६६०
अगन्धणे=अगंधन ६८७
अगवियारं=अंग विचार-विद्या ६४८
अगं=मस्तक आदि अंग ६८६
अचयन्तो=असमर्थ होकर १११०
अचित्त=चेतना रहित ११२२
अचिरकालकयम्मि=अचिर काल के अर्चित हुए स्थान में १०८७
अचिरेणेव=थोड़े ही ६३७
अचेलगो=अचेलक १००८, १०२९
अजसोकामी=अयश की कामना करने वाले ६८८
अजाणगा=तत्त्व से अनभिज्ञ १११९

अभिक्खं=वार वार ६२३
अभिक्खणं=वार वार ६८८, ७०६, ७१४, ७१५
अभिनिक्खम्म=घर से निकलकर ६२३
अभिजायसड्ढा=उत्पन्न हुई है मोक्ष में जाने की श्रद्धा जिनमें ५८६
अभिगम्म=आश्रित करके ६००
अभिभूय=परिषदों को जीतकर ६४२, ६५८
अभिरोयएज्जा=अभिरुचि करता हुआ ६३४, ६३६
अभिलसणिज्जे-अभिलषणीय=प्रार्थनीय ६८३
अभिलसिज्जमाणस्स=प्रार्थना किए हुए ६८३
अभिवन्दिऊण=वन्दना करके ६२३
अभिवन्दित्ता=वन्दना करके १०६८
अभोगी=जीव ११३८
अममे=ममता रहित ६४६
अमहग्घए=अल्प मूल्य वाला ६०३
अमयं न=अमृत की भाँति ७२१
अमित्तमू=शत्रु है ८६७
अमित्ते=मित्र रहित ६६०
अमुत्तभावा=अमूर्त होने से ६०३
अमुत्तभावावि=अमूर्त भाव होने पर भी ६०३
अमोहा=शस्त्र धारा ६०७, ६०८
अमोहाहिं=अमोघ ६०६
अब्बवी=कहने लगा ७७८, ६३२, ६६३, १०१६, १०१७, १०२०, १०२७, १०३२, १०३६, १०४०, १०४३, १०५४, ११०८
अब्भुवगओ=प्राप्त हुआ ७५२
अब्भाहओ लोगो=पीडित किया लोक ६०७
अब्भाहओ=पीडित है ६०८
अब्भाहयंमि=पीडित हुए ६०६
अम्म=हे माता ८५१
अम्मं=हे माता ७८०
अम्मापियरं=माता पिता के पास ७७८, ८५२
अम्मापियरो=माता पिता को ७६२, ८१०, ८४०, ८४१, ६३३
अम्मापिऊण=माता पिता को ७७१
अम्मापिऊहिं=माता पिता की ८५०
अम्मो=हे माता ७७६
अम्मीति=हूँ, इस हेतु से ७२६
अम्हं=हमारे ऊपर ११३७
अयज्ञच=अपर्याप्त हैं, तेरी तृष्णा को पूर्ण करने में असमर्थ हैं ६२५
अयपिव=लोहे की तरह ८३२
अयम=यह १०४५
अयन्तिए=अनियमित ६०३
अयसिलोए=इस लोक में ७१६
अयसि=इस ७२१
अरइ=अरति ६४६
अरए=रति रहित ७१४
अरज्जंतो=राग न करता हुआ ७७८
अरणीअ=अरणी से ६०१
अरण्णे=वन में ६२८, ८४१, ८४२
अरण=विषय-विकार को त्याग कर अथवा आरत होकर कर्मरज से रहित होकर ७५५
अरहा=अर्हन् ६६८
अरिट्ठनेमि=अरिष्ट नेमि ६५४, ६५५, ६७४
अरी=शत्रु ८८१, ६१०
अरो=अरनामा चक्रवर्ती ७५५
अलाभ=अलाभ ६१७
अलाभया=माँगने पर न मिलना ७६६
अलित्त=अलिप्त हैं ११२४
अल्लीणा=इन्द्रियों को वश में रखने वाले १००४
अलोलुयं=लोलुपता से रहित ११२५
अवउज्झई=छोड़ देता है ७१०, ७६१
अवचियं=अपचित कम हो गया है ११२०
अवग्घणो=मन्थन से रहित ८५६

अचल व=निर्बल की तरह ६२०
अवसो=परवश हुआ ८२१, ८२२, ८२८, ८२६
अवसस्स=परवश हुए ७३०, ७८५
अवि=निश्चय ही ५८६, १०८७
अवि=पूरणार्थक है ६१७
अवियत्ते=प्रीति न करने वाला ७११
अविवसो=विना वश किए हुए ६०६
अविस्सामो=विश्राम रहित होना ८०२
अविहेडए=किसी को विघ्न न करने वाला ६५८
अवेक्खन्तो=देखते हुए १०१०
अवेयणे=वेदना से रहित होता है ७८६
असइं=अनेक वार ८११
असच्चमोसा=असत्यामृषा १०८६, १०६२
असज्जमाणा=असक्त हुए ५८५
असणे=अन्न के मिलने पर ८५७
असब्भम्=असभ्य वचन ६३७
असंविभागी=सम विभाग न करने वाला ७११
असंसत्त=असंसक्त ११२५
असंगया=निस्पृहता है ८६६
असंजए=असंयत होने पर भी ७०७, ६०४
असंतो=विद्यमान न होने पर भी उत्पन्न हो जाती है जैसे ६०१
असंथडाइं=बीजादि से रहित ६४७
असंलोए=असंलोक स्थान में, देखता नहीं १०८५, १०८६
असंपहिट्ठे=हर्ष से रहित ६४३, ६४५
असंभंता=असंभ्रान्त हुई ६८५
असाहुरूवे=असाधु रूप ६०८
असासए=अशाश्वत ७८२
असासयावासम्=अशाश्वत ही इसमें जीव का निवास है ७८१
असाहस्स=असाध्य १०८०
असासय=अशाश्वत ५८७
असारम्=असार को ७६१
असारम्मि=असार ७८३
असारे=असार है ६०३
असिप्पजीवी=शिल्पकला से आजीविका न करने वाला ६६०
असि=है, सो ८७५, ६८६, ६८६
असिधारा=खड्ग की धारा पर ८०४
असिपत्त=असिपत्र रूप ८२५
असिपत्तेहिं=असिपत्रों के ८२५
असीले=जो अशील है ६०८
असीहिं=खड्गों से ८२०
असुइस भवं=अशुचि से उत्पन्न हुआ है ७८१
असुइं=अपवित्र है और ७८१
असुपुण्णेहिं=अश्रुपूर्ण ८८८
असुभत्थेसु=अशुभ अर्थों से १०६५
असुयाण=पुत्ररहितों को ५८८
असुहाण=अशुभ ६३२
अस्स=इस जीव के ६०३
अस्सा=घोड़े ८७६
अस्साया=असातारूप ८१३, ८१४, ८३६
अस्सायिणी=छिद्र सहित १०५६
अस्सिओ=आश्रित हुआ ७२८
अस्सुयपुव्व=अश्रुतपूर्व-अभ्यस नहीं सुने हुए ८७५
अह=अथ, ५८८, ७२४, ७२६, ७२८, ७७४, ६२७, ६२८, ६३१, ६५७, ६५८, ६६०, ६६३, ६६५, ६७१, ६७७, ६८२, ६८६, १००१, १००६, १०२६, ११०२, ११०३, ११०६
अहं=मैं ६१६, ६२२, ६२७, ७४३, ७४५, ७८२, ७८३, ८२३, ८२८, ८२६, ८६१, ८६५, ६५८, ६७६, ६८३, ६८६, १०३२, १०३५
अहम्=मैं ७२६

अन्नया=अन्यथा ९३१
अन्नाण=अज्ञानवादी ७४०
अन्नायएसी=अज्ञातकुल की भिक्षा करने वाला ६४१
अन्नायि=और भी ८९८
अन्निओ=युक्त ७५८
अन्ने=अन्य ६२८, ७३४
अन्नोवि=और भी १०२५
अप्प=स्तोक ६६०
अप्प=स्तोक-थोड़ा ११२२
अप्पकम्मे=अल्प कर्म वाला ७८६
अप्पडिपूयए=उनकी पूजा नहीं करता ७०६
अप्पणा=आत्मा से ८७५
अप्पणासि=आत्मा से ८७५
अप्पणिया=अपनी ९१०
अप्पणो=आत्मा की ६३३, ७४५, ८९५, ९३७
अप्पमत्ते=अप्रमत्त होकर ६६३, ६६४, ६६५
अप्पमज्जियं=बिना प्रमार्जन किए को ७०८
अप्पमत्तेण=अप्रमाद से ७६४
अप्पय=आत्मा को ७४४, ८५६
अप्पघरएण=गृहस्थावास में ६५२
अप्पसत्थेहिं=अप्रशस्त ८५८
अप्पा=आत्मा ८९६, ८९७
अप्पाण=आत्मा को ७६०, ७६१, ९०२, ९८५, ९९३, ११०५, ११०६, १११२, ११३३, ११३६
अप्फोवमण्डवम्मि=द्राक्षा आदि लताओं के कुञ्ज में ७२५
अप्फुण्णे=परिपूर्ण हो गया ९२६
अब्बक्खित्तेण=अव्याक्षिप्त ७६५, ८७६
अब्बग्गमणे=व्यग्र मन से रहित ६४३, ६४५

आ

आइए=ग्रहण करे १०८४
आइण्ण=आकीर्ण ८५६
आईहिं=आदि से ८३१
आउ=आयु को ७४५
आउत्तया=आयुक्तता यतना ९००
आउत्तेण=उपयोग के साथ ७६४
आउरे=आतुर अवस्थाएँ ६४६
आउसं=हे आयुष्मान् ६६३
आउसु=हे आयुष्मान् ७०४
आगए=आ गया ७२५, ७४५, ९२६, ९२६, १०००, १००३
आगओ=आ गया हूँ ७०६, ९३३, १०१०
आगच्छउ=आवे ९५८
आगच्छइ=आता होता है ९०४
आगन्तु=स्वजनादि के आगमन पर १११८
आगम्म=आकर ५८३, ७२६
आगय=आते हुए १०११
आगासे=आकाश में ८०३
आणा=आज्ञा ८७७
आणेइ=लाकर दी ९३०
आत्थि नो=नहीं है ६०३
आदाउ=ग्रहण करने की ६२४
आदाणे=आदान १०७२
आदाय=ग्रहण करके ७६६
आपुच्छ=पूछ कर ९३३
आपुच्छित्ता=पूछ कर ८९४
आभरणाणि=भूषणों को ९६८
आभरणेहिं=आभरणों से ९५९
आमट्ठ=आमृष्ट १११६
आमन्तयामो=आपको पूछते हैं ५८७
आमिस=मांस को ६३२
आमोयमाणा=आनन्दित होते हुए ६३०
आयगवेसए=आत्मा की गवेषणा करने वाला ६४६

आयगुणिंघणेणं=आत्म-गुणेन्धन से ५६१
आयगुत्ते=आत्मगुप्त होकर ६४३, ६४४
आयरक्खिए=आत्मरक्षक ६४२
आयरिया=आचार्य हैं ७३६, ८८३
आयरिय=आचार्य के ७०६, ७१६
आयरियाइ=आचार्य कहते हैं ६६७, ६६६, ६७०, ६७२, ६७५, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
आयरियउवज्झाएहिं=आचार्य और उपाध्याय के द्वारा ७०६
आयरे=आचरण करे १०६७
आयहिए=आत्म हितैषी ६४६
आयंका=आतंक घातक रोग ६४२
आयंको=रोग ८४३
आयाणं=आदान में ६००
आयामगं=अवश्रावण ६५६
आयार=आचार और ६१६, १००६
आराहए=आराधन कर लेता है ७२१
आरिय=आर्य ७४२
आरण्णगा=अरण्यवासी ५६०
आरम्भे=आरम्भ में १०६१, १०६३, १०६४
आरसंतो=आक्रन्दन करते हुए ८१६, ८३२
आरूढो=उस पर चढ़े हुए ६६०, १०४५, १०५६
आरुहई=आरोहण करता है-बैठता है-चढ़ ७०८
आलए=स्थान में ७८३
आलयं=स्थान-उपाश्रय का ६८७
आलओ=स्थान ६६४
आलम्बणं=आलम्बन १०७५
आलम्बणेण=आलम्बन से १०७४
आलोइत्ता=आलोकन करने वाला ६७२
आलोएज्जा=आलोकन करे ६७३
आलोएइ=देखता है ७७३
लोकन और ध्यान करते हुए ६७३
आलोयणे=गवाक्ष में ७७३
आघाए=आता है १०८६
आवाडिया=गिरे हुए ११३६
आघायम्=आता है १०८६
आवेउ=पीने की ६८८
आइस्स=आदि पदार्थ भी ७६५
आसि=था ७४५, ६२५, ६५४, १००२, १०६६, १०६६
आसियाणि=एक आसन पर बैठना ६६०, ६६५
आसी=था ८६८, ८८०, ६५२, ६५५, ६६८, १०१६
आसवदारजीवी=आश्रय द्वारों से जीवन व्यतीत करने वाला ६०७
आसे=अश्व १०४७
आसं=घोड़े को ७२७
आसगओ=घोड़े पर चढ़ा हुआ ७२६
आसण=आसन ६५३
आसणं=आसन ६४५
आसणम्मि=आसन में ७१३
आह=कहने लगा ६५८
आहओ=अभिहनन किया ७२६
आहसु=कहने लगा ८६१
आहार=आहार ६५४, १०८०
आहार=आहार ६८०, १०८५
आहरित्ता=करने वाला ६८०
आहरित्तु=खाकर ८४४
आहारेइ=आहार करता है ७१४, ७१५
आहारेज्जा=करे ६८०, ६८१
आहारेत्ता=करने वाला ६८१
आहारेमाणस्स=करते हुए ६८०, ६८१
आहिया=कही गई हैं १०७१
करता है ६४३
कहते हैं १०५८

उ

उ=निश्चय ही ५६५, ६३३, ७०३, ७०५, ७२१, ७२६, ७३४, ७७२, ७७४, ८०४, ८११, ८१६, ८४२, ८५६, ८७०, ९०८, ९११, ९२५, ९७१, ९७५, ९८०, १०२१, १०२३, १०२६, १०३२, १०३८, १०४२, १०५६, १०७३ ११२१, ११४०
उइंति=उदय होते हैं ९४०
उक्खित्तो=उत्कर्तन किया गया, चमड़ी उतार दी गई ८२७
उग्ग=प्रधान ९१७
उग्गा=प्रधान ७६५, ७६६, ९९४
उग्गओ=उदय हुआ है १०६०, १०६१
उग्गंमुप्पायणं=उद्गम और उत्पादन दोष १०८२
उच्चार=पुरीप मल १०८५
उच्चाराईणि=उच्चारादि को १०८८
उच्चारे=उच्चार १०७२
उच्छिन्दत्तु=उच्छेदन करके १०४०
उच्छूया=इक्षु की तरह ८१६
उज्जाण=क्रीड़ा आरामों से ७७०
उज्जाणम्मि=उद्यान में ११०१
उज्जाणं=वह उद्यान था ८६६, ९७१, १०००, १००४
उज्जाणे=उद्यान में ७२४
उज्जुकडा=सरलता-पूर्वक अनुष्ठान करने वाली ६२७
उज्जुजड्डा=ऋजुजड़ थे १०२१
उज्जुकडे=ऋजुकृत ६४०
उज्जुओ=उद्यत हो गया ८५३
उज्जुभाव=ऋजुभाव को ९४५
उज्जुपन्ना=ऋजुप्राज्ञ है १०२१
उज्जोयं=उद्योत १०५६, १०६०, १०६१
उज्झित्ता=त्याग कर ६३२
उट्ठिओ=उत्थित हो गया हूँ ७४८
उड्ढपाओ=ऊँचे पाँव और ८१५
उड्ढं=ऊँचा ८१७, ८४७
उण्हा=उष्णा है ८१३
उण्हाभितत्तो=उष्णता से अभितप्त होकर ८२५
उण्हो=उष्णा है ८१३
उत्तमे=उत्तम ७५६, १०५१
उत्तमंगं=मस्तक में ८८२
उत्तमं=उत्तम ८६१, १०५४, १११५
उत्तमट्ठ=उत्तमार्थ-मोक्ष के ११०७
उत्तमट्ठे=उत्तम अर्थ को भी ९११
उत्तमाई=उत्तम ९६२
उत्तमाउ=उत्तम ९७१
उदग्गेसु=प्रधान ५८२
उदारा=प्रधान ६२१
उदाहु=कहने लगे ५८६, ९१८, ११३५
उदाहरे=कहने लगा ९८२
उदिएण-बलवाहणे=उदय हुआ है बल-सेवा वाहन-अश्वरथादि जिसके ७२२
उदीरेइ=उदीरता है ७१२
उद्देसियं=औद्देशिक ९०९
उद्दायणो=उदायनराजा ७६३
उद्धत्तु=उद्धार करने में ११३६
उद्धरित्ता=उखाड़ कर १०३९
उद्धरिया=उखेड़ी १०३८
उन्मायं=उन्माद को ६८५
उपसंहो=वश में किया ९९३
उप्पह=उत्पथ से १०७५
उप्पज्जई=उत्पन्न हो जाता है ७०४
उभओ=दोनों के १००५, १००६, १०१२
उभओवि=दोनों ही १००४
उम्मग्गा=उन्मार्ग में १०४६, १०५१

कतारे=कान्तार में (वन में) ८१२
कनिट्ठगा=कनिष्ठ ८८८
कन्नं=कन्या को ६५६, ६५८
कन्थगा=आतिमान् अश्व की तरह १०४८
कन्दियसद्द=आक्रन्दन शब्द ६७५, ६७६
कन्दिय=कन्दित शब्द ६६०
कन्दुकुम्भीसु=कन्दुकुम्भी में ८१५, ८१७
कन्दन्तो=आक्रन्दन करते हुए ८१५
कन्ने=हे कन्ये ! ६७८
कप्पो=समकल्प है ८५७, १०२३
कप्पणीहि=कैंचियों से ८२७
कप्पिओ=काटा गया-कतरा गया ८२७
कमसो=क्रम से ६११
कमलावई=कमलावती नाम की उसकी पटरानी हुई ५८३
कमसोऽणुणत=क्रम से अनुनय करता हुआ ५६१
कम्पिल्लुज्जाण=काम्पिल्यपुर के उद्यान में ७२४
कम्पिल्ले=काम्पिल्यपुर ७२२
कम्म=कर्मों से ११३२
कम्मं=कर्म को ७३४, ६११, ६६४
कम्ममहावण=कर्म रूप महावन को ७६४
कम्माणि=कर्म ११२७
कम्माण=कर्मों के ६३२
कम्मुणा=कर्म से ७३४, ११३१
कम्हिवि=किसी वस्तु पर भी ६४२
कयरे=कौन ६६४
कय=किया है ७३४
कयञ्जली=हाथ जोड़कर ६१८, ११३५
कयाइवि=कदाचित् भी ६६०
कयाई=कदाचित् ६३१
कयमई=की है बुद्धि जिन्होंने १००६
कयकोऊयमङ्गलो=किया गया कौतुक मंगल जिसका ६५६
करपत्त=कर-पत्र-आरा ८१७
करकयाईहिं=करकषों-लघुशस्त्रों-से ८१७
करकण्डू=करकण्डु राजा ७६१
करन्ति=करते हैं ८६०
करति=करता है, पालन करता है ६६६
करिस्सइ=करेगा १०५६, १०५६, १०६१
करे=करती है ६१०
करेइ=करती है ६१०
करेउ=करना ८०६, ८०७
करेंति=करते हैं ६६५
करेह=करो ११३७
कलकलताइ=कलकल शब्द करते हुए तथा ८३२
कलम्बवालुयाए=कदम्बवालुका-नदी में ८१६
कलहे=कलह में ७१२
कलाओ=कलाएँ ६२६
कलिंगेसु=कलिंग देश में हुआ ७६१
कल्ले=नीरोग हो जाने पर ८६४
कवले=कवल की ८०४
कसाएसु=कषायों से ८५६
कसाया=कषाय १०३३, १०४४
कसिणं=सम्पूर्ण परिषहों को ६४३, ६४५, ६४६, ६३४
कस्सट्ठा=किस के लिए ६६४
कस्सट्ठाए=किस प्रयोजन के लिए ७३८
कहसु=कहो १०२५, १११२
कहं=कैसे ५६८, ६१६, ६२२, ६६७, ६६६, ६७०, ७३८, ७६६, ७६६, ८७३, ८७५, ८७७, १०१६, १०२६, १०३१, १०३५, १०३८, १०४१, १०४५, १०४६, १०५६
कहावणे=कार्षापण ६०३
कहित्ता=कहने वाला ६६६
कहिं=कहाँ ७७४
कहेमाणस्स=कहते हुए को ६६६

एत्थ=इस मृगवध के सम्बन्ध में ७२७
एमे=इसी प्रकार ६१६
एमेव=इस प्रकार ६०१, ६१३
एयम्=इस ८७१
एय=यह पूर्वोक्त वाक्य को ५६३, ६३३, ७४३, ७५०, ८१०, ८४१, ६६७, ११११
एयाइ=ये अनन्तरोक्त १०८०
एयाओ=ये १०६५, १०७३, १०८६
एयारिसे=एतादृश ७१६
एयारिसीइ=इस प्रकार की ६६२
एरिस=इस प्रकार का ७७४
एरिसे=इस प्रकार की ८७७
एव=निश्चय ही, पादपूरणार्थक है, तरह, जैसे ६१४, ६३८, ६५६, ६६४, ७३१, ७३२, ७६८, ७६६, ८०३, ८०४, ८०५, ८११, ८२८, ८६५, ६०३, ६१७, ६७६, १०२६, १०६५, १०७१, १०७६, १०७८, १०८५, १०८६, १०६३, ११०५, ११०८, ११०६, १११२, ११३३, ११३६
एव=इस प्रकार, उसी प्रकार, पूर्वोक्त ६०८ ६३६, ६६३, ७८६, ७८८, ७८६, ७६१, ८४१, ८४२, ८४७, ८४८, ८५०, ८५२, ८५६, ८६०, ८७३, ८७५, ८८१, ८६३, ६२१, ६७४, ६६१, ६६५, १०२७, १०६७, ११२४, ११३३, ११३४, ११४०, ११४१
एवम्=इसी प्रकार ८१०, ८६१
एवमेव=इसी प्रकार ६२८, ८४७
एसमेव=इसी प्रकार ५६८
एसण=एषणा दोषों शंका आदि दोषों की १०८२
एसणा=एषणा १०७२
एसणाए=एषणा में ६००
एसणिज्जस्स=निर्दोष पदार्थों का ७६५
एस=यह ७००, १०५१
एसा=यह ७६७, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८६०
एसो=यह ६०६
एहि=इधर आ ६८४

ओ

ओइण्णो=उतरे ६७१
ओंकारेण=ओंकार पढ़ने मात्र से ११२६
ओभासई=प्रकाशमान है ६४८
ओरुब्भमाणा=रोके हुए ६०६
ओसहं=औषध लाकर ८४४
ओहिनाण=अवधि ज्ञान १०००
ओहोवहो=ओघोपधि १०८३

क

कए=किया गया १०२१
कओ=किया है ६२०, ६६६
कयासियासवे=क्षय किए हैं आस्रव जिसने ७२५
कसा=कशा ६६७, ६६६, ६७१, ६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
कक्खेयमोक्खं=आक्षेपों के उत्तर देने में १११०
कंखे=इच्छा करे कि ६११
कज्ज=कार्य में १०१६, १०२६
कञ्चुयं=कञ्चुक को ८५२
कची=कोई ८७२
कट्टु=करके ६०६
कंटगाइण्णे=कांटों से आकीर्ण-व्याप्त ८१८
कड्ढोकड्ढाहिं=कर्षणापकर्षण करके मुझे दुःख दिया, जो कि अति ८१८
कठच्छिया=कठच्छेदन करने वाला ६१०
कडुय=कटुक ७८०
कणिट्ठगा=कनिष्ठ-छोटे ८८७
कत्ता=कर्त्ता है ८६७

केवली=केवल ज्ञानयुक्त पुन ९९४
केवल=सम्पूर्ण ७५१
केरिसी=कैसी है १००६
केरिसो=कैसा है १००६
केसलोओ=केशलुंचन भी ८००
केसरे=केसर नाम वाले में ७२४
केसरम्मि=केसर ७२४
केसे=केशों को ९७२, ९७७
केसिं=केशी के १०१६, १०१७, १०२०, १०२७, १०३२, १०३६, १०४०, १०४३
केसी=केशीकुमार १०१६, १०१७, १०३२, १०३६, १०४०, १०४३, १०५४, १०६७
केसीकुमार=केशीकुमार ९९८, १००४
केसीकुमार समणे=केशीकुमार श्रमण १०११, १०१३
केसीगोयमओ=केशी और गौतम का १०६९
केसिगोयमा=केशी और गौतम १००९
केसिगोयमे=केशी और गौतम १०७०
केसवा=केशव ९५३
केसवो=केशव ९५६
को=कौन ५९३, ८४१, ८४३, ८४४, १०५९,
कोउगासिया=कुतूहल के आश्रित कौतूहली लोग १०१४
कोउहल्ल=कौतुक में ९०७
कोट्ठगं=कोष्टक १००४
कोत्थलो=वस्त्र का कोथला-थैला ८०७
कोलसुणएहिं=कोल, शूकर और श्वानों के द्वारा जो ८२०
कोयए=कोविद-विशेष पण्डित था ९२६
कोवियप्पा=कोविदात्मा ७७८
कोसम्बी=कौशाम्बी ८८०
कोहा=क्रोध से ११२१
कोहे=क्रोध में १०७९
कोहं=क्रोध और ९९३

क=कौन-सा १०५२

ख

खणपि=क्षणमात्र भी ७८३, ८९०
खणमित्त=क्षणमात्र ५९५
खण्डाइ=खण्ड ८३३
खत्तिओ=क्षत्रिय-उसको ७२७, ११३१
खत्तिय=क्षत्रिय ६५१
खंतिक्खमे=क्षान्तिक्षम ९३६
खन्ती=क्षमा है ८६९
खन्तीए=क्षमा से ९७३
खन्तो=क्षमावान् ८९१, ८९४
खम=योग्य है ६१३
खमा=क्षमा समर्थ ७६७
खमे=क्षमा करो ७२७
खय=क्षय ८९३
खलु=निश्चय ही ६६३, ६६४, ६६४, ६६७, ६६९, ६७१, ६७२, ६७३, ६७३, ६७५, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
खवित्ता=क्षय करके ९९४, ११४२
खवेऊण=क्षय करके ९५०
खाइम=खादिम ६५३, ६५४
खाइत्ता=खाकर ८४६
खाए=ख्यात प्रसिद्ध ५८०
खाणी=खान है ५९५
खाणु=स्थाणु-ठोंठ कहते हैं ६१४
खामेमि=क्षमा याचना करता हूँ ९२०
खाविओमि=मुझे खिलाया ८३३
खिप्पं=शीघ्र ६९१, ७२६, १०१२, ११३७
खिंसएज्जा=आहार के मिलने पर निन्दा करे ८४८
खिंसई=निन्दा करता है ७०६
खीरे=दुग्ध में ६०१
खीणसंसारो=क्षीण हो गया है संसार जिसका १०६१

घ

घोरा=भयंकर ८८२, १०४१
घोरे=घोर में ७४२, १०५६, ११२७
घोरं=अति विकट ६३५, ८००, ६७८

घ

च=और, फिर, तथा, समुच्चय में, पुनः, पादपूर्ति में ५८८, ५६१, ५६६ ५६८, ६०३, ६११, ६१७, ६२३, ६३१ ६३८, ६४५, ६४६, ६५६, ६८८, ६६१ ६६४, ६६५, ६६६, ७००, ७०६, ७१२ ७१८, ७३१, ७३२, ७४०, ७४२, ७४६ ७४८, ७४६, ७७२, ७७७, ७७६, ७८५ ७६८, ७६६, ८०३, ८०४, ८०५, ८११ ८२८, ८५३, ८६१, ८६३, ८६५, ८७७ ८७८, ८८२, ८८६, ८६३, ८६५, ८६७ ६३४, ६३५, ६३६, ६४४, ६४५, ६६० ६६३, ६६४, ६६८, ६७३, ६७६, ६८६ ६८६, ६६३, १०१६, १०२८, १०२६ १०४६, १०५६, १०७७, १०७८ १०८५, १०८६, १०६३, ११०६ १११२, ११२७
चइत्ता=छोड़कर ६३४, ७५२, ७५३, ७५६ ७५६, ७६३, ७८५
चइऊ=छोड़ करके ७३६
चइयव्वे=छोड़ने वाले ७८२
चउक्कं=चतुष्पथ को ७७३
चउक्कं=चतुष्क-आहार-वस्त्र, पात्र और शय्या की १०८२
चउकारणं=चार कारण से १०७४
चउत्थी=चौथी १०८६, १०६२
चउरंगिणीए=चतुरंगिणी-चार प्रकार की ६६१
चउव्विहेवि आहारे=चार प्रकार का आहार ७६८
चउव्विहा=चार प्रकार की १०७६, १०८६ १०६२
चउहिं=चार ७४०
चक्खुसा=आँखों से १०७७, १०८४
चक्खुगिज्झं=चक्षुर्ग्राह्य विषय ६८६
चक्कवट्टी=चक्रवर्ती ७५२, ७५३, ७५४, ७५६
चक्केण=चक्र से ६६१
चण्डं=प्रचण्ड ८३७
चच्चरे=चतुष्पथों को ७७३
चवल=चंचल है ७३१
चण्डे=क्रोध से युक्त ७०६
चत्तगारवो=त्याग दिया है गर्व जिसने ८५४
चन्दणं=चन्दन का लेप करता है-किन्तु दोनों पर ८५७
चन्दं=चन्द्रमा को १११५
चन्दसूरसमप्पभा=चन्द्र और सूर्य के समान प्रभा वाले १०१३
चन्दो=चन्द्रमा है १११३
चंपं=चम्पा में ६२६
चंपाए=चंपा नगरी में ६२५
चर=आचरण कर तो ७४६, ६८६
चरई=चलता है ७०६, ८४२
चरण=चारित्र के ७३६, १००२
चरणे=चारित्र है १०७५
चरणेण=चारित्र से ८५६
चरणस्स=चारित्र की १०६५
चरति=आचरण करते हैं वा प्राप्त होते हैं ६२१, १०६५
चरिउं=आचरण करना ८०४, ६४८
चरिज्ज=आचरण करे ६३५, ६३६
चरित्ता=आचरण करके ७४२, ८४६, ८४७
चरित्त=चारित्र १०२६
चरित्तम्=चारित्र ६१६
चरित्ताण=आचरण करके ६६४

जायाहि=याचना करो ११०४
जारिसा=जैसी ८३८
जाल=जाल को ६२०
जालाणि=जालों को ६२२
जालेहिं=जालों के द्वारा ८३०
जाव=जब तक १०७७
जावज्जीवाए=जीवनपर्यन्त ७९३
जावज्जीव=जीवनपर्यन्त ९९४
जावज्जीवम्=जीवनपर्यन्त ८०२
जिइन्दिओ=जितेन्द्रिय ९६०
जिइंदियं=जितेन्द्रिय के प्रति ९७३, ९७८
जिइंदिओ=जितेन्द्रिय ९९४
जियहिए=जीवों में हित का विचार करने वाले ९६६
जिड्डुय=सब से बड़ा हस्ती ९६०
जिणक्खाय=जिनेन्द्र देव की कही हुई ७५८, १०५१, १०७२
जिणदेसिए=जिन-प्रतिपादित है ७००
जिणदेसिय=जिनेन्द्र देव का उपदेश किया हुआ ९३५
जिणभक्खरो=जिन भास्कर १०६१
जिणमग्ग=जिनमार्ग का ९८४
जिणस्स=जिन भगवान् की ९७५
जिणसासणे=जिनशासन में ७३६, ७४८, ७६२
जिणामि=जीतता हूँ १०३२
जिणिन्दमग्ग=जिनेन्द्र मार्ग की ५८२
जिणित्ता=जीतकर १०३२
जिणित्तु=जीतकर १०३३
जिणुत्तमाण=जिनेन्द्र भगवान् के उत्तम ९१३, ९१६
जिणे=समस्त कर्मों को क्षय करने वाला ९९८, १००१
जिया=जीते गये १०३२
जीवंतं=जीते के साथ ७३२
जीवलोगम्मि=जीवलोक में ७२६, ७३०
जीविए=जीवन में ८५५
जीविय=जीवन का ९०४
जीवियकारणा=जीवन के कारण से ९८८
जीविय=जीवित ६४६, ७११, ९७६
जीवियन्त=जीवन के अन्त को ९६३
जीवियट्ठा=जीवन के वास्ते ६१७
जीवो=जीव १०५८
जुइए=ज्योति वाली से ९६२
जुइम=द्युतिवाला ७४५
जुए=जोड़ दिया ८२१
जुगमित्त=चार हाथ प्रमाण देखे १०७७
जुंजणे=जोड़ने में १०९३
जुत्तेहिं=धर्म मय योक्त्र गले में बाँधकर प्राणियों से ८२१
जुत्तो=जोड़ा हुआ ८२१, ८५३
जुण्णो=जीर्ण ६१८
जुयल=मल्ल ९५९
जुयल=युगल ९६८
जुवराया=युवराज था ७७१
जे=जो ५८६, ६४२, ६४३, ६४५, ६४८, ६५२, ६५३, ६५४, ६६३, ६६४, ६६५, ६९९, ७०३, ७०५, ७२१, ७४२, ७४६, ८०६, ८०७, ८९१, ९०७, ९११, ९४०, ९६९, १०४१, १०४९, १०९७, ११०५, ११०९, ११११, ११२२, ११३३, ११४०
जेट्ठ=ज्येष्ठ और ८८७, ८८८
जेट्ठं=ज्येष्ठ-बड़े १०१०
जेण=जिससे ६४६
जेमेइ=भोगता है ७१८
जेसिं=जिन से १०४९
जेहिं=जिन से ११३२
जो=जो ६११, ६५२, ६५७, ७८७, ७८८, ७८९, ७९१, ८००, ८०२, ८९६, ९२०

तत्त=तत्त्व का १०२०
तत्तं=तत्त्व को १०२०
तत्तो=तदनन्तर ६३५
तत्ताइं=तप्त ८३२
तत्थ=वहाँ पर, उस श्रावस्ती नगरी में ५८५
५८८, ६५३, ७१३, ७२४, ७२६
७७४, ८६७, ८८०, ९१२, ९४०
९४१, ९४३, ९६३, १०००, १००४
१००५, १००६, १०१२, १०१४, १०१६
१०५३, १०६८, १०७५, ११०१, ११०२
११०३, ११०७
तत्थेण=त्रास से ८३६
तत्थ=और उसी भवन में ५८३
तद्दव्वस्स=उस द्रव्य का ९९१
तप्पइ=तपते हैं ५९९
तप्पुरक्कारे=उसी को आगे कर १०७८
तम तमेण=अज्ञानता में—अन्धकार में ५९३
तमतमेणेव=अति अज्ञान से ९०८
तम्मुत्ति=तन्मय होकर १०७८
तम्=इसलिए ११३६
तम्हा=इसलिए ५८७, ६६७, ६६६, ६७१
६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१
६८३, ६८५
तमे=तमरूप में १०५६
तया=उस ९८२, ९८९
तया=उस समय तू ६२६, ८४५
तयाणि=त्वचाएँ ६२२
तरं=तर जा ९७८
तरिउं=तरना ८०८
तरित्ता=तैरकर ९५०
तरंति=तैर जाते हैं १०५८
तरंतेगे=और कई एक वर्तमान काल में
तर रहे हैं ७६७

तरियव्वो=तैरना कठिन है इसी प्रकार ८०६
तरिस्संति=तरेंगे ७६७
तरुणोऽसि=तू तरुण है ८७१
तव=तप ५८५, ६२५, ६७३, ७७४, ९०२
तवं=तप को ५९९, ६३५, ७३३, ७४८, ७५६
७६५, ९९४
तवप्पहाणं=तपःप्रधान ८६१
तवसा=तप से ६२०, १११६
तवस्सिणं=तपस्वियों को १००५
तवस्सियं=तपस्वी ११२०
तवस्सी=तप करने वाला ६४५, ६४६, ६४७
तवस्स=तप के ५८८
तवेण=तपसे ८४२, ८५६, ९७३, ११३०
११४२
तवो=तप का ८०४
तवोकम्मे=तपःकर्म में ७१४
तवोकम्ममि=तपःकर्म में ८५३
तवोधणे=तपोधन ७२४
तस=त्रस ११२१
तसपाणबीयरहिए=त्रसप्राणी और
बीज रहित हो १०८८
तसाणं=त्रसों का ८९५
तसेसु=त्रसों में ८५४
तस्स=उसकी ५८३, ६८३, ७२५, ७३५, ७७०
७७५, ७८१, ८६८, ८७०, ९११, ९२८
९३०, ९५३, ९५४, ९५६, ९६६, ९६९
९९८, १००२, १११०
तह=उसी प्रकार ५८३, ७३२, ९००
तहा=उसी प्रकार ५८५, ५९९, ६१५, ७००
७२१, ७३३, ७३७, ७३९, ७४५
८०६, ८०७, ८०८, ८५५, ८५७
१०६३, १०७५, १०७६
तहावि=तथापि ९८६
तहाविह=वैसा-फेंकने योग्य १०८५

तहिं=उस मण्डप के पास ७२६, ८१३, ८१४
९२८, ९३३, ९७६, ९८२, ९८५
११०४, १११०
तहेय=उसी प्रकार ६९३, ७०४, ७२३, ७६४
७६५, ९४४, १०७१, १०७६
१०८६, १०९१, १०९२, १०९३
त=उसको ५९१, ५९८, ५९९, ६०६, ६१४
६२३, ६२५, ६४६, ६५१, ६६७
६७०, ६९६, ७३१, ७४८, ७७४
७९२, ८४०, ९१०, ९२७, ९३२
९७३, ९८५, ९८८, ९८९, ९९०
१०२५, १०३५, १०३६, १०४०, १०४७
१०४९, १०६६, १०७६, १११०, १११७
१११८, १११९, ११२०, ११२१, ११२७
११३४

तकहिमितिचे=यह कैसे ? यदि इस
प्रकार कहा जाय तो ६६९, ६७२
६७५, ६७८, ६८०, ६८१, ६८५
त जहा=जैसे कि ६६६
तं पि=तू भी ९९१
तम्ब=ताम्र ८३२
तमि=उस ८६८
तम्मिकाले=कर्म भोगने के समय ९०७
तम्मि=उस वन में १०६९
तम्मी=उस १०००, १००४, १०७८
त षय बूम माहणं=उसको हम ब्राह्मण
कहते हैं ११२१, ११२२, ११२३
११२४, ११२५, ११२६, ११३२
तसि=तुम ९२०
ता=इसलिए ६१६, ८७१, ९८४
ताइ=षड् बुद्ध ने ७४८
ताइणं=षट्काय के रक्षकों को १००५
ताई=षट्काय का रक्षक ९४७
ताडिओ=ताड़ा गया ८३२
ताण=त्राण-शरण ५९३, ६२६
ताणाय=रक्षा के लिए ६२५
तात=पिता के पास ५८६
ताय=हे पिता जी ! ६०८, ७८०
तायगो=पिता ५८८
तारइस्सामि=तारूँगा, अत ७९१
तारुण्णे=तरुण अवस्था में ८०६
तालणा=ताड़ना ७९९
तालउड=तालपुट ६९६
तायसो=तपस्वी होता है ११२९, ११३०
तासिं=उनकी ६९४, ९५३
ताहे=उस समय ८४३, ८५२
ताया=हे तात ! ८३८
तां=उसको ८९८
ति=इस प्रकार पूर्व परामर्श में १०६६
त्ति=इस प्रकार विचार कर ५९८, ६३३, ६६०
७०४, ७३८, ७६९, ७७०, ७७१
९२८, ९५२, ९५५, १०९९, ११०२
तिक्ख=तीक्ष्ण ८१८
तिक्खधारेहिं=तीक्ष्ण धार वाले ८२७
तिगिच्छियं=अपने रोग का प्रतिकार
करना ६४९
तिगिच्छं=चिकित्सा को ८८४
तिगुत्तिगुत्तो=तीन गुप्तियों से गुप्त ८५३,
९२४
तितिक्खएज्जा=सहन करे ९३९
तिदण्डविरओ=तीन दण्डों से विरत ९२४
तिन्दुय=तिंदुक १०००
तिन्नि=तीन-स्थानों की १०८०
तिय=त्रिपथ की ओर ७७३
तिय=कटिभाग ८८२
तिरिच्छा=तिर्यंच-सम्बन्धी ६५७, ९४०
तिरिक्खजोणिसु=तिर्यग् योनियों के
दुःख, अत ७७९

द

धम्मसाहणं=धर्मसाधन के उपकरण को १०२७
धम्मसंचयं=क्षमादि धर्मों का संचय ९४८
धम्मं=धर्म को ६०९, ६१०, ६१३, ६३५, ६४०, ७०३, ७३५, ७४२, ७४९, ७८८, ७८९, ८०९, ८४२, ९३४, ९३५, १०२०, ११४१
धर=धरने वाला ७७४
धारइत्ता=धारण करके ९०४
धारेउं=धारण करना ८००
धारेयव्व=धारण करना ७९६
धारेयव्वाइं=धारण करने चाहिए ७९२
धारेह=धारण करो, जो कि ८६३
धावतो=भागता हुआ ८२४
धिइम=धृतिमान् ६९८, ७५५
धिइमती=धैर्य वाली ९७७
धिरत्थु=धिक् हो ९७६, ६८८
धीरा=सत्त्व वाले ६२१
धीरे=धैर्यवान् ६४३, ७९६
धीरो=धीर पुरुष ७४९, ७६६
धुवे=ध्रुव है ७००, ९१६
धुव=ध्रुव १०६३
धुवगोयरे=सदा गोचरी किए हुए आहार का ही आहार करता है ८४८
धूम=धूम्र ६४९
धूयरं=अपनी पुत्री ९२७
धूमकेउं=धूम जिसका केतु है ९८७
धेणु=धेनु गाय है ८९६
धोरेय=धोरी—वृषभवत् ६२०

न

न=नहीं ६०९, ६१०, ६२४, ६२७, ६५४, ६५७, ७८२, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८९०, ८९९, ९१०, ९१९, ९६७, ९८३, ९८६, १०१९, १०२६, १०४४, १०४५, १०५६, १०६६, ११०९, ११२१, ११२४, ११२९
नइं=नदी को ८२४
नई=नदी ८९६
न अणुजाइ=अनुसरण नहीं करता ९००
न अत्थि=नहीं है ९००
न सज्जइ=नहीं आसक्त होता ११२६
न भासु=न बोले ९३७
न कज्जं=कार्य नहीं है ११३७
न करेइ=नहीं करता ६५२
न कोऊहलं=नहीं कौतूहल को ६४७
नक्खत्ताणं=नक्षत्रों के ११०९, १११२
नक्खत्ताण=नक्षत्रों का १११३
नगरिम्=नगरी में १०००
नगरमण्डले=नगर के समीप में १०००
नगरस=नगर के ७७३
नगच्छई=नहीं प्राप्त होता ९०७
न गच्छइ=नहीं जाता १०४६
न गिण्हाइ=ग्रहण नहीं करता ११२२
नग्गई=नग्गति-निर्गोति राजा हुआ ७६१
नग्गई=नमऋषि ९११
नच्चा=जानकर ६३३
न जाणे=नहीं जानता ८९८
न जीवई=आजीविका नहीं करता ६४८
न तायन्ति=रक्षा नहीं कर सकते ११२७
नत्थि=नहीं है ५९८, ८१०, ८३९, ९१२, १०६३
नत्थिवासो=मेरा बसना अच्छा नहीं ६१४
न दाहामि=नहीं दूँगा ११०४
न दीहमाउ=आयु दीर्घ नहीं है ५८७
न धारए=न धारण करे ६६३
न भस्सामि=सन्मार्ग से च्युत नहीं होता १०४९

निरहङ्कारो=अहंकार से रहित ८५४
निव्वाणमग्गं=निर्वाण मार्ग को ९४५
निव्वाणगुणावहं=निर्वाण के गुणों को धारण करने वाली और ८६३
निव्वाण=निर्वाण १०६५, ११२०
निव्वाहणाय=यज्ञादि के लिए अपितु ११०८
निव्विण्णकामोमि=मैं निवृत्त होने की कामना वाला हो गया हूँ, अतः ७७६
निव्विण्ण=उद्वेग से युक्त ५८२
निव्विसया=विषय रहित ६३४
निवा=हे नृप ! ८९८
निवो=नृप ७२७
निव्वेयं=निर्वेद-विषयविरक्ति-विषयों से उपरामता को ७३५
निसम्म=विचारपूर्वक सुनकर ६६३, ६६४, ६६५, ८६१
निसामिया=सुनकर ७१०
निस्सेसं=कल्याणकारी ६६७
निसीयई=बैठ जाता है ७१३, ६८२
निसण्णा=बैठे हुए १०१३
निसन्न=बैठा हुआ ८६७
निस्संगो=संग से रहित ८५४
निसिज्ज=स्वाध्याय-भूम्यादि ७०८
निसिज्जाए=बैठने के लिए १०१२
निसीयणे=बैठने में १०६३
निसेविय=परिसेवित और ८६६
निसेवए=सेवन करे ६८७
निहुओ=निश्चलचित्त होकर ८६८, ६८६
निहन्तूण=और हनन करके १०३५
निहुय=निश्चल और ८०७
नीइकोविए=नीतिशास्त्र का पंडित हो गया ६२६
नीरए=कर्ममल से रहित ७६६
नीणेइ=निकाल लेता है ७६१

नीसंक=शंका से रहित होकर ८०७
नीहरंति=निकाल देते हैं ७३३
नु=वितर्क अर्थ में है १००८, १०१६, १०२६
नेच्छन्ति=नहीं चाहते ६८७
नेच्छई=नहीं चाहता ७१८
नेत्त=नेत्रौषधि ६४६
नेव भुञ्जई=उपभोग नहीं करती थी ८८६
नेव=और नहीं ६०६, ६१३, ६२५, ७२६
नेह=स्नेह १०३७
नो=नहीं ६६६, ६६७, ६६६, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७५, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५, १०४२
नो इच्छई=नहीं चाहता ६४५
नोवयइ=न कहे ६५१
नोविय=और न ६४५
नो परितप्पई=सेवा नहीं करता ७०६
नो फासयई=सेवन नहीं करता ८६६
नो वलिप्पई=कर्मों से लिप्त नहीं होता ११६८
नो हीलए=इनकी हीलना न करे ६५६, ८४८

प

पइगिज्झ=लेकर ६२७
पइट्ठा=प्रतिष्ठान है १०५४
पइट्ठं=प्रतिष्ठा रूप १०५२
पइण्णा=प्रतिज्ञा १०२६
पई=पति ६२२
पउंजमाणो=प्रयोग करता हुआ ६०७
पउंजेज्ज=प्रयोग करे १०८३
पणिहए=पतित १०६७
पओयणं=प्रयोजन है १०२८
पक्कपुव्वो=पूर्व मुझे पकाया ८१५
पक्कमई=आक्रमण करता है ८४७
पक्को=पकाया गया ८२३
पच्चन्ते=पढ़ते हैं ६८७

पक्खिसु=पक्षियों से ८९६
पक्खिणि=पक्षिणी ६२७
पक्खिहिं=पक्षियों ने ८२३
पक्खी=पक्षी होता है ६१५
पगाढाओ=अत्यन्त गाढ़ी ८२७
पगामसो=अत्यन्त निद्रालु ७०५
पगाम=प्रकाम है, पर्याप्त है ६१६
पगाम=प्रकाम ५६५
पगामा=प्रकाम, अत्यधिक है ५६६
पगासे=प्रकाशित होती है ६०३
पगिज्झ=ग्रहण करके ६३५
पच्चयत्थ=प्रतीति के लिए १०२८
पच्चग=प्रत्यंग–स्तन आदि ६८६
पच्छा=पश्चात् ६११, ६१६, ७०३, ७८०
७८२, ८०६, ६८४
पच्छाणुतावेण=पश्चात्ताप से दग्ध हुआ
और ६१०
पच्छाविट्ठो=उस मुनि को पीछे ही देखा ६८१
पच्छिमा=पीछे के–चरम तीर्थङ्कर के
मुनि १०२१
पच्छिमम्मि=पश्चिम तीर्थङ्कर के १०१८
पजहे=छोड़ देवे ६४७
पज्जलणाहिवेण=अति प्रचण्ड से ५६१
पज्जुवट्ठिओ=सावधान हुआ ७६०
पज्जुवट्ठिया=सावधान हुए ७६२
पज्जिओमि=मुझे पिला दी ८३५
पट्ठिया=प्रस्थित हैं १०४६, १०५१
पट्टिसेहिं=शस्त्रों से ८२१
पडन्तेहिं=पड़ने से ८२५
पडंतीहिं=शस्त्रधारा के पड़ने से ६०३
पडंति=पड़ते हैं ७४२
पडियरसी=परिचर्या–सेवा करते हो ७३८
पडिरूवन्नू=विनय के जानने वाले १०१०

पडिलेहित्ता=देखकर १०
पडिलेहा=प्रतिलेखना में ७
पडिलेहेइ=प्रतिलेखना करता है ७
पडिवज्जइ=ग्रहण करता है १०४६, १०
पडिवज्ज=ग्रहण करके ६
पडिवज्जिया=ग्रहण करके ६
पडिवत्तिं=प्रतिपत्ति, भक्ति को १०
पडिवज्जयामो=ग्रहण करेंगे ६
पडिकम्मं=प्रतिकार ८
पडिक्कमामि=निवृत्त होगया हूँ ७
पडिचोएइ=प्रेरणा करने वाले को
प्रत्युत्तर देता है ७१
पडिपुच्छई=पूछता है ८७
पडिनियत्तई=पीछे आती ६०६, ६१
पडिसिद्धो=प्रतिषेध किया हुआ ११०
पडिसोत्तगामी=प्रतिस्रोत का गामी
होता हुआ ६१
पडिसेहए=निषेध करता है ११०
पडिसेहिए=निषेध करने पर ६५
पडिसोउ=प्रतिस्रोत ८०
पडे=पट में ८५३
पढमे=प्रथम ८८१, १०८२
पणामई=देता है ८४४, ६६८
पणिहाणव=चित्त की स्वस्थता के साथ
६६२, ६६७
पणिही=प्रणिधि १००६
पणीयं=प्रणीत ६८०, ६६१, ६६५
पलित्तम्मि=प्रज्वलित होने पर ७६१
पत्त=प्राप्त किया है ११२०
पत्ता=प्राप्त हो गये ६६४, ११४२
पत्ते=प्राप्त हुआ ६४१, ६१०
पत्तो=प्राप्त हुआ ७५४, ७५५, ७५७, ७५८
७६३, ८२४, ८५६, ११००

पत्थ=पथ्यरूप उपदेश, ६३३
पत्थिओ=चल पड़ा ६२७
पत्थिवा=हे पार्थिव ! ७२६, ८७८, ८८१
पन्नत्ता=प्रतिपादन किये हैं ६६३, ६६४, ६६५
पन्नवं=प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) १०८०
पन्ना=प्रज्ञा १०२०, १०२५, १०६७
पन्ने=प्रज्ञावान् ६४२, ६५८
पन्त=निस्सार ६४५
पप्पोति=प्राप्त होता है ५६६
प्पभा=प्रभा वाली ६५७
पभायम्मि=प्रातःकाल में ८६४
पभू=समर्थ ८०१
पभूय=प्रभूत ८६६
पभूया=प्रभूत हैं ६१६
पभूयधणसंचओ=प्रभूतधनसंचय नाम वाला ८८०
पभूयं=बहुत है ५६६
पमज्जेज्ज=प्रमार्जन करे १०८४
पमत्त=प्रमत्त होकर ७१०
पमत्ते=प्रमत्त होकर ७०६, ७१०
पमाए=प्रमाद किया जावे ५६८
पमाया=प्रमाद से ८६६
पमुहरी=बिना सम्बन्ध प्रलाप करने वाला ७११
पमोयन्ति=आनन्द मनाते हैं ६२८
पयहित्तु=छोड़कर ७६५
पयहन्ति=छोड़ते हैं ६१६
पयाहिणं=प्रदक्षिणा ८७०, ६२३
परक्कमो=पराक्रम करने वाला ७६४
परगेहंसि=पर घरों में ७१७
परत्थ लोए=परलोक में ७१६
परपासण्ड=परपाषण्ड के ७१६
परमसंवेगं=उत्कृष्ट संवेग को ६९३
परमतिक्खा=अत्यन्त तीक्ष्ण ८८१
परमदारुणा=अत्यन्त कठोर ८८२
परमदुक्खिया=परमदुःखी होकर ७३३
परमट्ठपएहिं=परमार्थ पदों में ६४६
परमत्तेहिं=तथा गृहों के कार्यों से ७४७
परमा=उत्कृष्ट अत्यन्त ८३६
परमाइ=परम ६२२
परमो=उत्कृष्ट ८५८
परलोए=परलोक में ८५७
परलोगे=परलोक में ६६७
परस्स=दूसरे का ८६५, १०८६
पराजिय=स्त्री परिषह से पराजित था ६८५
परिग्गह=परिग्रह का ७६६
परिग्गहारम्भनियत्तदोसा=परिग्रह और आरम्भ रूप दोष से निवृत्त हुई ६२७
परिकुप्प=व्यापन्न करके ५८६
परिणामो=परिणाम ७८६
परिब्भमन्ते=सर्व प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ ५६६
परिचत्त=त्यागे हुए ६२४
परिचज्ज=छोड़कर ७१७, ७३०, ७६४
परिचत्ता=सर्वप्रकार से त्यागी हुई, अतः ६७६
परिचाई=त्याग करने वाला ७१६
परिचागो=परित्याग करना ७६७
परितप्पमाण=सर्व प्रकार से सन्तप्त हृदय ५६१
परितप्पमाणो=सर्व प्रकार से तपा हुआ ५६६
परितावम्=परिताप को ६१३
परिधावइ=चारों ओर भागता है १०४७
परिधावई=सर्व प्रकार से भागता है १०४५
परिनिव्वुडे=निवृत्ति मोक्ष को प्राप्त हुए ६३८, ७४१, ७५१
परिन्नाय=ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़कर ६४६, ६५१
परिभासई=कहता है ७३७

पव्वईओ=प्रव्रजित हो गया तथा ८८४
पव्वईयासंती=प्रव्रजित हुई ६७६
पव्वए=दीक्षित हो गया ७५०, ७६४, ६३३
पव्वज्जं=प्रव्रज्या, दीक्षा ६७५
पव्वज्जम्=दीक्षा को ७५२
पव्वया=दीक्षित हो जा ८४०
पव्वयन्तो=प्रव्रजित होता हुआ १११८
पव्वेसी=दीक्षित करने लगी ६७६
पसज्जसि=आसक्त हो रहा है ७२६, ७३०
पसत्थ=सुन्दर है ८४८
पसत्था=प्रशस्त ५६०
पसन्न=प्रसन्न प्रतीत होता है ७३७
पसमिक्ख=देख कर, विचार कर ५६१
पसवई=प्रसूत हो गई ६२८
पसाहिए=सँवारे हुए ६७७
पसहित्ता=वश करके ७५७
पसिणाणं=प्रश्नों से ७४७
पसीयन्तु=प्रसन्न होवें १०७०
पसु=पशु ६६६, ६६७
पसुत्तोमि=मैं सो गया ८६३
पसुबन्धा=पशुओं के वध-बन्धन के लिए ११२७
पसूया=उत्पन्न हुए ५८२
पसूयाओ=प्रसूत से १०४२
पससं=प्रशंसा की इच्छा करे ६४५
पससिओ=प्रशंसा के योग्य ६२४
पहणे=हनता हुआ ७६४
पहसिओ=हास्ययुक्त अथवा विस्मित हुआ ८७३
पहाणमग्गं=प्रधानमार्ग-साधु धर्म को ६१६
पहाणवं=प्रधानवान् ६४६
पहाय=छोड़कर ६२०, ६४४, ६२३, ६२६
पहायन्त=भागते हुए को १०४६
पहीण=रहित ६१४

पहीणपुत्तोमि=पुत्रों से हीन ६१५
पहीणसंथवे=त्याग दिया है संस्तव को जिसने ६४६
पहू=प्रभु है, वह ७६१
पहेण=मार्ग से ६१४
पक्खा=परों से ६१५
पंच=पाँच १०३२, १०७१, १०८६, १०६५
पंचसमिओ=पाँच समितियों से समित ८५३
पंचकुसीलसंवुडे=पाँच कुशीलों से संवृत-युक्त ७१६
पंचसिक्खियो=पाँच शिक्षा रूप धर्म १०१८
पंचजिए=पाँचों के जीतने पर १०३२
पंचसिक्खिओ=पाँच शिक्षा रूप धर्म १००७
पंचमहव्वयाणि=पाँच महाव्रतों को ६३५ ७७६
पंचमहव्वए=पाँच महाव्रतों से ८५३
पंचमहव्वयधम्मं=पाँच महाव्रत रूप धर्म को १०६८
पंचहा=पाँच प्रकार की १०७८
पंचमं=पाँचवाँ १०१२
पंचलक्खणए=पाँच लक्षणों वाले ८०६
पंचमुट्ठीहिं=पंचमुष्टि से ६७२
पंचविहे=पाँच प्रकार के ३६३
पंचालेसु=पाञ्चाल देश में ७६१
पंजरेहिं=पिंजरों में ६६४, ६६३
पंजलीउडा=हाथ जोड़ कर १११५
पंजलीउडे=हाथ जोड़ कर ८८०
पंडिए=पंडित ६४१
पंडगं=नपुंसक से ६६६, ६६७
पंडिया=पंडित ८६०, ६६५
पंतकुलाई=जो प्रान्तकुल हैं उनमें ६५६
पाइओ=पिला दिया ८३२
पाउं=पीने के लिए ७०४, ८०१, ८२६

पाउकरे=प्रकट करते हुए ७४१, ७४८, ११३२
पाउणिज्जा=प्राप्त होवे ६६७, ६७१, ६७३
६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३
६८५
पाउरण=वस्त्र ७०४
पाए=पाँवों को ७२७
पाए=चरणों को ८७०
पाडिओ=भूमि पर गिराया गया ८२०
पाडियो=मारकर भूमि पर गिराया
जाता है ८२१
पाण=पान ६५३
पाण=पानी ६६१, ८४४, ८८६
पाणग=पानी ६५४
पाणभोयण=पान और भोजन ६८१
पाणस्स=पानी के ८४५
पाणा=प्राणी ६६४
पाणाइवायविरई=प्राणातिपात की
निवृत्ति ७६३
पाणाणि=प्राणियों का ७०७
पाणहेउं=पानी के लिए ११०८
पाणिण=प्राणियों को १०५२, १०५४, १०५६
१०६०, १०६१, १०६२
पाणिणो=प्राणी ६६५, १०५६
पाणिय=पानी ८४६
पाणे=प्राणियों ६६३, ११२१
पापगा=पापरूप है ६३२
पायत्ताणीए=पदातियों की अनीका से ७२३
७०८, ७१०
पायकम्बल=पादपुञ्छन ८१८
पायवे=वृक्ष में-पर ६०२
पारए=पारगामी ७३६, ११३६
पारगा=पारगामी १००२
पारगे=पारगामी ११०३
पारणे=पारणा के लिए १०५६
पारं=पार को
पारस्स=पार १०५६
पालि=पल्योपम वा ७४५
पालिए=पालित ६२५
पालियस्स=पालित श्रावक की ६२८
पालियाणं=पालन करके ६१६
पावकम्मुणा=पापकर्म से, हेतुभूत हैं ८२१
११२७
पावकम्म=पापकर्म ६०६
पावकम्मो=पापकर्म वाला ८१६
पावकारिणो=पापकरने वाले हैं ७४२
पावकम्मेहिं=पापकर्मों से ८२३
पावग=पावक से १११६
पावयणे=प्रवचन में ६२६
पावसमणित्ति=पापश्रमण इस प्रकार ७०५
७०६, ७०७, ७०८, ७०६, ७१०, ७११
७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७
७१८
पावसु=प्राप्त हो ६७३
पाविओ=पाप करने वाला मैं ८२३
पावं=पापकर्म ६०६
पासइ=देखता है ६३१
पासई=देखता है ७२६, ७७४, ८६७
पासबद्धा=पाश से बँधे १०३५
पासबद्धेणं=पाशबंध से ८१८
पासवण=मूत्र १०८५
पासा=पाश १०३६, १०३७
पासाए=प्रासाद में ७७२, ६६०
पासाओ=पास से ८६०
पासाय=प्रासाद के ७७३
पासायालोयणे=प्रासाद के गवाक्ष में ६३१
पासि=समीप ६३३
पासिऊण=देखकर ६३२
पासित्ता=देखकर ७२६, ८६८, ६६३
पासित्ति=पार्श्व इस ६६८

पाउकरे=प्रकट करते हुए ७४१, ७४८, ११३२
पाउणिज्ञा=प्राप्त होवे ६६७, ६७१, ६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
पावरण=वस्त्र ७०४
पाए=पाँवों को ७२७
पाए=चरणों को ८७०
पाडिओ=भूमि पर गिराया गया ८२०
पाडियो=मारकर भूमि पर गिराया जाता है ८२१
पाण=पान ६५३
पाण=पानी ६६१, ८४४, ८८६
पाणग=पानी ६५४
पाणभोयण=पान और भोजन ६८१
पाणस्स=पानी के ८४५
पाणा=प्राणी ६६४
पाणाइवायविरई=प्राणातिपात की निवृत्ति ७६३
पाणाणि=प्राणियों का ७०७
पाणहेउं=पानी के लिए ११०८
पाणिण=प्राणियों को १०५२, १०५४, १०५६, १०६०, १०६१, १०६२
पाणिणो=प्राणी ६६५, १०५६
पाणिय=पानी ८४६
पाणे=प्राणियों ६६३, ११२१
पापग=पापरूप है ६३२
पायत्ताणीए=पदातियों की अनीका से ७२३
पायकम्बलं=पादपुंछन ७०८, ७१०
पायवे=वृक्ष में-पर ८१८
पारए=पारगामी ६०२
पारगा=पारगामी ७३६, ११३६
पारगो=पारगामी १००२
पारणे=पारणा के लिए ११०३
पार=पार को १०५६
पारस्स=पार १०५६
पालि=पल्योपम या ७४५
पालिए=पालित ६२५
पालियस्स=पालित श्रावक की ६२८
पालियाणं=पालन करके ६१६
पावकम्मुणा=पापकर्म से, हेतुभूत है ८२१, ११२७
पावकम्म=पापकर्म ६०६
पावकम्मो=पापकर्म वाला ८१६
पावकारिणो=पापकरने वाले हैं ७४२
पावकम्मेहिं=पापकर्मों से ८२३
पावग=पावक से १११६
पावयणे=प्रवचन में ६२६
पावसमणित्ति=पापश्रमण इस प्रकार ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८
पावसु=प्राप्त हो ६७३
पाविओ=पाप करने वाला मैं ८२३
पाव=पापकर्म ६०६
पासइ=देखता है ६३१
पासई=देखता है ७२६, ७७४, ८६७
पासबद्धा=पाश से बँधे १०३५
पासबन्धेण=पाशबंध से ८१८
पासवणं=मूत्र १०८५
पासा=पाश १०३६, १०३७
पासाए=प्रासाद में ७७२, ६३०
पासाओ=पास से ८६०
पासाय=प्रासाद के ७७३
पासायालोयणे=प्रासाद के गवाक्ष में ६३१
पासि=समीप ६३३
पासिऊण=देखकर ६३२
पासित्ता=देखकर ७२६, ८६८, ६६३
पासित्ति=पार्श्व इस ६६८

पासिया=देखकर ६८१
पासे=पाशों को १०३५
पासेण=पार्श्वनाथ १००७, १०१८, १०२९
पासेहिं=पाश और ८२८
पास=समीप ७२५
पासंडा=पाखण्डी लोग और १०१४
पासण्डी=पाखण्डी लोग १०५१
पाहिंति=पीऊँगा, इस प्रकार ८२४
पि=सम्भावना में ७८६
पिआ=पीकर ७०५
पिंजरे=पिंजरे में ६२७
पिंड नीरसं=नीरस पिण्ड की भी निन्दा करे ६५६
पियदसणे=प्रियदर्शी बन गया ६२६
पियपुत्तगा=प्रिय पुत्र ५८५
पियमप्पियं=प्रिय और अप्रिय ६३६
पियरं=पिता को ७३३
पियरो वि=पिता भी ७३३
पिया=पिता ने ८३४, ८८०, ८८५, ६३०
पियाइ=प्रिय थे ८३३
पिहियासवो=पिहिताश्रव होकर ८४८
पिहुंडे=पिहुण्ड नगर में ६२७
पिहुंडं=पिहुण्ड ग्राम ६२६
पीडई=पीड़ा ८८२
पीडिओ=पीड़ित होने पर ७८७, ७८८
पीढं=आसन ७०८
पीयं=पिया हुआ ६०५
पीला=पीड़ा ६८३
पीलिओमि=मैं पीला गया=पीड़ित किया गया ८१६
पुण्णपयं=पुण्यपद ७५०
पुच्छ=पूछें १०१७
पुच्छई=पूछता है ८४४, १११०
पुच्छसी=तू पूछता है ७४८
पुच्छामि=पूछता हूँ १०१९
पुच्छिऊण=पूछकर ६२०
पुच्छिओ=पूछे हुए आप १११२
पुण=फिर ८४०
पुणो पुणो=बार बार ८८१
पुणो=फिर ९४९, ७४७
पुत्त=पुत्र ७९२, ७८५, ७६२, ८०५, ८४०, ८४१, ८४३
पुत्तं=पुत्र को ७५३
पुत्तसोगं=पुत्र शोक से ८८९
पुत्तस्स=पुत्र के ६१४, ८८१
पुत्ता=पुत्र ६२२, ७३३, ८०१, ८०२, ८५०, ६५३
पुत्ते=पुत्रों को ५८६, ७३३, ७७१
पुत्तो=पुत्र ६५४
पुन्नपावं=पुण्य और पाप को ६५०
पुमत्त=पुरुष भाव में ५८३
पुरं=नगर ८७६, ८७७
पुरंदरो=इन्द्र के समान भी होवे ६८६
पुरा=पहले ६०६, ७८२
पुराकडेण=पूर्वकृत से ५८२
पुराकडाइं=पूर्वकृत को ६४३
पुराकयं=पुराकृत है ७७७
पुराणयं=पूर्वजन्म की ७७६
पुराणपुरभेयणी=भीर्या नगरियों को भेदन करने वाली ८८०
पुराणे=प्राचीन था ५८०
पुरिमाणं=पूर्व के मुनियों का १०२१
पुरिमा=पहले, प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि १०२१
पुरिं=पुरी को ११००
पुरिमस्स=पूर्व तीर्थङ्कर के और १०६८
पुरिसो=पुरुष ६२४
पुरिसे=पुरुष ५६६

रुसोत्तमो=पुरुषोत्तम ९९५
रीए=नगरी में ११०२
रे=नगर में जो ५८०
रम्मि=पुर ९५२, ९५४
रोहिओ=पुरोहित ५८३
रोहियस्स=पुरोहित के ५८५
रोहिओ=पुरोहित ६३८
रोहिय= „ ५९१, ६०३
ल=पोली ६०३
व्वकीलियं=पूर्व स्त्री के साथ की हुई क्रीड़ा को ६७८
व्वरय=पूर्व गृहस्थावास में स्त्री के साथ किया हुआ जो विषय-विलास उसका ६७८
व्वकम्माइं=पूर्व कर्मों को ११४०
व्व=पूर्व ११२६
व्विं=पूर्वजन्म में ६३७
इए=पूजित है ७२१
या=पूजा ९४५
या=पूजा-सत्कार ६५१, ९३६
रा=पूर्व जन्म में देखा है क्या ७७४
च्चत्थ=परलोक के प्रयोजन को तू ७३१
सवग्गेसु=प्रेष्य-दास वर्ग में ७९६
हिय=देखना ६८६
हइ=देखता है ७७४
हे=देखकर चले १०७७
पोए=पोत के डूबने से दुखी होता है ६१५
पोएण=पोत से ९२६
पोरथ=उसकी पूर्ण उपपत्ति को, भावार्थ को ८७८
पोम=पद्म ११२४
पोराणिय=पूर्व ७७७
पोराणिय=पुराणी ५८५
फणग=कंघी से ९७७

फन्दन्ति=अस्थिर स्वामी होने से चपल हैं ६३१
फरसुम्=परशु ८३१
फलट्ठा=फल के लिए ६५२
फलग=पट्टादि ७०८
फलेइ=फल देती है १०३८
फालिओ=फाड़ा गया ८२०, ८२७, ८२९, ८३१
फासा=तृणादिक स्पर्श ९४०
फासिज्ज=स्पर्श करता हुआ ९४७
फासुए=निर्दोष १०००, १००४, ११०१
फासुय=प्रासुक १०१२
फासे=स्पर्श करने लगा ९९३, ९९४
फुडं=स्फुट है, सत्य है, किन्तु ८१०, ८४१
फुसन्ति=स्पर्श करते हैं ९४३
फेणबुब्बुय=फेण के बुलबुले के ७८२

ब

बज्झमाणाण=बाध्यमान १०९२
बद्धा=नियन्त्रित किये हुए भी ६३१
बद्ध=बाँधा गया ८२८
बद्धो=जालादि में बाँधा गया ८१७, ८२०
बन्ध=बन्धन आदि ७९९
बन्धण=कर्म बन्धन को ८९९
बधण=बन्धन को ६३३
बधवा=भाइयों को ७८५
बन्धवा=बान्धव ७३२
बन्धवे=बन्धुजनों को ८९४, ११२६
बन्धू=भाई-भाई को मत ७३३
बंधो=बन्ध के कारण है ६०३
बध=बन्ध को ६०३
बंभ=ब्रह्मचर्य ७९९, ९३५
बम=ब्रह्मचर्य ७९९
बंभव्वय=ब्रह्मचर्य व्रत है और ८००

बमयारी=ब्रह्मचारी ६३६
बम्भयारिं=ब्रह्मचारी को ६६६
बम्भयारिस्स=ब्रह्मचारी को ६६६, ६७१
बमयारिस्स=ब्रह्मचारी ६६७, ६७५, ६८०
६८१, ६८३, ६८५
बम्भयारियस्स=ब्रह्मचारी को ६७२
बम्भचेरे=ब्रह्मचर्य में ६६७, ६६६, ६७१
६७३, ६७५, ६७८, ६८०, ६८१
६८३, ६८५
बम्भचेर=ब्रह्मचर्य के ६६३, ६६४, ६६५
६८५, ६८६, ६६०, ६६८
बम्भचेररओ=ब्रह्मचर्य में रत ६८७, ६८८
६६१, ६६२, ६६३
बम्भचेरस्स=ब्रह्मचर्य की ६८७
बम्भचेरेण=ब्रह्मचर्य से ११३०
बम्भणे=ब्राह्मण ११३४
बम्भणो=ब्राह्मण होता है ११२६, ११३०
११३१, १११७
बम्भलोगाओ=ब्रह्मलोक से ७४५
बलभद्द=बलभद्र ७५०
बलवन्ति=बलवान् है ११२७
बला=बलात्कार से ८२३
बलाबल=बलाबल को ६३७
बलसिरी=बलश्री नामा ७७१
बहवे=बहुत से १०३५, १०४६
बहिं=संसार से बाहर ५८४, ५६०
बहिया=बाहर ११०१
बहुअंतरायं=बहुत से अन्तराय को ५८७
बहुकायरा=बहुत से कातर ६४१, ८६८
बहुकालं=बहुत कालपर्यन्त ५६५
बहुजणं=बहुत जनों को ६६५
बहुपाणिविणासणं=बहुत से प्राणियों
का विनाशन रूप ६६६
बहुमाई=बहुत छल करने वाला ७११
बहुविहं=नानाविध, अनेक प्रकार के ८५२
बहुयाणि=बहुत ८५६
बहुस्सुया=बहुश्रुता ६७६
बहुहा=बहुत प्रकार से ५६१
बहुजणं=अन्य बहुत से पुरुष ६७४
बहु=अतीव ५६१, ६७६, ११२२
बहु=बहुत पार ८२८, १०१४, १०५६
बहुजिया=बहुत से जीव ६६७
बारगाओ=द्वारका से ६७०
बारगाउरिं=द्वारकापुरी को ६७४
बारसंग=द्वादशाङ्ग के १००३
बाला=अमितव यौवना ८८६
बालुया=बालू के ८०४
बाले=विवेकविकल ७०६
बावत्तरी=बहत्तर (७२) ६२६
बाहाहिं=भुजाओं से ८०३, ६८२
बिंत=कहने लगे ७६२, ८१०, ८४०, ८४१
बिलवज्जिए=मूषक आदि के बिलों से
रहित हो १०८८
बीए=दूसरी पयणा में १०८२
बुद्ध=बुद्ध ने, सर्वज्ञ ने ११३२
बुद्धा=प्रतिबोध को प्राप्त हुए ६३६
बुद्धे=बुद्धों की ७३८, ७४१, १०००, १००३
बुयन्त=बोलने पर उसके प्रति १०१६, १०२०
१०३६, १०४०, १०४३
बुयाण=बोलने पर उसके प्रति १०२७
बूम=कहते हैं १११७, १११८
१११६, ११२१
बूहइत्ता=पोषणा करके ६०४
बूहि=कहो १११२
बेमि=मैं कहता हूँ ६६०, ७६६
बोहिलाभ=बोधिलाभ को ७०३
बीयाणि=बीजों ७०७

भविस्ससि=हो जायगा ८७५, ६६०, ६६१
भविस्सामु=होंगे ६००
भविस्सामो=हम भी होंगे अर्थात् धर्म में दीक्षित होंगे ६३१
भवे=होवे ६२५, ६८८, १०२६
भवेज्जा=होवे ६८५
भवेसु=भवों में ८३६
भवोहन्तकरा=भव-संसार-के-प्रवाह-जन्म-मरण-को अस्त करने वाले १०६६
भसेज्जा=भ्रष्ट होवे ६६७, ६६६, ६७१, ६७२, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
भाणू=सूर्य १०६०
भायण=भाजन है ७८१
भायरो=भाई ८८७
भारहवास=भारतवर्ष को ७५०, ७५२, ७५३, ७५६
भारिया=भार्या, जो कि ८८८
भावओ=भाव से नमस्कार करके ८८५, ६४०, १०६८, १०७६, १०७७
भाव=भाव ६६०
भावेउं=भावित करके ८४६
भावणाहिं=भावनाओं से ८४६
भावणभाविया=भावना से भावित हुए ६३७
भावित्ता=होकर ६०२
भासच्छन्ना=भस्माच्छादित १११६
भासा=भाषा ७४३
भासाइ=भाषा में ६००
भास=भाषा को १०८०
भासिज्ज=बोले १०८०
भासिया=भाषण की ७६७
भासियव्व=भाषण को ८६१
भासियव्वं=भाषण करना ७६४
भासे=भाषा १०७२

भिक्खमाणा=भिक्षा करते हुए ६११
भिक्खमट्ठा=भिक्षा के लिए ११०३
भिक्खं=भिक्षा लेंगे ६००, ११०४
भिक्खायरिया=भिक्षाचर्या और ६१८
भिक्खारियं=भिक्षाचरी को ६२१
भिक्खायरियाइ=भिक्षाचर्या का हमारा भी ६१४
भिक्खायरिया=भिक्षाचरी का करना ७६६
भिक्खु उत्तमा=हे भिक्षुओं में उत्तम ११३७
भिक्खुणा=भिक्षुको ७६२
भिक्खू=भिक्षु होता है ६४१, ६४२, ६४३, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४६, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५६, ६५७, ६५८, ६६०, ६६३, ६६४, ६६५, ६८७, ६८८, ६६१, ६६३, ६६८, ८४७, ६३६, ६४०, ६४४, ११०४
भिक्खेसु=भिक्षा से ११३७
भिक्खेण=भिक्षा से ११३७
भिच्चा=भृत्य-सेवा से ६१५
भित्तन्तरसि=दीवार के अन्तर में ६७५, ६७६
भिन्ना=भेदन की हुई १०४४
भिन्नो=भेदन किया-विदारण किया ८२१, ८३२
भीय=डरते हुए ७२४
भीयणं=भय से ८३६
भीमफलोदया=भीम-भयकर-फलों के देनेहारी १०४०
भीमाइ=भयंकर ८१२
भीमाओ=भयंकर-भवणमात्र से भय उत्पन्न करने वाली ८११, ८३७
भीमा=रौद्र शब्द ६५७, ६४०, १०४०
भीमो=भीम, बलवान् १०४५, १०४७
भीये=डरी हुई ६८२
भीया=भयभीत होती हुई ६८२

महड्डियं=महर्द्धिक के प्रति ६५८
महप्पणो=महात्मा को ८००, ६२५
महप्पभावस्स=महाप्रभाव वाले ८६१
महप्पसो=महाबल ७६५
महव्वय=महाव्रत ७६६
महव्वयाइ=महाव्रतों को ८६६
महब्भयाओ=महाभय उत्पन्न करने वाली ८३७
महब्भरो=बड़ा समूह है ८०२
महया=बड़े प्रमाण से ७२३, ७३५
महया वित्थरेणं=महान् विस्तार से- ६१७
महं=महान् है ८६३, ८७२
महंतं=महान् ७८७, ७८६
महन्तमोह=महामोह तथा ६३४
महाउदगवेगेण=महान् उदक के वेग से १०५२
महाउदगवेगस्स=महान् उदक वेग की १०५३
महाकिलेस=महाक्लेश रूप है और ६३४
महाजसो=महायश वाला ७५२
महाजन्तेसु=महायन्त्रों में ८१६
महाजसस्स=महान् यश वाले ८६१
महातवोधणे=महातपस्वी ६१७
महातिमेसु=तिलों में उत्पन्न हो जाता है ६०१
महादवग्गिसकासे=महादवाग्नि के सदृश ८१६
महादीवो=महाद्वीप १०५३
महानागो=महानाग-सर्प ८५२
महानियठाण=महानिर्ग्रन्थों के ६१४
महानियण्ठिज्जम्=महानिर्ग्रन्थीय ६१७
महापन्ने=महाबुद्धिशाली ६६६
महापइण्णे=महती प्रज्ञावाले और ६१७
महापउमो=महापद्म ७५६
महापण्णे=महाबुद्धिमान् ६६१
महापाली=सागरोपमवाली ७४५
महापाणे=महाप्राण विमान में ७४५
महाभयावह=महान् भय के देने वाले ८६३
महाभयोह=महाभावी के समूह को ६५०
महाभाग=हे महाभाग ! १०१६, ६२०
महामेह=महामेघ के १०४२
महामुणी=महामुनि ७४०, ६१७, १००७
१०१८, १०२६, १०३३, १०४०
११००, ११०७
महामुर्हि=महामुनि को पहचान लिया
१११०, ११३४
महायस=महायश वाले १०६७, १०६८
महायसे=महायश वाले १०१३, १००४
६६८, ६१७, १००२
महायसेहिं=महायश वाले ६४७
महायसो=महायश वाला ७६५, ६६८
६५४, १०६६
महारण्णमि=महाटवी में ८४३
महारायं=हे महाराज ! ८७२, ८७६, ८८१
८८६, ८८७, ८८८, ८६०
महावण=महावन को ८२५
महावीरस्स=महावीर ६२५
महासुय=महाश्रुत ६१७
महिं=पृथिवी पर ७६६
महिओ=पूजित है-सदा पूजित १११७
महिड्डिए=महान् समृद्धि वाला ७७७, ६५४
६५२
महिसो=महिष की ८२३
महुणि=मधु ८३५
महेसिणो=महर्षि लोग १०६५, १०५८
महेसी=महर्षि ६४८, ६१६, ६४५
महोदसि=महाप्रवाह वाले में १०५६
मा=मत ८७७
माणनिसूरणो=वैरियों के मान का विनाश करने वाला ७५७

माणवेहिं=मनुष्यों के सम्भव हैं ६४०
माणसा=मानसिक ८११
माणसे=मानसिक १०६२
माणसो=मन में ७७२
मणुसे=मनुष्य सम्बन्धी ८७७
माण=मान का ६६३
मणुससे=मनुष्य भव में ७८३
मणुसं=मनुष्य के ७७६
मणुसे लोए=मनुष्यलोक में ८३८
मणुस्स=मनुष्य और ११२३
मणुस्स=मनुष्य सम्बन्धी ७४५, ६८४, ८७४
मणुस्सए=मनुष्य सम्बन्धी ८०६
मणुस्सएसु=मनुष्य सम्बन्धी काम भोगों में ५८५, ५८६
मणुस्सगा=मनुष्य सम्बन्धी तथा ६५७
मणुस्सा=मनुष्यों सम्बन्धी ६४०
माणे=मान में १०७६
मा भमिहिसि=मत भ्रमण कर ११३७
मायं=समाविष्ट-अन्तर्भूत है १०७३
माया=माता ८८६
माया=माया से ७४३, ६६३
मायाए=माया में १०७६
मायओ=मातायें हैं १०७१
मारिओ=मार दिया ८२६, ८३०
मासक्खमण=मासोपवास की ११०३
मा सम्मरे=मत स्मरण करो ६१८
मासियए=मासिक ८५६
माहण=ब्राह्मण ६५१
माहणकुल=ब्राह्मणकुल में १०६६
माहणत्त=ब्राह्मणत्व ११३५
माहणसपया=ब्राह्मण की सम्पदा से अनभिज्ञ १११६
माहणस्स=ब्राह्मण के ५८५
माहण=ब्राह्मण १११७, १११८, १११६, ११२१
माहणी=ब्राह्मणी ६३८
माहणे=ब्राह्मण ७३८, ११०२
माहणेण=ब्राह्मण के द्वारा ६२४
माहणो=ब्राह्मण ६३८
मा होमो=हम दोनों न होवें, मत ६८६
मि=मेरे ७०४
मिए=मृगों को ७२४, ८४८
मिए उ=मृगों को ७२६
मिओ वा=मृग की तरह ८२८
मिगचारिय=मृगचर्या को ८४६, ८४७, ८५०, ८५१
मिगो=मृग ८४२
मिगस्स=मृग को ८४१
मिगव्वं=मृगया शिकार के लिए ७२२
मिगे=मृगों को ७२५
मिच्छादिट्ठी=मिथ्यादृष्टि ७४४
मित्त=मित्र ८७४
मित्तम्=मित्र है ८६७
मित्ता=मित्र ७३२
मित्तेसु=मित्रों में ७६३
मित्ते=मित्र ८५३
मिय=मित-स्वरूप ६६२, १०८०
मियपक्खिणं=मृगों और पक्षियों का ८४१
मियाइ=मृगा ८६१
मिया=मृगा नाम वाली ७७०
मियापुत्ते=मृगापुत्र ८६०, ७७१, ७७४, ७७७
मिसी=ऋषि हुआ ८९०
मुइय=प्रसन्न ७७२
मुइय=प्रमोद वाला उसको ७५६
मुण्डिएण=मुण्डित होने से ११२६
मुक्कपासो=मुक्तपाश और १०३५
मुक्खं=मोक्ष को ७५५
मुग्गरेहिं=मुद्गरों ८२६

मुच्छिया=मूर्च्छित हैं ६२८
मुच्चिज्जा=छूट जाऊँ, वो ८६१
मुज्झ=मुझे ११३७
मुज्झसी=मूर्च्छित हो रहा है ७३१
मुट्ठिमाईहिं=मुष्टि आदि से ८३२
मुट्ठी=मुट्ठी ६०३
मुणिपवराण=प्रधान मुनियों के मध्य में ७१६
मुणी=मुनि, मननशील ५६०, ६४३, ७५६, ७६३, ८४८, १०३५, १०४६, १०५२, १०६२, १०६६, १०८३, १०६७, ११३०
मुणीण=मुनियों को ५८८
मुणीणमज्झे=मुनियों के मध्य में ७२१
मुण्डरुई=मुण्डरुचि ६०२
मुत्ती=निर्लोभता है ८६६
मुत्तीए=निर्लोभता से ६७३
मुत्तो=निरपेक्ष होता हुआ ६१६
मुसलेहिं=मूसलों द्वारा, तथा ८२६
मुसं=झूठ ११२१
मुसवए=मृषा बोले ८७०
मुसा=मृषा ७४३
मुसावाय=मृषावाद का ७६४
मुहं=मुख को ११०६, १११२, १११३
मुहाजीविं=मुधाजीवी ११२५
मुहा=मूढ़ हैं ६२८, १११६
मूल=ओषधि आदि में ८८३
मूल=मूल ६४६
मूलओ=मूल से ८६६
मे=मेरे ५६८, ६२३, ६६३, ७२७, ७२६, ७४८, ७६७, ७७६, ७८५, ८६५, ८७६, ८७०, ८७६, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८६०, ८६३, ८६६, ८६८, ६१८, ६२०, ६६७, १०२५, १०४२, १०४४, १०४६, १०६७, १०७६, १११२, ११३५
मेयन्ने=तत्त्वज्ञ ७४०
मेरुओ=मेरुक ८३४, ८३५
मेरु=मेरु ६४४
मेहावि=हे मेधाविन्! ६१४
मेहावी=हे मेधाविन्! १०१६, १०७६
मेहुण=मैथुन को ११२२
मोक्ख=मोक्ष का १०७६
मोक्खाभिकंखी=मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले ५८६
मोण=मुनिवृत्ति को ५८७, ६१७, ६२७, ६४०, ६०८
मोणेण=मौन भाव से ७२८
मोसा=मृषा १०८६, १०६२
मोहरिए=मुखरता में १०७६
मोह=मोह को ६४६, ६४४
मोहगयस्स=मैंने कहीं पर इसको देखा है, इस प्रकार की चिन्ता से निर्मोहता को ७७५
मोहा=अज्ञानता के वश से ६०६
मोहाणिला=मोहरूप वायु से ५६१
य=फिर, और, पुनः, पादपूर्ति में है, समुच्चयार्थक है ५८२, ५८३, ५८६, ५८७, ५६३, ५६६, ६०३, ६११, ६१६, ६२२, ६३०, ६३१, ६३४, ६३८, ६४७, ६५१, ६५८, ६८६, ६८७, ६६०, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ७०३, ७०७, ७०६, ७१४, ७१५, ७१७, ७२३, ७२६, ७३२, ७३३, ७४३, ७४५, ७४७, ७५५, ७५६, ७६१, ७७८, ७८४, ७६१, ७६६, ८००, ८११, ८१२, ८२०, ८२१, ८२६, ८२७, ८२६

८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३५
८३६, ८४२, ८४५, ८४६, ८४८
८५३, ८५७, ८५६, ८७०, ८७४
८७५, ८७६, ८७७, ८८८, ८६०
८६५, ८६७, ८६६, ६१८, ६१६
६२०, ६२३, ६२४, ६२६, ६३४
६३५, ६४२, ६६०, ६६२, ६६४
६६८, ६६६, ६७२, ६७३, ६७४
६७८, ६८२, ६६८, १००४, १००७
१००८, १०१२, १०१३, १०१८
१०२१, १०२६, १०३१, १०३२
१०३३, १०४०, १०४६, १०५०
१०५२, १०५४, १०६५, १०७१
१०७२, १०७४, १०७५, १०७७
१०७६, १०८०, १०८७, १०८६
१०६१, १०६२, १०६३, १०६४
१०६५, ११०५, ११०६, ११११२
११२१, ११२६, ११३०, ११३३
११३४, ११३६, ११३६, ११४२

वा=और, अथवा १०२६, १०८६

र

रइ=रति ६४६

रइं=रति, आनन्द को ५८७, ६०६, ६६० ७८२

रइयाए=रचना की गई है ६६१

रओ=रत ६८६, ६६०

रक्खट्ठा=रक्षा के लिए ६८७

रक्खमाणी=रक्षा करती हुई ६८८

रज्जे=राज्य में ७५३, ७६२

रज्जंतो=रमण करता हुआ ७७८

रज्जम्मि=राज्य में ७३०

रज्जं=राज्य को ६३४, ७२६, ७५६, ७६०

रट्ठं=राष्ट्र को ७३७

रट्ठे=राष्ट्र—देश में ६३७

रणे=रण में ६१५

रण्णवासेण=अरण्य में निवास करने से ११२६

रत्ते=रत है ७१२

रमइ=रमण करता है १११८

रमे=रति पाती हूँ ६२७

रम्मे=रमणीय को ७७०, ६३०

रयणी=रात दिन ६०८, ६०६, ६१०

रयणो=रत्नों वाला ८६६

रयणायरो=रत्नाकर ८०८

रयाइ=कर्मरज ६४३

रसगिद्धेण=रसमूर्छित ने और ७२६

रसमुच्छिए=रस में मूर्छित हुआ ७२४

रमतो=आनन्दन करते हुए ८१७

रसा=रस ६१७

रसे=रसों को ६६३

रसेसु=रसों में ८६६

रहनेमी=रथनेमि नामक मुनि ६८१, ६८३, ६८५

रहाणीए=रथों की अनीका से ७२३

रहिय=रहित ६८७

राइओ=रात्रियाँ ६०६, ६१०

राइणो=राजा को ८४८

राईए=रात्रि के ८६३

राईभोयणे=रात्रि-भोजन ७६८

राईमई=राजीमती ६५६, ६७६, ६८५

राओ=रात्रि में ५६६

रागोवरयं=राग से रहित ६४२

रागं=राग को ६१३, ६४४

रागद्दोस=रागद्वेष के ६२८

रागद्दोसादओ=रागद्वेषादि १०१७

रागदोसभयाईय=राग, द्वेष और भय से रहित ११११६

लयणस्स=शयन, गुफा के ६८०
लयणाइ=वसती ६४७
लया=लताओं से ८६६, १०२८, १०४०
ललियण=लालित्य में ६८६
लवियं=बोलना ६८६
लहई=प्राप्त करता है ६१४
लहु=हलका, निस्सार ६६०
लहु=शीघ्र ६७८
लहुभूओ=और लघुभूत होकर १०३५
लहुभूय=लघुभूत ६३०
लहिउं=प्राप्त करके ७०१
लहियाणवी=प्राप्त होकर भी ८६८
लाढे=सदनुष्ठान से युक्त ६४२, ६४३
लाभ=लाभ ६१७
लाभा=रूपादि का लाभ भी आपको ६१६
लाभालाभे=लाभ और अलाभ में ८४५
लालप्पमाणं=बार २ विलाप करता हुआ, संलाप करते हुए को ५६१, ५६८
लिंग=लिंग का १०२८
लिंगे=लिंग के १०२६
लुत्तकेस=लुप्तकेश ६७३, ६७८
लुंचई=लुंचन करते हैं ६७२, ६७७
लुद्धे=लोभी ७११
लेप्पाहिं=श्लेपादि द्रव्यों के द्वारा ८३०
लोए=लोक में, समग्र लोक में ६५७, ६५८, ७२१, ७५४, ७६१, ८१०, ८५७, ६१२ १०३५, १०४६, १११७
लोगम्मि=लोक में ६०६
लोगम्=लोक को ७२१
लोगग्गम्=लोकाग्र १०६५
लोगग्गम्मि=लोक के अग्रभाग में १०६३
लोगग्गमि=लोक के अग्रभाग में १०६६
लोगस्स=लोक के १०२८
लोगनाहे=लोक का नाथ ६४५
लोगपूइओ=लोकपूजित ६६८
लोगपईवस्स=लोक प्रदीप का ६६८, १००२
लोगे=लोक में १०२८
लोगो=लोक या परलोक ५८८, ५६६, ६०८
लोभ=लोभ को ६६१
लोभे=लोभ में १०७६
लोहमार=लोहमार की ८०२
लोहतुंडेहिं=लोहे के तुल्य कठिन मुखवाले ८२१
लोहमया=लोहमय ८०५
लोहरहे=लोहे के रथ में ८२१
लोहा=लोभ से ११२१
लोहाई=लोह को ८३२

व

व=अथवा, वत्, की तरह, पादपूर्ति में है परस्पर अर्थ में है ६११, ६१८, ६२२ ६५२, ७२८, ७६६, १००६, १०८५ १११७
वइरवालुए=वज्र वालुका में, अथवा ८१६
वई=वाणी ७६७
वईसो=वैश्य ११११
वइदेही=विदेह देश के ७६०
वए=आवे, वय में, गमन कर, कहने लगी ६३३, ८८१, ६१४, ६८६
वच्चो=वर्चा है ८६६
वण्हिपुंगवो=वृष्णिपुंगव ६६१
वओ=यौवन वय-अवस्था ६१७
वक्कजडा=वक्र जड़ है १०२१
वक्कं=वाक्य-वचन बोले ५६१
वक्कम्=वाक्य ६८२
वग्गहिय=औपग्रहिकोपधि १०८३
वच्चइ=जाती है ६०६, ६१०
वट्टए=वर्तता है ७२१

वज्जणा=वर्जनीय है ७९८
वज्जरिसह=वज्र ऋषभ नाराच ९५६
वज्जिए=वर्जित-रहित १०७५
वज्जेज्जा=त्याग देवे ९६७
वज्जेयव्वो=वर्जन करना ७९८
वज्झ=वध के योग्य ६३१
वज्झगं=वध्य स्थान पर ले जाते हुए चोर को ६३१
वज्झमंडणसोभागं=वध योग्य मंडन है सौभाग्य जिसका ६३१
वज्झमाणं=अन्य पक्षियों द्वारा पीड़ित होता हुआ ६३२
वट्टन्तो=वर्तते हो १०४९
वड्ढमाणो=वृद्धि पाने वाला ९७३
वड्ढईहिं=वढ़ई-तरखानों के द्वारा ८३१
वणिओ=वैश्य जैसे ६१५
वणं=वन में १०१०
वतं=वमन के ९८८
वंतयं=वमन किये हुए को ९८७
वंतासी=वमन किये हुए को खाने वाला ६२४
वत्थु=घर ७८५
वत्थुविज्जं=वास्तुविद्या ६४८
वन्दए=वन्दना करता है ७२७
वंदित्ता=वन्दना करके ८७०, ९७४
वन्दणं=वन्दना की इच्छा रखता है ६४५
वन्दमाणा=वन्दना करते हुए १११५
वद्धमाणेण=वर्द्धमान स्वामी ने १००७, १०१८, १०२९
वद्धमाणित्ति=वर्द्धमान इस नाम से १००१
वमणं=वमन ६४९
वमित्ता=उनको छोड़कर ६३०
वमोयन्ति=विमुक्त कर सकी ८८९
वयई=बोलना ११२१
वयणम्=वचन ७८८, ११०८
वयजोगं=वचनयोग ९३७
वयणं=वचन ८७५, ९९९, ९९२
वयाणि=व्रत ९३४
वयगुत्ती=वचनगुप्ति १०७२, १०९२
वयगुत्तो=वचनगुप्त ९९४
वय=वचन ६५४
वयं=वायी, हम, वचन को ५८८, ६०९, ६२८, ६३१, १०९३, १११७, १११८, १११९, ११२१
वयंति=कहते हैं ५८८, ६०३
वरे=श्रेष्ठ-प्रधान, अनंत अनागतकाल में ६३५, ७००
वरिससओवमे=सौ वर्ष की उपमा वाला ७४५
वरिस=वर्ष ७४५
वलयाणि=वन ८४५
वल्लरेहिं=वनों में ८४६
ववस्सिया=शुभ अध्यवसाय युक्त ९७७
ववहरते=व्यवहार करता हुआ ६२६
ववहरमस्स=व्यापार करते हुए उसको ६२७
ववहरई=व्यवहार करता है ७१७
वसे=वश में ९९३
वसाओ=वर्षों ८३५
वसगया=वश में होते हुए ६२८
वसहिं=वस्ति को ६३३
वसुदेव=वसुदेव ९५२
वसमो=वृषभ के समान ७५५
वसामि=वसता हूँ ७४३
वसुहं=वसुधा में ९२४
वह=वध ७९९
वहेइ=व्यथित करता है, मारता है ७२४, ७२५
वहिएण=व्यथा-पीड़ा से ८३९
वा=और, अथवा, समुच्चय अर्थ में है, ६००, ६०७, ६२५, ६२६, ६२७, ६४९, ६६७

९६६, ९७१, ९७३, ९७५, ९७६, ९७८
९८०, ९८१, ९८३, ९८५, ७३४, ७४७
८२१, ८४२, ८४४, ८७२, ८७८, ८८६
९९१, ९०३, १००६, १०८३, १०८४
११०८, ११०६, १११२, ११२१
११२२
वाएणा=वायु से ९४४
वाघायकरं=व्याघात करने वाला वचन ५८८
वाडेहिं=बाड़ों से ९९३, ९९४
वाणारसिं=वाराणसी ११००
वाणारसीए=वाराणसी के ११०१
वाणिए=वणिक्, वैश्य ९२५, ९२६
वाणिओ=किसी वैश्य ने ९२७
वाय=वात ९५८
वायस्स=वायु से ८०७
वायाविद्धोव्व हडो=वायु से प्रेरित किये हुए वनस्पति विशेष की तरह ९९०
वारिणा=जल से ११२४
वारि=पवित्र पानी को १०४२
वारिमज्झे=जल के मध्य में १०५३
वावरे=आहार के लिए आकर उसका कार्य करे ७१७
वावि=भी १०८५
वासम्=निवास-अवस्थान को १०००, ११०१
वास=निवास को १००४
वासते=वर्षा के होते हुए ९८०
वासाणि=वर्षों तक ८५६
वासिट्ठि=हे वासिष्ठि! ९१४
वासी=परशु से कोई छेदन करता है ८५७
वासुदेवो=वासुदेव ९७२, ९७८
वासुदेव=वासुदेव ९५८
वासुदेवस्स=वासुदेव का ९९०
[illegible] र्षा से भीग गई ९८०
[illegible] नौका ७२६

वाहिओ=कष्ट से ८२८
वाहिरिए=बाहर ८५३
वाहि=व्याधि ७८८
वाहिणो=व्याधियाँ और १०६३
वाही=व्याधि ७८३
वाहेइ=बढ़ जाता है, बैठ जाता है ७१८
व=समुच्चयार्थक है, जैसे, वत्, तरह ९१५
९३३, ८०२, ८०३, ८५२, ९४४
वए=व्रत ९०२
वि=अपि शब्द से जोड़ादि हैं ९२५, ८७२
८८९, ८९०, ९०६, ९२६, ९८२
विइगिच्छा=सन्देह ९६७, ९६९, ९७१
९७३, ९७६, ९७८, ९८०, ९८१, ९८३
९८५
विइत्तु=जानकर ९४३
विइया=जान लिया ७४४
विउलं=विस्तीर्ण, विपुल ९३४
विउला=विपुल ८९१
विउलुत्तम=विस्तीर्ण और उत्तम ९२३, ९११
विउलो=विपुल ८८१
विऊ=विद्वान्, वेत्ता, पण्डित हैं ९३५, १००३
११२६
विकत्ता=विकर्त्ता है ८९७
विकहासु=विकथा में १०७६
विक्खायकित्ती=विख्यात कीर्ति ७५५
विगईओ=जो विकृति हैं उनका ७१४
विगप्पणं=विकल्प करना १०२८
विगयमोहाण=मोह रहित के ९३७
विगयमोहो=विगतमोह, मोह रहित होकर इस प्रकार मैं कहता हूँ। यह महानिर्ग्रन्थीय बीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ ९०४
विग्घो=विघ्न ९२०
विचिंतेई=चिंतन करती है ९७६

सओरोहो=अन्तःपुर के साथ　६२२
संजओ=संजय नाम वाला ७२६, ७३६, ७३६
७४६
संजओ नाम=संजय नाम वाला　७२२
संजुओ=संयुक्त था और　६५५
संजईए=संयम-दीक्षा के　६६२
संजए=संयत और ६४५, ८४८, ६३६, ६४५
१०८०
संजुए=संयुक्त था　६५२, ६५४
संका=शंका ६६७, ६६६, ६७१, ६७३, ६७५
६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
संकाठाणानि=शंका के स्थान　६६७
संकमाणो=शंका करता हुआ　६३३
संथवं=मित्रता　६११, ७५६, ७६०
६८१
संखवियाण=क्षय करके　६११
सक्कारं=सत्कार को　६४५
सत्थेण=शस्त्र-यन्त्र के द्वारा　७५६, ७६०
सकम्मसेसेण=स्वकर्म शेष में　५८२
सकम्मसीलस्स=स्वकर्मनिष्ठ　५८५
सकम्मेहिं=अपने किये हुए कर्मों के
प्रभाव से　८१६
संकहं=साथ बैठकर कथा करना　६८८
संगं=संग से　७६६
संगं=संग को जो　६३४
सगा=सगे, सगी　८८७, ८८८
संखेवेण=संक्षेप से या विस्तार से　११२१
संगुप्फ=स्तनादि को गुप्त　६८२
संगामसीसे=संग्राम के सिर पर　६४१
सगरोऽवि=महाराज सगर भी　७५१
संघयणो=संहनन　६५६
संजमे=संयम में　७६४
सच्चामोसा=सत्यामृषा　१०८६, १०६२
सच्चा=सत्य　७६४, ६३५

सच्चा=सत्या　१०८६, १०६२
सच्चे=सत्यवादी　७४१
सच्चिक्खमाणो=सम्यक् प्रकार से
विचरता हुआ　६१७
संचयो=संचय घृतादि पदार्थों का　७६८
सचरे=विचर　७४७
सच्चपरक्कमे=सत्य पराक्रम वाले　७४१
सछन्न=आच्छादित और　८६६
संजोगा=संयोग　११२६
संजममाणोऽवि=संयम में रहा हुआ भी ७४२
संजमम्मि=संयम में　७८८
संजुत्तो=युक्त, संयुक्त　७२४, ७३४
संजमं=संयम को　५८७, ६८६
संजम=संयम के　७४४, ६१६
संजमे=संयम　८०४
संजमेण=संयम से　८४२, ११४२
संजमबहुले=संयम—बहुल ६६३, ६६४, ६६५
संजए=मैं संयत हूँ इस प्रकार　६०४, ६३६
संजयं=संयत को　७७४, ८६५, ६८२
संजया=हे संयत !　८७१, ८७४, ६२०
संजयाणं=संयतों को　८६५, १००५
संजयमन्नमाणो=संयत मानता हुआ　७७७
सज्झाय=स्वाध्याय　७२४, १११६
सज्झाय=स्वाध्याय　१०७८
संठाण=आकार विशेष वा कटि आदि　६८६
संडासतुंडेहिं=सडासी के समान मुख
वाले　८२३
सणंकुमारो=सनत्कुमार　७५३
सणाहो=सनाथ होता है　८७८
सणाहा=सनाथ हैं　६१६
संतस्स=प्राप्त हो जाने पर　७७५
संता=मासक हैं　६०१, ६२८, ६३१
संतरुत्तरो=प्रधान वस्त्र धारण करना
१००८, १०२६

संतत्त-भाव=सन्तप्त भाव ५९१
सत्तु=शत्रु और ७९३
सत्तू=शत्रु १०३२, १०६३
सतो=होकर ७७६
संताणछिन्ना=स्नेह की संतति का विच्छेद है, जिसके ६२७
सत्थ=शस्त्र ८८१, ९०६
सत्थारए=संस्तारक पर ७१४
संथारं=कम्बलादि ७०८
संथारे=संस्तारक पर १०००, १००४
संथुया=परिचित ६५२, १०७०
संथवो=संस्तव ६९४
संथवं=संस्तव को ६४१, ६५२, ६८८
सदारे=अपनी स्त्री के साथ ६२३
सदेसं=स्वदेश को ९२७
सद्दा=शब्द ६५७
सद्दे=शब्दों को ६९३
सद्देन=शब्द से ९३७
सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाती=शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला ६८५
सद्दावई=निरन्तर आता है ९०८
सद्धा=श्रद्धा, अभिलाषा ६१३
सद्धिं=साथ ६७०, ६७१
सन्तं=विद्यमान ११०४
सन्ता=की हुई १०४४
सन्ते=थके हुए ७२४
सन्तिकरो=शान्ति के देने वाला ७५४
सन्ती=शान्तिनाथ ७५४
सन्तो=होने पर ८७५
सत्थ=शस्त्रों, शास्त्रों में ८८२
सनिद्दी=रात्रि को ७९८
सनिरुद्धा=रोके हुए ९६४
सन्नाइपिण्डं=अपनी जाति, अपने ज्ञातिजनों के आहार को ७१८
सन्निरुद्धे=रोके हुओं को ९६२
सन्निभे=समान ७८२
सन्निनाण=संज्ञि ज्ञान के ७७६
सन्निनाएण=विशेष नाद से ९६१
सन्निसेज्जागयस्स=एक शय्या पर बैठे हुए ६७१
सन्निसेज्जागए=एक पीठादि पर बैठा हुआ ६७१
सन्निसेज्जागए=पीठ आदि एक आसन पर बैठा हुआ ६७०
सपराए=संसार से ९०२
सपगरेइ=ग्रहण करता है ९४०
सपज्जलिया=संप्रज्वलित १०४१
सपगाढे=आसक्त है ९०७
सपडिवाइओ=स्थिर कर दिया ९९२
संपिण्डिया=भली प्रकार से मिले हुए ६१६
सपडिवज्जई=ग्रहण करते हैं १०११
सपणामए=समर्पण करने लगे, समर्पित किया १०१२
सपत्ता=प्राप्त करके १०६६
सपत्तो=प्राप्त हुआ ८२५, ९७१
सपत्ते=प्राप्त हुओं को ९६६
सपन्ना=युक्त ९५७
सपरिसो=परिषद् के सहित १११०
सपयग्गम्मि=प्रधान सम्पदा में ८७७
सपरिसा=सर्व परिषद् के साथ ९६९
सपाहेओ=पाथेयसहित ७८९
सपरियणो=परिजनों के साथ और ९२२
सफला=सफल ६१०
सबन्धवा=सबान्धव हैं ९१९
सबन्धवो=बन्धुओं के साथ ९९२
सबलेहिं=शबल हैं ८२०

संतत्त-भाव=सन्तप्त भाव ५६१
सत्तु=शत्रु और ७६३
सत्तू=शत्रु १०३२, १०३३
सत्तो=होकर ७७६
संताणछिन्ना=स्नेह की संतति का विच्छेद है, जिसके ६२७
सत्थं=शस्त्र ८८१, ९०६
संथारए=संस्तारक पर ७१४
संथारं=कम्बलादि ७०८
संथारे=संस्तारक पर १०००, १००४
संथुया=परिचित ६५२, १०७०
संथवो=संस्तव ६६४
संथवं=संस्तव को ६४१, ६५२, ६८८
सदारे=अपनी स्त्री के साथ ६२३
सदेसं=स्वदेश को ९२७
सद्दा=शब्द ६५७
सद्दे=शब्दों को ६६३
सद्देण=शब्द से ९३७
सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी=शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोगने वाला ६८५
सधावई=निरन्तर जाता है ९०८
सद्धा=श्रद्धा, अभिलाषा ६११
सद्धिं=साथ ६७०, ६७१
सन्तं=विद्यमान ११०४
सन्ता=की हुई १०४४
सन्ते=थके हुए ७२४
सन्तिकरो=शान्ति के देने वाला ७५४
सन्ती=शान्तिनाथ ७५४
सन्तो=होने पर ८७५
सत्थं=शस्त्रों, शास्त्रों में ८८३
सनिही=रात्रि को ७९८
सनिरुद्धा=रोके हुए ९६४

सन्नाइपिण्ड=अपनी जाति, अपने ज्ञातिजनों के आहार को ७१८
सन्निरुद्धे=रोके हुओं को ९६३
सन्निभे=समान ७८७
सन्निनाण=संज्ञि ज्ञान के ७७६
सन्निनाएण=विशेष नाद से ९६१
सन्निसेज्जागयस्स=एक शय्या पर बैठे हुए ६७१
सन्निसेज्जागए=एक पीठादि पर बैठा हुआ ६७१
सन्निसेज्जागए=पीठ आदि एक आसन पर बैठा हुआ ६७०
सपराए=संसार से ९०२
सपगरेइ=ग्रहण करता है ९४०
संपज्जलिया=संप्रज्वलित १०४१
सपगाढे=आसक्त है ९०७
सपडिवाइओ=स्थिर कर दिया ९६२
सपिण्डिया=भली प्रकार से मिले हुए ६१६
सपडिवज्जई=ग्रहण करते हैं १०११
सपणामए=समर्पण करने लगे, समर्पित किया १०१२
सपत्ता=प्राप्त करके १०६६
सपत्तो=प्राप्त हुआ ८२५, ९७१
सपत्ते=प्राप्त हुओं को ९६३
सपन्ना=युक्त ९५७
सपरिसो=परिषद् के सहित १११०
संपयग्गम्मि=प्रधान सम्पदा में ८७७
सपरिसा=सर्व परिषद् के साथ ९९९
सपाहेओ=पाथेयसहित ७८९
सपरियणो=परिजनों के साथ और ९२२
सफला=सफल ६१०
सबन्धवा=सबान्धव हैं ९१९
सबन्धवो=बन्धुओं के साथ ९२२
सबलेहि=शबल हैं ८२०

मुप्पज्जिज्जा=उत्पन्न होवे ६६६, ६७३, ६७६, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५
मुपन्ना=उत्पन्न हुई १००५
मुपन्ने=उत्पन्न हो जाने पर ७७६, ७७७
मुप्पन्न=उत्पन्न हो गया ७७५
मुविट्ठय=उपस्थित हुए ११०४
मुविट्ठया=समुपस्थित हुई १०७०
मुवाय=कहने लगी ६२३
मुद्दविजये=समुद्र विजय ६५४
मूलिय=अङ्ग सहित १०३६
मि=समभूमि में १०८६
मो=समभाव रखने वाला ८५४, ८५५
मोइण्णा=आ गये ६६६
म्म=सम्यक् ६३५, ७०६, ७४८, ८६६, ८५६, १०११, १०६७, ११४७
म्म=सम्यक्-भली प्रकार ७४४
म्मत्तसञ्जुया=सम्यक्त्व से युक्त ६११
म्मइमाणे=समर्थन करता हुआ ७०७
म्मग्ग=सन्मार्ग में १०५१, १०७०
मूओ=उत्पन्न हुआ १०६६
मन्तो=भयभीत सा हुआ ७२६
य=अपना ७१७
यण=स्वजनों ६७६
सयणा=स्वजन ५६६
सयणासणाइ=शयनासनादि का ६६७, ६६६
सयणेण वा=स्वजनों से क्या ६००
सयय=निरन्तर ६४४, १०४२
सयमेव=स्वयं ही ६७१, ६७७
सयव=एक बार भी ८६१
सया=सदा ६६२, ६६५, १०८४, ६०८, १११७, ७२१, ६६३, ६६४, ६४७
सयण=शय्या ६४५, ६५२
सरइ=स्मरण करता है ७७६, ७७७
सर=स्वर किया ६४८
सरण=माता पिता आदि की शरण-स्मरण करना, शरणभूत ५८२, ६४६, ६०७, १०५२
सरम्भ=सरम्भ १०६१, १०६३
सरम्भे=सरम्भ में १०६४
सरस्सविजय=स्वर की विद्या ६४८
सराणि=सर-तालाब को ८४५
सरित्तु=स्मरण करके ५८५
सरीर=शरीर के ८८१
सरीरं=शरीर ७८१
सरीरंमि=शरीर में ७८२
सरीरत्था=शरीर में रही हुई १०४१
सरीरम्=यह शरीर १०५८
सरीरंसि=शरीर में ६०१
सरीरिणो=जीव १०३५
सरीरपरिमण्डणं=शरीर का मण्डन-अलङ्कार करना ६६२
सरेहिं=सरों में ८४६
सलोए=सलोकन करने वाला १०८५, १०८६
सल्ल=शल्य ८५६
संवड्ढई=वृद्धि को पाता है ६२६
संवरे=काँपने लगी ६८५
सवसित्ता=वश करके ६११
संवेग=संवेग-मोक्षाभिलाषा ७३५
सविग्गो=संवेग को प्राप्त होकर ६३२
सव्व=सब ५६६, ७६६, ८३६, ८८५, ६३६, ६५७, १०६७, ११३२
सव्व=सर्व प्रकार से ६२५, ६३२, ७३०, ६१४, ६२०, ६६४, १११२
सव्वसो=सर्व प्रकार से ८५८, ६०६, ६६०, ६६१, ७२३, ६५०
सव्वकामसमप्पिए=मेरे सम्पूर्ण काम समर्पित हैं, तो फिर ८७७

सामण्णम्=श्रमण धर्म का ८५६
सामण्णस्स=श्रमण भाव का ६६१
सामण्ण=संयम के ८०१
सामण्णे=श्रमण भाव में ७६०, ७६२, ८७१
सामिस=मांस के सहित ६३१
सामुदाणिय=बहुत घरों की भिक्षा ७१८
सामेहिं=श्याम ८२०
साया=साता रूप ८३६
सारमण्डाणि=सार वस्तुओं को ७६१
सारहिं=सारथि को ६६३
सारहिस्स=सारथि के प्रति ६६८
सारही=सारथि ६६५
सार=प्रधान धन ६२३
सारपि=सार वस्तु भी ८८५
सारीर=शारीरिक और १०६२, ८११
सावए=श्रावक ६२५, ६२६, ६२६
सावत्थिं=श्रावस्ती नाम १०००
सावत्थिम्=श्रावस्ती नगरी में १००३
सावज्जजोगं=सावद्य व्यापार को ६३६
सासए=शाश्वत है ७००
सासणे=शासन में ६३७
सासयवास=शाश्वत वासरूप है १०६६
सासणो=भगवान् का शिक्षारूप शासन जिसका ८५८
साहसिओ=साहसिक १०४५, १०४७
साहस्सीओ=सहस्रों-हजारों १०१४
साहणा=साधना १०२६
साहस्सीए=सहस्रों पुरुषों से ६७१
साहाहि=शाखाओं का ६१४
साहु=श्रेष्ठ है १०२५, १०६७
साहुणा=साधु के द्वारा ८७५
साहुस्स=साधु के ७७५
साहु=साधु को ८६७
साहू=हे साधो ! ११११

साहीण=स्वाधीन है ५६६
सिक्खिए=सीख गया ६२६
सिंगारत्थ=शृङ्गार के लिए ६६३
सिंघाण=नासिका का मल १०८५
सिंचामि=मैं सिञ्चन करता हूँ १०४२
सिज्ज=शय्या १००४, १०००
सिज्जा=शय्या ७०४
सिज्झति=वर्तमान में सिद्ध होते हैं ७००
सिज्झिस्सति=भविष्यकाल में सिद्ध होंगे ७००
सिणायओ=स्नातक ११३२
सिणाण=स्नान ६४६
सित्ता=सिञ्चन की गई १०४२
सिद्धा=पहले सिद्ध हुए ७००
सिद्धाणं=सिद्धों को ८६५
सिद्धिं=सिद्धगति को ८५६, ६६४, ११४२
सिद्धी=मोक्ष १०६५
सिद्धे=सिद्ध ७६६
सिप्पिणो=शिल्पी लोग ६५१
सिंबलि=शाल्मलि ८१८
सिया=हो अर्थात् कल को मैं अमुक काम करूँगा ६११
सिरसा=सिर से ६२३, १०६८, ७६५
सिर=मोक्ष रूप लक्ष्मी को ७६५
सिरे=सिर पर ६६०
सिलोगा=श्लोक ६८६
सिलोग=श्लाघा और, ६५१
सिवा नाम=शिवा नाम वाली थी ६५४
सिवम्=सर्वोपद्रवरहित १०६९
सिव=शिव १०६५
सिवियारयण=शिविका रत्न में ६७०
सीउण्ह=शीत और उष्ण ६४५
सीओसिणा=शीतोष्ण ६४२
सीयन्ति=ग्लानि को प्राप्त हो जाते हैं ८६८, ६४१

सुलद्ध=सुन्दर प्राप्त हुआ है ९१६
सुलद्धा=बहुत सुन्दर प्राप्त हुआ है ९१६
सुलेहिं=त्रिशूलों ८२६
सुवई=सोजाता है ७०५, ७१४
सुवण्ण=गरुड़ के ६३३
सुविम्हिओ=विस्मित हुआ ८७५
सुविसोज्झो=सुविशोध्य १०२३
सुविण=स्वप्न का ९०७
सुव्वय=सुन्दर व्रतों वाला ११२०
सुविण=स्वप्न विद्या ६४८
सुव्वंप=सुव्रत ६४५, ७२१
सुसमाहिय=समाधि वाला ८६७
सुसमाहिया=समाधि से युक्त १००४
सुसमाहिइन्दिय=सुन्दर समाधि वाला और इन्द्रियों को वश में रखने वाला ९३६
सुसंभिया=अति संस्कृत ६१६
सुसंवुडे=भली प्रकार से संवृत किए हैं ६५४
सुसीला=सुन्दर स्वभाव वाली ९५७
सुहं=सुखसाता ६१७, ७०५, ७३४, ८४४
सुहाण=सुखों का ८९७
सुहावहे=सुख के देने वाले १०६८
सुहावहा=सुख के देने वाली ८६३
सुहिं=सुहृद् ८७२
सुही=सुखी ७८९, ८४५
सुहे=सुख में ८५५
सुहेसिणो=सुख के चाहने वाले ९६४
सुहोइए=सुखोचित है ९२९
सुहोइओ=सुखोचित है ८०१
सुहोइय=सुखोचित, सुखशील ८६७
सूरा=शूरवीर ७६६
सूरिं एव=सूर्यवत् ९४९
सूरम्मि=सूर्य के ७१५

६७५, ६७८, ६८०, ६८१, ६८३, ६८५, ६१०, ६२१, ६२५, ६४५, ८४४, ८४५, ८९९, ९०२, ९०३, ९०४, ९०८, ९१०, ९१२, ९१७, ९२६, ९२९, ९४१, ९४५, ९५८, ९६३, ९६६, ९७१, ११०३, ११४०, ११४१

से=वह ६४५, ६६६, ६६७, ६६९, ६७०, ६७२
सेओ=श्रेष्ठ ७६४
सेज्जसंथारे=शय्या और संस्तारक पर ११०१
सेज्जं=शय्या को ७१४
सेज्जाए=शय्या में १०८०
सेणिया=हे श्रेणिक! ८५७
सेणिओ=श्रेणिक ८६६, ८७३, ९१८
सेणाए=सेना से ९६
सेय=श्रेय है यदि ९७६, ९८८
सेवए=सेवन करने वाला ७१६
सेवमाणस्स=सेवन करते हुए ६६७
सेवि=वह भी १००९
सेवित्ता=सेवन करने वाला ६६६, ६६७
सो=वह ६११, ६२४, ७२६, ७२७, ७२८, ७३५, ७८७, ७८८, ७८९, ८१०, ८४१, ८५२, ८६७, ८७३, ८७५, ९२५, ९३३, ९५५, ९६३, ९६८, ९८२, ९९२, ९९५, १०६०, १०६१, १०९७, ११०७, ११२९
सोआमणी=बिजली के समान ९५७
सोऊण=सुन करके ७३५, ९७५, ९९६
सोक्खा=सुख है ५९५
सोगेण=शोक से ९७५
सोच्चा=सुनकर ६६४, ६५७, ६२३, ६६५, ११४१
सोढाओ=सहन की ८११
सोढाणि=सहन किये ८१२
सोणियं=रुधिर जिस का ११२०